युगद्रष्टा भगत सिंह

और उन के मृत्युंजय पुरखे

वीरेन्द्र सिन्धु एम० ए०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

युगद्रष्टा भगत सिंह

और उन के मृत्युंजय पुरखे

लेखिका

वीरेन्द्र सिन्धु, एम॰ ए॰
सम्पादिका : संजीवनी

भूमिका

माननीय श्री यशवन्तराव चह्वाण
भारत के केन्द्रीय गृह-मन्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक-२६८
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 268

YUGDRASHTA BHAGAT SINGH
AUR UNKE MRITYUANJAY PURKHE

(Historical Memoirs)

VIRENDRA SINDHU M.A.

Bharatiya Jnanpith Publication

First Edition 1968

Price Rs. 15.00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५
विक्रय-केन्द्र
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रथमं संस्करण १९६८
मूल्य १५.००

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी—५

अ । नु । क्र । म

● युगद्रष्टा भगत सिंह और उन के मृत्युंजय पुरखे

● भगत सिंह : विराट् व्यक्तित्व विविध कोण

संघर्षों का निमन्त्रण

संघर्षों और वलिदानों के बिना कोई देश उन्नति नहीं कर सकता। देश के लिए संघर्षों और वलिदानों की प्रेरणा नयी पीढ़ियों को मिलती है वीरों के, शहीदों के जीवन से। इस ग्रन्थ में ऐसे पाँच वीरों के जीवन और वलिदानों की कहानी है, जिन्हों ने देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। यह एक रोमांचकारी तथ्य है कि एक ही वंश में ये सव जन्मे और इस वंश की तीन पीढ़ियाँ देश की स्वतन्त्रता के लिए अंगारों से खेलती रहीं।

सरदार अर्जुन सिंह ने क्रान्ति की धूनी जगायी। सरदार स्वर्ण सिंह अँगरेज़ी अत्याचारों का शिकार हुए। भगत सिंह अपनी अद्‌भुत जीवन-क्षमता और मरण-कला के कारण वलिदान का प्रतीक हो गये। उन के पिता सरदार किशन सिंह की पूरे जीवन की संघर्ष-साधना प्रेरक है, तो उन के चाचा सरदार अजीत सिंह का भारतीय स्वतन्त्रता के लिए जीवन-भर जूझना, लगभग चालीस साल विदेशों में भटकना और फिर १५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्रता के दर्शन करते ही मृत्युंजयी रूप में संसार से विदा होना अद्‌भुत भी है, अनुपम भी। सर्वश्रीमती जयकौर, विद्यावती, हरनाम कौर और हुकम कौर के मूक कष्ट-सहन ने इस वंश की वीर-गाथा को और भी मर्मस्पर्शी बना दिया है।

यह भी प्रसन्नता की वात है कि इस वीर-गाथा को उसी योद्धावंश की एक बेटी वीरेन्द्र सिन्धु ने लिखा है। अपनी वात उन्हों ने विवेचन और विश्लेपण के रूप में कही है। उन के लेखन का यह कौशल है कि व्यक्तियों की कहानी युग की प्रामाणिक कहानी वन गयी है। उन की लगन, मेहनत, योग्यता और लेखनशैली ने ग्रन्थ को इतिहास की गम्भीरता और साहित्य के सौन्दर्य से एक साथ मण्डित कर दिया है।

मुझे विश्वास है कि देश के युवक-युवती, वे विद्यार्थी हों, नागरिक हों, सैनिक हों, इस वीर-गाथा को नये संघर्षों और बलिदानों का निमन्त्रण मान कर देशभक्ति और राष्ट्रीयता की गहरी भावना से यह स्वीकार करेंगे कि देश की स्वतन्त्रता पाने में जितना बलिदान हुआ है, उसे बचाने और पनपाने में उस से भी अधिक संघर्ष और बलिदान की आवश्यकता है।

मैं इन वीरों को अपनी श्रद्धांजलि भेंट करता हूँ और नयी पीढ़ियों को संघर्षों का यह निमन्त्रण देने के लिए वीरेन्द्र सिन्धु की सराहना करता हूँ।

— *यशवन्तराव चह्वाण*
भारत के केन्द्रीय गृहमन्त्री

उन की रोमांचक स्मृतियों में

भारतीय क्रान्तिकारियों को प्रथम पंक्ति में एक से एक चमकदार व्यक्तित्व हैं। उस में लोकमान्य तिलक हैं, सावरकर हैं, अरविन्द हैं, रासबिहारी बोस हैं, त्रैलोक्य चक्रवर्ती हैं, मास्टर दा सूर्यसेन हैं, मौलाना महमूद-उल् हसन हैं, श्यामजी कृष्ण वर्मा हैं, राजा महेन्द्र प्रताप हैं, लाला हरदयाल हैं, शचीन्द्रनाथ सान्याल हैं, चन्द्रशेखर आज़ाद हैं, करतारसिंह सराबा हैं, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस हैं, और-और भी बहुत से हैं; पर उन में सूफ़ी अम्बाप्रसाद अपनी जगह अद्‌भुत हैं।

१८५८ में उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद नगर में एक सम्पन्न घर में उन का जन्म हुआ, सिर्फ़ बायाँ हाथ, दायाँ उगा ही नहीं, जन्म से ही अपंग, पर इस अपंग ने संसार की महाशक्ति अँगरेज़ी साम्राज्य का अंग-भंग कर दिया और इस एक हाथ से क़लम भी चलायी, पिस्तौल भी। क़लम से जो अक्षर लिखे वे भारतीय विद्रोह का विजयगान बन गये और पिस्तौल से जो धड़ाके किये, वे आज भी इतिहास के ख़ामोश पृष्ठों में सुनाई पड़ते हैं।

पत्रकार ऐसे कि रियासतों के रेज़ीडेण्टों की गोपनीय फ़ाइलों की नक़लें छाप दें, आत्मज्ञानी ऐसे कि ईरान में १९१५ में उन्हें गोली मारने के लिए अँगरेज़ सैनिक उन की कोठरी में आये, तो पालथी मारे समाधि में लीन उन का शव मिला, प्रतापी ऐसे कि डाट दें, तो अँगरेज़ अफ़सर दरवाज़े में पैर रखने की हिम्मत न करें, पर इस सब के साथ ऐसे आत्म-निर्लिप्त कि सरदार अजीत सिंह की तेजस्विता देखी, तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति उन्हें सौंप दी और बड़े होने पर भी उन के पीछे हो गये।

मैं उन पृष्ठों को, जिन में उन के प्यारे साथी सरदार अजीत सिंह की भी जीवन-गाथा है और बाद में उन के अधूरे कार्य को पूरा करने वाले भगत सिंह की भी, पूज्य सूफ़ी साहब की रोमांचक स्मृतियों के अतिरिक्त और किसे समर्पित करूँ ?

— *वीरेन्द्र सिन्धु*
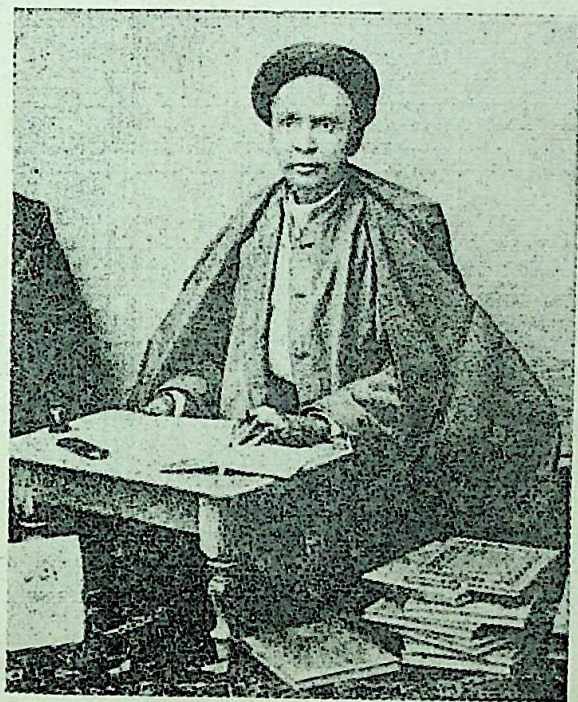
महान् क्रान्तिकारी सूफ़ी अम्बाप्रसाद

अध्ययन के द्वार पर

पिस्तौल और बम कभी इन्क़लाब नहीं लाते,
बल्कि इन्क़लाब की तलवार
विचारों की सान पर तेज़ होती है !
—भगत सिंह

- सरदार अर्जुन सिंह ने साहस कर अन्धविश्वास और परम्परावाद की जड़ता से बन्द अपने घर के द्वार खोल दिये और ऊबड़-खावड़ मार्ग को साफ़ कर अपने आँगन में यज्ञवेदी बना दी ।
- सरदार किशन सिंह ने उस द्वार से आँगन तक के क्षेत्र को लीप-पोत कर उस यज्ञवेदी पर एक विशाल हवन-कुण्ड प्रतिष्ठित कर दिया ।
- सरदार अजीत सिंह ने उस हवन-कुण्ड में समिधाएँ सजा, उन पर एक दहकता अंगारा रख दिया ।
- सरदार स्वर्ण सिंह ने उसे झपक कर लपट में बदल दिया ।
- बस फिर क्या था, लपटें उठीं और ख़ूब उठीं ।
- सरदार अजीत सिंह उन लपटों के लिए नये ईंधन की तलाश में दूर चले गये और जल्दी लौट न सके ।
- वे लपटें बुझ जातीं, पर सरदार किशन सिंह उन के अंग-रक्षक बने रहे, उन्हें बचाये रहे ।
- भगत सिंह ने इधर-उधर ईंधन की तलाश न कर अपने जीवन को ही ईंधन बना झोंका और लपटों को पूरी तरह उभार कर इस तरह उछाल दिया कि वे देश-भर में फैल गयीं, देश का हर आँगन एक हवन-कुण्ड बन गया ।
- भारत-माता के इन पाँच पुत्रों की जीवन और कर्मगाथा ही इस ग्रन्थ का विषय है ।

सरदार अर्जुन सिंह के बड़े-पुरखे महाराजा रणजीत सिंह की सेना में थे । राजा रणजीत सिंह अँगरेज़ों की कपट रणनीति के अन्तिम शिकार थे । उन के बाद उन की महारानी ज़िन्दां और उन के पुत्र कुँवर दिलीप सिंह के साथ अँगरेज़ों ने जो व्यवहार किया, वह अँगरेज़ राजनीति का एक बहुत ही गन्दा पृष्ठ है । इस सब ने उन पुरखों में जो विद्रोही घृणा जगा दी थी, वह पारिवारिक धरोहर के रूप में सरदार अर्जुन सिंह

को मिली। यह धरोहर ही थी, जो परिवर्तन की प्यास बन कर उन्हें सामाजिक क्रान्ति के यज्ञ-मण्डप में ले आयी।

हम कमज़ोर हैं, अलग-अलग हैं, निहत्थे हैं। इस के विरुद्ध वे शक्तिशाली हैं, संगठित हैं, सशस्त्र हैं। हम उन का कुछ नहीं कर सकते, कुछ नहीं बिगाड़ सकते। १८५७ में प्रयत्न करके हम ने देख तो लिया! क्या हुआ सिवाय इस के कि हम और पिटे और पिसे और अपमानित हुए!!

वे अब शासक हैं, हम अब शासित हैं। उन्हें अब शासक रहना है, हमें अब शासित रहना है। ग़ुलामी, ग़ुलामी और ग़ुलामी, बस यही हमारा भाग्य है, यही हमारा भविष्य है।

देश की परिस्थितियों और अँगरेज़ों की कूटनीतिक चालों से जब सारा देश हीनता के इस अवसाद में डूबा हुआ था, तो देश के पुनरुत्थान की सब आशाएँ समाप्त हो गयी थीं। कोई देश गिरकर उठता है स्वदेशाभिमान और जातीय गर्व के प्रकाश में पनपे आत्मगौरव से, पर हीनता की उस घनी आँधी में स्वदेशाभिमान और जातीय गौरव के दीपक कहाँ जल सकते थे? ऋषि दयानन्द के आत्मतेज की बलिहारी कि उन्हों ने नयी पृष्ठभूमि की खोज की और अतीत गौरव की उपजाऊ भूमि में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान के वृक्ष रोपे। शीघ्र ही इन पर जागरण और उद्बोधन के पुष्प महके और देश विचार-क्रान्ति से उद्बुद्ध हो उठा। सरदार अर्जुन सिंह ने ऋषि दयानन्द को देखा तो आकर्षित हुए, उन का भाषण सुना तो प्रभावित हुए और बातचीत की तो पूरी तरह उन के हो गये। सरदार अर्जुन सिंह इस विशाल देश के पहले सिख नागरिक थे, जो इस विचार-क्रान्ति में भागीदार हुए। उन में धुन थी, देशभक्ति थी, आस्था थी, कर्मठता थी; वे शीघ्र ही अपने क्षेत्र में इस विचार-क्रान्ति का यज्ञ-मण्डप बन गये।

सरदार अर्जुन सिंह के घर तीन पुत्र जन्मे—सरदार किशन सिंह, सरदार अजीत सिंह, सरदार स्वर्ण सिंह।

सरदार किशन सिंह का व्यक्तित्व समुद्र की तरह विस्तृत और गहरा था। लोकमान्य तिलक से लेकर महात्मा गान्धी तक के सब आन्दोलनों में उन्हों ने पूरे जोश से हिस्सा लिया। दूसरी दिशा में जो विद्रोह और क्रान्ति के तूफ़ान उठे, चाहे वह लार्ड हार्डिंज पर फेंके बम का मुक़दमा था, चाहे 'पगड़ी सँभाल जट्टा' की पहली किसान-क्रान्ति, चाहे जेलों में मानवीय अधिकारों का संघर्ष और चाहे ग़दर-आन्दोलन, वे उन सब के भी सहयोगी-सलाहकार रहे।

सरदार अजीत सिंह ने अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ तो किया काँग्रेस के आन्दोलन से, पर शीघ्र ही उन का विकास एक नयी दिशा में बदल गया। देश में चाफेकर-बन्धुओं के द्वारा पूना में २२ जून १८९७ को प्लेग-कमिश्नर मिस्टर रैण्ड और लैफ़्टीनैण्ट मिस्टर आयर्स की हत्या कर सशस्त्र विद्रोह (जिसे बोलचाल में आतंकवाद कहा गया है) की नयी नींव रखी गयी थी। सरदार अजीत सिंह ने

उस धारा से स्वतन्त्र देशव्यापी जन-क्रान्ति (१८५७ के ग़दर की पूर्णता) की नींव रखी। उन का व्यक्तित्व इतना प्रचण्ड था कि यह नींव शीघ्र ही एक भवन का रूप लेने लगी।

इस भवन का नक़्शा कितना विशाल था, इस का अनुमान इसी से लग सकता है कि सरदार अजीत सिंह ने अपनी क्रान्ति-संस्था 'भारतमाता सोसायटी' के द्वारा प्रथम विश्व-युद्ध का (जब किसी दूसरे के स्वप्न में भी वह न आया था) यथार्थ अनुमान कर अपने सहकर्मी लाला हरदयाल को अमेरिका, सूफ़ी अम्बाप्रसाद को अफ़ग़ानिस्तान-ईरान, सरदार निरंजन सिंह को ब्राज़ील और इसी तरह कई दूसरे साथियों को दूसरे देशों में भेजने का निश्चय किया कि ये लोग विदेशों में सशस्त्र शक्ति का संगठन करें, जो युद्ध के समय भारत के भीतर उभरी शक्ति से आ मिले। स्वयं सरदार अजीत सिंह भारत में ही रहें और यहीं सेनाओं और राजाओं को साथ ले कर जन-क्रान्ति की तैयारी करें। परिस्थितियाँ ऐसी हुईं कि सरदार अजीत सिंह को भी विदेश जाना पड़ा। वहाँ उन्हों ने ३९ साल तक भारतीय क्रान्ति की ज्वाला जलायी और दोनों विश्वयुद्धों में सब से पहले आज़ाद हिन्द सेना का संगठन किया।

सरदार स्वर्ण सिंह भारतमाता सोसायटी के द्वारा क्रान्ति की रोशनी घर-घर पहुँचाने वाले मशालची थे। वाणी और क़लम दोनों उन के अस्त्र थे। जेल की यातनाओं ने उन्हें तोड़ दिया और वे २३ वर्ष की भरी जवानी में शहीद हो गये।

सरदार किशन सिंह के घर जन्मे भगत सिंह। उन की मृत्युंजयी वीरता का जन-मानस पर ऐसा सिक्का बैठा कि आतंकवादी धारा को अपने चाचा सरदार अजीत सिंह-द्वारा स्थापित जन-क्रान्ति की धारा में बदल देने का उन का ऐतिहासिक कार्य सब की आँखों से ओझल ही रह गया। देश की नयी पीढ़ी को यह बताया ही नहीं गया कि भारत का प्रथम संविधान सरदार अजीत सिंह ने ही लिखा था और देश की नयी पीढ़ी को यह भी नहीं बताया गया कि सरदार भगत सिंह ही इस देश में समाजवाद के प्रथम उद्घोषक थे।

युग बीत गये सरदार अजीत सिंह के कार्य को और युग बीत गये भगत सिंह के कार्य को, पर उन के कार्यों का पूर्ण चित्र हमारे राष्ट्रीय साहित्य में प्रस्तुत ही नहीं हुआ। यह तब तक सम्भव नहीं था, जब तक कोई सरदार अर्जुन सिंह से ले कर भगत सिंह तक के युग को अपने में न पचा ले। यह काम आसान नहीं था, पर मुझे औरों की अपेक्षा एक सुविधा थी कि मेरा जन्म इसी क्रान्ति-जनक वंश में हुआ है। मुझे जहाँ घर में सुरक्षित साहित्य का लाभ उठाने की सुविधा थी, वहाँ परिवार के सदस्यों की स्मृतियों के अद्भुत भण्डार का लाभ उठाने की भी औरों से अधिक सुविधा थी। साहित्य में बिखरे टुकड़ों और खण्डित संकेतों में पहले जो कुछ लिखा गया, वह भी मुझे सुलभ था।

इस सब को मिला कर मैं ने अपने देश की क्रान्ति के इन अग्रदूतों की कहानी इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की है। इस प्रकार 'पगड़ी सँभाल जट्टा' के ठीक साठ साल बाद सरदार अजीत सिंह और अपनी शहादत के सैंतीस साल बाद सरदार भगत सिंह अपने राष्ट्र की नयी पीढ़ी में आ बैठे हैं। यह मैं सोच-समझ कर ही कह रही हूँ, क्यों कि मैं ने हर क्षण यह सावधानी रखी है कि ये लोग इन पृष्ठों में अपने जीते-जागते रूप में पाठकों को मिलें; उन की पाषाण-प्रतिमाएँ ही पाठकों के सामने प्रतिष्ठित न हों। मेरा विश्वास है कि आप इन पृष्ठों में क्रान्ति के इन कर्णधारों से बातें करेंगे, उन के कामों में रस लेंगे, उन के साथ हँसेंगे, उन के साथ तपेंगे और इस प्रकार वर्तमान में ही अतीत के उस क्रान्तिकारी संघर्ष में मानसिक रूप से हिस्सेदार होंगे।

सरदार अर्जुन सिंह, सरदार किशन सिंह, सरदार अजीत सिंह, सरदार स्वर्ण सिंह और भगत सिंह; अपने क्षेत्र में, अपने ढंग पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की क्रान्ति-साधना करने वाले इन वीरों की, इन के कार्यों की कहानी कहना ही मेरा उद्देश्य था, पर ज्यों-ज्यों मैं उन के कामों की गहराई में उतरी, मुझे अनुभव हुआ कि श्रीमती जय कौर, श्रीमती विद्यावती, श्रीमती हरनाम कौर और श्रीमती हुकम कौर को इस कहानी से अलग रखना इतिहास के साथ तो अन्याय होगा ही, अमानवीय भी होगा।

ठीक है कि क्रान्ति की वेदी पर तपे तो ये वीर ही, पर उस वेदी की लपटों से उन की सहधर्मिणियों को ही क्या सब से अधिक झुलसना नहीं पड़ा? ठीक है कि सब को दूर से क्रान्ति की मसाल ही दिखाई देती है और वे हाथ भी, जो मशाल को थामे रहते हैं, पर उस मशाल को रौशन तो रखते हैं तिल-सरसों के वे दाने ही, जो कोल्हू में पिस कर उस मशाल की लौ को प्रदीप्त रखने के लिए अपना तेल दे, अपने को निःसत्त्व कर लेते हैं! इसी अनुभूति ने उन्हें भी इस कहानी में प्रतिष्ठित कर दिया है। पहले विचार था कि भगत सिंह के बाद परिवार में जो क्रान्ति-साधना हुई है उसे भी यहीं कह दूँ, पर भगत सिंह तक पहुँचते-पहुँचते ही इतने पृष्ठ हो गये और दूसरे कई विचार भी सामने आये, तो उस सामग्री को दूसरी पुस्तक के लिए रोक लिया।

इतना तो स्पष्ट है ही कि यह एक ही वंश के लोगों की गाथा हो कर भी किसी वंश की गाथा नहीं है; यह तो उन युगों की ही गाथा है। नामों का महत्त्व तो यही है कि वे प्रतीक हो गये हैं अपने युगों के। इन पृष्ठों में भी जहाँ मैं ने नाम लिये हैं, उन का यह मतलब नहीं कि उस काल के कार्यों के वे ही सर्वेसर्वा थे। कौन कहेगा इस पर हाँ, पर हाँ वे प्रमुख थे, प्रेरक थे, निमित्त थे, तो उन के नाम से बात कहनी होती है। उदाहरण के लिए मैं ने भगत सिंह को समाजवाद का प्रथम उद्घोषक कहा है। स्पष्ट है कि जिस अध्ययन से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि समानता ही समाज के सब रोगों की दवा है, उस में श्री सुखदेव, श्री भगवती चरण वोहरा, श्री विजय कुमार सिन्हा और श्री शिव वर्मा-जैसे साथियों का पूरा योग था। भगत सिंह ने ऊँचे स्वर में, ऊँचे स्थान से,

ऊँचे विश्वास के साथ, उस की घोषणा की, इस लिए वे ही उस का प्रतीक हो गये। साण्डर्स-वध का प्रस्ताव भगत सिंह का था, साण्डर्स का वध भी भगत सिंह ने (राजगुरु के साथ) किया था, पर हम सब जानते हैं कि उस की व्यूह-रचना श्री चन्द्र-शेखर आज़ाद ने की थी। असेम्बली में बम फेंकने का प्रस्ताव भगत सिंह का था। बम फेंके भी भगत सिंह ही थे, पर उस की व्यूह-रचना में पार्टी के अनेक साथियों ने तर्क-वितर्क किया था और तब वह योजना पूर्ण हुई थी।

सशस्त्र क्रान्ति की चर्चा करते समय कुछ लेखकों ने उन युगों को, जिन की चर्चा इस ग्रन्थ में है अजीत सिंह-युग और भगत सिंह-युग कहा है, पर मैं ने इसे ग्रहण नहीं किया। मैं ने १९४७ में बँटवारे के दुःख झेले हैं, इस लिए मैं बँटवारे में विश्वास नहीं करती और इतिहास को भी उस के सम्पूर्ण रूप में ही देखती हूँ। मेरा मन तो भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास को हिंसा-अहिंसा के टुकड़ों में भी बाँट कर नहीं देखता। मैं अपनी जगह स्पष्ट हूँ कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता में हिंसा ने अपना काम किया है और अहिंसा ने अपना। यही नहीं, दोनों ने एक-दूसरे को काफ़ी दूर तक प्रभावित भी किया है। इन में एक ही धारा को पकड़ कर भारत की स्वतन्त्रता का सच्चा इतिहास लिखा जा सकता है, मुझे इस में विश्वास नहीं है।

अपनी गाथा को आगे बढ़ाने के लिए मैंने अनेक विश्लेषण किये हैं और अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। विद्वानों की आलोचना से वे झूठे या ग़लत सिद्ध हो जायें, तो सब से पहले और सब से अधिक प्रसन्नता मुझे होगी। मेरा उद्देश्य अपने निष्कर्ष समाज पर थोपना नहीं, अन्तिम निष्कर्षों की खोज का भाव पैदा करना है। विचार-विमर्श से जो नये निष्कर्ष स्थापित होंगे, मैं उन्हें तुरन्त स्वीकार कर लूँगी, मुझे अपनी सीमा का ज्ञान है और अपने ज्ञान की सीमा का पता भी।

यह कोई शोध-ग्रन्थ ही नहीं है, यह तो बोध ग्रन्थ है, जो भगत सिंह और उन के पुरखों की जीवन-गाथा पूरे रूप में पहली बार देश की नयी पीढ़ी के सामने रख, उन से कहता है कि देश की स्वतन्त्रता लाने के लिए यह सब हुआ था और उसे बचाने के लिए भी यह सब आवश्यक है। मुझे इतिहास-लेखक होने का दावा नहीं है। हाँ, इतिहास की पवित्रता को पूरी तरह सुरक्षित रखते हुए मैं ने तो जीवन ही ग्रहण किया है। इस से नयी-पीढ़ी के युवक-युवती उलझने से बचेंगे और बलिदान की उस भावना को ग्रहण करेंगे, जो स्वयं इतिहास की रचना करती है, इतिहास को नया मोड़ देती है और एक कमज़ोर आदमी को भी जुझारू बनाती है।

इन पृष्ठों में जो फूल चुने गये हैं, वे बाग़-बाग़ के हैं। मैं उन फूलों की विधाता होने का श्रेय नहीं ले सकती; क्यों कि उन्हें न मैं ने सींचा है, न पनपाया है। मैं ने तो उन्हें इस गुलदस्ते में लगा दिया है। स्मृतियों के इन फूलों में सत्य और सत्त्व इतिहास

का है, उन स्मृतियों के संरक्षकों का है, शिल्प मेरा है। दूसरे शब्दों में स्वर्ण खान का है, गढ़ाव और कहीं-कहीं जड़ाव मेरा है।

नम्रता के साथ इतना अवश्य कह सकती हूँ कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता के इतिहास में सरदार अर्जुन सिंह, सरदार किशन सिंह, सरदार अजीत सिंह और सरदार स्वर्ण सिंह का जो दान है, उसे नेताओं ने ही नहीं, इतिहास लेखकों ने भी लगभग भुला दिया है और भगत सिंह पर भी जिन्हों ने लिखा है, उन के पास उन के व्यक्तित्व का कोई पूर्ण चित्र न था। इस स्थिति में उन की पूर्ण प्रतिमा का सर्जन किसी के लिए सम्भव ही न था! भगत सिंह सशस्त्र क्रान्ति के प्रतीक हो गये और उन का चित्र घर-घर में पहुँच गया। इस से स्पष्ट है कि उन के प्रति जनता के मन में ऊँचा भाव है, पर इस से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह ऊँचा भाव उन के वलिदान के प्रति आदर-मूलक है। मेरा प्रयत्न रहा है कि यह ऊँचा भाव यथार्थ पर आश्रित हो कर ठोस वन जाये। दूसरे शब्दों में देश की नयी पीढ़ी उन के नाम से नहीं, उन के कामों से प्रेरणा ले और सोचे कि ऐसा तो हमें भी करना चाहिए, हम भी कर सकते हैं।

देश की नयी पीढ़ी को आदर्श अनुप्राणित करते हैं। वे आदर्श जीवित व्यक्तियों के जीवन हों या इतिहास के। स्वतन्त्रता के बाद स्वतन्त्रता के अधिकांश सैनिक ऐसे रूप में नयी पीढ़ी के सामने आये कि उस के आदर्श न वन सके। इस से भी बड़ा दुर्भाग्य यह हुआ कि नयी पीढ़ी के सामने स्वतन्त्रता के लिए किये गये संघर्षों और वलिदानों का इतिहास भी प्रस्तुत न हो सका। परिणाम यह हुआ कि उस की प्रेरणा के स्रोत ही सूख गये। स्वतन्त्र भारत के जीवन का यह एक वहुत कड़वा सत्य है कि हम ने अपने इतिहास के साथ ग़द्दारी को है, अपने शहीदों के साथ ग़द्दारी की है। इस का ज्ञान तो मुझे था, पर साक्षात्कार हुआ १९६३ से १९६८ तक के समय में, जब मैं इस ग्रन्थ की तैयारी और लेखन में जुटी रही। विचार और घटना की एक-एक कड़ी जोड़ने में मुझे महीनों लग जाते, पर कड़ी न मिलती। लम्वा पत्र-व्यवहार करना पड़ता और उन लोगों से सम्पर्क साधना पड़ता, जिन की स्मृतियाँ ही उस इतिहास का एक मात्र अभिलेखागार (नेशनल आरकाइव्स) हैं। यह देख कर मन दुःख से भर जाता है कि ये स्मृतियाँ भी अव अस्त-व्यस्त होती जा रही हैं। इन अस्त-व्यस्त कड़ियों को जोड़ने में मुझे उसी तरह सतर्क परिश्रम करना पड़ा है, जैसे टूटी हड्डियों को अपनी जगह वैठाने में करना पड़ता है। क्रान्तिकारियों को संघर्ष का जो जीवन स्वतन्त्रता से पहले और उपेक्षा एवं आत्म-हीनता का जो जीवन स्वतन्त्रता के वाद जीना पड़ा है, उस में किसी का मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ रहना असम्भव है। ऐसा मालूम होता है कि इतिहास का भी कुछ महत्त्व है, राष्ट्र के लिए वह संरक्षणीय और संग्रहणीय है, इसे मानना तो दूर सोचने से भी हम ने इनकार कर दिया है। मेरे कर्तव्य का तक़ाज़ा है कि मैं अँधेरे जंगल के अकेले दीप की तरह अन्तरात्मा की प्रेरणा से जीवन के ७–८ वर्ष

चुपचाप क्रान्तिकारियों के इतिहास की टिप्पणियाँ तैयार करने में लगाने वाले आदरणीय पत्रकार श्री फूलचन्द जैन (मिलाप भवन, सब्ज़ी मण्डी, दिल्ली) का स्मरणीय नाम यहाँ लूँ। आठ घण्टे रोज़ वे राष्ट्रीय अभिलेखागार में लगाते रहे हैं और क्रान्तिकारियों के सम्बन्ध में वहाँ की दुर्लभ फ़ाइलों में जो उल्लेख हैं, उन की संक्षिप्त टिप्पणियाँ और सन्दर्भ नोट करते रहे हैं। इन टिप्पणियों से उन का घर ही छोटा अभिलेखागार हो गया है। उन के पास ५—७ हज़ार पृष्ठों की सामग्री है।

जब उन्हों ने मुझे बताया कि इन पृष्ठों में १५००० क्रान्तिकारियों के सम्बन्ध में जानकारी है, तो मैं स्तब्ध रह गयी। क्या इतने बलिदानी इतिहास की उपेक्षा कर कोई देश महान् हो सकता है? फिर यह उपेक्षा सिर्फ़ क्रान्तिकारी इतिहास की ही तो नहीं हुई? दादाभाई नौरोजी के कार्यों को हम ने कहाँ संग्रहीत किया है? बंग-भंग का विवरण कहाँ है? छोड़िए इन सब को, संसार की सब से बड़ी क्रान्ति—'अँगरेज़ो, भारत छोड़ो' (१९४२) का कोई इतिहास हमारे पास है? क्या इतिहास की यह उपेक्षा राष्ट्र के लिए घातक नहीं है? बहुत नम्रता के साथ कहूँ कि जो कुछ अगले पृष्ठों में हैं, वह इस समय न लिखा जाता, तो फिर कभी लिखा ही नहीं जा सकता था!! मुझे प्रसन्नता है कि इन पृष्ठों में सरदार अजीत सिंह की विस्मृत विशिष्टता, सरदार किशन सिंह की उपेक्षित विशालता और भगत सिंह की बलिदानी चकाचौंध में छिपी युग-प्रवर्तकता आ गयी है और आतंकवाद एवं क्रान्ति की मध्यरेखा भी चिह्नित हो सकी है।

मेरे परिश्रम की सार्थकता इसी में है कि देश की नयी पीढ़ी के युवक-युवती देश-भक्ति के रंग में रंग जायें और देश के नव निर्माण में अपना भाग अदा करने के लिए श्री अजीत सिंह सत्यार्थी के शब्दों में सोचें—

"सम वन मस्ट वीप, सो दैट अदर्स मे लाफ़,
सम वन मस्ट सफ़र, सो दैट अदर्स मे सेव,
सम वन मस्ट डाई, सो दैट अदर्स मे लिव।"

अर्थात् किसी एक को रोना चाहिए जिस से दूसरे अनेक हँस सकें, किसी एक को यातना भोगनी चाहिए, जिस से दूसरे अनेक सुरक्षित हों, किसी एक को मरना चाहिए, जिस से दूसरे अनेक जीवित रहें।

हमारा संकल्प हो कि वह एक हम होंगे और वे अनेक हमारे देशवासी। इसी में हमारी तरुणाई की शोभा है, इसी में हमारे भारत का उज्ज्वल भविष्य है।

—वीरेन्द्र सिन्धु

संजीवनी सदन,
बाज़ार डाकख़ाना,
फ़िरोजपुर शहर (पंजाब)

मेरा मस्तक नत है

देश का बँटवारा हुआ। लाखों उजड़े और उखड़े। हमारा परिवार भी उन में था। जब दूसरे लोग ज़ेवर, रुपये और क़ीमती सामान बाँधने की चिन्ता में थे, मेरे पापा जी (सरदार कुलतार सिंह) वे समाचार पत्र, काग़ज़, कापियाँ और पुस्तकें बाँध रहे थे, जिन में उन लोगों के जीवन और कार्यों की चर्चा थी, जिन का इस ग्रन्थ में विकास हुआ। उस के बाद भी वे इस सामग्री का उपयोग करने की बराबर प्रेरणा देते रहे। इस ग्रन्थ के लेखन के समय भी तथ्यों, सन्-संवतों और घटनाओं की कड़ियों के मिलान में मुझे उन के स्मृति-भण्डार का सहारा बराबर मिलता रहा।

आदरणीय श्री नेमिशरण मित्तल से मेरी लेखन-प्रवृत्ति को आरम्भ में प्रोत्साहन मिला और भगत सिंह के सम्बन्ध में सामग्री संग्रह करने की भावना भी। तभी से यह आदत बनी कि भगत सिंह और दूसरे लोगों के सम्बन्ध में जो चीज़ जहाँ मिली, संग्रह की। यह क्रम १९६४ से चला और ग्रन्थ के पूर्ण होने तक चलता ही रहा। इसी बीच में सर्व श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल, भगवान दास माहौर, राजाराम शास्त्री, विजय कुमार सिन्हा, सत्यदेव विद्यालंकार, काशीराम, जतीन्द्र नाथ सान्याल, यशपाल, श्रीमती शान्ता बलदेव, प्राणनाथ मेहता एडवोकेट, दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, रतनलाल बंसल, अजय घोष, रामशरण दास, जयदेव कपूर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, डॉ० एच० चन्द्रा, आचार्य नरेन्द्रदेव, महात्मा गान्धी, जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती सुभद्रा जोशी, डॉ० पट्टाभि-सीतारमैया, आसफ़ अली, लाला पिण्डीदास, लाला जसवन्त राय, बाबा सोहन सिंह भकना, शिव वर्मा, योगेश चटर्जी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, डॉक्टर सत्यपाल, बलजीत सिंह एडवोकेट, कुमारी लज्जावती और श्री वीरेन्द्र के उन संस्मरणों और सूक्तियों का संग्रह हुआ, जिन से इस ग्रन्थ के विवरण, विश्लेषण और निष्कर्ष पुष्ट भी हुए और अलंकृत भी।

इन के साथ ही सर्वश्री दादा किरणचन्द्र दास, मास्टर चरणजीत सिंह, जयदेव गुप्त, सरदार कुलवीर सिंह, सरदार रणबीर सिंह, पूजनीया माता विद्यावती जी, बीबी अमर कौर, प्रोफ़ेसर जगमोहन सिंह और फूलचन्द जैन के अध्ययन और स्मृति-भण्डार के उपहारों से भी तथ्यों के परिष्कार और जीवन गाथाओं के संस्कार में ऐसी सहायता मिली, जिस के बिना उलझना निश्चित था। 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादक अक्षय कुमार जैन और ज्योतिषाचार्य और लेखक श्री केदार नाथ प्रभाकर ने

हर थकान में, नया जीवन और विकास के सम्पादक श्री अखिलेश जी ने हर व्यवस्था में और कलाकार सरदार तारा सिंह ने फ़ोटोग्राफ़ी में सदा सहृदय सहयोग दिया।

अपने आध्यात्मिक पिता और मार्गदर्शक श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के सम्वन्ध में शब्दों के द्वारा कुछ कहना असम्भव है। उन के विना इस ग्रन्थ का ऐसे परिपुष्ट रूप में निर्मित होना असम्भव था। १७ मई १९६७ को जव ग्रन्थ का लेखन आरम्भिक स्थिति में ही था, उन्हें भयंकर रक्तस्राव हो गया। विशेषज्ञोंको आश्चर्य है कि उनका जीवन वच कैसे गया। आघात इतना प्रचण्ड था कि ग्रन्थ पूर्ण होने के समय तक भी वे अपने लेखन-सम्पादन के कार्य आरम्भ नहीं कर सके। इस स्थिति में भी उनका सतर्क मार्ग-दर्शन मुझे सतत मिलता रहा। इस सीमा तक कि ग्रन्थ में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिस पर उन के परिश्रम, प्रतिभा और प्रोत्साहन की छाप न हो। भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन का आशीर्वाद और मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का स्नेह ही है, जिस से ग्रन्थ के प्रकाशन की ऐसी सुन्दर व्यवस्था सम्भव हुई। राष्ट्रीय साहसके प्रतिनिधि और केन्द्रीय गृहमन्त्री आदरणीय श्री यशवन्तराव चह्वाण ने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी मंगल-वचन लिखने की कृपा की। और अनेक राजनीतिज्ञों, साहित्य-साधकों और जीवन साधकों ने प्रसन्नतापूर्ण साधुवचनोंसे मेरी झोली भर दी। हृदय की भावना शब्दों में कैसे कहूँ ?

इन सव के प्रति मेरा मस्तक कृतज्ञता और आदर से नत है।

— वीरेन्द्र सिन्धु

'यह तो क्रान्ति का वेद है'

साधना ० सिद्धों की दृष्टि में

० **महामहिम दादा साहेब चिन्तामणि पावटे, राज्यपाल पंजाब—**

इतिहास देश की नयी पीढ़ियों को अतीत से जोड़ता है, इस नाते वह एक पाठ है। इतिहास वर्तमान के प्रयत्नों को दिशा देता है, इस तरह वह एक प्रेरणा है। यह ग्रन्थ इतिहास के दोनों लक्ष्य पूरे करता है।

० **पूज्य श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर, सर संघचालक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ—**

हुतात्मा भगत सिंह और उन के अतुलनीय राष्ट्रभक्त पूर्वजों की जीवनगाथा, उन्हीं के वंश में उद्भूत लेखिका, यह अपूर्व संयोग है। ग्रन्थ की प्रामाणिकता, सजीवता और प्रेरणा निःसन्दिग्ध है।

० **श्री सूरजभान, उपकुलपति पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़—**

वीरों की प्रेरक कथा के साथ ही यह ग्रन्थ १९०३ से १९३० तक के महत्त्व-पूर्ण राष्ट्रीय युग की मार्मिक ऐतिहासिक घटनाओं का विश्वसनीय भण्डार भी है।

० **श्री रामकरन सिंह, उपकुलपति मेरठ विश्वविद्यालय—**

यह ग्रन्थ प्रकाश की तरह प्रत्येक देशवासी को प्रिय होगा। लेखिका के प्रति मैं सम्मान प्रकट करता हूँ।

० **श्री जगजीवनराम, केन्द्रीय खाद्यमन्त्री और दलितों के नेता—**

वीरेन्द्र सिन्धु ने इस ग्रन्थ के रूप में वह कार्य कर दिखाया, जो १९०८ से १९६८ के मध्य भारत की किसी भी भाषा में नहीं हो सका था।

० **प्रोफ़ेसर वी० के० आर० वी० राव, केन्द्रीय यातायात-जहाजरानी-मन्त्री—**

इस में सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन से सम्बन्धित ऐतिहासिक दस्तावेज़ों के अभाव को पूर्ण करता है।

० **श्री अटलविहारी वाजपेयी, अध्यक्ष भारतीय जनसंघ—**

ग्रन्थ सरलता, प्रवाहपूर्णता और ओज से युक्त है और ऐसी अनेक घटनाओं और तथ्यों को प्रकट करता है, जो अभी तक विस्मृति के गर्त में दबे पड़े थे।

० **श्री व्रजमोहन, लेखक, पत्रकार और काँग्रेस-नेता—**

इतिहास और साहित्य का दुर्लभ हीरा है यह ग्रन्थ। लेखन शैली इतनी संवेदन-पूर्ण है कि पढ़ते-पढ़ते लगता है कि हम एक युग की फिल्म देख रहे हैं।

○ **डॉ० यशवन्तसिंह परमार, मुख्यमन्त्री हिमाचल प्रदेश—**

ग्रन्थ प्रशंसा के योग्य है। इस की वास्तविक प्रशंसा यह होगी कि प्रत्येक युवक-युवती इसे पढ़े।

○ **श्री सीताराम केसरी, संसद्-सदस्य (काँग्रेस)—**

इस ग्रन्थ की लेखिका सामान्य प्रशंसा की नहीं, राष्ट्रीय सम्मान की हक़दार है।

○ **श्री नारायणस्वरूप शर्मा, संसद्-सदस्य (जनसंघ)—**

इतिहास की धुँधली और-दुर्गम गहराइयों में उतरने का लेखिका ने जो गम्भीर और सतर्क काम किया, वह ग्रन्थ के हर पृष्ठ पर सजीव रूप में झलकता है।

○ **श्री प्रकाशवीर शास्त्री, संसद्-सदस्य (निर्दल)—**

ओझल इतिहास को नयी पीढ़ी की आँखों तक पहुँचाने के इस सत्प्रयास का अभिनन्दन।

○ **डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, लेखक, समीक्षक, राजनीतिज्ञ—**

यह ग्रन्थ इतिहास के ऐसे पृष्ठ हमें देता है, जो अब तक न लिखे जाते, तो फिर कभी न लिखे जाते।

○ **श्री ठाकुरप्रसाद सिंह, लेखक और प्रशासक—**

राज-परिवारों की चकाचौंध में बलिदानी परिवारों की उपेक्षा इतिहास की भूल रही। मूल्यांकन की विधि बदलने की चुनौती स्वीकार किये बिना भूल का परिहार सम्भव नहीं। बहन वीरेन्द्र सिन्धु ने इस ग्रन्थ में इसी चुनौती को स्वीकारा है। इतिहास इन का आभार मानेगा।

○ **श्री सूर्यनारायण व्यास, महान् ज्योतिषी, लेखक और पत्रकार—**

यह तो क्रान्ति का वेद है। जनता श्रद्धा से पढ़ेगी और इस की अर्चना करेगी।

○ **श्री लक्ष्मीविलास बिड़ला, लेखक, अर्थशास्त्री और उद्योगपति—**

इतिहास की घटनाओं का क्रम असन्दिग्ध। राष्ट्रीय दृष्टि से ग्रन्थ अमूल्य।

○ **श्री द्वारका प्रसाद मिश्र, लेखक, पत्रकार, पूर्व मुख्यमन्त्री म० प्र०—**

अभी तक प्रामाणिक विवेचन अप्राप्य था। वह बहुत ऊँचे स्तर पर पूर्ण हो गया है।

○ **श्री कमलापति त्रिपाठी, लेखक, पत्रकार उ० प्र० काँग्रेसाध्यक्ष—**

स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में विस्मृत एवं अपूर्ण पृष्ठों का यह संयोजन है।

○ **श्री हरदेव जोशी, राष्ट्रचिन्तक एवं राजस्थान के उद्योगमन्त्री—**

विषय की दूसरी पुस्तकों से श्रेष्ठ, सुरुचिकर और प्रभावपूर्ण ग्रन्थ।

○ **डॉ० भगवानदास माहोर, क्रान्तिकारी, लेखक और प्राध्यापक—**

इस लेखनी की शक्ति और प्राणवान सौन्दर्य से बहुत प्रभावित हूँ।

• श्री श्रीकृष्ण सरल, भगतसिंह महाकाव्य के प्रणेता—

राष्ट्र का इतिहास रक्ताक्षरों से लिखने वालों का यह स्वर्णाक्षरों से लिखा इतिहास है।

• श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, मान्य लेखक और पत्रकार—

लेखिका की ऐतिहासिक संवेदनशीलता के कारण ग्रन्थ इतिहास हो कर भी साहित्य का नक्षत्र बन गया है।

• श्री यादवराव, प्रबन्ध सम्पादक 'तरुण भारत'—

क्रान्ति-इतिहास के लिए जिस संगठित प्रयास की आवश्यकता है, यह ग्रन्थ उसका सफल श्रीगणेश है।

• श्री दिनेश सिंह, केन्द्रीय वाणिज्यमन्त्री—

इतिहास के दुर्लभ तथ्यों को एक ही स्थान पर प्रस्तुत करने में लेखिका किसी भी अन्य की अपेक्षा अधिक सफल हुईं।

• श्री सुरेन्द्रमोहन घोष, क्रान्तिकारी, पूर्व उपनेता कां० पार्लामेण्टरी कमेटी—

क्रान्तिकारी इतिहास के अनेक अनलिखे पृष्ठों का लिखित रूप है यह ग्रंथ।

• मा० चरणजीत सिंह, स्वतन्त्रता-साधक, शहीद-पूजक—

जीना हमें है नहीं; क्योंकि मृत्यु निश्चित है और मरना हमें आता नहीं; क्योंकि हम मृत्यु से डरते हैं। यह ग्रन्थ जीने और मरने की कला सिखाता है। यह तो युग-ग्रन्थ है।

• श्री वचनेश त्रिपाठी, सम्पादक 'राष्ट्रधर्म'—

युग बीतेंगे, हम-आप न होंगे, पर यह ग्रन्थ तब भी प्रभावपूर्ण रहेगा।

• श्री चन्द्रभानु गुप्त, पूर्व मुख्यमन्त्री और काँग्रेस-नेता—

ग्रन्थ उस अभाव का पूरक है, जो वर्षों से खटक रहा था और देश-प्रेमका प्रेरक है।

• डॉ० बी० एल० आत्रेय, विश्वविख्यात दार्शनिक—

भारत के राष्ट्रीय इतिहास को यह लेखिका का महत्त्वपूर्ण दान है।

• श्री विद्याचरण शुक्ल, केन्द्रीय गृह राज्यमन्त्री—

ग्रन्थ भारत के इतिहास-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है।

■

युगद्रष्टा भगत सिंह

और उनके मृत्युंजय पुरखे
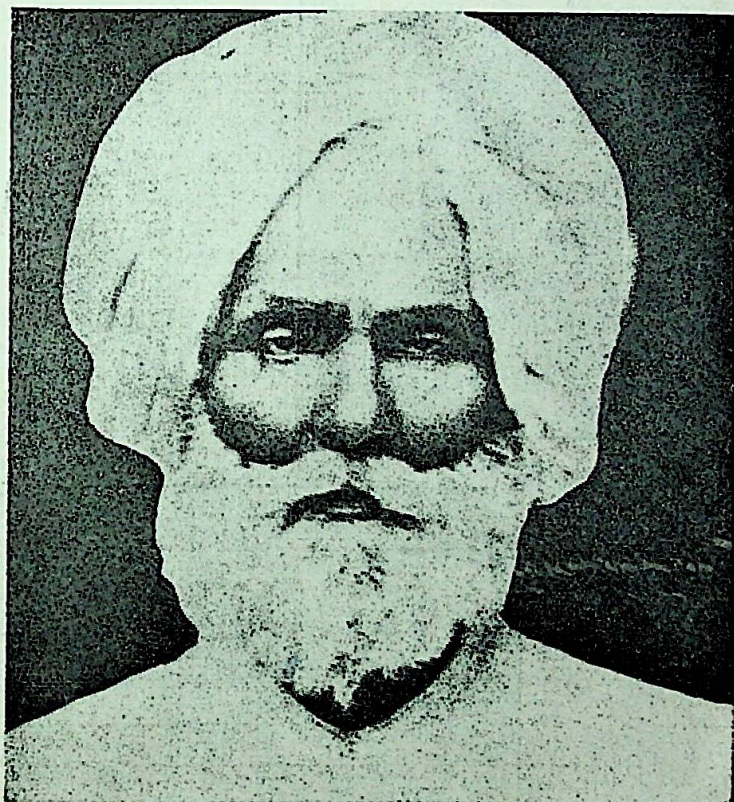
क्रान्ति के अरुणोदय : सरदार अर्जुन सिंह
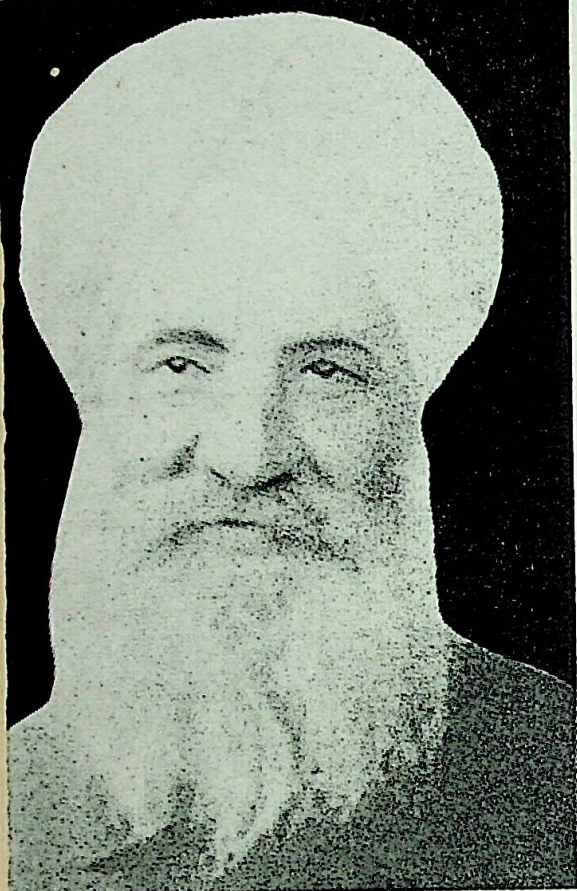
सरदार किशन सिंह
(पिता शहीद भगत सिंह)

श्रीमती विद्यावती
(माता शहीद भगत सिंह)

सरदार अजीत सिंह : विदेश प्रवास से पूर्व

श्रीमती हरनाम कौर

शहीद सरदार स्वर्ण सिंह

श्रीमती हुकम कौर

शहीद भगत सिंह की दादी
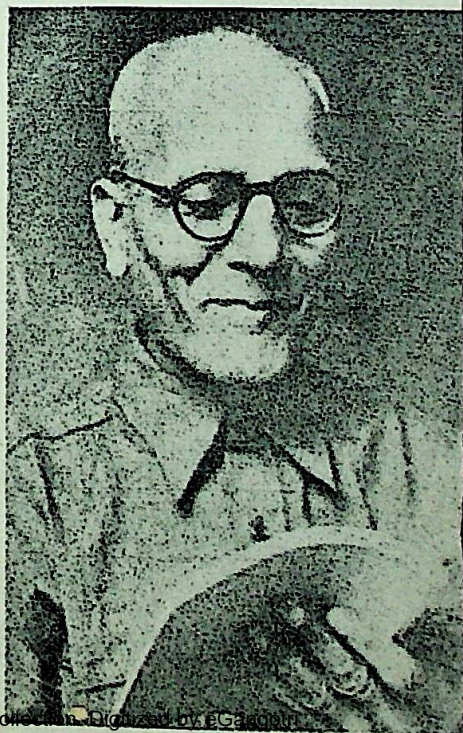
सरदार अजीत सिंह : ब्राज़ील में

दसवर्षीय भगत सिंह : दुर्लभ चित्र
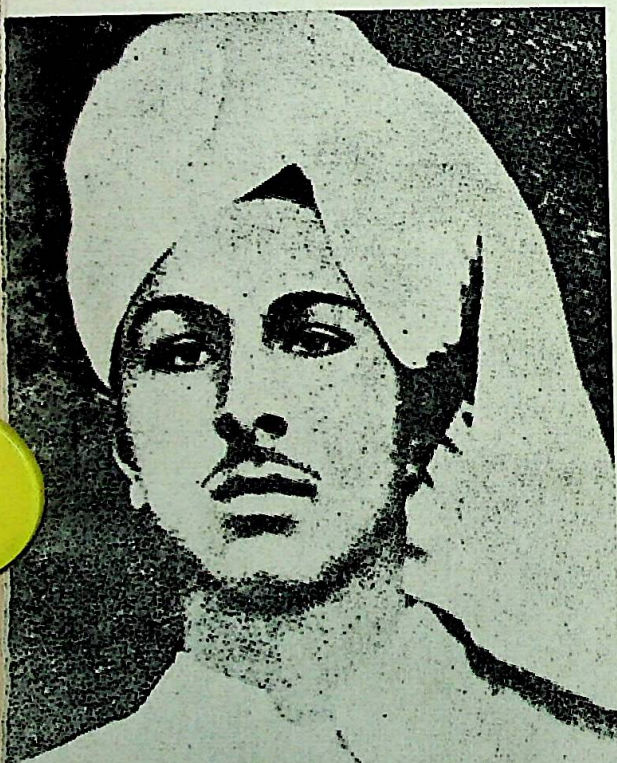
भगत सिंह
नेशनल कॉलेज में

पहली गिरफ़्तारी के समय
भगत सिंह
(दशहरा वमकाण्ड)

भगत सिंह :
संसद् में बम फेंकने के समय

Freedom :—

Men! whose boast it is that ye
Come of fathers, brave and free,
If there breathe on earth a slave,
Are ye truly free and brave?
If you do not feel the chain
When it works a brother's pain,
Are ye not base slaves indeed,
Slaves unworthy to be freed?

Is true Freedom but to break
Fetters for our own dear sake,
And, with leathern hearts, forget
That we owe mankind a debt?
No! True Freedom is to share
All the chains our brothers wear,
And, with heart and hand, to be
Earnest to make others free!

They are slaves who fear to speak
For the fallen and the weak;
They are slaves who will not choose
Hatred, scoffing and abuse,
Rather than in silence shrink
From the truth they needs must think;
They are slaves who dare not be
In the right with two or three.

"James Russell Lowell"

P. 159

भगत सिंह की अँगरेजी हस्तलिपि : जेल में लिखी डायरी से

१९ अक्तूबर १९६८ को केन्द्रीय संचार मन्त्री,
डॉ० रामसुभग सिंह-द्वारा शहीद-शिरोमणि के राष्ट्रीय
सम्मान के रूप में प्रसारित डाक-टिकिट
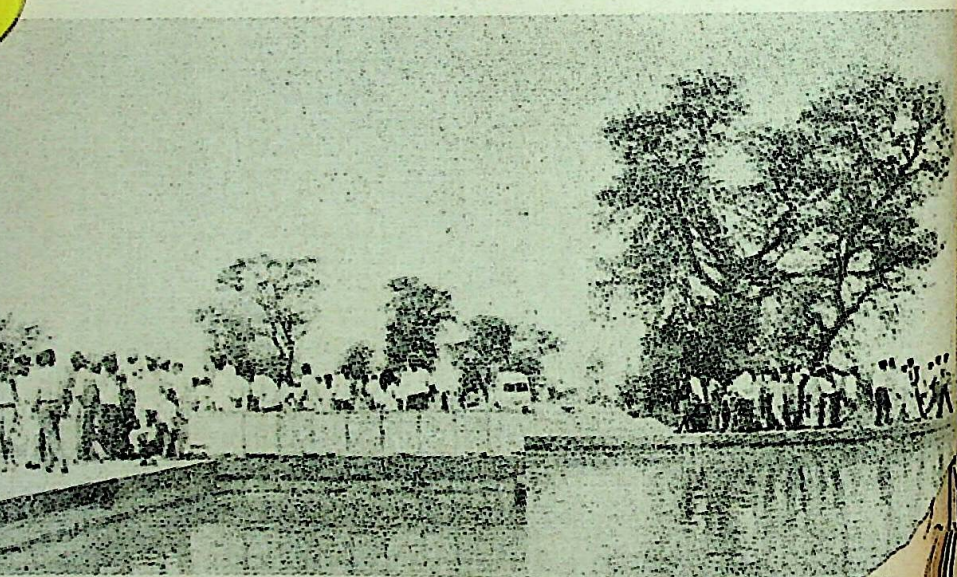
'शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले........'
फ़िरोज़पुर में शहीदों की समाधि—जहाँ भगत सिंह और उन के साथियों का दाह-संस्कार
किया गया था !

क्रान्ति के अरुणोदय :
सरदार अर्जुन सिंह और श्रीमती जय कौर

वे धर्म की बैलगाड़ी से उतर कर क्रान्ति के रथ पर बैठ गये। रथ क्रान्ति का था, पर उस की धुरी धर्म की थी। धर्म अपनी लम्बी यात्रा में थक कर गतिहीन हो गया था, पर उस के पास प्रभाव की पूंजी थी। यह पूंजी उस ने क्रान्ति को भेंट कर दी। क्रान्ति भी न ठग थी, न कृतघ्न। उस ने धर्म को गति दे, उद्बोधन-पताका सौंप दी। दोनों एक-दूसरे का सहारा थे, प्रगति के पथ पर बढ़ चले। इस धर्मक्रान्ति का नाम था आर्य-समाज।

१८५७ के स्वतन्त्रता-विप्लव की असफलता के बाद अँगरेज़ों ने पहले तो रणनीति के अनुसार देश में ऐसा दमन-चक्र चलाया कि आँधियाँ उठ गयीं, विरोध की पसलियाँ टूट गयीं और जनता के मन में यह बात बैठ गयी कि अब अँगरेज़ों की ग़ुलामी चुपचाप सहने के सिवा कोई मार्ग नहीं है। "यह घोर निराशा का युग था, पर कोई जीवित जाति अधिक दिन निराश हो कर बैठी नहीं रह सकती, अँगरेज़ यह बात जानते थे। फिर १८५७ के महान् विद्रोह का संगठन भारतवासियों ने जिस गुप्त ढंग से किया था, उस से अँगरेज़ बहुत घबरा गये थे। भारत को दमन-चक्र के द्वारा त्रस्त और क़ानून के द्वारा देश को शस्त्र-विहीन कर के भी निश्चिन्त नहीं हो सके और उन्हों ने गुप्तचरों के द्वारा भारत के बौद्धिक वर्ग की जो जाँच-पड़ताल की, उस से पता चला कि ऊपर से शान्ति दीखने पर भी भीतर अशान्ति है। लोग कुछ-न-कुछ करने की बात सोच रहे हैं, क्यों कि वे सोचते हैं कि यदि इस समय कुछ न किया गया, तो फिर कभी कुछ न किया जा सकेगा।

अँगरेज़ों की कूटनीति अब यह थी कि इस निराश बौद्धिक वर्ग में आशा पैदा हो, और उसे अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के रास्ते अँगरेज़ों की छाया में खुलते दिखाई दें। श्री ओ० ह्यूम के द्वारा सन् १८८५ में काँग्रेस की स्थापना में सहयोग देना इसी कूटनीति का फल था। भारत की महानता सचमुच अजेय है। उस ने उस अन्धकार के युग में एक अद्भुत ओजस्वी महापुरुष को जन्म दिया। वे थे ऋषि दयानन्द। उन्हों ने निराशा की उस अँधियारी रात में आशा का दीपक ही नहीं जलाया,

आत्म-विश्वास का उद्बोधन भी दिया। इतिहास का कितना अद्भुत संयोग है कि कांग्रेस की स्थापना के दिनों में ही आर्यसमाज की स्थापना हुई और इस प्रकार देश में नव-जागरण काल का आरम्भ हो गया।

अब देश के बौद्धिक वर्ग के सामने दो निमन्त्रण एक साथ थे : अँगरेज़ों के सहारे से, समाज में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण, यह कांग्रेस की राह थी और पूरे समाज को जाग्रत् करना, उसे उभारना-उठाना यह आर्यसमाज की राह थी। कितनी विचित्र बात है कि एक ही वृक्ष पर एक ही साथ दोनों निमन्त्रणों का प्रभाव पड़ा। यह वृक्ष था हमारा वंश। इस से एक बात तो स्पष्ट है कि इस वंश का रक्त प्रबुद्ध था, क्यों कि प्रबुद्ध रक्त, प्रबुद्ध मानव ही बाहरी प्रभाव को इतनी तेज़ी और तत्परता से ग्रहण कर सकता है। सरदार खेम सिंह के तीन पुत्र थे : सरदार सुर्जन सिंह, सरदार अर्जुन सिंह और सरदार मेहर सिंह। सब से छोटे भाई सरदार मेहर सिंह का जीवन एक साधारण किसान का जीवन रहा और वे युग के उफानों से अछूते रहे। सब से बड़े भाई सरदार सुर्जन सिंह अँगरेज़ों के साथ जा खड़े हुए, पदों पर बैठे और पैसे से खेले। उन के पुत्र सरदार बहादुर दिलबाग सिंह ने उस युग की परस्ती का सब से बड़ा तोहफ़ा ओ० बी० ई० (ऑर्डर ऑव ब्रिटिश एम्पायर) का ख़िताब पाया और सरकार का दायाँ हाथ बन कर रहे। यह भी एक कहानी है।

लाहौर में कांग्रेस का जो अधिवेशन दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में हुआ, उस में सरदार सुर्जन सिंह और सरदार अर्जुन सिंह दोनों भाई जालन्धर से प्रतिनिधि बन कर गये। दोनों ने अपने-अपने हाथों में झण्डे ले रखे थे और दोनों ही देहाती वेश में थे। जालन्धर स्टेशन पर जब वह ट्रेन पहुँची, जिस में दादा भाई लाहौर जा रहे थे और दूसरे प्रतिनिधि भी, तो जालन्धर के प्रसिद्ध वकील रायज़ादा भगतराम ने इन दोनों का परिचय दादा भाई से कराया। सब प्रतिनिधि सूट-बूट में होते थे, उस युग में किसान प्रतिनिधि ये ही दो थे और कांग्रेस में ऐसे प्रतिनिधि पहली बार ही सम्मिलित हो रहे थे। इस लिए दादा भाई इन से मिल कर बहुत खुश हुए और इन दोनों को उन्हों ने अपने ही डिब्बे में बैठा लिया। लाहौर में भी ये दोनों अपने रंग-ढंग के क़ारण सब का ध्यान आकर्षित किये रहे और दादा भाई बराबर इन की खोज-ख़बर लेते रहे।

इस से साफ़ है कि दोनों ही आरम्भ में सार्वजनिक जीवन में साथ थे, पर एक घटना ने दोनों के रास्ते अलग कर दिये। गाँव का एक दरजी चीन गया था, वहाँ से वह लौटा, तो प्लेग साथ लाया। देखते-देखते यह छूतिया रोग गाँव-भर में फैल गया। अँगरेज़ कलक्टर ने हुक्म दिया कि जिन घरों में प्लेग के केस हैं, उन्हें ढहा दिया जाये। सरदार अर्जुन सिंह इस के विरोधी थे। उन का कहना था कि बाद में उन घरों बनाना ग़रीब किसानों के लिए असम्भव होगा और इस तरह वे लोग हमेशा के लि उजड़ जायेंगे। यदि सरकार घर ढहाने का हुक्म देती है, तो यह आश्वासन भी दे कि

बाद में वह उन्हें बनवा देगी। कलक्टर इस पर तैयार न था। सरदार सुर्जन सिंह इस मामले में कलक्टर के समर्थक हो गये और फिर ऐसे बहे कि सरकार-परस्ती ही उन का धर्म बन गया।

सरदार अर्जुन सिंह ने ऋषि दयानन्द के दर्शन किये तो मुग्ध हो गये और उन का भाषण सुना तो नव-जागरण की सामाजिक सेना में भरती हो कर आर्य समाजी बन गये। वे उन थोड़े से लोगों में थे, जिन्हें स्वयं ऋषि दयानन्द ने दीक्षा दी थी, यज्ञोपवीत अपने हाथ से पहनाया था। यह सरदार अर्जुन सिंह का सांस्कृतिक पुनर्जन्म था। मांस खाना उन्होंने छोड़ दिया, शराब की बोतल नाली में फेंक दी। हवन-कुण्ड उन का साथी हो गया और सन्ध्या-प्रार्थना सहचरी। उन का जीवन पूरी तरह बदल गया था और यह बदल एक क्रान्तिकारी छलाँग थी। इस छलाँग की शक्ति का सही अन्दाज़ा वे ही लगा सकते हैं जो उस युग की सामाजिक जकड़न और राजनैतिक शून्यता एवं अवसाद को सही-सही आँक सकते हैं। यह काम सरल नहीं है, क्यों कि हमारी पीढ़ा की वह दुलहिन जो विवाह के कुछ दिन बाद ही खुले मुँह नहीं, खुले सिर अपने पति के साथ हँसते-बोलते सिनेमा देखने जाती है, उस दुलहिन के जीवन का कैसे एहसास कर सकती है, जिस का मुँह तो दूर, उस के पति के अतिरिक्त, परिवार के ही दूसरे पुरुषों के द्वारा आँचल देखना भी पतन माना जाता था और उस की श्रेष्ठता की कसौटी यह थी कि उस की आवाज़ कोई न सुने, वह किसी की तरफ़ आँख उठा कर न देखे। सच-मुच सरदार अर्जुन सिंह का आर्यसमाजी होना एक बड़ा क्रान्तिकारी क़दम था। इसे यों समझा जा सकता है कि किसी हिन्दू का आर्यसमाजी हो जाना ही बड़ी बात थी, फिर सरदार अर्जुन सिंह तो सिख से आर्यसमाजी हुए थे। मन्दिर से ही आर्यसमाज का भवन काफ़ी दूर था, पर वे तो गुरुद्वारे से चल कर आर्यसमाज भवन पहुँचे थे, जो और भी दूर था।

वे पहले जाट सिख थे, जिन्हों ने बड़े और मँझले बेटे किशन सिंह और अजीत सिंह को साईंदास ऐंग्लो संस्कृत हाई स्कूल जालन्धर में शिक्षा प्राप्त करने भेजा और स्वयं भी वहीं रायज़ादा भगतराम वकील के मुन्शी हो गये। उन्हों ने दीक्षा ले कर ही सन्तोष नहीं किया, अपने को इस योग्य भी बनाया कि दूसरों को दीक्षा दे सकें। उन्हों ने ऋषि दयानन्द के मिशन को पूरी तरह समझा और अपने विचारों को पूरी तरह उन के साँचे में ढाला, उन्हों ने आर्यसमाज के साहित्य का बहुत गहरा अध्ययन किया। इस गहराई का पता इस से चलता है कि सनातनधर्मी पण्डितों के साथ मूर्त्तिपूजा और श्राद्ध-जैसे विषयों पर हुए कई शास्त्रार्थों में वे ही आर्यसमाज के प्रमुख प्रवक्ता रहे और आर्यसमाज के उत्सवों में दूर-दूर भाषण देने के लिए जाते रहे। वे अपने क्षेत्र के प्रमुख आर्यसमाजी नेताओं में गिने जाते थे। और हर काम में उन की सलाह मानी जाती थी।

सरदार अर्जुन सिंह के व्यक्तित्व की दो विशेषताएँ थीं। पहली, परिश्रमशीलता और दूसरी, सामाजिक सुधार की दृष्टि। बात को साफ़ करने के लिए मैं कहना चाहूँगी

क्रान्ति दृष्टि। वे जीवन की जड़ता के घोर विरोधी थे और प्रगति के पूरे समर्थक। यह कितनी बड़ी बात है कि उन्होंने अपने ही परिश्रम से संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी और गुरुमुखी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। और कचहरी एवं आर्यसमाज का काम करते हुए ही वे यूनानी हिकमत के सफल हकीम बन गये थे। तुरन्त निर्णय करना और फिर पूरी दृढ़ता के साथ उस निर्णय पर जमे रहना उन का स्वभाव था। वे जालन्धर में अच्छी ज़िन्दगी जी रहे थे, पर जब अँगरेज़ी सरकार ने बार (जंगली इलाक़ा) बसाने और वहाँ जा कर बसने वाले हर परिवार को पचीस एकड़ (एक मुरब्बा) ज़मीन देने की घोषणा की, तो वे लायलपुर ज़िले के बंगा गाँव में जा बसे और खेती के साथ चिकित्सा का काम भी करने लगे। यह लगभग सन् १९०० की बात है।

सरदार अर्जुन सिंह हिकमत जानते थे, इस कथन का कोई अर्थ नहीं। वे एक अच्छे हकीम थे, यह भी साधारण परिचय है। उन की साधना की गहराई इस से बहुत आगे थी। असल में जुट जाना, काम के साथ पूरी योग्यता, पूरी सामर्थ्य के साथ एक-रस हो जाना ही उन का व्यक्तित्व था, उन का चरित्र था। एक वकील के मुन्शी होते हुए उन्होंने यूनानी चिकित्सा-पद्धति पर किस हद तक क़ाबू पा लिया था और अपनी सिद्धि पर उन्हें कितना भरोसा था, इसका पता एक संस्मरण से लगता है।

महाराजा कपूरथला की चिकित्सा के लिए दिल्ली से हकीम अजमल ख़ाँ पधारे। सरदार अर्जुन सिंह के मन की जिज्ञासा थी—हकीम जी राजा-महाराजाओं का इलाज करते हैं, इसी लिए उन का इतना नाम है या सचमुच वे एक महान् हकीम हैं और मुझ से ज़्यादा जानते हैं ? वे कपूरथला जा पहुँचे और दो दिन तक हकीम अजमल ख़ाँ से भिन्न-भिन्न रोगों के सम्बन्ध में बातें करते रहे। शास्त्रार्थ करने में उन का नाम था, इस लिए बहुत बार इन बातों ने बहस का रूप ले लिया, पर हकीम जी भी उन की बातों में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे, इस लिए बातें जारी रहीं। तीसरे दिन सरदार अर्जुन सिंह ने कहा, "सचमुच आप हिकमत के बादशाह हैं, मैं आप को सिर झुकाता हूँ।" हकीम साहब ने भी उन के ज्ञान की गहराई पर ख़ुशी ज़ाहिर की। इस के बाद वे बराबर हकीम जी से पत्र-व्यवहार कर अपना ज्ञान बढ़ाते रहे। कैसा अद्भुत व्यक्तित्व था सरदार अर्जुन सिंह का ! वे अन्न के ही किसान नहीं थे, ज्ञान के भी किसान थे।

लायलपुर की ज़मीन सोना उगलने वाली ज़मीन थी। सरदार अर्जुन सिंह के लिए वहाँ धनपति बनने का पूरा अवसर था। आर्थिक दृष्टि से वे काफ़ी आगे बढ़े भी, पर मिट्टी तब सोना उगलती है, जब कोई सिर्फ़ उस का ही हो जाये—अपने को उस में खपा दे। उन के लिए यह सम्भव न था। आज वहाँ जुलूस हैं, कल वहाँ जलसा है और परसों वहाँ कोई शास्त्रार्थ या यज्ञ है। उन का एक पैर खेत में और दूसरा मंच पर रहता था। उन की मूल वृत्ति परिग्रह की नहीं, त्याग की थी। उन का संकल्प था कि कुछ वर्ष बाद संन्यास ले कर देश-भर में राष्ट्रीय चरित्र के विचारों का प्रचार करें

में जीवन लगायेंगे। और उन के पुत्र काम को सँभाल लेंगे, पर उन के बेटे जवान हुए तो उन्हों ने घर का नहीं देश का काम सँभाला और सरदार अर्जुन सिंह को हाथ में लेना पड़ा परिवार का पालन-पोषण और बेटों के मुक़दमों की पैरवी। संन्यास लेने का संकल्प भी उन का था और पुत्रों को देश-भक्ति का पाठ भी उन्हों ने ही पढ़ाया था। भविष्य कितना अज्ञेय है—मनुष्य क्या सोचता है, क्या हो जाता है। सरदार अर्जुन सिंह अपने ही बोये खेत तो काट रहे थे, अकेले घर की देख-भाल करते हुए।

अँगरेज़ सरकार आर्यसमाज को फूटी आँखों भी देखना पसन्द न करती थी। बात ठीक भी थी। दीन-हीन और अज्ञानी समाज ही किसी का ग़ुलाम रह सकता है, आत्म-विश्वास और अपने उज्ज्वल अतीत के ज्ञान से प्रकाशित समाज ग़ुलाम नहीं रह सकता। दूरदर्शी अँगरेज़ खूब समझते थे कि आर्यसमाज का जागरण कल के उत्थान की भूमिका है, जिसे कुचलना सम्भव नहीं होगा। वे क्रान्ति के इस वृक्ष को अंकुर में ही कुचलना चाहते थे, पर उन की दिक़्क़त यह थी कि इस वृक्ष का तना धर्म का था और फूल-पत्ते समाज-सुधार के। धर्म पर आघात होते ही भारत की जनता जिस तरह १८५७ में उबल पड़ी थी, उसे अँगरेज़ न भूले थे, न भूल सकते थे इस लिए वे बच कर ही उन पर आक्रमण करते थे।

फ़्रान्स में जब ईसाई धर्म का बुद्धिवादी प्रोटेस्टैण्ट रूप उभरा तो उस की स्थिति आर्यसमाज-जैसी थी। वहाँ के राजा ने, जो कैथोलिक ईसाई था, प्रोटेस्टैण्टों पर ऐसे और इतने अत्याचार किये, जिन का इतिहास में कोई जोड़ नहीं। फ़्रान्स के राजा का दृष्टिकोण भी वही था, जो भारत के अँगरेज़ शासकों का कि जनता को समाज-सुधार के काम करने दिये गये, तो कल वह राजनैतिक सुधार भी माँगेगी पर भारत और फ़्रान्स की स्थितियाँ अलग-अलग थीं। फ़्रान्स का राजा फ़्रान्सीसी था और धर्म के एक स्वरूप पर आक्रमण करने के लिए उस के हाथ में धर्म के ही दूसरे स्वरूप की तलवार थी। वह तलवार से तलवार को काट सकता था, पर अँगरेज़ विदेशी थे और भारत की धर्मप्राण जनता उन के अत्याचारों से भड़क सकती थी, इस लिए वे कूटनीति से काम लेते थे और फ़्रान्स के राजा की तरह आर्यसमाज पर सीधा वार न कर धर्म को धर्म से लड़ाने का दावँ चलते थे। पटियाला का केस एक प्रयोगात्मक परीक्षण था।

देशी राज्यों के राजा अँगरेज़ गवर्नर जनरल के सामने बिल्ली थे, तो वहाँ की जनता के सामने शेर बबर थे। उन की इच्छा राज्य में ईश्वर की इच्छा थी और उन का वचन क़ानून। वे खुले-आम जनता पर मन-माने अत्याचार कर सकते थे, किसी में बोलने का दम न था। पटियाला के आर्यसमाजियों पर यह मुक़दमा चलाया गया कि वे सिखों के गुरु ग्रन्थ साहब का अपमान करते हैं। अँगरेज़ों का ख़याल था कि इस से दो काम एक साथ होंगे: सिखों और आर्यसमाजियों में दुश्मनी हो जायेगी और रियासतों के क्षेत्र में आर्यसमाज की जागरण-क्रान्ति का दीपक बुझ जायेगा। देश-भर में इस मुक़दमें का विरोध हुआ और जम कर इसे लड़ा गया। बचाव कमेटी में सरदार अर्जुन

सिंह भी प्रमुख थे। उन्हों ने दूसरे पण्डितों के साथ मिल कर हिन्दुओं के कई ग्रन्थों और सिखों के गुरु ग्रन्थ साहब के लगभग ७०० श्लोक पेश किये जो एक-जैसे थे और सिद्ध किया कि वेद और ग्रन्थ साहब एक हैं, समान रूप से आदरणीय हैं। इस वक्तव्य ने सरदार अर्जुन सिंह की समाज-निष्ठा पर विद्वत्ता का ऐसा रंग जमाया कि उन का व्यक्तित्व और भी चमक उठा।

लिखना उन की हॉबी भी थी, आवश्यकता भी। काम से ज़रा फ़ुरसत मिलती और वे काग़ज़-क़लम ले कर बैठ जाते। लिखते और लिखते चले जाते। कौन पास आया, कौन चला गया, कहाँ कौन क्या बोला इस का उन्हें भान ही न होता था। गाँव के अनपढ़ वातावरण में वहुत बार फुसफुसाहटों में ये शब्द इधर से उधर आते-जाते—जाने वड़े सरदार जी हर वक़्त क्या लिखते रहते हैं? यह सव आर्यसमाज के परिपत्र होते थे और छप कर दूर-दूर तक वँटते थे। कई पुस्तकें भी उन्हों ने लिखी थीं। उन का वहुत-सा साहित्य वाद की तलाशियों में पुलिस उठा ले गयी, फिर भी वहुत-कुछ सुरक्षित था। दुःख है कि वह सव बँटवारे की भेंट हो गया और इस प्रकार उन के साहित्यिक रूप की कहानी अनलिखी ही रह गयी 'हमारे गुरु साहेवान वेदों के पैरो थे' उन की एक किताव थी।

अव वे किसान भी थे, हकीम भी थे, आर्यसमाजी नेता भी थे, पर दृष्टि उन की देश पर ही केन्द्रित थी। काँग्रेस पूर्ण राजभक्ति के गीतों की धुन के साथ छोटी-छोटी माँगों का अध्याय समाप्त कर राजभक्ति प्रकट करते हुए भी अधिकारों की माँग के युग में प्रवेश कर रही थी। भाषणों की टोन भी गरम हो गयी थी, और जनता में आकर्षण भी वढ़ चला था। सरदार अर्जुन सिंह भी उधर झुक गये थे, पर निश्चय ही उस समय उन की आत्मा आर्यसमाज में केन्द्रित थी और वे समाज का जीवन जी रहे थे। वेगा में उन्हों ने दो कुएँ वनवाये, एक सराय और एक गुरुद्वारा। राज-मिस्त्रियों के साथ लग कर वे स्वयं भी चिनाई का काम करते थे। उन के चरित्र का एक विचित्र और विशिष्ट पहलू यह है कि आर्यसमाजी होने पर भी उन्हों ने वहुमत जनता का ध्यान कर गाँव में गुरुद्वारा वनाने में पूरा सहयोग दिया, जव कि गुरुद्वारे में जा कर भी वे ग्रन्थ साहव के सामने मत्था नहीं टेकते थे। कहते थे यह तो मूर्त्ति-पूजा की तरह ही पुस्तक-पूजा है। उस समय आर्यसमाज हर प्रकार के अन्धविश्वास का विरोध कर रहा था। उन की दृष्टि में ग्रन्थ की शिक्षाओं से लाभ उठाना विश्वास और उस की पूजा अन्धविश्वास था। वे सनातनधर्मी पण्डितों के द्वारा धर्म-पुस्तकों पर चन्दन-चावल चढ़ाने का भी इसी तरह विरोध करते थे।

इस के साथ यह भी स्मरणीय है कि गुरुद्वारों पर से पुराने दक़ियानूस महन्तों का प्रभाव हटाने के लिए जो आन्दोलन वाद में चला, उस से सहानुभूति और आन्दोलन के शहीदों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उन्हों ने भी काली पगड़ी पहन ली थी। वे कहीं वँधे हुए न थे, प्रगति की हर धारा के साथ थे।

अपने हाथ से काम करने में उन की श्रद्धा थी। बड़े परिश्रम से उन्हों ने आम का एक बहुत बड़ा बाग़ लगाया था। ग़रीबों का वे सहारा थे। उन का इलाज तो मुफ़्त करते ही थे, पर आवश्यक हो तो दूध भी अपने घर से देते थे। मुक़दमे से फँसे किसी ग़रीब आदमी के काम से वे शहर जाते, तो अपना खाना साथ ले जाते, जिस से उस पर ज़रा भी बोझ न पड़े। इस लिए जहाँ तक सम्भव होता, वे पैदल ही पन्द्रह मील चल कर शहर जाते थे। उस युग में मज़दूरों को मज़दूरी नहीं सिर्फ़ रोटी ही दी जाती थी, पर वे रोटी पर मज़दूरी के पैसे रख कर ही देते थे। उन के इन गुणों की चर्चा दूर-दूर तक थी। कहावत-सी फैल गयी थी चारों ओर, अरे भाई, बड़े सरदार जी तो पैसों की सब्ज़ी देते हैं रोटियों पर।

छुआछूत में उन का विश्वास नहीं था। अछूतों के साथ वे अपने परिवार वालों-जैसा व्यवहार करते थे। वे लोग भी उन्हें देवता की तरह पूजते थे। एक बार ग्राम बंगा ज़िला लायलपुर से कुछ मेहमान ग्राम खासरिया ज़िला लाहौर गये। माता जी उन दिनों वहाँ थीं नहीं। घर में दस वर्ष की अमर कौर थी। घर का काम तो वह किसी-न-किसी तरह चला लेती थी, पर इतने सारे मेहमानों का खाना बनाना उस के बस से बाहर था, इस लिए उस ने एक हरिजन महिला को बुला कर खाना बनवा लिया। इस पर उन मेहमानों ने गाँव में आ कर खूब हल्ला मचाया और उन के घड़े कुएँ पर से उठवाने की बात चलायी। उन्हीं दिनों गाँव में जोहड़ खुद रहा था। गाँव-भर के पुरुष श्रमदान में जुटे हुए थे। उन्हें खाना पहुँचाने की ज़िम्मेदारी सरदार अर्जुन सिंह ने ले ली। खाना जब तैयार हो गया तो उन्हों ने भंगी के सिर पर लस्सी का एक मटका रखा, एक चमार के सिर पर दाल का मटका और एक दूसरे चमार के सिर पर रोटियों का टोकरा। जोहड़ के क़रीब पहुँच कर एक झाड़ी की आड़ में तीनों से वह खाने का सामान रखवा लिया। सब को उन्हों ने रोटी दाल लस्सी परसी। जब, सब खा चुके तो पूछा—क्यों भाइयो, खाने का स्वाद तो नहीं बिगड़ा? सब ने खाने की तारीफ़ की तो बताया—यह खाना झगड़ू भंगी, चेता और छज्जू चमार अपने सिर पर रख कर लाये थे। अब चाहो तो सारे गाँव के घड़े कुएँ पर से उठवा दो। इस तरह उन के गाँव में एक साथ छुआछूत दूर हो गयी।

उन्हें बहुत जल्दी ग़ुस्सा आता था, पर जल्दी ही उतर भी जाता था। ज़िद्दी वे ज़रा भी न थे। एक बार उन्हों ने अपने कुछ खेतों में तम्बाकू बो दिया। सिखों ने इसे अधर्म समझा। उन्हों ने कहा—तम्बाकू को गधे भी नहीं खाते, सुरक्षित रहता है, लागत कम है और नफ़ा ज़्यादा है, इसी से बोया है। उन की बात ठीक थी, पर जब उन्हों ने देखा कि दूसरे लोग इस से दुःखी हैं, तो मान गये और अमृतपान (प्रायश्चित्त) कर लिया। सिद्धान्त और अनुशासन के मामले में वे बेहद सख़्त थे, पर सेवा-सहायता के मामले में बेहद कोमल। वे ऊँचे दरजे के इन्सान थे। हर साल वे एक बड़ा यज्ञ करते थे। उस में बहुत से भजनोपदेशक और विद्वान् आते थे। ख़ूब धूमधाम रहती थी।

हम सरदार अर्जुन सिंह के जीवन को पूरी तरह समझ ही नहीं सकते, यदि उन्हें सिर्फ़ एक तरफ़ से देखें। आर्यसमाज में उन का रोल एक अगुआ का है, अपने पुत्रों को वे राजनीति की दीक्षा देते हैं। १९२० में, जब असहयोग का तूफ़ान उठता है, तो वे 'ओम्' का लाल झण्डा रख देते हैं और चरखे वाला तिरंगा झण्डा उठा लेते हैं। जो बोले सो अभय, वैदिक धर्म की जय के स्थान में उन का नारा हो गया—जो बोले सो अभय, भारत माता की जय। अब वे पूरी तरह तूफ़ान के बीच आ गये। और एक जत्थेदार के रूप में गाँव-गाँव घूमने लगे। वे जेल जाने वालों की क़तार में तो थे ही, जेल जाने के लिए आतुर भी थे। वे अपना जत्था लेकर जड़ावाला पहुँचे। उन्होंने शराब एवं विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर पिकेटिंग करने की घोषणा कर दी, पर उसी दिन चौरी-चौरा काण्ड के कारण आन्दोलन वापस ले लिया गया। वे अपना जत्था ले कर वापस लौट आये और कई दिन तक हँस-हँस कर सब से कहते रहे—गान्धी महात्मा, तू उस दिन ठहर जाता, तो क्या तेरी मूँछ नीची हो जाती।

असल बात यह है कि उन की प्रेरणा देश-भक्ति की थी। देश के लिए जब जो प्रवाह सामने होता, वे उस में कूद पड़ते। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उन्हों ने संघर्ष से कभी मुँह नहीं मोड़ा, जब तक उन में शक्ति रही, वे संघर्ष करते रहे। उन के छोटे भाई सरदार मेहर सिंह के पुत्र सरदार हरि सिंह काँग्रेस आन्दोलन में जेल गये थे। आन्दोलन की असफलता के बाद वातावरण में साम्प्रदायिकता भड़क उठी थी। और देश का वातावरण हिन्दू-मुसलिम दंगों से कलुषित हो गया था। उन दिनों सरदार अर्जुन सिंह क्या कर रहे थे? सरदार हरि सिंह और उन के साथियों ने उन की छत्रछाया में एक बम बनाया और उस की परीक्षा की तो इतना बड़ा धड़ाका हुआ कि सब को पता चल गया। किसी ने शिकायत कर दी और पुलिस के अधिकारी गाँव में आ बैठे, पर सरदार अर्जुन सिंह का इतना लिहाज़ था कि गवाही नहीं मिली और उन के निडर तर्कों के सामने अफ़सरों की एक न चली, अतः उन्हें ख़ाली हाथ लौटना पड़ा।

उन के जीवन की सब से बड़ी उपलब्धि क्या है? उन के जीवन का सब से बड़ा दान क्या है? इन साफ़ प्रश्नों में जब मैं उतरती हूँ तो उत्तर मिलता है : उन की सब से बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्हों ने पूर्वजों के पुराणपन्थी वातावरण से अपने को बाहर निकाला और अपने तीनों पुत्रों को क्रान्ति की दीक्षा दी। किसी एक भावुक युवक का क्रान्तिकारी हो जाना ही साधारण बात नहीं होती, फिर यहाँ तो स्वयं सामाजिक क्रान्तिकारी बनना और अपने तीनों पुत्रों को सशस्त्र क्रान्ति के पथ पर चलते देखने की बात है, जिस का साधारण स्तर पर मूल्यांकन सम्भव नहीं है। उन्हों ने अपने तीनों पुत्रों को नयी शिक्षा से शिक्षित किया, फिर क्रान्ति की नयी दिशा में प्रशिक्षित किया और जब वे पुत्र उन्हें अकेला छोड़ कर क्रान्ति के बीहड़ वनों की ओर बढ़े, जहाँ ख़तरे-ही-ख़तरे थे, और ख़तरों की सम्भावना नहीं, निश्चित ख़तरे, भया-

नक ख़तरे, वर्बादी और विध्वंस के ख़तरे, तो उन्हों ने यही नहीं कि बाधा नहीं डाली; ख़तरों के उस खेल को प्रोत्साहन दिया, उस में सुख माना, उन्हें शान से झेला और उन पर गर्व किया। आ पड़े विध्वंस के बीच बैठ कर शान्त रहना ही दुर्लभ है, पर यहाँ तो निमन्त्रण दे कर बुलाया हुआ विध्वंस था।

एक पुत्र भरी जवानी में शहीद हो गया, दूसरा देश से जलावतन् हो गया, तीसरा हथकड़ियों की चौसर और बेड़ियों की शतरंज जीवन-भर खेलता रहा, पर जब उन के बड़े पोतों जगत सिंह और भगत सिंह का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ तो उन्हों ने एक को अपनी बायीं भुजा में, और दूसरे को दायीं भुजा में भर कर संकल्प किया— "मैं अपने दोनों वंशधरों को इस यज्ञवेदी पर खड़े हो, देश की बलि-वेदी के लिए दान करता हूँ।" बाद में उन्हों ने ही शिष्टाचार और राष्ट्रीय विचार की शिक्षा उन्हें दी। सब कहते थे—अपने बच्चों को सभ्य बनाना कोई सरदार अर्जुन सिंह से सीखे।

कुंजी की बात यह है कि वे स्वयं बहुत सभ्य मनुष्य थे। मैं कहना चाहती हूँ सभ्यता के सब से बड़े गुण सहिष्णुता के वे भण्डार थे। वे जन्म से सिख थे, बाद में आर्यसमाजी हो गये थे, पर उन की पत्नी श्रीमती जय कौर की श्रद्धा सिख धर्म में अखण्ड थी। सरदार अर्जुन सिंह ने उन से आर्यसमाजी होने की कभी ज़िद नहीं की और उन के धार्मिक कार्यों में सदा आदर से, स्नेह से सहयोग दिया। यह आदर, यह स्नेह किस सीमा तक था?

जब उन के पोतों का यज्ञोपवीत हुआ, तो दोनों के सिर पर बाल थे। हिन्दू-प्रथा के अनुसार उन का मुण्डन होना था। नाई आ कर बैठा, तो श्रीमती जय कौर का सिख संस्कार विह्वल हो गया। केशों के प्रति उन में सहज धर्म-भावना थी। उन्हों ने अपने पति से आग्रह किया—"और चाहे जो करो, पर इन के केश मत कटाओ।" वे मान गये—"अच्छा रहने दो, असली चीज़ तो विश्वास है।"

१९१५-१६ की बात है। जगत सिंह को तेज़ बुखार था। बाद में वह सरसाम (सन्निपात) में बदल गया। डॉक्टर की दवा दी गयी। तो उन्हें बार-बार पेशाब आने लगा। हकीम तो वे थे ही। उन्हों ने सोचा: डॉक्टरी दवा की तेज़ी के कारण ही ऐसा हो रहा है और अपनी दवा दे दी। उस के कुछ समय बाद ही जगत सिंह की मृत्यु हो गयी। सन्निपात उस युग में मृत्यु का रूप ही माना जाता था। यह सम्भव है कि इस मृत्यु में उन की दवा का कोई हाथ न हो, पर उन के मन में इस का गहरा सदमा हुआ और उन्हों ने इस के बाद चिकित्सा का काम छोड़ ही दिया। एक ख़ास परिवर्तन उन में यह हुआ कि बच्चों के प्रति बहुत कोमल हो गये। यह कोमलता बहुत ही करुण रूप में तब सामने आयी, जब भगत सिंह पकड़े गये, उन पर मुक़दमा चला। फाँसी निश्चित ही थी। इस सम्भावना ने उन्हें तोड़ दिया। वे दीवार की तरफ़ मुँह किये अपनी चारपाई पर पड़े रहते। उन्हीं दिनों भगत सिंह के क़िस्से बिकने लगे थे, उस की पंक्तियाँ गुनगुनाते और अकसर आँखों में आँसू भर लाते। अपने एक

जवान बेटे की मृत्यु पर वे स्थिर रहे थे, दूसरे की जलावतनी पर शान्त, पर भगत सिंह के बिछोह की कल्पना ने ही उन्हें झकझोर दिया था। इस में उन के बुढ़ापे का प्रभाव भी शामिल था ही।

फाँसी से २०–२२ दिन पहले जब भगत सिंह से मुलाक़ात के लिए परिवार के लोग गये, तो वे भी गये थे। वे वहाँ कोई बात न कर सके और कुछ दूरी पर खड़े हो कर आँसू बहाते रहे।

फाँसी के बाद वे अकसर देश-भक्ति के गीत गाते और कभी-कभी आँखों से आँसू भी पोंछते—क्या वे शोकाश्रु थे? क्या वे हर्षाश्रु थे? क्या यह उन के यज्ञ की पूर्णाहुति थी? क्या वे अपने कार्य पर असन्तुष्ट थे? क्या वे खिन्न थे? मैं इन प्रश्नों की डोर पकड़े विचारों के अन्तरिक्ष में जाने कहाँ से कहाँ तक घूम जाती हूँ और तब भीने स्वर में अपनी झिमझिमाहट के साथ कोई नक्षत्र मुझ से कहता है—हाँ वे शोकाश्रु थे, हाँ वे हर्षाश्रु थे, हाँ, यह उन के यज्ञ की पूर्णाहुति थी, जिस की समिधाएँ उन्हों ने अपनी भरी जवानी में अपने हाथों हवन-कुण्ड में रखी थीं, हाँ वे अपने कार्य पर सन्तुष्ट थे—हाँ वे अपने कार्य पर खिन्न थे।

क्या नक्षत्र की वाणी में कोई विरोध है? नहीं कोई विरोध नहीं है, सिर्फ़ इन्द्र-धनुषी विरोधाभास है। एक पक्ष है क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का। एक पक्ष है बूढ़ी मानवता का। दोनों एक साथ हैं। यह कोई हीनता नहीं, यह महानता है कि सरदार अर्जुन सिंह अपने जीवन की दोपहरी में बलिदानों की होलियाँ जलाने और फाग खेलने के बाद जीवन की सन्ध्या में क्रान्तिकारी भी थे और मनुष्य भी।

उस दिन, उठ कर वे गाँव की दुकान पर अखबार पढ़ने गये तो वहीं गिर गये। उन पर फ़ालिज का आक्रमण हो गया था। जीभ तालू से जा सटी थी, चलना-बोलना असम्भव हो गया था। उन्हों ने लिख कर समझाया। फ़ौरन सरदार किशन सिंह को सन्देश भेजा गया। वे डॉक्टर बोधराज को ले कर आये, चिकित्सा की तैयारी हुई और उन्हों ने दवाई लेने से इनकार कर दिया। और लिख कर बताया कि इस उम्र में फ़ालिज होने पर आदमी ठीक नहीं होता, और दवा लेने से लटकता रहता है। ज़िन्दगी तभी तक ज़िन्दगी है, जब तक वह किसी काम में लगने लायक़ है, नहीं तो वह बोझ है। उन के यह शब्द मानवता के विश्वकोश में लिखने लायक़ हैं। "जो बोझ आसानी से फेंका जा सकता है, उसे ढोते रहना दुनिया की सब से बड़ी बेवक़ूफ़ी है।"

फ़ालिज से उन का तन टूट गया था, पर मन उन का अब भी अटूट था। उन के पुत्र सरदार किशन सिंह ने जब उन पर दवाई लेने का ज़ोर डाला और दवा उन के मुँह की तरफ़ बढ़ायी तो उन्हों ने बलपूर्वक सरदार किशन सिंह को पीछे धकेल दिया। वे बात कहना जानते थे, बात पर अड़ना जानते थे। उन की बात जीवन-भर बात रही थी और अब अन्तिम घड़ियों में भी उन की बात बात थी, उन का निर्णय निर्णय था।

जुलाई १९३२ में उन की मृत्यु हो गयी और क्रान्ति का वह दीप बुझ गया जिस ने जीवन-भर अपने खून से क्रान्ति के नये-नये दीप जलाये थे। उन की हड्डियाँ सच-मुच अगर की बत्तियाँ बन कर इस तरह जलीं कि वे राख हो गयीं, पर हमेशा के लिए अपनी महक छोड़ गयीं।

सरदार अर्जुन सिंह की कहानी शानदार है और उस की सब से बड़ी शान यह है कि वे राष्ट्रीय क्रान्ति के सब से पहले दीपकों में एक है, पर क्या दीपक बिना बाती के जल सकता है? नहीं जल सकता, तो बाती का महत्त्व स्पष्ट है। उन के जीवन में बाती थी उन की पत्नी श्रीमती जय कौर। उन्हों ने उस युग की नारी हो कर भी, जिस में दीवार से बाहर झाँकना भी साहस का काम समझा जाता था, अपने को पति के क्रान्तिकारी जीवन के साथ खड़ा किया और संघर्ष की लपटों के लिए अपने को तैयार कर लिया। यह परिवर्तन कोई साधारण परिवर्तन नहीं था। एक वीर नारी ही इतने बड़े परिवर्तन के झटके को झेल सकती थी।

देह पतली दुबली थी, पर मन बेहद तेजस्वी था। काम की उन में बेपनाह ताक़त थी। थकना वे जानती ही न थीं। घबराना जीवन की उस पुस्तक में कोई अध्याय ही न था, जिस से वे जी रही थीं। खतरे की सम्भावना उन्हें कँपाती न थी, उत्सा-हित करती थी। कष्ट और परेशानी उन के लिए अवसाद का नहीं, आह्लाद का ही कारण बनती थी। नयी परिस्थितियों में ढल जाने की उन में अद्भुत क्षमता थी। इसी लिए बदलती हुई परिस्थितियाँ उन्हें झकझोरती नहीं थीं, नयी चमक देती थीं। व्यक्तित्व की इस विशिष्टता से उन्हें एक सामाजिक क्रान्तिकारी की पत्नी, क्रान्तिकारी पुत्रों की जननी और क्रान्तिकारी पोतों की दादी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे अपने पति के साथ भारतीय राष्ट्र के उस बेजोड़ वंश की प्रवर्तक हुईं, जिस की तीन पीढ़ियाँ ग़ुलामी की ज़ंजीरों को तोड़ने के लिए जान की बाज़ी लगा कर लड़ती रहीं और बाद में भी अन्याय के विरुद्ध न्याय की पताका फहराना जिस का रक्त-धर्म हो गया।

सरदार अर्जुन सिंह वकील के मुन्शी से हकीम हुए तो वे नर्स क्या, अपने क्षेत्र की लेडी डॉक्टर हो गयीं। हकीम जी नुस्खा लिखते, वे दवा बना कर देतीं, एनीमा का काम करतीं, पथ्य बतातीं। यह सब तो था ही, उन्हों ने टूटी हड्डियों को जोड़ना भी सीख लिया था। लोग रोते हुए उन के द्वार आते, हँसते हुए जाते। दुखती आँखों की चिकित्सा उन का तीसरा काम था। एक कहावत-सी फैल गयी थी आसपास दादी जय कौर को देखते ही दुखती आँखें खुल जाती हैं। उन की सफलता में उन की सहानु-भूति का भी बड़ा हाथ था। वे सब से अपने बच्चों-जैसा ही व्यवहार करती थीं। उन के काम और व्यवहार ने उन्हें बिना किसी चुनाव के ही गाँव की चौधरन बना दिया था। किसी के बेटे की शादी हो या बेटी की, निर्णय होते थे उन्हीं की सलाह से। देने-लेने का जो नक़्शा वे बना देती थीं, उस में ज़रा भी इधर-उधर न हो सकता था। बड़ा दबदबा था गाँव के सामाजिक जीवन में उन का।

वरसों उन का घर सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की धर्मशाला रहा। चिकित्सा के साथ उन सब की आव-भगत का काम उन के ही ज़िम्मे था। वाद में उन का घर क्रान्तिकारियों का तहख़ाना वन गया। उन्हें छिपा कर रखना, उन के खाने-पीने की व्यवस्था करना, योजनापूर्वक काम कर के और हर घड़ी चौकन्ना रह कर ही सम्भव था। एक दिन पूरा गाँव घेर लिया गया और हलकी तोपें चारों ओर लगा दी गयीं। पुलिस के सिपाही थे, अफ़सर थे, फ़ौज के सिपाही थे, अफ़सर थे। ऐसा मालूम होता था, जैसे गाँव में कोई युद्ध का मोर्चा लगा हो। लगता था जैसे गाँव वाग़ी हो गया हो! लेकिन वास्तव में क्रान्तिकारी साहित्य छापने के अपराध में यह सब सरदार अजीत सिंह और सूफ़ी अम्वाप्रसाद को गिरफ़्तार करने आये थे।

सरदार अजीत सिंह तो घर में न थे, पर सूफ़ी साहव घर में ही थे। वे कैसे वचें? उन्हें कौन वचाये? दादी जय कौर ने इस का बीड़ा उठाया और वे द्वार पर गयीं। पुलिस अफ़सर वाहर था—"क्या वात है? आप क्या चाहते हैं?" उन्हों ने पूछा। लेकिन अफ़सर ने गिरफ़्तारी की वात छिपायी—"हमें घर की तलाशी लेनी है।"

"आप को सरकार ने तलाशी लेने को कहा है, तो आप ज़रूर तलाशी लें, पर आप भी तो वहू-वेटी वाले ख़ानदानी आदमी हैं, इस लिए पहले परदानशीन औरतों को घर से निकल जाने दें, तव घर में घुसें।"—श्रीमती जय कौर ने दृढ़ता से कहा। अफ़सर तैयार हो गया। अपनी-अपनी चादर में लिपटी स्त्रियाँ घर से वाहर निकल गयीं। अव पुलिस घर में घुसी, पर कमाल यह कि सूफ़ी साहव वहाँ न थे, वे भी इसी वीच वाहर हो गये थे। पुलिस को यह मानना पड़ा कि उस की जानकारी ग़लत थी। और सात ऊँटों पर लाद कर पुलिस छपा और लिखा साहित्य अपने साथ ले गयी।

सतर्कता और सन्नद्धता उन के व्यक्तित्व के चमकदार पहलू थे। इन गुणों ने उन्हें एक सख्त व्यक्तित्व वना दिया था। यह सख्ती स्वभाव की मालूम होती थी, पर थी वह व्यवस्था की। घर में हर चीज उस की अपनी जगह रहे यह वे चाहती थीं और ज़रा भी इधर-उधर होने पर गरज उठती थीं, वरस पड़ती थीं। वच्चा रो कर रूठ कर अपनी मनचाही माता-पिता से मनवाना चाहता है। उन के सामने यह असम्भव था। उन का दृष्टिकोण यह था कि इस तरह माता-पिता वच्चे में रूठने की, रोने की, ज़िद करने की आदत पैदा करते हैं। वे न गिड़गिड़ाने से झुकती थीं, न रोने से। उन की गरम घुड़की वोध का काम करती थी। वात यह थी कि जो व्यवहार उन का परिवार में वच्चों, वहुओं के साथ था, वही गाँव-भर के साथ। वे एक शासक थीं और कौशल एवं ताक़त दोनों से शासन करने में विश्वास रखती थीं।

मई १९४० में उन की मृत्यु वंगा में हुई। इस में सन्देह नहीं कि सरदार अर्जुन सिंह के साथ ही अपने पति के लिए उन का समर्पित जीवन भी क्रान्ति के इतिहास में स्मरणीय है। सरदार अर्जुन सिंह सामाजिक क्रान्ति के ध्वज थे, तो वे उस ध्वज का सुदृढ़ दण्ड थीं।

■ ■

संघर्ष और सन्तुलन के अवतार सरदार किशन सिंह

२६ जनवरी १९५० को स्वतन्त्र भारत का स्वतन्त्र संविधान लागू हुआ। यह राष्ट्रीय इतिहास के एक अध्याय की पूर्ति थी।

इस के ठीक एक साल चार महीने चार दिन बाद ३० मई १९५१ को सरदार किशन सिंह ने सदा के लिए आँखें मूंद लीं। यह भी राष्ट्रीय इतिहास के एक अध्याय की पूर्ति थी। सरदार किशन सिंह भारत में सशस्त्र क्रान्ति-प्रयत्नों का जीवित इतिहास ही तो थे।

मैं उन के जीवन को संक्षेप में इस तरह कह सकती हूँ कि वे पैदायशी बाग़ी थे, जन्मजात क्रान्तिकारी थे और जीवन के अन्तिम दिन तक क्रान्तिकारी रहे, पर सोचती हूँ कितना कठिन है यह जीवन। काँटों पर चलना और आग में जलना भी उस की ठीक उपमा नहीं। हाँ, शायद जीवन-भर अंगारों से खेलना इस ज़िन्दगी का चित्र तो नहीं, रेखाचित्र हो सकता है। अंगारों में जला डालने की शक्ति होती है, ज़रा चूके कि राख की ढेरी हो गये। सोना तो दूर आँख झपकने की भी यहाँ गुंजायश नहीं। सुबह-शाम, शाम-सुबह चौबीस घण्टे संघर्ष! कितना कठिन है यह, फिर आगे बचे तो पीछे जले, पीछे बचे तो आगे जले। यानी यहाँ की चूक अचूक सर्वनाश ही है। जीवन का हर क्षण चौकन्ना, जीवन का हर क्षण चौकस; कितना संघर्ष, कैसा अद्भुत सन्तुलन! सचमुच संघर्ष और सन्तुलन के अवतार ही थे सरदार किशन सिंह।

हमारा वंश क़िसान वंश था। किसान का जीवन स्व-केन्द्रित होता है। उस का खेत ही उस की दुनिया है। बड़ों से सुना है कि दिल्ली में शाही तख्त पर शाहों की अदला-बदली होती रहती थी और दिल्ली से तीन मील दूर किसान बिना उस अदला-बदली में कोई दिलचस्पी लिये अपने-अपने खेतों पर हल चलाते रहते थे। ऐसे वंश में सामाजिक क्रान्ति का पहला दीपक सरदार अर्जुन सिंह ने जलाया था। सरदार किशन सिंह के जीवन की विशेषता यह है कि उन्हों ने उस दीपक से रोशनी ले कर अपने को उस समय की मुलायम काँग्रेस राजनीति के आराम-पसन्द चक्कर से बचा कर उग्र राजनीति की होली जलाने वालों में ला खड़ा किया। आम तौर पर ऐसा

होता है कि उत्साही मनुष्य अपने वातावरण से छलाँग मार कर अगले वातावरण में जा पहुँचता है, उस से आगे का वातावरण उसे आवाज़ लगाता है, पर वह नयी छलाँग से बचता है। यही नहीं, अपने बचाव की कमज़ोरी को छिपाने के लिए अपनी पहली छलाँग को ही सब-कुछ कहने और समझाने लगता है। सरदार किशन सिंह जीवन के अन्त तक इस कमज़ोरी से बचे रहे और छलाँग पर छलाँग लगाते रहे। यह कोई संयोग नहीं था कि शहीदों के शहीद सरदार भगत सिंह उन के घर जन्मे। यह तो उन की ज्वालामयी जीवन-बेल का सहज पुष्प था। इसी कोने पर खड़े हो कर हम सरदार किशन सिंह के जीवन को सही-सही देख सकते हैं, आँक सकते हैं।

उथल-पुथल ही जीवन-भर जिस का काम होना था, उस के नाम में उथल-पुथल हो गयी तो क्या आश्चर्य? सन् १८७८ में सरदार किशन सिंह का जन्म हुआ तो नाम रखा गया गोविन्द सिंह। गोविन्द सिंह कुछ बड़ा हुआ तो दूसरे बच्चों में खेलने लगा। सब उसे पुकारते—गोविन्दा। छोटे-बड़े सभी के लिए नाम पड़ गया गोविन्दा। घर में किसी की भावुकता ने ठेस खायी—गुरु गोविन्द सिंह का अपमान है यह गोविन्दा का उच्चारण। गोविन्द सिंह तब आठवाँ वर्ष आरम्भ कर रहे थे। होली के उत्सव पर परिवार के लोग आनन्दपुर (गुरू गोविन्द सिंह का बचपन का निवास) गये। वहाँ गोविन्दा ने अमृत छका और किशन सिंह हो गया। उस समय किसी को क्या पता था कि वे जिस का नाम बदल रहे हैं, वह जीवन-भर भारत के इतिहास को बदलने में जुटा रहेगा।

साईदास ऐंग्लो संस्कृत हाई स्कूल जालन्धर में शिक्षा पाने के बाद उन का सार्वजनिक जीवन महात्मा हंसराज के साथ आरम्भ हुआ। उन के जीवन के इस काल को सेवाकाल कह सकते हैं। इस काल ने उन्हें अपने छोटे परिवार से आगे बढ़ा कर देश-व्यापी परिवार का सदस्य बनाया। यह सदस्यता रजिस्टर की नहीं, हृदय की है। कहाँ जालन्धर और कहाँ बरार (विदर्भ)। अख़बारों में ख़बर छपती है कि बरार में भयंकर अकाल पड़ा है और महामारी का प्रकोप भी फैला है। आप लाला विशम्भर सहाय और लाला शिवराम वकील (फ़िरोज़पुर निवासी) के साथ मिल कर बरार सहायता-समिति बनाते हैं और स्वयं बरार जा पहुँचते हैं। यहाँ से सामान जाता रहता है, वहाँ पीड़ितों में वितरण होता रहता है। अकाल का प्रकोप समाप्त होता है पर सरदार किशन सिंह घर लौटने के लिए अपना खेमा कैसे उखाड़ें? अपने प्रतीक्षा करते परिवार में कैसे जा पहुँचें? उन के चारों ओर वे बच्चे हैं, जिन के माता-पिता अकाल में मर गये, जिन का अब कहीं कोई नहीं। सरदार किशन सिंह अकेले गये थे बरार, पर लौटते हैं पचासों बच्चों के साथ। फ़िरोज़पुर में अनाथालय खुल जाता है और उन बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षण की व्यवस्था होती है!

यह १८९८ की बात है, पर सन् १९०० के आते ही गुजरात के अकाल का क्रन्दन सुनाई पड़ता है। सरदार किशन सिंह का कैम्प अहमदाबाद में लग जाता है और

वहाँ से सेवा का कार्य निबटा कर जब वह लौटते हैं, तो बहुत से बालक उन के साथ आते हैं। उन की भी व्यवस्था की जाती है। १९०४ काँगड़ा के भूकम्प की खबर देता है। विध्वंस ही विध्वंस है चारों ओर। सहायता कमेटी बनती है, सरदार किशन सिंह उस के मन्त्री चुने जाते हैं। उन का कैम्प वहाँ भी लग जाता है और सेवा-कार्य आरम्भ होता है। वे गिरे हुओं को उठाते हैं, मरते हुओं को बचाते हैं और तब लौटते हैं, पर लौट कर बैठ कहाँ पाते हैं? १९०५ में जेहलम में ज़बर्दस्त बाढ़ आ जाती है, श्रीनगर का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, काश्मीर की घाटी कराह उठती है। किशन सिंह दौड़ कर वहाँ पहुँचते हैं और सेवा का काम आरम्भ करते हैं।

कौन है, जो अपने दुःख के साथी को प्यार न करे, मान न दे? सरदार किशन सिंह की लोकप्रियता भी आकाश को छूने लगती है, लोग उन्हें देवदूत की तरह आँखों पर बैठाने लगते हैं। क्या किशन सिंह इस सम्मान से फूल उठते हैं और अपने में सन्तुष्ट हो कर बैठ जाते हैं? नहीं, जन-जन का यह प्यार-भरा सम्मान उन्हें परेशान कर देता है। वे अपने से पूछते हैं—जनता की यह दुर्दशा क्यों है? आज यह तो कल वह, दुःख उस के द्वार पर क्यों खड़ा रहता है? क्या इन दुःखों की कोई रोक-थाम नहीं हो सकती? क्या विध्वंस की इन घड़ियों में सरकार का कोई उत्तरदायित्व नहीं है? और वह अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं करती, तो क्या हम उसे ऐसा करने के लिए विवश नहीं कर सकते?

इन प्रश्नों ने उन्हें देश की गुलामी का बोध कराया। यह बोध धीरे-धीरे उन के मन का कड़ुआ बोझ बन गया। यही बोझ उन्हें राजनीति में ले आया। भारत की स्वतन्त्रता को ही वे सब रोगों की दवा मानने लगे। काँग्रेस ही उस युग में एकमात्र राजनैतिक संस्था थी, पर नरम-दलीय—आरामतलब और राजभक्त राजनीतिज्ञों का उस पर क़ब्ज़ा था। फिर भी जो कुछ था उसी में था। खासकर लोकमान्य तिलक के व्यक्तित्व ने उन्हें आकर्षित किया और वे काँग्रेस में दिलचस्पी लेने लगे। लेकिन प्यास तो कुएँ-भर पानी की थी और पानी यहाँ गिलास-भर ही था। प्यास भड़क कर भटकती है साधारण जन की, और नया कुआँ खोदने-खोजने की हिम्मत देती है—असाधारण जन को।

यह असाधारण जन उन के घर में ही था—उन के छोटे भाई सरदार अजीत सिंह। अजीत सिंह भी सरदार किशन सिंह के साथ ही तिलक के सम्पर्क में थे और विद्रोह की ज्वाला में उफन रहे थे। सरदार किशन सिंह उन के साथ गरम क्रान्तिकारी आन्दोलन में कूद पड़े। कूद क्या पड़े, एक प्रकार से उसे उन्हों ने जन्म ही दिया था। सूफ़ी अम्बाप्रसाद इस आन्दोलन की आत्मा थे, सरदार अजीत सिंह, हृदय-प्राण, सरदार किशन सिंह भुजा और लाला हरदयाल मस्तिष्क थे। सरदार स्वर्ण सिंह, सरदार करतार सिंह केसरगढ़िया, लाला लालचन्द फलक, महाशय घसीटा राम, मेहता नन्दकिशोर मेहता, ज़िआउल हक़, केदारनाथ सहगल, लाला पिण्डीदास आदि

इस में साथी थे। 'सहायक' नाम से गर्म राजनीति का जो दैनिक पत्र निकाला गया, सरदार किशन सिंह ही उस के सम्पादक थे। भारत माता सोसायटी के जलसों में अपने भाषणों से आग जलाना सरदार अजीत सिंह का काम था, उसे गाँव-गाँव में फैलाने लायक़ बनाना सरदार किशन सिंह का और गाँव-गाँव फैलाना सरदार स्वर्ण सिंह का काम था। तीनों भाई इस क्रान्तियज्ञ के ब्रह्मा, विष्णु, महेश थे। १९०७ में अजीत सिंह को माण्डला (बर्मा) में नज़रबन्द किया गया। अँगरेज़ी सरकार की कड़ी निगाह सरदार किशन सिंह पर थी, पर सरदार किशन सिंह की तेज़ निगाह भी तो अँगरेज़ी सरकार पर थी। और अन्ततः कड़ी निगाह हारी, और तेज़ निगाह जीती। सरदार किशन सिंह नेपाल जा पहुँचे। सूफ़ी अम्बाप्रसाद और मेहता नन्दकिशोर भी उनके साथ थे। नेपाल सरकार से सरदार किशन सिंह का पहले से सम्पर्क था। ख़ानदान के काग़ज़ों से पता चलता है कि नेपाल में वे शाही मेहमान हुए और उन्हें वर्फ़ बाग़ के उस भवन में ठहराया गया, जहाँ कभी लॉर्ड किचनर को ठहराया गया था। प्रधान मन्त्री महाराज चन्द्र शमशेर जंग बहादुर राणा उन के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्हों ने अपने पुत्र को ज्ञान और प्रेरणा प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन उन के पास भेजने का नियम बना दिया था।

सरदार किशन सिंह नेपाल सरकार से भारत में क्रान्ति के लिए सेना और शस्त्रों की बात कर रहे थे। अँगरेज़ी सरकार को पता मिल गया। उस ने इन लोगों को वापस करने के लिए नेपाल सरकार पर ज़ोर डाला। सरकार कमज़ोर थी, मजबूर हो कर उन्हें वापस करने को तैयार हो गयी; लेकिन यह मजबूरी कितनी गहरी थी, इस का पता इस बात से चलता है कि नेपाल सरकार ने सम्मान और शान के साथ इन्हें पालकी में बैठा कर नेपाल की सीमा तक भेजा। भारत सरकार ने डी० एस० पी० मिस्टर फ़िलिप पर आक्रमण करने और सरकार के ख़िलाफ़ बग़ावत फैलाने के आरोप में उन पर मुक़दमा चलाया। बाद में ऊपर के स्तर पर अँगरेज़ी सरकार की नीति में नया मोड़ आया। सरदार किशन सिंह को पचास हज़ार की ज़मानत पर छोड़ दिया गया। सरदार अजीत सिंह को माण्डले से रिहा कर दिया गया और चीफ़ कोर्ट ने सरदार स्वर्ण सिंह को छोड़ने का आदेश दे दिया। ये तीनों ही एक साथ जिस दिन छूटे उसी दिन घर में भगत सिंह ने जन्म लिया।

अँगरेज़ी सरकार सरदार अजीत सिंह को किसी बड़े चक्कर में फाँसने की तैयारी कर रही थी। सरदार किशन सिंह ने उन्हें देश से बाहर चले जाने का परामर्श दिया, पर यह काम आसान न था। सरदार अजीत सिंह पर हर घड़ी ख़ुफ़िया पुलिस की आँख थी और रास्ते का हर पेड़ उस का संवाददाता था। सरदार अजीत सिंह के घर से बाहर निकलते ही सारी मशीनरी हरक़त में आ जाती थी। फिर यह तो उन के देश से बाहर जाने का मसला था। सरदार किशन सिंह की संगठन-शक्ति को सौ बार नमन कि खुली सड़कें अजीत सिंह के लिए गुप्त गुफाएँ बन गयीं। अँगरेज़ी सरकार के

पहरेदार पहरे पर संगीन लिये जागते रहे और सरदार अजीत सिंह अकेले ही नहीं, सूफ़ी अम्बाप्रसाद, जिआउल हक़ और दूसरे कई साथियों के साथ कराची हो कर ईरान पहुँच गये। उस युग की डरावनी परिस्थितियों में सरदार किशन सिंह का यह कारनामा निस्सन्देह एक वड़ा चमत्कार कहा-माना जायेगा।

इस तरह के चमत्कारों का प्रदर्शन उन्हों ने बहुत वार किया। इसी कारण उन के साथी उन्हें सूझ का बादशाह कहा करते थे और समझते थे कि जो काम कोई न कर सके उसे सरदार किशन सिंह कर सकते हैं। अनुभव भी इस का समर्थन करता रहता था। लॉर्ड हार्डिञ्ज पर दिल्ली में वम फेंके जाने के वाद वंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन के महान् नेता रासविहारी वोस पर सरकार की आँख थी। उस की सर्वोच्च मशीनरी उन्हें गिरफ़्तार करने पर जुटी हुई थी। उन का पता देने पर भारी इनाम की घोषणा तो थी ही, उन की मदद करने पर भयंकर दण्ड भी निश्चित था। जव दिल्ली की तरफ़ पुलिस की निगाह से उन का वचना असम्भव हो चला, तो वे पंजाव खिसक आये। वहाँ सरदार किशन सिंह के सिवा कौन था, जो उन्हें अपने साये में छिपा ले! पहला सवाल मकान का था। अकेले परदेसी को भला कौन गृहस्थ किराये पर मकान देगा? अकेला मकान लेने पर पुलिस की निगाह पड़ने का डर था। सरदार किशन सिंह ने कपूरथला के श्री रामशरण दास को प्रभावित किया। वे इस वात पर तैयार हो गये कि उन की पत्नी रासविहारी के साथ उन की पत्नी वन कर रहे। सोचती हूँ कैसा था वह युग, जिस में लोग देश के लिए सब-कुछ करने को तैयार थे! रामशरण दास तो अभिनन्दनीय हैं ही, उन की पत्नी भी स्मरणीय है। उस ने बात खुलने पर सामाजिक लांछन का खतरा तो उठाया ही, लम्बी क़ैद का ख़तरा भी झेला। रासबिहारी का नाम पंजावी ढंग का रख दिया गया, उन्हें पंजावी वेश-भूषा पहना दी गयी, पंजावी पत्नी थी ही। पूरा रहन-सहन पंजावी हो गया। पुलिस की निगाहों के नीचे सव काम होते रहे।

कामागाटा मारू काण्ड के विख्यात वावा गुरुदत्त सिंह कई वर्ष फ़रार रहे। सरकार की गुप्तचर मशीनरी ने अपना पूरा ज़ोर लगाया, पर उन का कहीं पता नहीं चला। इस विचार से सरकार को कभी-कभी सुख मिलता था कि वावा जी शायद मर गये हैं। बाबा जी आनन्द से जी रहे थे और पूरी तरह सुरक्षित थे। सरदार किशन सिंह को उन की हर बात का पता था, क्यों कि सारी व्यवस्था स्वयं सरदार किशन सिंह के ही हाथ में थी। अन्त में जव गुरुद्वारा आन्दोलन चला, तो यह निश्चय हुआ कि वावा जी ननकाना साहब में गिरफ़्तार हों। अवश्य ही यह भी सरदार किशन सिंह की ही सूझ का फल था और बावा जी के गुप्त रूप से ननकाना साहब पहुँचने की व्यवस्था भी उन्हों ने ही की थी। सव ने माना कि यह सूझ ग़ज़व की रही, क्यों कि इस ने एक फ़रार बाग़ी के केस को पूरे सिख-समाज का सार्वजनिक प्रश्न बना दिया और सरकार की राक्षसी प्यास पर बहुत-कुछ बन्धन लगा दिया।

प्रथम दिल्ली षड्यन्त्र केस को सरकार ने बहुत ज़ोर-शोर से लड़ा। उस के विख्यात अभियुक्त (बाद में फाँसी से शहीद) मास्टर अमीर चन्द ने गुप्त ख़बर भेजी कि पुलिस की सरदार किशन सिंह पर सख्त निगाह हैं, वे दिल्ली न आयें। वे दिल्ली नहीं गये, पर उन्हों ने देशबन्धु श्री चितरंजन दास को वकील तो कर ही दिया, हर क़ैदी की ज़रूरतें भी पूरी करते रहे और मुक़दमे की दूसरी व्यवस्थाओं में भी सहयोग देते रहे। इन उदाहरणों से साफ़ ज़ाहिर है कि वे क्रान्ति-उपवन के ऐसे माली थे जिसे हर पेड़ की ज़रूरत का ध्यान रहता है!

किशन सिंह का यह ध्यान इतना चौकस और चौकन्ना कि अँगरेज़ी सरकार की मशीनरी के पुरज़े अकसर झल्लाते थे, कुढ़ते थे और हाथ मलते थे, पर कभी-कभी झनझना कर टूट भी पड़ते थे। उन की एक गवाही इस पर अच्छी रोशनी डालती है। लाहौर के तिमंज़िले मकान में नीचे की दो मंज़िलों में भारत माता सोसायटी का किताबों की दुकाननुमा गुप्त दफ़्तर था। वहाँ काम होता कुछ दीखता था और होता कुछ और था। इस मकान की तीसरी मंज़िल में भाई परमानन्द रहते थे। एक दिन पुलिस ने वह मकान घेर लिया और तलाशी ली। भाई जी के कमरे में एक सन्दूक़ मिला। वह नीचे वालों ने ही कभी रख दिया था। उस में अजीत सिंह का लिखा भारत का संविधान और अरविन्द घोष का लिखा बम का फ़ॉर्मूला भी निकला। तलाशी की बात किशन सिंह को मालूम न थी, इस लिए वे हमेशा की तरह वहाँ जा निकले। पुलिस ने उन्हें देख लिया, तो वे अनजान की तरह पूछने लगे—बात क्या है?....क्या बात है? पुलिस ने उन की उपस्थिति का लाभ उठाया और उन्हें अपना गवाह बना लिया।

मैजिस्ट्रेट ने पूछा—"भाई परमानन्द के मकान में तलाशी हुई?" सरदार किशन सिंह ने कहा—"जी हाँ, भाई परमानन्द के मकान में तलाशी हुई।" आप उस समय वहीं थे—"जी हाँ मैं वहीं था।" मैजिस्ट्रेट ने संविधान और बम का फ़ॉर्मूला दिखा कर पूछा—"यह सामान उस तलाशी में एक सन्दूक़ से निकला?" बेहद भोलेपन के साथ किशन सिंह बोले—"भला मुझे कैसे मालूम हो सकता है कि यह सामान कहाँ से निकला?" मैजिस्ट्रेट ने अपने प्रश्न को नयी करवट दी—"सरदार साहब, आप ने अभी कहा कि आप वहाँ थे। इस लिए जब यह सामान एक सन्दूक़ से निकला तो आप ने देखा। बस यही मतलब है मेरे प्रश्न का और इस से आप सहमत होंगे ही?" प्रश्न उलझाने वाला था, पर सरदार किशन सिंह उलझने वाले कहाँ थे? उन्हों ने कहा—"श्रीमन्, बात यह है कि जब मैं वहाँ पहुँचा, तो ये काग़ज़ डिप्टी पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट मिस्टर बी० टी० के हाथ में थे। अब आप ही बताइए कि मुझे यह कैसे मालूम हो सकता है कि उन के हाथ में यह कहाँ से आया?"

सरकारी अफ़सरों का फ़ौलादी घेरा झन्नाटे के साथ टूट गया था, तोड़ दिया गया था, पर उस समय अफ़सर किशन सिंह को घूर ही सकते थे, उन का कुछ बिगाड़

न सकते थे।

सरदार किशन सिंह के व्यक्तित्व की एक खास वात यह थी कि वे देखने में बेहद भोले थे। कोई नहीं कह सकता था कि वे कोई वात छिपा सकते हैं, किसी षड्यन्त्र में शामिल हो सकते हैं या कोई चालाकी का काम कर सकते हैं। कोई कहे भी, तो सुनने वाले को विश्वास नहीं आ सकता था। चेहरे का यह प्राकृतिक भोलापन उन के क्रान्तिकारी जीवन का रक्षाकवच था। उन की संगठन-शक्ति को जो जीवन-भर सफलता मिली, यह भोलापन भी उस का एक प्रमुख अंग रहा। मैजिस्ट्रेट ने उन के भोलेपन का लाभ उठाने को ही वह प्रश्न पूछा था। वे उस पर हाँ के सिवा कुछ और कह सकते हैं, इस की न मैजिस्ट्रेट को सम्भावना थी, न पुलिस-अफ़सरों को। वे प्रश्न पूछते समय वहुत खुश थे, क्यों कि सरदार किशन सिंह की इस हाँ का अर्थ था मुक़दमे का मंज़िल पर पहुँच जाना, पर कहा तो मैं ने सरदार किशन सिंह ऐसे भोले कहाँ थे?

उन की सूझ-बूझ और चतुरता का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि वह अपना साहस और सन्तुलन कभी न खोते थे और दूसरा पहलू यह था कि वह मरदुमशनास थे—आदमी को देख कर उस के गुण-अवगुण परख लेते थे। श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल का उन से परिचय १९१०–११ में हो गया था। सान्याल जब-तब उन से सलाह-सहयोग लेने आते रहते थे। एक बार शचीन्द्रनाथ आये तो उन के साथ विभूति नामक युवक भी था। सरदार किशन सिंह ने ग़ौर से विभूति को देखा और वे शचीन्द्रनाथ के प्रति ऐसे वन गये, जैसे उन्हें जानते-पहचानते ही न हों। जब शचीन्द्रनाथ ने गुप्त आन्दोलन की कोई वात छेड़ी तो नाराज़गी के स्वर में सरदार किशन सिंह ने कहा—"आप ग़लत जगह आ गये हैं। मैं तो एक सामाजिक कार्यकर्त्ता हूँ। मुझे न राजनैतिक मामलों में पड़ने की रुचि है, न समय है। आप कोई और ठिकाना देखें।"

शचीन्द्रनाथ आश्चर्य से उन की तरफ़ देखने लगे। विभूति वहाँ से उठ कर कहीं गये तो सरदार किशन सिंह, शचीन्द्रनाथ पर वहुत नाराज़ हुए—"आप इस युवक को ले कर मेरे पास क्यों आये? यह आदमी विश्वास के योग्य है ही नहीं। आप मेरी बात नोट कर लें कि आप जो कमज़ोर खम्भे खड़े कर रहे हैं, वे एक दिन आप पर ही गिरेंगे।" शचीन्द्रनाथ ने विभूति की विश्वसनीयता पर वहुत-कुछ कहा, पर सरदार किशन सिंह सहमत नहीं हुए। अन्त में सरदार किशन सिंह की ही बात ठीक निकली, क्यों कि वनारस षड्यन्त्र केश में विभूति सरकारी गवाह हो गया और उस से पार्टी के काम को वहुत धक्का पहुँचा।

आदमी की तरह ही उन में घटना-चक्र को पहचानने की भी अद्‌भुत शक्ति थी। इस का वहुत अच्छा प्रदर्शन १९१५–१६ के ग़दर पार्टी-आन्दोलन के समय हुआ। ग़दर पार्टी की अमेरिका में स्थापना लाला हरदयाल की प्रेरणा और प्रयत्नों से हुई थी। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि लाला हरदयाल भारत माता सोसायटी के प्रमुखों में

एक थे और भारत माता सोसायटी की योजना के अनुसार अमेरिका गये थे। इसी परिप्रेक्ष्य में यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि सरदार किशन सिंह का ग़दर पार्टी के भारतीय आन्दोलन से क्या सम्बन्ध रहा ?

भारत माता सोसायटी और ग़दर पार्टी का लक्ष्य एक था, पर कार्य-प्रणाली में गहरा अन्तर था। ग़दर पार्टी अमेरिका में बनी थी, जहाँ राजनैतिक संगठनों के लिए पूरी स्वतन्त्रता थी और वहाँ की सरकार का विरोध खुले-आम करना एक साधारण प्रजातन्त्री घटना थी। इस के विरुद्ध भारत गुलाम था। यहाँ साधारण राजनैतिक चर्चा पर भी पाबन्दी थी। ग़दर पार्टी के जो हज़ारों लोग और नेता भारत में ग़दर करने के लिए आये, वे अमेरिका से भारत तक रास्ते के हर बन्दरगाह पर खुलेआम भारत में ग़दर करने का ऐलान करते चले आये। वे लोग गोपनीयता से इतनी दूर थे कि उन्हों ने रास्ते से ही तार दे कर दैनिक 'अमृत बाज़ार पत्रिका' से पूछा—"क्या भारत में ग़दर आरम्भ हो गया है ?"

भारत पहुँचते ही बहुत से लोग पकड़े गये, जो कि स्वाभाविक भी था, पर कमाल यह हुआ कि किसी तरह अँगरेज़ों की निगाह से बच कर जो लोग भारत पहुँच गये, उन्हों ने भी देश की परिस्थितियों को समझने से इनकार कर दिया। भारत में भी वे ग़दर पर भाषण देने लगे। करतार सिंह सराबा ने डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर में ग़दर पर जो भाषण दिया उस में तारीख़ की भी घोषणा कर दी। सरदार किशन सिंह ने ग़दर आन्दोलन को सहारा दिया और शस्त्र ख़रीदने के लिए रुपये भी दिये, यह सरकारी रिपोर्टों से भी सिद्ध है, पर उन की सावधान क्रान्तिकारी बुद्धि इस तरीक़े का समर्थन कैसे कर सकती थी ? भारत माता सोसायटी का सारा आन्दोलन गुप्त था और सरदार किशन सिंह उस के प्रमुख विधाता थे। उन्हों ने साफ़ कह दिया कि अँगरेज़ सरकार युद्ध के कारण कितनी भी बुरी हालत में क्यों न हो, यह आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। यह प्रथम विश्वयुद्ध के समय की बात है। करतार सिंह इस बात पर नाराज़ हुए और कहा—"आप डरते हैं, इसी से ऐसी बातें कह रहे हैं।" सरदार किशन सिंह सचमुच डर रहे थे, पर अँगरेज़ों से नहीं, अन्धे जोश से।

आख़िर वही हुआ, जो उन्हों ने कहा था। ग़दर आन्दोलन असफल हुआ और १९१५–१६ में उस के बिखरे नेताओं पर सरकार बुरी तरह टूट पड़ी—गिरफ़्तारियों का ताँता लग गया। सरदार किशन सिंह ने दूरदर्शिता के भाव से लाहौर छोड़ दिया और बंगा में जा कर रहने लगे। गाँव में एक ईसाई पादरी भी रहता था। मैं कह चुकी हूँ कि किशन सिंह के चेहरे पर असाधारण भोलापन था। इस से पादरी उन की ओर आकर्षित हुआ। बाद में वह उन के ज्ञान से प्रभावित हुआ। इन्स्पेक्टर जनरल पुलिस से उस के सम्बन्ध थे, जैसे कि उस समय होते ही थे। इन्स्पेक्टर जनरल पुलिस ने पादरी से सरदार किशन सिंह के बारे में पूछा, टोह ली कि वे गाँव में बैठ कर कोई तूफ़ान तो नहीं रच रहे ?

पादरी को सरदार किशन सिंह के राजनैतिक चरित्र का पता नहीं था। उस ने उन की बहुत तारीफ़ की और शेखी में यह भी कह दिया कि आप जो कहें, मैं किशन सिंह को उस पर तैयार कर सकता हूँ। एक दिन पादरी इन्स्पेक्टर जनरल के निमन्त्रण पर सरदार किशन सिंह को अपने साथ लाहौर ले गये। इन्स्पेक्टर जनरल ने सरदार किशन सिंह की बहुत तारीफ़ की और उन के सामने तीन बातें रखीं। वे लाहौर में न रहें, प्रेस-प्लेटफ़ॉर्म का झमेला छोड़ दें और हैदराबाद में एक ऊँचे पद पर काम करें। उस का कहना था कि वे चाहते हैं कि उन के गुणों की मुल्क में पूरी क़द्र हो और उन का पूरा उपयोग हो, जो कि इसी तरह हो सकता है।

सरदार किशन सिंह ने अपने भोलेपन का कोहरा पूरी तरह उस बड़े अफ़सर के चारों ओर फैला दिया। तब कहा—"मुझे आप की गुणग्राहकता से बहुत सुख मिला। आप-जैसे अफ़सर ही मौजूदा हालात में सही तरह काम कर सकते हैं। मुझे खुशी है कि मैं आप से मिल सका। लाहौर मैं ने छोड़ दिया है, प्रेस-प्लेटफ़ॉर्म तो लाहौर के साथ ही है, गाँवों में तो खेत ही सब कुछ है। हैदराबाद की नौकरी के लिए मैं आप का शुक्रगुज़ार हूँ, पर मेरा स्वभाव है काम को पूरी ईमानदारी से करना। अपने स्वास्थ्य के कारण मैं ऐसा नहीं कर सकता। इस हालत में आप भी हैदराबाद जाने को राय नहीं देंगे, यह मुझे यक़ीन है।" इन्स्पेक्टर जनरल पूरी तरह मान गया कि सरदार किशन सिंह अब रिटायर्ड लाइफ़ जी रहे हैं और क़तई खतरनाक नहीं हैं, पर उसे क्या मालूम था कि सरदार किशन सिंह आग का गोला नहीं कि छूते ही पहचाना जा सके, एक डायनामाइट है, जो लाख छूने में ठण्डा हो विस्फोट में घोर विध्वंसक होता है। शायद प्रकृति ने क्रान्ति-विधाता बनने के लिए ही उन का विशेष उपकरणों से स्वयं निर्माण किया था। वे बमभोला नहीं थे, भोला बम थे।

क्रान्ति का पथ-विध्वंस का पथ है। वह सीमेण्ट की सड़क-सा नहीं, ऊबड़-खाबड़ होता है। हर साँस पर खतरा खड़ा मिलता है, तो संकट अड़ा हुआ। रोम-रोम में बचाव की वृत्ति आ बैठती है और छिपाव की भी। ऐसी परिस्थिति में आदमी व्यवस्थापक कहाँ बन पायेगा? व्यवस्था चाहती है, कड़ी-कड़ी की शृंखला और शृंखला बँधती है शान्त मन से, पर क्रान्तिकारी का तो एक पैर हमेशा जूते में रहता है। ऐसी हालत में क्रान्तिकारी का व्यवस्था-पटु होना बड़ी बात है। सरदार किशन सिंह में यह बड़ी बात बहुत बड़ी मात्रा में थी। बीच में उन्हें एक बार मौक़ा मिला, तो बीमे के काम से उन्हों ने इतने रुपये कमाये कि लखपति हो गये बात की बात में। ज़मीन भी खरीद ली और परिवार के जीवन में समृद्धि लहरा उठी।

इस से भी पहले एक बार वे स्टेशन पर यों ही घूमने गये और वहाँ उन्हों ने नमक की एक गाड़ी खरीद ली। हमारे वंश में कभी किसी ने व्यापार नहीं किया। इस दशा में यह एक अद्भुत बात थी कि उन्हें नमक की गाड़ी (वैगन) खरीदने की बात सूझी और उस सूझ से उन्हों ने ५०० रुपये कमा लिये। सरदार किशन सिंह के चरित्र

को यह बातें बहुत गहरी चमक के साथ पेश करती है कि उन में धन कमाने की शक्ति थी, बेपनाह योग्यता थी। उसे वे जानते भी थे और उन्हों ने आजमा कर देख भी लिया था। फिर भी वे धन के लोभ से बचे रहे और अपनी उस शक्ति को धन से बचा कर जन-सेवा के काम में लगा सके।

उन की उँगलियाँ चिकनी थीं और मुट्ठी कमज़ोर। वे कमा कर जमा करने की बीमारी से सर्वथा मुक्त थे। मैं ने एक दिन माता विद्यावती जी से पूछा—"क्या ख़र्च के लिए आप को उन से पैसे माँगने पड़ते थे?" उन्हों ने बताया—"पैसे काहे को माँगने थे। किसी चीज़ की कमी हो, ज़रूरत हो, तभी तो पैसे माँगते। वे तो बिना कहे ही ढेरों चीज़ ले आते थे। उन्हें थोड़ी-सी चीज़ ख़रीदना अच्छा ही नहीं लगता था। जेब में पैसा हो, तो फिर उन्हें परवाह ही न होती थी कि कल जेब में पैसा न होगा, तो क्या होगा। वे आज के शाह थे कल के फ़क़ीर। आज जेब भरी है, तो बादशाह हैं, कल ख़ाली है, तो सच्चे फ़क़ीर की तरह शान्त-प्रसन्न और सन्तुलित।" उन की जीवनसंगिनी का यह उत्तर किशन सिंह की ज़िन्दगी के अन्तर्पट हमारे सामने खोलता है। पहली बात तो यह है कि जो आदमी ख़ूब धन कमा सकता है, वह घोर ग़रीबी के जीवन का स्वेच्छा से वरण करता है। दूसरी बात यह कि एक बार वह धन कमा कर देखता है, उस में सफल होता है और उस धन्धे को स्वयं दूसरे को सौंप देता है, फिर ग़रीबी में लौट आता है। तीसरी बात यह कि एक-एक पैसे की तंगी देख कर, भोग कर, उस के त्रास सह कर, वह थैलियों और तिजोरियों के बीच में मख़मली गद्दी पर बैठता है और फिर नंगी चटाई पर लेटता है, पर उस के सन्तुलन में कोई कमी नहीं आती। उस का संघर्ष-व्रत अखण्ड रूप में चलता रहता है। इन सब बातों को, उन के जीवन के इस रूप को जब मैं याद करती हूँ, तो मेरे मन में समाया उन के प्रति आदर पूरे ज़ोर से लहराने लगता है।

१९१५–१६ में उन के पिता घर की टूटी हालत से कुढ़ कर एक दिन ग़ुस्से में उन से कहते हैं—"कुछ करते नहीं, तो दोनों समय खाते क्यों हो?" वे एक समय का खाना छोड़ देते हैं और खेत पर रहने लगते हैं। इसी हालत में उन की पत्नी अपने मायके से बिना बुलाये आ जाती हैं। वे ग़ुस्से में भरे उन से कहते हैं—"तुम क्यों आयीं यहाँ? जब मेरे ही खाने को यहाँ अन्न नहीं है तो मैं तुम्हारे लिए कहाँ से लाऊँगा?"

इस के वर्षों बाद की बात है—ढाबे में एक समय भोजन का एक आना देना पड़ता था, पर उन के पुत्र उस एक आने को बचाने के लिए भी कई मील चल कर गाँव से रोटी ले आते थे—ले आने को मजबूर होते थे।

ऐसा भी बहुत बार होता था कि उन के पीछे लगा हुआ सी० आई० डी० का सिपाही एक-आध रुपये का आटा ला कर देता था, तब घर में खाना पकता था।

भगत सिंह पर मुक़दमे के दिनों में बहुत बार ऐसा भी हुआ कि मकान के

शहतीर और किवाड़ भी खर्च के लिए बेचने पड़े।

वे जीवन में रंक से राव भी हुए और राव से रंक भी, पर राव हो कर इतराये नहीं और रंक हो कर घबराये नहीं—दोनों दशाओं में आदर्श के लिए जूझते रहे, क्या यह उन के समर्पित जीवन का पूजनीय चित्र नहीं है? १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ और इस से आधी शताब्दी से भी अधिक पहले उन्हों ने देश-सेवा की राह में क़दम रखा था। यह आधी शताब्दी है दुःख-संकट सहने की, जेल जाने-आने की, गिरफ़्तारियों की, मुक़दमों की, फ़रारी की, फाँसियों की, विप्लवों की, षड्यन्त्रों की, भूख-प्यास की, मानसिक चोटों की और बीमारियों की। अंगारों की इस भीड़ में तो फ़ौलाद पिघल जाये और चट्टान चटख जाये, पर कैसा व्यक्तित्व था सरदार किशन सिंह का कि न जला, न चटखा, न पिघला। क्यों? क्या चीज़ थी वह, जिस ने उन्हें चटखने-पिघलने से बचाये रखा? वह उन का अथाह सन्तुलन था। तभी तो मैं ने उन्हें संघर्ष और सन्तुलन का अवतार कहा।

अब विश्लेषण-विवेचनसे उठें और उन की ज़िन्दगी का एलबम खोलें, जिस में जलते चित्र हैं, चीखते चित्र हैं, हँसते चित्र हैं, रोते चित्र हैं, अमृतवर्षी जीवन-संघर्षी चित्र हैं।

एक केस में दो साल की जेल काट कर सरदार किशन सिंह आये। थोड़े दिन बाद ही कई जगह तलाशियों में क्रान्तिकारी साहित्य पकड़ा गया। सरकार के पास पहले से ही उस के गुप्तचरों की यह रिपोर्ट थी कि सूफ़ी अम्बाप्रसाद क्रान्तिकारी साहित्य लिखते हैं और सरदार किशन सिंह उसे छपाते हैं, घर-घर पहुँचाते हैं। सूफ़ी साहब विदेश चले गये थे और सरदार किशन सिंह जेल में थे। अँगरेज़ी सरकार ने गहरी जाँच-पड़ताल के बाद यह राय बनायी थी कि इन दोनों के मैदान में न रहने से क्रान्तिकारी साहित्य का प्रचार बन्द हो गया है। यह राय अब पक्की हो गयी, जब सरदार किशन सिंह के जेल से बाहर आते ही क्रान्तिकारी परचे इधर-उधर मिलने लगे! इन परचों से नौजवानों में अँगरेज़ों के ख़िलाफ़ गहरी नफ़रत और कड़वा क्रोध पैदा होता था और वह कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में फूट भी पड़ता था।

सरकार अब विश्वस्त थी कि सरदार किशन सिंह ही इन परचों की जड़ में हैं, वे ही यह चक्कर चला रहे हैं, पर सरकार जानती थी कि वे संगठन-शक्ति के माहिर हैं। उन्हें पकड़ना तो आसान है, पर अदालत में उन के ख़िलाफ़ सबूत देना आसान नहीं है। सरदार किशन सिंह की संगठन-शक्ति का सूत्र यह था कि वे चारों तरफ़ ऐसे आदमी बैठा देते थे, जो उन के इशारे पर, निर्देशन पर पूरी चुस्ती और मुस्तैदी के साथ उन का काम करते रहते थे। इस के साथ ही यह भी कि इन आदमियों को वे इस तरह प्रशिक्षित (ट्रेण्ड) करते थे कि यदि पुलिस भेद पा कर हाथ डाले और ये उस के पंजे की जकड़ में आ जायें, तो डर कर भेद नहीं खोलते थे। इस हालत में

सरदार किशन सिंह को अदालत के कठघरे में ला कर खड़ा करना तो आसान था, पर वहाँ से उन्हें काल-कोठरी में भेजना मुश्किल था। ऐसा न होता, तो जितनी वार पुलिस ने उन पर हाथ डाला, वह उन के फ़िक्र में रही, उस से तो वह सारी उम्र जेल में ही रहते—बाहर की हवा उन्हें लगती ही नहीं।

जो भी हो, पुलिस पर ऊपर की लताड़ पड़ रही थी, उसे अब कुछ-न-कुछ करके अपना काला चेहरा सुर्ख़ करना था। सरदार किशन सिंह को पीस डालने के लिए एक वड़ी योजना बनायी गयी। उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। उन के प्रमुख सहायक उन के छोटे भाई सरदार स्वर्ण सिंह को भी पकड़ कर जेल में वन्द किया गया। लाला लालचन्द फलक भी जेल पहुँचा दिये गये और इसी तरह उन के दूसरे साथी भी। पुलिस ने इस तरह उन के दूर-दूर तक फैले सभी प्रभाव-सूत्र काट दिये। इतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं हुई। उस ने उन पर एक मुक़दमा नहीं चलाया, अनेक मुक़दमे उन के खिलाफ़ एक साथ खड़े कर दिये। योजना यह थी कि मुक़दमों की लम्बी प्रक्रिया में सरदार किशन सिंह को बुरी तरह थका दिया जाये और पूरी तरह फँसा दिया जाये।

ये मुक़दमे कितने थे, किस तरह के थे, किस तरह गढ़े गये थे, इन सब वातों में उलझने की ज़रूरत नहीं। इतना जानकर ही हम सब कुछ भाँप सकते हैं कि इन मुक़दमों में सब मिला कर एक सौ बीस वर्ष की सख़्त क़ैद हो सकती थी। पुलिस यहाँ भी न रुकी थी। वह और आगे, बहुत आगे बढ़ गयी थी। उस ने इन मुक़दमों का फ़ैसला करने के लिए साधारण अदालतों का विश्वास नहीं किया था। श्री हेयरसन को इन मुक़दमों की सुनवाई के लिए एक स्पेशल कोर्ट का रूप दिया गया था—एक ऐसी अदालत बनायी गयी थी, जिसे सिर्फ़ सरदार किशन सिंह के ही मुक़दमे सुनने थे। इतना कह कर भी वात अधूरी है यदि हम उस युग की परिस्थितियों से पूरी तरह परिचित न हों। इन परिस्थितियों को कँपा देने वाला एक रूप यह है कि इतने भयंकर मुक़दमों में फँसे-फाँसे सरदार किशन सिंह को कोई वकील प्राप्त न था। कैसा आतंक का युग था कि फ़ीस के रुपये देने पर जो वकील चोरों, डाकुओं और हत्यारों को मिल सकता था, वह देश-भक्तों को नहीं! सोचती हूँ सरदार किशन सिंह को इस वार पुलिस ने वैसी ही हालत में पहुँचा दिया था, जैसी हालत में पुराने राजा-वादशाह किसी को खुले खूँख्वार भूखे शेर से लड़ने के लिए छोड़ कर पहुँचा दिया करते थे। उसे यह आश्वासन दिया जाता था कि तुम शेर को हरा दोगे, तो तुम्हें इनाम मिलेगा। सरदार किशन सिंह को भी एक तरह से—विना लिखे कहे—यह आश्वासन प्राप्त था कि तुम अपने को निर्दोष सिद्ध कर दोगे, तो तुम्हें मुक्त कर दिया जायेगा। इन परिस्थितियों का ध्यान कर के मेरे मन में अकसर यह विचार आया है कि उन दिनों मुक़दमों का यह अभेद्य जाल विछाने वाले पुलिस अफ़सर कितने विश्वस्त, कितने प्रसन्न होंगे। आपस में अवश्य ही हँस-हँस कर वे यह कहते होंगे कि अव यह काँटा हमेशा के लिए टूट जायेगा और हम

चैन से सो सकेंगे। उन बेचारों को क्या पता था कि,

नूरे खुदा है कुफ़्र की हालात पै खन्दाजन,
फूँकों से यह चिराग़ बुझाया न जायेगा !

ईश्वर की महिमा पाप के लिए खड्गहस्त है इस लिए फूँक मारने से पुण्य का दीपक नहीं बुझेगा।

इतिहास ने बहुत बार ऐसा मज़ाक़ किया है कि फूँक मारे बिना ही बड़े-बड़े दिये बुझा दिये हैं और कंकरी मार कर मनसूबों के क़िले ढहा डाले हैं। पुलिस-अफ़सरों का क़िला भी ऐसा ही निकला। इस स्पेशल अदालत के लिए जो जज चुने गये श्री हेयरसन, वे आयरिश थे। उन का देश आयरलैण्ड भी अँगरेज़ों के विरुद्ध अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहा था। वंश और स्वभाव से भी वे सज्जन थे। सरदार किशन सिंह की स्थिति से वे मर्माहत हुए। उन की स्पष्टता, निर्भीकता, विद्वत्ता और सज्जनता से प्रभावित भी। उन्हों ने सरदार किशन सिंह को अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ तो दीं ही, सद्व्यवहार भी दिया। सरदार किशन सिंह ने इन का पूरा लाभ उठाया और आरोपों की खूब धज्जियाँ उड़ायीं। श्री हेयरसन ने उन की योग्यता की सदा प्रशंसा की। अन्त में उन्हों ने अपने फ़ैसले में कई मामले तो खत्म ही कर दिये, कई में थोड़ी-थोड़ी सज़ा दे दी और कई में सज़ा तो पुलिस के मन की ही दे दी, पर फ़ैसला सन्देह की ऐसी भावना में लिख दिया कि अपील करते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाये। सोचती हूँ, हमारे देश की आज़ादी में वे कर्म तो हैं ही, जो राजनैतिक रूप में देशवासियों द्वारा किये गये हैं, पर वे कर्म भी तो हैं, जो नैतिक रूप में शुद्ध मानवीयता के आधार पर विदेशियों द्वारा किये गये हैं। श्री हेयरसन का नाम भारत माता के सैनिकों में कौन लिखेगा, पर भारत माता के स्वयं सेवकों की सूची में उन का नाम लिखने में किसे आपत्ति होगी ?

एक दूसरे मौक़े पर सरदार किशन सिंह ने अपनी क्रान्तिकारी सूझ-बूझ का परिचय दिया। अनारकली लाहौर में बबर अकालियों ने एक थानेदार की हत्या कर दी। पता चला कि सरकार इस मामले में सरदार किशन सिंह को भी पकड़ना चाहती है। उन्हों ने उसी दिन कबड्डी खेलने के बहाने अपनी एक बाजू तोड़ ली और अपने ननिहाल (ग्राम खेड़, होशियारपुर) चले गये। लाहौर में अकेली विद्यावती जी रह गयीं। जब पुलिस आयी, तो उन्हों ने कहा—"वे बहुत दिनों से कहीं बाहर गये हुए हैं।" कुछ दिनों बाद सरदार किशन सिंह रात में घर आये। उन के सूत्रों ने खबर दी कि सरकार उन्हें गिरफ़्तार करने पर तुली हुई है। बात यह थी कि सरकार सरदार किशन सिंह की योजनापूर्वक जाल बिछाने की योग्यता और शक्ति से बेहद परेशान थी, भयभीत थी, आशंकित थी और आतंकित भी। इस लिए उन्हें दबोचने का कोई मौक़ा हाथ से न जाने देती थी। इस अवसर को भी वह क्यों खोती ? सरदार किशन सिंह तैयार हो गये, पर अपनी व्यवस्था के साथ। विद्यावती जी को उन्हों ने उन के मायके

भेज दिया, घर का सामान बंगा भेज दिया और स्वयं पकड़े गये। उन के ढंग से साफ़ है कि वे लम्बे समय के लिए तैयार हो कर गये। अँगरेज़ी सरकार कभी भी, कहीं भी और कुछ भी कर सकती थी और वे कभी भी, सब कुछ के लिए तैयार थे।

इस घटना के वहुत वर्षों बाद की घटना है। भगत सिंह पर मुक़दमा चल रहा था। सरकार पूरी ताक़त से मौत का घेरा डाल रही थी और सरदार किशन सिंह पूरी ताक़त से उस घेरे को तोड़े जा रहे थे। ऊपर कुछ न दीखता था, पर भीतर-ही-भीतर शीत-युद्ध के भयंकर दाँव-पेच चल रहे थे। सरदार किशन सिंह की तेज़ निगाह हर जज और हर गवाह पर ही नहीं, हर काग़ज़ पर थी। सरकार शीत-युद्ध से थकने लगी, तो सीधी लड़ाई पर उतर आयी। सरदार किशन सिंह लुधियाना में भाषण देने गये, तो पुलिस ने आगे बढ़ कर जलसा भंग कर दिया और सरदार किशन सिंह को फसाद कराने के अभियोग में फँसा कर जेल भेज दिया।

इस घटना के वर्षों पहले की घटना है, जव उन के छोटे भाई सरदार स्वर्ण सिंह पर मुक़दमा चला, तो बीमारी के कारण अदालत में मुक़दमे की पैरवी करने में वे असमर्थ हो गये थे। इस हालत में वकील अनिवार्य था, पर कोई स्थानीय वकील तैयार नहीं हुआ डर के कारण। तव सरदार किशन सिंह ने इस शहर से उस शहर की यात्रा आरम्भ कर दी कि कहीं-न-कहीं तो कोई वकील मिलेगा ही। सरकार ने सरदार किशन सिंह को पकड़ कर जेल में वन्द कर दिया। सरकार उन की संगठन-शक्ति से परिचित ही नहीं, आतंकित भी थी। उन की यह वहुत बड़ी बौद्धिक सफलता थी कि इस हालत में भी सरकार उन पर कोई बड़ा दाव नहीं वाँध सकी।

सरदार किशन सिंह की संगठन-शक्ति का एक नमूना १९२४ में भी सामने आया। अच्छा घुड़सवार जैसे घोड़े को क़ावू में कर लेता है, वे तूफ़ान को क़ावू में कर लेते थे। उन में नेता के, संगठन के दोनों गुण थे। वे स्वयं रात-दिन काम करते थे और दूसरों को काम में जुटाने की और उन से अपने मन का काम लेने की तरकीव जानते थे। सरकार ने आवियाना (पानी का कर) बढ़ा दिया। एक तो टैक्स देना वैसे ही किसी को अच्छा नहीं लगता था, फिर उन दिनों किसान टूटी हुई ज़िन्दगी जी रहे थे। सव में असन्तोष था, ग़ुस्सा था, पर जनता का असन्तोष और रोष तो विजली है। कोई तार के द्वारा उसे वल्व तक न पहुँचाये, तो रोशनी कैसे हो?

यह काम सरदार किशन सिंह का था। उन्हों ने तुरन्त ज़मींदारा लीग की स्थापना की आवियाने का विरोध करने के लिए। पंजाव में किसान ही जमींदार थे। एक जलसा किया। जलसों के इतिहास में यह जलसा अपने स्वरूप और परिणाम दोनों दृष्टियों से अनुपम है। जलसे के पण्डाल में प्रवेश पाने के लिए एक आना टिकिट रखा गया था। इस एक आने से सात हज़ार रुपये इकट्ठे हो गये, या यों कहें कि एक लाख बारह हज़ार लोग जलसे में शामिल हुए। इस का परिणाम यह हुआ कि सरकार ने यह टैक्स वापस ले लिया—लगाया ही नहीं। उस समय अँगरेज़ सरकार अपनी हर वात को

प्रतिष्ठा का प्रश्न वना लेती थी और जनता की हर माँग को विद्रोह समझती थी। इस स्थिति में उस का वढ़ा क़दम, साधारण दवाव से तो पीछे नहीं हट सकता था !

वे लाख की भी ज़िन्दगी विता सकते थे और राख की भी। असल में वे राजनीति के प्रह्लाद थे, जो शान्तभाव से जलते खम्भ से लिपट गया था। अथाह साहस के भण्डार थे वे। एक वार सरदार किशन सिंह पटवारी के पास बैठे वात कर रहे थे। उन का ताँगा वाहर खड़ा था। किसी वात से विदक कर घोड़ी ताँगा लिये भाग खड़ी हुई। वचो-वचो का हल्ला सुन कर वे सड़क पर आये। उन्हों ने देखा, ताँगा लिये घोड़ी वेतहाशा भागी जा रही है और कुछ दूरी पर तीन वच्चे खेल रहे हैं। वच्चों का कुचल कर मर जाना निश्चित था। तेज़ दौड़ कर उन्हों ने घोड़ी की टाँगें पकड़ कर उसे ताँगे समेत उलट दिया। वच्चे वच गये, पर पायदान से टकरा कर उन का सिर फट गया और वहुत दिनों तक वे पड़े रहे। और कोई होता तो अपने इस काम पर सौ डींग हाँकता, पर वे खामोश रहे इस पर और कभी वोले भी तो यही, प्रभु का लाख-लाख शुक्र है कि वच्चे वच गये।

वे संघर्ष के पुजारी थे। वाहर रहते भी उन का संघर्ष जारी रहता था और जेल में रहते भी। जेल का नाम सदा ही नरक की याद दिलाने वाला है, पर उस समय तो जेल सचमुच नरक का ही रूप था। अब तो क़ैदी लम्वी-चौड़ी वैरकों में रहते हैं। मतलव यह कि ताला वैरक के दरवाज़े पर लगता है। क़ैदी उस के भीतर घूमने-फिरने में स्वतन्त्र हैं। उस युग में यह वात न थी। क़ैदी की वर्थ (क़व्रनुमा चवूतरा) के ऊपर लोहे का क़व्र के ही साइज़ का पिंजरा रहता था। क़ैदी उस में लेट तो सकता था, पर वैठते समय उसे सिर इतना झुकाना पड़ता था कि उठे हुए घुटनों से लगा रहे। इतना ही काफ़ी नहीं समझा जाता था। क़ैदी के पैर में पड़े लोहे के कड़े में डाल कर लोहे की एक ज़ंजीर उस पिंजरे के चौखटे के साथ जुड़ी रहती थी। एक भैंसे को क़ावू में रखने के लिए भी जिस वाँध-जूड़ की ज़रूरत नहीं है, एक साधारण क़ैदी को उस वाँध-जूड़ में रखा जाता था। क़ैदी का भी कोई अधिकार है, यह कहना तो प्रलय मचाना ही माना जाता, जव कि कुछ माँगना भी उस का अधिकार न था।

उस दिन जेलों के इतिहास में हड़कम्प मच गया, जव सरदार किशन सिंह ने उस जंगले में वन्द होने से इनकार कर दिया। छोटे जेलरों और उन के साथ प्रवन्ध में साझीदार क़ैदी-वार्डरों के घूँसे-डण्डे एक साथ उठे। ऐसा लगा कि कुछ क्षणों में सरदार किशन सिंह की हड्डियाँ काफ़ी मुलायम हो जायेंगी, पर समझदार जेलर ने उन्हें रोका— "जो अँगरेज़ लाटसाहव से नहीं दवता, तुम से दव जायेगा ?" उन्हें वैरक से हटाकर कालकोठरी में रख दिया गया, पर क्या संघर्ष समाप्त हुआ ? यह कैसे हो सकता था ? अन्याय के सामने सिर झुकाना सरदार किशन सिंह के स्वभाव के विरुद्ध था और जेल में न्याय के घुसने की मनाही थी। आज इस वात पर, तो कल उस वात पर, टक्कर होती ही रहती थी। एक जेल-आन्दोलन तो जेलों के इतिहास में स्मरणीय हो गया।

इसे उन्होंने धर्म का रंग दे दिया था।

क़ैदी को सिर पर ओढ़ने के लिए टोपी मिलती थी। सरदार किशन सिंह ने टोपी लेने-ओढ़ने से इनकार कर दिया और पगड़ी की माँग की। यह तो जेल में क्रान्ति ही थी। जो कभी नहीं हुआ, वह करने की माँग कर रहा था एक क़ैदी। फिर एक ही सिख तो क़ैदी नहीं था जेलों में। उस समय एक की माँग मानने का अर्थ था जेलों के सब क़ैदियों को वही माँग करने के लिए प्रोत्साहित करना। "जेलों का प्रवन्ध क़ैदियों की इच्छा के अनुसार नहीं, हमारी इच्छा के अनुसार होगा।" यह जेल के अफ़सरों की गर्व-घोषणा थी, पर सरदार किशन सिंह तो अपनी इच्छा से चलने वाले थे, दूसरों की इच्छा पर चलने वाले नहीं। यही नहीं, उन में तो ऐसी संगठन-शक्ति थी कि वे दूसरों को भी अपनी इच्छा के पीछे चलने को प्रेरित कर देते थे। वे जेल में वन्द थे, उन की हर वात पर पावन्दी थी, अँगरेज़ सरकार की उन पर निगाह थी, पर क्रान्तिकारी ही क्या, जो पावन्दियों के सामने सिर झुकाये। पावन्दियों की हिमानी चट्टानों के वीच उन्होंने अपने संगठन-कौशल के डायनामाइट से ऐसी सुरंगें वनायीं कि दूसरी जेलों में भी पगड़ी की माँग खड़ी हो गयी और लाहौर की वोर्स्टल जेल में तो वह एक आन्दोलन ही हो गया।

"इस क़ैदी की वात, दूसरे क़ैदियों तक कैसे पहुँची और उस जेल की वात दूसरी जेलों में कैसे गयी? तुम जेल चलाते हो या कोई सराय?" जेल के अफ़सरों पर अँगरेज़ इन्स्पेक्टर जनरल की लताड़ पड़ी, तो वे गरमाये। अव उन की ख़ैर इसी में थी कि वे आन्दोलन को कुचल देने की रिपोर्ट ऊपर भेज सकें। उन्होंने सरदार किशन सिंह को तरह-तरह समझाया, धमकाया, डराया, पर सरदार किशन सिंह उस धातु के कहाँ वने थे, जिस पर इन बातों का असर पड़ता है? अफ़सर भिन्ना उठे। उन्हों ने सरदार किशन सिंह को नंगा करके वेंत लगाने की टिकटिकी पर धूप में वाँध दिया। तेज़ गरमी का मौसम, नंगा शरीर, वँधे हुए हाथ-पैरों से खड़े रहने की टिकटिकी पर लटके रहने की थकान, सब के सामने नंगे होने की झेंप, साथ ही हर घड़ी वढ़ती भूख-प्यास किसी को भी आत्महीन करने के लिए काफ़ी है। जेल का जो भी कर्मचारी पास से निकला, उस ने उन्हें झिड़का, धमकाया और जो भी क़ैदी निकला उस ने हमदर्दी से समझाया—"सरदार जी यहाँ के अफ़सर राक्षस हैं। उन पर किसी वात का असर नहीं पड़ सकता। वे किसी को मार कर भट्टी में झोंक दें और लिख दें कि क़ैदी निमोनिये से मर गया, तो कौन उन की पूँछ पकड़ता है। ज़िद छोड़ दो, अपने वीवी-वच्चों का ध्यान करो, जान से मत खेलो।"

वात ठीक थी, पर सरदार किशन सिंह राह से गिराने वाली धमकियों और राह भटकाने वाली हमदर्दियों के दवाव और वहकावे में आने वाले कहाँ थे? मौत का दवाव और सुख-समृद्धि-भरी ज़िन्दगी का लुभाव जिसे प्रभावित नहीं करता, उसे कौन-सा त्रास है जो डरा दे? वे खाल जलाती धूप में दिन-भर वँधे खड़े रहे और जव भी उन से पूछा

गया—"हुआ दिमाग़ ठण्डा ? वात मानते हो, तो खोल दें तुम्हें ?" उन का जवाव था : "वात मेरी न्यायपूर्ण है, तुम्हारी नहीं। मैं तुम्हारी वात कैसे मान सकता हूँ ?"

मैं जव कल्पना के पंखों पर बैठ जेल के उस जलते आँगन में टिकटिकी पर बँधे सरदार किशन सिंह के पास जा पहुँचती हूँ तो देखती हूँ उन के तन पर धूप का भी प्रभाव है, भूख-प्यास का भी, पर उन का मन किसी भी प्रभाव से अछूता है—वे अडिग भाव से खड़े हैं, अभय भाव से खड़े हैं, जैसे जीवन-भर यों ही खड़े रहने को तैयार हो कर वे घर से निकले हैं। मैं देखती हूँ, तो देखती ही रह जाती हूँ। मेरा मन आदर से भर जाता है—वे एक अजेय लौह-पुरुष क्रान्तिकारी हैं, जो अकेले ही सारे संसार के अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध निहत्था होते हुए भी युद्ध छेड़ने का दम रखता है ! उन परिस्थितियों का ध्यान कर आत्मा काँपने लगती है, पर भूकम्प पृथ्वी को लाख बार हिलाये, क्रान्तिकारी के मन को कहाँ कँपा सकता है ? साहिर लुधियानवी का एक गीत है—"जाने वे कैसे लोग थे, जिन के प्यार को प्यार मिला।" सोचती हूँ, जाने वे कैसे लोग थे, जिन्हों ने अपने जीवन में कुछ भी न पा कर, अपना सव-कुछ इस लिए दे दिया कि उन के वाद आने वाली पीढ़ियों को सम्मान और सुख का जीवन मिले !

सूरज ने जेल के अफ़सरों का खूब साथ दिया। उन से भी ज्यादा आग सूरज ने सरदार किशन सिंह पर वरसायी, पर उन पर उस का कोई असर न पड़ा, तो वह झेंप कर आड़ में जाने को ढल चला। जेल के अफ़सर उसे साथ छोड़ते देख कर उवल पड़े और उन्हों ने सरदार किशन सिंह पर बेंत वरसानी शुरू की, पर किशन सिंह वहाँ कहाँ थे ? वहाँ तो भारत वँधा हुआ था। उन्हीं के शब्दों में—"मुझे उस समय अपनी कोई याद न आ रही थी, न कोई परेशानी ही। मैं जानता था कि भारत गुलाम है और उस गुलामी को तोड़ने के लिए मैं जूझ रहा था, पर जानना और वात है और महसूस करना और वात। इस समय मैं अपने मुल्क की गुलामी को महसूस कर रहा था, क्योंकि मैं देख रहा था कि कोई हैसियत और औक़ात न रखने वाले टूंचे जेल-कर्मचारी देश के किसी भी नागरिक को अपमानित और पीड़ित करने का दम रखते हैं। मुल्क के हाथ-पैरों में गुलामी की ज़ंजीरों से जो जकड़न है, उसे मैं अपने हाथ-पैरों में महसूस कर रहा था। मुझे लग रहा था कि उस जकड़न से मैं टूटा जा रहा हूँ।"

वेंत की टिकटिकी से खुल कर अकसर आदमी गिर पड़ता है, क्यों कि जेल की बेंत इस राक्षसी ढंग से मारी जाती है कि नस-नस सुन्न पड़ जाती है। सरदार किशन सिंह भी खुलते ही गिर पड़े, पर यह गिरना कमज़ोरी का नहीं, फ़ालिज के आक्रमण से गिरना था—हाँ, उन पर फ़ालिज का आक्रमण हो गया था। इस से हम समझ सकते हैं कि उन घड़ियों में उन्हों ने क्या कुछ सहा था पर तन के टूटने पर भी क्या उन का मन टूटा ? नहीं, तन उन का टूटा, पर मन टूटा अँगरेज़ी सरकार का। जेलों में पगड़ी का आन्दोलन पूरे ज़ोर से भड़क उठा, सरकार को झुकना पड़ा और उस ने सिख क़ैदियों को ढ़ाई गज़ का परना देने की वात मान ली। क्या यह एक ऐतिहासिक सत्य नहीं है

कि जेल-सुधार का जो आन्दोलन अन्दमान जेल में रामरक्षा और इन्दुभूषण की, रंगून जेल में उत्तमा फुंगी विजय की और लाहौर जेल में यतीन्द्र नाथ की आहुति ले कर सफल हुआ, उस के आदि प्रवर्तक सरदार किशन सिंह ही थे ! अँगरेज़ी सरकार के शैतानी क़िले की फ़ौलादी दीवारों पर पहला हथौड़ा उन्हों ने ही मारा था ! फ़ालिज होने से वे छोड़ दिये गये। सरकार के डॉक्टरों की रिपोर्ट थी कि अब वे बेकार हो गये हैं, पर दिल्ली रह कर चिकित्सा कराने से वे स्वस्थ हो गये, यह उन की इच्छा-शक्ति का चमत्कार था।

काकोरी का रेल डकैती-काण्ड हो चुका था। देश-भर में तलाशियों और गिरफ़्तारियों की धूम थी। भगत सिंह के फ़िराक़ में थी पुलिस, पर उन का कहीं पता न था। एक दिन शाम को अचानक वे घर आ गये। थके हुए और अस्त-व्यस्त-से थे। कई दिन से विश्राम न मिला था। आते ही वे नहाये और सिर धोया। वे बाल झटक ही रहे थे कि झपटे-झपटे सरदार किशन सिंह बाहर से आये और इशारे से बुलाकर भगत सिंह को ले गये। रात-ही-रात दरिया के किनारे-किनारे जाने उन्हें कहाँ छोड़ कर तड़क में लौटे, तो सब जाग रहे थे। उन के आते ही सब ने पूछा कि क्या बात है, आप कहाँ चले गये थे ? उन्हों ने चुप रहने का इशारा किया। वे ज़रा लेटे ही थे कि घर पुलिस ने घेर लिया, पर जिसे पकड़ने वह आयी थी, वह तो जाने कहाँ था ? उन की संगठन-शक्ति का एक रूप यह था कि उठने वाली आँधियों की गन्ध पहले ही पा लेते थे। उन के बारे में कहावत फैल गयी थी कि सरदार किशन सिंह हवा सूँघ कर खबर पकड़ लेते हैं। यह कोई जादू नहीं था, उन की संगठन शक्ति का ही एक चमत्कार था।

उन के जीवन का एक बड़ा ही मार्मिक पहलू था कि वे अपने बच्चों से बेहद प्यार करते थे, पर उन्हें देश के बलिदान-पथ पर बढ़ने के लिए प्रशिक्षित तो उन्हों ने ही किया था। भगत सिंह को तैरना, लाठी चलाना, बाँसों पर चढ़ कर दरिया पार करना, लम्बे साँस खींचना आदि का प्रशिक्षण उन्हों ने ही दिया था, कष्ट सहने के लिए उन्हें तैयार किया था। वे प्रशिक्षण प्रोत्साहन और सहयोग एक साथ लेते थे। वे जीवन और मरण के उपासक थे। उन की इस उपासना का दर्शन यह था कि वे मरण के लिए नहीं, जीवन के लिए मरण को वरण करना सिखाते थे।

वे एक साथ ही दो किशन सिंह थे। एक क्रान्ति के पोषक पिता किशन सिंह और दूसरे अपनी सन्तति के पिता किशन सिंह। वे मोह और द्रोह का तीर्थराज थे। एक बार एक ही घटना में उन के दोनों रूप साफ़-साफ़ चमक उठे थे। समाचार मिला कि भगत सिंह ने असेम्बली में बम फेंका और वे पकड़े गये। इस समाचार से उन्हें बहुत धक्का लगा, उन का चेहरा सफ़ेद पड़ गया और वे खोये-खोये एक दम खामोश बैठे रह गये। तीसरे दिन समाचार छपा कि उन पर सैशन जज की अदालत में मुक़दमा चलेगा। अखबार पढ़ते ही उन का चेहरा फिर हमेशा की तरह खिल उठा, वे उत्साह से बातें करने लगे, जैसे कुछ गम्भीर हुआ ही नहीं। बहुत दिन बाद इस का रहस्य खुला।

पहला चेहरा भगत सिंह के पिता का था। उस की परेशानी इस आशंका में थी कि सरकार अजीत सिंह की तरह भगत सिंह को भी किसी दूर के टापू में जलावतन कर देगी और मैं उस को अब कभी न देख सकूँगा। दूसरा चेहरा क्रान्ति के पोषक पिता का था। उस की खुशी इस सम्भावना में थी कि मुक़दमा चलेगा, मुक़दमा लड़ेंगे, बहसें होंगी, अखबारों में केस छपेगा, देश में नया खून उफनेगा और जिस आदर्श के लिए जीवन समर्पित किया है, उसे नयी चमक मिलेगी।

एक और घटना उन के इस द्विविध व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है। उन की बेटी अमर कौर अपने भाई कुलबीर सिंह को जेल से भगाने का षड्यन्त्र कर रही थी। बीमारी के कारण कुलबीर सिंह जेल से लाहौर अस्पताल में लाये गये थे। वहीं से उन्हें भगाने का प्रयत्न हो रहा था। छोटी बेटी सुमित्रा को इस का आभास मिल गया। वे तुरन्त खासरियाँ पहुँचीं और पिता जी से सब कुछ कहा। बात साफ़ थी, यदि अमर कौर अपने मिशन में सफल हो जाये, तो घर पर संकटों की नयी बिजलियाँ गिरेंगी, मुसीबतों के नये पहाड़ टूटेंगे, तलाशियाँ होंगी, गिरफ़्तारियाँ होंगी, कोई पकड़ा जायेगा, तो कोई फ़रार होगा और पूरी की पूरी घरेलू ज़िन्दगी एक दम उखड़ जायेगी, जो पहले ही गहरे दुःखों में डूबी हुई है।

सरदार किशन सिंह के व्यक्तित्व को यह प्रश्न एक ऐसी तराजू पर रखता है, जिस में ज़रा भी पासंग नहीं है, जो माशा-रत्ती तक सही तौलती है। प्रश्न यह है—बेटी सुमित्रा से भयंकर संकटों की सम्भावना से भरी वह खबर पा कर सरदार किशन सिंह ने क्या कहा, क्या किया? कहा उन्हों ने कुछ नहीं, किया यह कि उठ कर सीधे लाहौर पहुँचे। एक और प्रश्न उठता है—किस लिए? सौ-हज़ार मत यही उत्तर देंगे—अमर कौर को रोकने के लिए, समझाने-बुझाने के लिए, पर सरदार किशन सिंह ने यह नहीं किया। वे यही करें, तो सिर्फ़ अपनी सन्तान के पिता रह जायें, पर वे क्रान्ति के पोषक पिता भी तो हैं। उन्हों ने किया यह कि अमर कौर से कहा—"मुझे अपनी कोई बात मत बताओ। फ़ालिज ने मुझे कमज़ोर कर दिया है, इस लिए हो सकता है कि पुलिस के तंग करने पर कोई बात मेरे मुँह से निकल जाये। मेरे पास ये ५०० रुपये हैं, इन्हें ले लो और जो चाहो सो करो।" क्या अर्थ है इस बात का? इस का अर्थ है कि जलाओ होली, जो तुम्हें फूँक सकती है, परिवार को फूँक सकती है। मैं उस से बच सकता हूँ, पर क्यों बचूँ, जब मैं ने ही तुम्हें उस के जलाने की विद्या पढ़ायी है। जलाओ-जलाओ, तुम भी जलो, मैं भी जलूँ, जिस से ग़ुलामी के अँधेरे में डूबा मेरा मुल्क रौशन हो उठे। सचमुच कैसे विराट् व्यक्तित्व के बादशाह थे सरदार किशन सिंह!

आदमी पर उस का आपा, उस का स्व हर घड़ी सवार रहता है। उस की पूरी विचार और कर्म शक्ति इस स्व के—मैं और मेरा के—चारों ओर चक्कर काटती है। कितना कठिन है इस चक्कर से बाहर आना? फिर कोई साधु नहीं, सन्त नहीं, बाल-बच्चों वाला एक साधारण गृहस्थ। किस साधना से स्व-निर्लिप्त हो गये थे सरदार

किशन सिंह ? किस यज्ञ-कुण्ड में जल गया था उन का स्व ? उन की साधना थी उन की अथाह देश-भक्ति, उन का यज्ञ-कुण्ड था—गुलामी के अपमान में जला हृदय। मेरा क्या है, मेरा देश इस गुलामी से बाहर निकले ! स्व-विहीनता के इस स्वभाव ने उन्हें एक राजनीतिज्ञ के रूप में तो आदरणीय बनाया ही, एक ऊँचा मनुष्य भी बनाया। यही कारण है कि उन के राजनैतिक विरोधी, यहाँ तक कि अँगरेज़ और हिन्दुस्तानी सरकारी अफ़सर भी उन की इनसानियत के क़ायल थे।

पंजाब असेम्बली के एक उपचुनाव में काँग्रेस ने उन्हें अपने टिकिट पर खड़ा करने की घोषणा की। इस सीट पर ग़दर पार्टी के बाबा सोहन सिंह भकना आदि श्री तेजा सिंह स्वतन्त्र को खड़ा करना चाहते थे। बात यह थी कि सरदार तेजा सिंह उस समय जेल में थे। सरदार किशन सिंह ने बिना किसी से सलाह किये अपना नाम वापस ले लिया और तेजा सिंह बिना विरोध मेम्बर हो गये। काँग्रेस के नेता डॉक्टर सत्यपाल ने सुना, तो वे नाराज़ हुए। सरदार किशन सिंह ने सरल भाव से कहा—"तेजा सिंह के चुने जाने का मतलब है अँगरेज़ के नाक पर घूँसा लगना। यह बात हम सब के लिए महत्त्वपूर्ण है।" मतलब यह कि हमारी दृष्टि उद्देश्य पर रहनी चाहिए, व्यक्ति पर नहीं। वही प्रश्न—किस साधना से स्व-निर्लिप्त हो गये थे वे ? किस यज्ञ-कुण्ड में जल गया था उन का स्व ?

इसी शृंखला का एक और संस्मरण है। १९३७ के चुनाव का स्वतन्त्रता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस में रायबहादुर बसाखा सिंह ने अमृतसर में काँग्रेस को हरा दिया, पर चुनाव-पिटीशन में राय बहादुर हार गये। फिर से चुनाव होना था। काँग्रेस की आन दाव पर लगी हुई थी। रायबहादुर दुबारा मैदान में थे। चुनाव के विशेषज्ञों की राय थी कि सरदार किशन सिंह ही इस बाज़ी को जीत सकते हैं, पर वे उत्सुक न थे। यह सुन कर उन्हें तैयार किया गया, वे फ़ील्ड में आ गये। अमृतसर-बार-एसोसियेशन के प्रेजीडेण्ट श्री केशवराम सीकरी ने उन्हें एक कार दी, जिस से वे चुनाव क्षेत्र में सुविधा के साथ दौरा कर सकें। चार ही दिन में सरदार किशन सिंह की हवा बँध गयी—सब की ज़बान पर उन का ही नाम नाचने लगा। अन्तिम घड़ी में रायबहादुर की हिम्मत टूट गयी। सरदार किशन सिंह बिना मुक़ाबले मेम्बर चुन लिये गये। यह १९३८ की बात है।

कार अब श्री केशवराम सीकरी के द्वार पर खड़ी थी और सरदार किशन सिंह कह रहे थे—"आप ने मौक़े पर बड़ी मदद की, काम हो गया, यह हाज़िर है आप की कार !"

"मेरी कार ? मेरी कहाँ है ? यह तो अब आप की है।" सीकरी साहब ने कार लेने से इनकार कर दिया—"अब इस की मुझे नहीं, आप को ज़रूरत है।" सरदार किशन सिंह ले आये कार और पहुँचे लाहौर प्रान्तीय काँग्रेस के दफ़्तर में—"यह कार सीकरी साहब ने काँग्रेस के चुनाव में दी थी। अब वे वापस नहीं ले रहे हैं,

इस लिए यह काँग्रेस की हो गयी।" उन्हों ने यह बात कही और कार वहाँ छोड़ आये। समझदारों ने कहा—"पागल हैं सरदार साहब। मिली थी कार उन्हें, दे दी काँग्रेस को। अब ताँगे का भाड़ा भरते फिरेंगे।" बात को समझने वालों ने कहा—"आदमी क्या, फ़रिश्ता हैं सरदार किशन सिंह!" पुरानी सांइकिल ही उन की कार थी, चाहे असेम्बली में जा रहे हों, चाहे बाज़ार में, चाहे किसी जलसे में। ठीक भी है, जो आदमी बाँयें हाथ से कमा कर कार-कोठी बना सकता है, वह दूसरे की कार में क्यों आसक्त हो? निर्धनता है, पर मजबूरी में तो नहीं, यह तो व्रत का उपवास है, जो श्रद्धा से स्वीकार किया जाता है।

असेम्बली के मेम्बरों को अधिवेशन के दिनों में बाईस रुपये प्रति दिन मिलते थे। अधिकांश सदस्य उन दिनों में कहीं बाहर जाने से बचते थे, पर सरदार किशन सिंह अकसर जलसों में जाते रहते थे। एक बार श्रीमती शन्नो देवी अपने चुनाव के काम में पकड़ ले गयीं और वे एक महीना बाहर ही रहे, यहाँ तक कि घर वालों को भी खबर न थी कि वे कहाँ हैं? बात वही है कि उन्हों ने राजनीति को कभी लाभ का साधन नहीं बनाया, वह सदा उन के लिए त्याग, सहन और बलिदान का निमन्त्रण रही। उन के व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता उन का विवेक था, जो कभी मटमैला नहीं हुआ। उन के साथ वह एक ऐसा दीपक था, जो कभी बुझा नहीं, जिस ने कभी झपका नहीं खाया। उन के विवेक की सब से कड़ी अग्नि-परीक्षा उन के लाडले बेटे भगत सिंह के फाँसी के समय हुई।

फाँसी से पहले अन्तिम मुलाक़ात की बात है। कहने में कुछ नहीं लगता, सुनने में भी कुछ नहीं लगता और लिखने में ही क्या लगता है अन्तिम मुलाक़ात, सिर्फ़ दो शब्द हैं, पर इन में कितनी छुरियाँ चुभी हैं, कितने अँगारे दहक रहे हैं, इसे वही अनुभव कर सकता है, जिसे पता हो कि अन्तिम मुलाक़ात होती क्या है? जवान, भले और महत्त्वपूर्ण बेटे का चेहरा यह जानते हुए देखने जाना कि फिर वह कभी देखना नसीब न होगा। पैर पहाड़ हो जाते हैं, रास्ता दिखाई नहीं देता, बोल मुँह से नहीं निकलता, कलेजा मुँह को आने लगता है, मन घबराता है, दिल को धड़कन बेहद बढ़ जाती है और हर क़दम पर कई-कई बिच्छू डंक मारने लगते हैं। ऐसे में सन्तुलन आदमी में क्या, देवता में नहीं रहता, पर सरदार किशन सिंह किस धातु के बने थे कि २४ मार्च १९३१ को बेटा फाँसी पर चढ़ेगा और वे २३ मार्च की दोपहर अपने माता-पिता आजन्म जला-वतन मझले भाई की पत्नी और जीवनमुक्त छोटे भाई की विधवा और अपनी भग्न-हृदय पत्नी के साथ जेल के दरवाज़े पर पहुँचे। उन की स्थिति उस डॉक्टर-जैसी थी, जिस के आस-पास रोगी-ही-रोगी हों और रोगी भी खतरनाक हालत के। उस की परेशानी को कौन समझे, कौन देखे, जब कि उसे ही सब की परेशानी को समझना है, देखना है, अपने को भूल कर सब को सँभालना है।

जेल का दरवाज़ा देखते, लाँघते सरदार किशन सिंह का जन्म बीता, पर आज

उन्हें यह दरवाज़ा जैसा भयानक दीखा, वैसा कभी नहीं दीखा था। एक विचार ने उन्हें बिजली के झटके की तरह झन्ना दिया। कल इसी दरवाजे से मेरे प्यारे बेटे भगत सिंह की लाश निकलेगी। उन्हें लगा कि स्वयं उन का ही गला घुट रहा है। तभी एक वाक्य ने उन्हें सावधान कर दिया—"बड़े साहब ने सिर्फ़ माता-पिता को ही मिलने की मंजूरी दी है, और किसी को नहीं।"

उन्हों ने सब की तरफ़ देखा—भगत सिंह के दादा-दादी खामोश खड़े थे। दोनों चाचियाँ वेहाल हो रही थीं। भगत सिंह दादा-दादी की आँख का तारा रहा, चाचियों की दुःख-भरी गोद में पल कर गुलामी के दर्द को समझा और ये उस से नहीं मिल सकेंगे। क्यों नहीं मिल सकेंगे? क्या उन के मिलने से यह जेल टूट जायेगी या अँगरेज़ी सरकार पर प्रलय वरस पड़ेगी? नहीं, इन में-से कुछ नहीं होगा। नहीं होगा, तो फिर वे सब अपने लाडले भगत सिंह से मुलाक़ात क्यों नहीं कर सकेंगे?

सरदार किशन सिंह ने सब को सान्त्वना दी, धीरज दिया, जेल के वाहर ठिकाने से बैठाया और इस तरह जेल के दफ़्तर में गये, जैसे फाँसी पाने वाला वेटा इन लोगों का हो और वे सिर्फ़ फ़ीस पर काम करने वाले उन के वकील ही हों। दफ़्तर ने कहा—"वड़े साहब का फ़ैसला है। वे झपट कर वड़े साहब के दफ़्तर गये। वहाँ से वहाँ, और वहाँ से वहाँ, मारे-मारे फिरे।" सव का एक ही उत्तर था—"यह क़ानून की वात है, हम कुछ नहीं कर सकते।" सोचती हूँ, ऐसे ही अनुभव के वाद किसी ने क़ानून को हृदय-हीन कहा होगा। वे लौट आये। एक साथ सव के मुँह से निकला—"मिली इजाज़त?" सरदार किशन सिंह का उत्तर था—"नहीं!" स्वर ऐसा कि शंख शरमाये। सव दुःखी थे, पर सव का निर्णय था—"तुम दोनों ही मिल आओ।" सरदार किशन सिंह का उत्तर था—"नहीं।" स्वर ऐसा कि भूकम्प थम जाये। क्या कहती है यह नहीं? यह कहती है कि सरदार किशन सिंह ने सारी उम्र जिस क़ानून की धज्जियाँ उड़ायी हैं, पसलियाँ उखेड़ी हैं, वेटे की सूरत को आखिरी वार देखने के मोह में वे उस के सामने दीन नहीं हो सकते, सिर नहीं झुका सकते। अरवों मनुष्यों की दुनिया में कितने हैं जो इन घड़ियों में ऐसा निर्णय कर सकें, उस पर टिक सकें? उनके निर्णय की ध्वनि है—'जो इन्हें इन के अधिकार से वंचित करता है, उस क़ानून को मैं नहीं मानता, उस से मैं कुछ नहीं चाहता।' उन्हों ने मुलाक़ात करने से इनकार कर दिया। सोचती हूँ, उन की इस इनकार से, मोह पर धीर विजय से क्या स्वर्ग के देवता भी स्तब्ध नहीं रह गये होंगे? मोरध्वज ने अपने बेटे की देह स्वयं चीर कर पितृत्व का एक आदर्श प्रस्तुत किया था। वड़ी वात थी वह, पर सरदार किशन सिंह ने अपनी जवानी से ले कर बेटे की आहुति तक जो कुछ किया, क्या वह इस से छोटी बात है?

फ़ोटोग्राफ़र थे, अखवार वाले थे, हज़ारों नागरिक थे। यह बात पल-भर में फैल गयी। लोग उत्तेजित हो कर नारे लगाने लगे, जेल के भीतर क़ैदी नारे लगा रहे थे। वड़ा ही रोमांचकारी दृश्य था। जोश में सव अन्धे हो रहे थे, होश सिर्फ़ एक ही

आदमी का जाग रहा था। वह थे सरदार किशन सिंह। उन्होंने विद्यावती जी से कहा—"दोपहरी ढल रही है, भीड़ को यहाँ से हटाना चाहिए, नहीं तो गोली चल जायेगी और एक भगत सिंह के साथ न जाने कितने भगत सिंह देने पड़ेंगे।"

फाँसी के तख़्ते की ओर जिस का बेटा बढ़ रहा है, वह माँ उसे बिना देखे, कैसे उठे, कैसे चली जाये ? भावुकता सब को घेर रही है, यथार्थ सिर्फ़ सरदार किशन सिंह के साथ है—"उठो, जल्दी करो, एक-एक पल क़ीमती है, पागल मत बनो, समझो कि तुम यहाँ से चलोगी, तभी कोई यहाँ से हिलेगा।" भावुकता हारी, यथार्थ जीता। भगत सिंह के दादा-दादी, चाचियाँ, माता-पिता आगे-आगे चले, पीछे-पीछे भीड़ चली। वे चाहते थे लोग अपने घर जायें, भीड़ तितर-बितर हो, पर भीड़ का एक भी आदमी उन से अलग न होना चाहता, होने को तैयार न था। जलूस चला जा रहा था। नारे थे, भीड़ थी, जलूस तो था ही, पर किस का जलूस था यह ? यह जलूस था एक महान् पिता के महान् विवेक का, जो इस समय नगर के पुत्रों को बचाने के लिए अपने पुत्र से दूर ले जा रहा था, जिस से उन का बेटा चुपचाप फाँसी पर चढ़ाया जा सके और उस की आहुति की आग और किसी को न जलाये। मैं इतिहास का पण्डित नहीं हूँ, पर शायद इतिहास ने किसी पिता का ऐसा जलूस नहीं देखा।

मोरी दरवाज़े पहुँच कर वे रुक गये। जलूस जलसे में बदल गया। सरदार किशन सिंह भाषण देने लगे, पर क्या कोई अंगारों पर खड़े हो कर भाषण दे सकता है ? सरदार किशन सिंह जलते, फफकते हृदय के अंगारों पर ही तो खड़े थे। बलिहारी उन के सन्तुलन की। आवाज़ एकदम साफ़ थी, विचार शृंखला-बद्ध थे। लोग अपने को भूले भाषण सुन रहे थे। 'मिलाप' के दफ़्तर में फ़ोन आया—"भगत सिंह और उन के साथियों को फाँसी-घर की तरफ़ ले जाया जा रहा है।" कुलतार सिंह वहीं बैठे थे। वे दौड़ कर जलसे में गये और पिता जी को यह समाचार दिया। सरदार किशन सिंह ने उन्हें वहीं बैठा दिया और बिना किसी को बताये भाषण देते रहे। क्या इस सन्तुलन का मूल्यांकन संसार की किसी भाषा का कोई शब्द कर सकता है ? तभी वहाँ वह ग्वाला आया, जो जेल में दूध देता था। उस की सूचना थी—"फाँसी लग गयी है, जाकर लाश ले आओ।" सरदार किशन सिंह के लिए यह कैसा क्षण था ? उन की पूरी कल्पना, पूरी कामना उन के जवान बेटे की लाश के पास मँडरा रही थी, पर उन का विवेक दूसरे सैकड़ों नौजवानों को लाश बनने से बचाने में जूझ रहा था। उन की कड़कती आवाज़ सब के कानों में पड़ी—"ख़बर मिली है कि भगत सिंह को फाँसी दे दी गयी है। मैं ख़बर या लाश लेने जेल पर जा रहा हूँ। आप सब अपनी-अपनी जगह बैठे रहें। मैं कहता हूँ, कोई जेल की तरफ़ न जाये। ऐसा न हो कि हम एक भगत सिंह को लेने जायें और सैकड़ों भगत सिंह दे कर आयें।"

लोगों में खलबली मच गयी, बहुत कहने पर भी बहुत लोग उन के साथ हो लिये। जेल पर सन्नाटा था। वे दरवाज़े पर पहुँचे। भीतर से अफ़सरों के क़हक़हों की

आवाज़ सुनाई दे रही थी, वे ताश खेल रहे थे। उन्हें बहुत दिनों बाद चैन की साँस मिली थी। सरदार किशन सिंह ने ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ें लगायीं, दरवाज़े को बेहद खड़खड़ाया, पर कोई नहीं बोला। खबर मिली कि भगत सिंह और उन के साथियों की लाशों को जलाने के लिए कहीं बाहर भेज दिया गया है। लोग उस जगह की खोज में चारों ओर बिखर गये। सोचती हूँ, जनरल डायर जलियाँवाला हत्याकाण्ड कर के अपनी जाति के लिए स्मरणीय हो गये थे, पर क्या नया जलियाँवाला हत्याकाण्ड बचा कर सरदार किशन सिंह अपनी जाति के इतिहास में वन्दनीय नहीं हो गये ?

उन के व्यक्तित्व की जड़ें कहाँ से कहाँ तक फैली हुई हैं, कोई सोचे तो सोचता ही रह जाये। पंजाब में वे क्रान्ति का ऐसा वटवृक्ष थे, जिस की जड़ें, तो दूर तक फैली हुई थीं ही, छाया भी इतनी सघन थी कि सब को उस के नीचे शान्ति, विश्राम और सहयोग मिलता था। काँग्रेस के सभी आन्दोलनों में उन्होंने भाग लिया था, 'पगड़ी सँभाल ओ जट्टा' की क्रान्ति के वे एक संयोजक ही थे, पर पंजाब में जिस ग़दर की तैयारी हुई, उस में भी उन का परामर्श-सहयोग पूरी तरह था। शचीन्द्र नाथ सान्याल, रास बिहारी बोस और ग़दर के नेता करतार सिंह सराबा उन के सम्पर्क में थे, बराबर सलाह लेते थे, जैसा कि पिछले कई संस्मरणों से स्पष्ट है। वे उस मज़बूत धागे की तरह थे, जो स्वयं न दीखते हुए भी माला के अलग-अलग दानों को परस्पर पिरोये रखता है।

१९३९ में उन्हें दूसरी बार फ़ालिज हुआ। उन का एक हिस्सा बेकार हो गया। इन की इच्छा-शक्ति अद्‌भुत थी। वे उस भयंकर आक्रमण को भी झेल गये और अपने खुले (बेंत की लम्बी लाठी) के सहारे धीरे-धीरे चलने लायक़ बने रहे, किसी पर बोझ नहीं हुए। १९४० में मेरा जन्म हुआ और १९४३ में से मेरी स्मृतियाँ उन के साथ निजी रूप से सम्बद्ध हो गयीं। मुझे गर्व है कि मेरी शिक्षा उन के ही द्वारा आरम्भ हुई। सुबह-शाम वे उँगली पकड़ मुझे धीरे-धीरे घूमने ले जाते। पहले गिनती और फिर पहाड़े सिखाये, घर पर क़ायदा पढ़ाना आरम्भ किया। बातों-ही-बातों में, खेल-ही-खेल में, उन्हों ने मुझे बहुत-कुछ सिखा दिया, बिना मुझ पर ज़रा भी बोझ डाले। मैं नन्हीं-सी बच्ची थी उस समय, पर कभी मेरा नाम ले कर उन्हों ने मुझे नहीं बुलाया। हमेशा बीबी कहते थे।

वे अक्षरों का ज्ञान कराने वाले मास्टर जी नहीं थे, वे जीवन का निर्माण करने वाले आचार्य थे। संस्कार बनाने की उन की अपनी कला थी। बीबी अमर कौर के शब्दों में—"मैं और भगत सिंह दोनों ही बचपन में रात के समय बाहर जाने से डरते थे। वे हमें मकान से बाहर कर के उस के चक्कर काटने को कहते। प्यार से बढ़ावा देते, कभी-कभी धमकाते भी। वे हमें कहते कि उधर पहुँच कर आवाज़ लगा देना, फिर डर नहीं लगेगा। आवाज़ लगाने से मतलब यह भी होता कि हम झूठ न बोल दें। वे आरम्भ से ही बच्चों को निर्भीक, बहादुर और देशभक्त बनाने का प्रयत्न करते थे।"

क्रान्तिकारी हो कर भी वे श्रेष्ठ प्रशिक्षक थे। क्रान्ति के विध्वंस और निर्माण दोनों पहलुओं पर उन का पूरा अधिकार और ध्यान था। यह कहना ठीक होगा कि वे पूर्ण क्रान्तिकारी थे। तभी तो भगत सिंह को उन्हों ने १४-१५ वर्ष की उमर में ही इस योग्य बना दिया था कि वे पूरी मशीनरी के विरोध में अकाली जत्थे का शानदार[1] स्वागत कर सकें। यह काम सरदार किशन सिंह के सिवा और किसी के वस का न था, पर उन्हीं दिनों उन्हें कहीं वाहर जाना था, इसलिए उन्हों ने पूरे आत्मविश्वास के साथ भगत सिंह को लाहौर से वंगा भेज दिया था। अपने प्रशिक्षण पर उन्हें विश्वास न होता, तो यह आत्मविश्वास उन में कहाँ से आता ? मैं ने कहा कि वे एक सुयोग्य संगठनकर्ता थे, एक श्रेष्ठ प्रशिक्षक थे और पूरी तरह क्रान्तिकारी थे। इन सब योग्यताओं को तभी पाया जा सकता है, जब मनुष्य में अनुशासन की भावना पूर्ण रूप में हो। सरदार किशन सिंह का अनुशासन वड़ा सख्त था। उन्हों ने भगत सिंह को बचपन से क्रान्ति की शिक्षा दी थी और अब उन्हें पूरी तरह विश्वास हो गया था कि उन का बेटा भी उन की तरह ही एक कुशल संगठनकर्ता बन गया है। नौजवान भारत सभा उस का एक उदाहरण थी। उस समय की एक घटना उन की अनुशासनवृत्ति पर गहरा प्रकाश डालती है। १९२७ में भगत सिंह के लिए डेरी फ़ॉर्म खोल दिया था। वे काम करते, तो जुट कर करते, पर यदा-कदा घर से चले जाते और दो-दो चार-चार दिन पार्टी के काम से ग़ायब रहते। इसी तरह एक बार वे गये और कुछ दिन लौट कर न आये। पीछे बड़ी परेशानी उठानी पड़ रही थी। उन की ग़ैरहाज़िरी में ग्राहकों को दूध पहुँचाने के कई वादे ग़लत हुए और इसी तरह की और भी कई ग़लत बातें हुईं। यह उन के लिए असह्य था, क्यों कि उन का जीवन सूत्र था—अपना हरेक उत्तरदायित्व पूरा करो। सरदार किशन सिंह लाहौर गये। बाज़ार में आते हुए भगत सिंह मिल गये। सरदार किशन सिंह गुस्से में थे। वहीं बाज़ार में पीटना शुरू कर दिया। भगत सिंह कहते जा रहे थे—"शान्ति रखिए पिता जी, शान्ति रखिए" और पिता जी घूँसे पर घूँसा मारते जा रहे थे।

वे कठोर थे, उन का क्रोध प्रचण्ड था। वे अपनी बात में काट-छाँट पसन्द न करते थे। यह सब ठीक है, पर मैं ने जब उन्हें देखा, उम्र उन की ढल चुकी थी। बीमारी ने उन्हें अपाहिज कर दिया था। जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव उन के स्मृति-पटल पर अंकित थे। वे मुझे बहुत प्यार करते थे, बहुत ध्यान रखते थे। मुझे उन का वह चित्र बहुत ही प्यारा लगता है, जब मेरी स्मृतियाँ अपने गाँव के उस स्कूल में पहुँच जाती हैं, जिस में जगत सिंह, भगत सिंह, कुलवीर सिंह और कुलतार सिंह ने प्रायमरी तक की शिक्षा प्राप्त की थी और अब उसी स्कूल में मैं पढ़ती थी। मैं स्कूल जाती। वे मेरे लिए खाना ले कर आते और स्कूल के मैदान में पेड़ के नीचे खड़े हो जाते।

१. देखिए, 'भगत सिंह की जीवन-गाथा'।

खाने की छुट्टी होती, मैं दौड़ती हुई उन के पास आती, वे हँसते हुए मुझे लिपटा लेते, फिर घास पर बैठ कर मुझे खाना खिलाते और बातें भी करते जाते। छुट्टी खत्म होने का घण्टा बजता। वे डिब्बा ले कर अपने खूले का सहारा लेते हुए चले जाते।

बस उन की एक स्मृति और, ऐसी स्मृति, जिस में उन के लम्बे जीवन की पूरी तपस्या बीज रूप में समायी हुई है और जिसे जान कर हम उन्हें पूरी तरह जान सकते हैं। बैठे-बैठे, लेटे-लेटे, बातें करते-करते वे गुम-से हो जाते, खो-से जाते और तब लम्बी साँस ले कर कहते—"दीन दयाल भरोसे तेरे, सब परिवार चढ़ाया बेड़े।" हे दीन दयालु प्रभु, तेरे भरोसे पर अपना पूरा कुटुम्ब मैं ने बेड़े पर—तख्तों की पट्टी पर चढ़ा दिया है। वे सब मझधार में हैं, उन के चारों ओर खतरे हैं, क्यों कि वे सुरक्षित नाव में नहीं, तख्तों के बेड़े पर हैं—सिर्फ़ ईश्वर का भरोसा है। यह भरोसा मजबूत है, क्यों कि ईश्वर दीन दयालु हैं। यह पंक्ति एक हो कर भी क्या उन का सम्पूर्ण जीवन चरित्र नहीं है? एक पिता, जिस ने किसी ग़लतफ़हमी में नहीं, सोच-समझ कर अपने पूरे परिवार को क्रान्ति की धारा में छोड़ दिया है, धार उद्दण्ड है, उस में खतरनाक भँवरें हैं, छिपी हुई चट्टानें हैं, जो बेड़े को ही नहीं बड़ी नाव को भी तोड़ सकती हैं, इस पर भी आशा बलवती है, मंजिल पर पहुँचने का विश्वास अखण्ड है, फिर भी भविष्य अज्ञात है—अन्धकार में अवश्य है। ओह, एक अज्ञात, बीहड़ क्रान्तिपथ के सकुटुम्ब यात्री ही तो थे सरदार किशन सिंह। उन की हर याद देश के लिए महत्त्वपूर्ण है, उन की हर याद मेरे लिए मधुर है। सचमुच वे महत्त्वपूर्ण और मधुर पुरखा थे हमारे देश की क्रान्ति के। उन्हें मेरी पीढ़ी के प्रणाम।

■ ■

वीरता की अमर स्रोतस्विनी माता विद्यावती

पुराने ज़माने में एक कहावत थी कि जहाँ चार बूढ़ी स्त्रियाँ मिल कर बैठती हैं, वहाँ बातचीत घूम-फिर कर बहुओं पर पहुँच जाती है और जहाँ चार बहुएँ मिल कर बैठती हैं, वहाँ बातचीत घूम कर सासों पर पहुँच जाती है। बाद में ऐसा भी युग आया जब यह कहावत चल पड़ी कि जहाँ चार राजनैतिक व्यक्ति मिल कर बैठते हैं, वहाँ बातचीत घूम-फिर कर जेलों पर पहुँच जाती हैं। बिलकुल ऐसी ही बात श्रीमती विद्यावती जी की है। उन्हों ने भगत सिंह को जन्म दिया, यह एक साधारण बात है, पर असाधारण बात यह है कि भगत सिंह उन के रोम-रोम में व्याप्त हैं। उन से स्वयं उन के जीवन की बात करो तो पहले ही चक्कर में वे भगत सिंह पर पहुँच जाती हैं।

उस दिन चमत्कारों की कुछ बात चल रही थी। उन के संस्मरणों का स्रोत खुल गया। उन्हों ने बताया—"उन दिनों भगत सिंह का मुक़दमा चल रहा था। हमारे गाँव के बाहर एक साधु आ कर बैठ गया और उस ने धूनी जला ली। दो-चार दिन में ही उस की सिद्धि की चर्चा गाँव-भर में होने लगी। किसी ने मुझ से कहा—उस साधु के पास जाओ, तो भगत सिंह बच जायेगा। मुझे ऐसी बातों पर बहुत विश्वास नहीं था, फिर भी माँ की ममता ने बहुत ज़ोर मारा और मैं रात के समय कुलबीर सिंह को साथ ले कर उस साधु के पास गयी। उस ने कुछ पढ़ कर पुड़िया में राख मुझे दी और कहा कि इसे भगत सिंह के सिर में डाल देना।

जब मुलाक़ात का दिन आया तो मैं राख साथ ले गयी और भगत सिंह के पास बैठ कर उन के सिर पर हाथ फेरने की कोशिश करने लगी, जिस से धीरे से राख उन के सिर में डाल सकूँ। मेरा हाथ अभी उन के सिर तक न गया था। मैं अभी कमर ही थपथपा रही थी कि वे बोले—"जो राख मेरे सिर में डालना चाहती हो, वह कुलबीर के सिर में डालो, ताकि यह हमेशा आप के पास रहे।"

मेरे लिए यह एक आश्चर्यजनक घटना थी। मैं बहुत दिनों तक यह बात सोचती रही कि इन्हें मेरे मन की बात का कैसे पता चला? उन्हीं

दिनों मैं ने इस कामना से अखण्ड पाठ कराया कि मेरे वेटे को फाँसी न लगे। अन्त में ग्रन्थी जी ने अरदास की तो उन के मुँह से निकला—हे प्रभु, माता जी चाहती हैं कि उन का वेटा वच जाये, पर इन का वेटा चाहता है कि उसे ज़रूर फाँसी हो जाये। दोनों बातें मैं ने आप जी के सामने रख दी हैं, इस लिए हे सच्चे पातशाह, अव आप जी ही न्याय करें। —और इस पाठ के वाद जव मैं मुलाक़ात के लिए गयी, तो भगत सिंह ने बड़े गहरे भाव से पूछा—'सच वताइए, अरदास में ग्रन्थी जी ने क्या कहा?' मैं ने वताया, तो वोले—'आप की बात तो गुरुसाहव ने भी नहीं मानी, अव मुझे कौन बचा सकता है!' अपने न बचने की बात उन्हों ने इतने उत्साह से कही, जैसे किसी के नाम लाटरी खुलने की बात तय हो गयी हो।

मुझे किसी ने वताया कि किसी जेंठे वच्चे का पहला झगोला ले कर जाना और उसे उन्हें दे देना। वे उसे अपने पास रखें, फ़ैसला ठीक हो जायेगा। मैं झगोला साथ ले गयी और उन्हें देने लगी तो पूछा, 'क्या है यह?' मैं ने कहा—यह छोटा झगोला है इसे अपने पास रखना। उन्हों ने उसे वापस करते हुए कहा, 'इसे आप सँभाल कर रखिए। अँगरेज़ों की जड़ें काटने के लिए कुछ समय वाद मैं फिर जन्म लूँगा, तव इसे पहनूँगा।' यह कह कर वे इतने ज़ोर से हँसे कि आस-पास के लोग देखने लगे।

एक वात फिर मुलाक़ात करने गये, तो देखा, उन के खाने वाले लोहे के बरतन में लाल गुलाव के फूल रखे हुए हैं। मैं ने पूछा—'भगत सिंह, ये फूल कहाँ से आये हैं?' वहुत ही मस्ती की मुद्रा में वे वोले, 'दुनिया में मेरे लिए फूल ही फूल हैं।' अव वरावर सोचती हूँ; सचमुच उन के लिए दुनियाँ में फूल ही फूल हो गये। उन के चित्रों पर फूल चढ़ते हैं, उन की प्रतिमाओं पर फूल चढ़ते हैं और सच तो यह है कि मुझे जो फूल चढ़ते हैं, वे भी तो उन के ही फूल हैं!

फाँसी से वहुत दिन पहले ही भगत सिंह ने एक दिन मुझ से कहा था—'मुझे फाँसी होगी और फाँसी के वाद ये लोग जेल की दीवार तोड़ कर मेरी लाश ले आयेंगे।' यह भविष्यवाणी भी सच निकली। मैं इन सव वातों को अकसर याद करती हूँ तो सोचती हूँ, उन के भीतर ईश्वर का ऐसा क्या चमत्कार था कि उन्हें अनहोनी भी सूझ जाती थी?"

मैं ने कहा—"आप ने बहुत वातें याद रखीं और इस तरह इतिहास की बड़ी सेवा की।" विद्यावती जी कहने लगीं—"ये वातें तो मेरी हड्डियों में रम गयी हैं। जव मैं जल जाऊँगी तव भी ये मेरी हड्डियों पर लिखी रहेंगी" और फिर उन का हृदय पिघल कर उन की आँखों के मोतियों में झलक आया।

सचमुच माता विद्यावती जी अथाह साहस की देवी हैं। उन्हों ने अपनी लम्बी जीवन-यात्रा में क्या नहीं देखा? जीवन के पहले ही पड़ाव में उन्हों ने परिवार को छिन्न-भिन्न होते देखा। उन के एक देवर सरदार अजीत सिंह विदेश चले गये, दूसरे देवर सरदार स्वर्ण सिंह जेल के असह्य कष्टों को सहते हुए शहीद हो गये। उन के पति

सरदार किशन सिंह जीवन-भर जेलों और अदालतों के चक्कर काटते रहे। दूसरा पड़ाव आया तो जवान बेटा फाँसी पर झूल गया। फिर दूसरे दो बेटे जेलों में बन्द रहे और उन के पति को फ़ालिज हो गया। ऐसे ही एक के बाद एक दुःखदायी पड़ाव आये, पर उस से भी परे यह कि उन्हों ने स्वयं जीवन और मरण के खेल को खूब खेला। मन उन का बेटे के आसपास घूमता था, तो तन घर के फैले हुए लम्बे-चौड़े कामों में उलझा रहता था। वे कभी लाहौर जातीं, तो कभी खासरियाँ आतीं। लगता था उन का जीवन यात्रा के लिए ही बना है। रास्ता झाड़-झंखाड़ और चोर-डाकुओं से भरा रहता था, फिर भी वे न अँधेरा देखतीं, न सवेरा; चल देतीं तो बस चल ही देतीं। साहस और दृढ़ आत्म-विश्वास ही उन के शस्त्र थे।

जिन दिनों साइमन कमीशन लाहौर पहुँचा उन्हो दिनों की बात है एक दिन चाची हरनाम कौर की खासरियाँ से बंगा जाना था, पर भगत सिंह से मिलने की उन की प्रबल इच्छा थी। इस लिए विद्यावती जी उन के साथ शहनशाही-कुटिया लाहौर पहुँचीं। भगत सिंह उन दिनों वहीं रहते थे। कमरे में किताबें बिखरी पड़ी थीं। देखते ही वे समझ गयीं कि पुलिस ने तलाशी ली है। भगत सिंह वहाँ थे ही नहीं, पर जैसे ही उन्हें पता चला कि बेबे जी और चाची जी आयी हैं, वे पीछे के रास्ते से आये और मिल कर कुछ ही क्षणों में लौट गये। लाहौर से बाहर निकल जल्दी गाँव पहुँचने के खयाल से उन्हों ने जूता हाथ में उठा लिया, अपने छोटे बेटे राजेन्द्र सिंह को कन्धे पर बैठा लिया और धूल-भरे रास्ते में तेज़ क़दम रखती हुई आगे बढ़ने लगीं। कुछ ही क़दम चली थीं कि उन्हें पैर में तेज़ चुभन महसूस हुई। सोचा ततैया होगा। लेकिन सिर घुमा कर देखा तो साँप फन उठाये खड़ा था। उन्हों ने धैर्य नहीं छोड़ा, चलती रहीं, चलती रहीं। जैसे-जैसे घर पास आ रहा था, वैसे-ही-वैसे उन्हें मृत्यु पास आती नज़र आ रही थी। घर पहुँचीं कि बेहोश हो कर गिर पड़ीं। खून की उलटी आयी, दाँतों से खून बहने लगा। चार दिन तक झाड़-फूंक होती रही, तब कहीं होश आया। इसी बीच पुलिस की गारद वहाँ पहुँची, इस अनुमान से कि माँ की खबर लेने तो भगत सिंह वहाँ ज़रूर पहुँचे ही होंगे, पर वे नहीं आये। खबर भगत सिंह ने वहीं मँगा ली थी।

बरसात के दिन थे। छत टपकने लगी। टपकते स्थानों पर मिट्टी लगाने के लिए ऊपर चढ़ीं। मिट्टी का एक ढेला उठाया कि हाथ की उँगली पर साँप ने काट लिया और वे दूसरी बार जीवन-मरण के झूले में झूलने लगीं। कौन जाने कितना ज़हरीला है साँप? बचेंगी भी या नहीं? सब के मन अशुभ की कल्पना से भर उठे। शंकाएँ मन को घेरे हुए थीं। फिर वही झाड़-फूंक की गयी और वे ठीक हो गयीं।

ईश्वर जैसे उन के तन-मन की परीक्षा एक साथ ही ले रहे थे। परीक्षा तो फिर परीक्षा ही होती है। कौन जाने कैसे कठिन से कठिन सवाल पूछ लिये जायें और फिर ऐसे सवाल? ये तो जीवन-मरण के सवाल थे। वे सुबह-ही-सुबह उठीं। भैंस का दूध निकालने के लिए गयीं तो भैंस के सामने पड़ी हुई कुट्टी को ठीक करने लगीं। कुट्टी

तो क्या ठीक करतीं, उन के दुश्मन ने उन्हें यहाँ भी आ दबोचा। साँप ने पूरे ज़ोर से डंक चला दिया। वे बहादुर बेटे की बहादुर माँ थीं, पहले की तरह ही तीसरी बार भी मृत्यु पर विजय पा गयीं।

रावी दरिया ने उफन कर गाँव को चारों ओर से घेर लिया। घेर ही नहीं लिया, चढ़ाई भी कर दी—पानी घरों के भीतर तक घुस आया। तमाम लोग छतों पर चढ़ गये। जीवन ख़तरे में घिर गया। बहुत लोग इकट्ठे हो कर बाँध लगाने लगे। बहादुर माँ ऐसे में बैठी कैसे रह सकती थीं? फ़ौरन उठीं और पानी में घुस गयीं। मिट्टी में हाथ डाला ही था कि साँप ने फिर हाथ पर काट खाया। झट गोबर उठा हाथ के अँगूठे पर मल लिया। थोड़ी देर के बाद सब को बताया, पर किसी डॉक्टर या झाड़-फूँक वाले को बुलायें भी तो कैसे? चारों ओर पानी-ही-पानी। तभी उस उफनते दरिया में लगा दी छलाँग उन के बेटे रणवीर सिंह ने। वे तैरते हुए पार हो लाहौर पहुँचे और वहाँ से नाव में बैठा कर डॉक्टर को लाये। और माँ एक बार फिर मौत के क़िले का चक्कर काट कर अपने घर आ गयीं।

साँप का काटना तो दूर, किसी को काटने का वहम भी हो जाये, तो वहम ही खा जाये। विद्यावती जी को एक बार नहीं चार बार साँप ने काटा पर उन की जीवन-डोर हमेशा साँप के ज़हर से ज़्यादा मज़बूत निकली। साँप के ज़हर से चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार डॉक्टर किसी को बचा सकता है और लोक-विश्वास के अनुसार झाड़-फूँक करने वाला तान्त्रिक भी। इस लिए चार बार साँप के काटने पर बच जाने को मैं उतना महत्त्व नहीं देती, जितना मृत्यु के सामने आ कर खड़े हो जाने पर भी उन की स्थिरता को। हालत चाहे जितनी ख़राब हुई, मृत्यु का पंजा चाहे कितना कस गया, उन के शान्त चेहरे पर घबराहट की कोई रेखा कभी नहीं खिंची। उन्हों ने शारीरिक रूप में ही नहीं, मानसिक रूप में भी हर बार अपने को मृत्युंजय भगत सिंह की माँ सिद्ध किया और इस तरह वे काले नाग उन के व्यक्तित्व को प्रदीप्त करने वाले प्रमाण-पत्र के काले अक्षर बन गये।

बरसात के दिनों में अब भी कभी-कभी साँप उन के पास आ जाता है। एक बार वे सोयी हुई थीं। उन के पास ही मेज़ पर लालटेन जल रही थी। एक बहुत बड़ा साँप न मालूम कब आया और लिपट कर बैठ गया लालटेन के चारों ओर। ऐसे ही एक बार सन्ध्या के झुटपुटे में वे आँगन में चारपाई पर बैठी थीं कि नीचे बहुत बड़ा साँप घूमने लगा। लेकिन किसी-न-किसी तरह वे हर बार बच जाती रहीं। सुना है कि जिसे कई बार साँप ने काटा हो, उस की देह से बरसात के दिनों में ऐसी गन्ध आने लगती है कि साँप स्वतः ही उस गन्ध की ओर आ जाता है। कह नहीं सकती इस में कितनी वास्तविकता और कितनी कल्पना है, पर ये दृश्य तो हम ने भी देखे हैं।

उन की सहन-शक्ति की बात सोचती हूँ तो स्तब्ध रह जाती हूँ। उन्हों ने मृत्यु के आक्रमण ही नहीं सहे, और भी बहुत-कुछ सहा। जेल जाने वालों ने भी इतने

शारीरिक और मानसिक कष्ट न सहे होंगे, जितने कि विद्यावती जी ने अपने जीवन में सहे। अपनी वेदनाओं को सुनाते-सुनाते कभी वे गम्भीर हो जातीं तो कभी उन की आँखों में अथाह सन्तोष का समुद्र ही लहराने लगता। स्पष्ट था कि अपने कष्टों की चिन्ता उन्हों ने कभी नहीं की। हाँ, उन के मन का एक बहुत ही कोमल कोना है और वह है भगत सिंह की याद। वे उन की बात करती हैं, तो प्रसंग के अनुसार गौरव, सुख, सन्तोष, दुःख और गम्भीरता—सभी तरह की रेखाएँ चेहरे पर खिंचती रहती हैं। वे और अधिक गम्भीर न हो जायें, इस लिए मैं ने उस दिन उन के सामने ऐसा प्रश्न रख दिया, जिसे सुन कर वे खिलखिला कर हँस पड़ीं। मैं ने उन्हें इसी रूप में सब से अधिक आकर्षक पाया। मेरा प्रश्न था—"बेबे जी, आप का विवाह कब हुआ और तब आप को कैसा लगा ?"

बड़े ही सादे और मनोरंजक ढंग से उन्हों ने कहना शुरू किया—"विवाह के समय सब-कुछ अच्छा-ही-अच्छा लगा। नये कपड़े मिले, अच्छे-अच्छे गहने मिले। उस समय मैं केवल ग्यारह बरस की थी। मेरा नाम इन्दी था। मेरे विवाह के समय की घटना भी अजीब है। यों तो दोनों परिवार सिक्ख थे, पर इधर आर्य-समाज का विशेष प्रभाव होने के कारण विवाह गुरु ग्रन्थ साहब से न हो कर आर्य-समाजी ढंग से हुआ। फेरे वेदी से हुए, सरदार जी ने पण्डित के साथ-साथ स्वयं भी सभी मन्त्र पढ़े। उस ज़माने को देखते हुए यह घटना बड़ी असाधारण थी। सारे गाँव में इस बात की चर्चा हुई कि सरदार बरयाम सिंह के घर तो ऐसा दामाद आया है जो मन्त्र भी स्वयं ही पढ़ता है।"

सरदार अर्जुन सिंह उन दिनों जालन्धर में एक वकील के मुन्शी थे, इस लिए वे गाँव में न रह कर परिवार सहित जालन्धर ही रहते थे। आर्य-समाज, पढ़ाई-लिखाई और युग के वातावरण का परिवार पर इतना प्रभाव था कि गाँव के आम परिवारों से बहुत भिन्न था यह परिवार। वे एक साधारण परिवार से आयी थीं, जहाँ उन की पढ़ाई-लिखाई बिलकुल नहीं हुई थी। उस युग के अन्य काम-धन्धों का ही ज्ञान उन्हें दिया गया था—चरखा कातना, कपास चुनना तथा घर के अन्य काम-काज, लेकिन इस घर में आ जाने के बाद यही सब काफ़ी न था। इस लिए उन के ससुर साहब ने विवाह के बाद ही यह तक़ाज़ा किया कि बहू को उन दिनों की परम्परा के अनुसार मायके में अधिक दिन न छोड़ कर हम कुछ दिन बाद ही ले जायेंगे और जालन्धर रख कर शिक्षा की व्यवस्था करेंगे, पर गाँव की उस किशोरी के लिए यह बात एकदम असाधारण थी। वह शिक्षा का अर्थ ही न समझती थी और घर से दूर रहना उसे एकदम अस्वाभाविक लगता था।

उन्हीं के शब्दों में—"जब-जब मुझ से यह कहा जाता कि तुम्हें जालन्धर बोर्डिंग में रख कर पढ़ाया जायेगा, मैं अपनी माँ के गले से लिपट कर बिलख-बिलख कर रोने लगती और इस कल्पना से ही कि मैं घर से दूर चली जाऊँगी, इतनी सहम जाती

कि मुझे बुखार आ जाता। कुछ दिन बाद सरदार जी मुझे लेने के लिए आये। मेरे माता-पिता मेरी हालत को समझ चुके थे। इनकार का कोई और रास्ता न सूझा, तो कह दिया कि तुम्हारी माता भी तो पढ़ी-लिखी नहीं हैं। इस पर सरदार जी को गुस्सा आ गया और वे नाराज़ हो कर लौट आये। उन का लौटना था कि हमारे घर में सब को चिन्ता हुई और पढ़ाई का क्रम आरम्भ करने की बात सोची गयी। स्कूल वहाँ कोई था नहीं। कोई साधु-सन्त आता, तो मेरी माँ झट क़ायदा ले कर मुझे उस के पास बैठा देतीं और विनयपूर्वक कहतीं—'संन्यासी जी, मेरी बेटी को दो-चार अक्षर सिखा दो।' हमारे गाँव में एक जुलाहिन थोड़ी पढ़ी-लिखी थी। कभी मुझे उस के पास पढ़ने को भेजा जाता, तो गुरुद्वारे के ग्रन्थी के पास और कभी गाँव के ब्राह्मण के पास। बस इतनी ही शिक्षा हो सकी मेरी—कि थोड़ी-बहुत हिन्दी-पंजाबी सीख ली।"

विद्यावती जी का विवाह १८९८ के लगभग हुआ। दो साल बाद गौना हुआ। तभी ज़िला लायलपुर में ज़मीन मिल जाने के कारण सरदार अर्जुन सिंह अपने परिवार सहित लायलपुर में जा बसे! यह सन् १९०० की बात है। तभी वे पहली बार ससु-राल गयीं और आठ महीने वहाँ रहीं।

नयी ज़मीनें, नये घर, नयी आबादी, सब-कुछ नया ही था उस समय लायल-पुर में। ज़मीन जम कर मेहनत चाहती है, पर मेहनत तो वही करे जो एकाग्र हो कर जूझ जाये मिट्टी के साथ। यहाँ तो पेट से अधिक चिन्ता थी देश की, इस लिए ज़मीन की तरफ़ कम, जलसे-जुलूसों और सोसायटियों में सब का ध्यान अधिक था। कभी सरदार किशन सिंह पर कोई मुक़दमा चल पड़ता, कभी उन्हें जेल की सज़ा हो जाती, कभी सरदार अजीत सिंह गिरफ़्तार हो जाते और कभी सरदार स्वर्ण सिंह। ऐसी ही अस्त-व्यस्त मनःस्थिति और परेशानियों से गुज़र रहा था उन का जीवन। जिस घर की वे बड़ी बहू थीं, वह असल में घर कम और विद्रोहियों का अड्डा अधिक था। जाने कौन, कब वहाँ कहीं से आ जाता और कब तक ठहरता। विद्यावती जी आने वाले मेहमान की भावना से लाख कोस दूर थीं, क्यों कि हरेक एक रहस्य बना रहता था और हरेक के आने पर गोपनीयता का वातावरण और घना हो जाता था। वे कभी ससुराल आ जातीं, कभी मायके चली जातीं; पर वे कहीं भी रहें, उन का मन सदा किसी अज्ञात आशंका से भरा रहता, जिस में जाने कब क्या हो जाये की अस्थिरता व्याप्त रहती। इन्हीं परिस्थितियों के बीच १९०४–५ में उन्हों ने अपने ज्येष्ठ पुत्र जगत सिंह को जन्म दिया।

उन्हीं के शब्दों में—"उन दिनों सूफ़ी अम्बाप्रसाद अकसर हमारे घर आया करते थे और कमरे में बैठे वे कुछ-न-कुछ लिखते ही रहते थे। हमें वे ज़रा भी अच्छे न लगते थे, क्यों कि उन के आने पर सब लोग उन में ही उलझे रहते थे। एक बार हम ने उन्हें खाने को भी नहीं पूछा। जब-जब हम ने रोशनदान से उन के कमरे में झाँक कर देखा, उन्हें कुछ लिखते पाया। हमें देख-देख कर आश्चर्य हो रहा था कि यह कैसा

आदमी है, जिसे खाने-पीने का भी ध्यान नहीं और फिर भी लिखता ही जा रहा है। दो-तीन दिन के बाद जब सरदार जी आये, तो उन्हों ने पूछा—मास्टर जी को खाना खिलाया ? हम ने कहा नहीं, तो वे बहुत नाराज़ हुए। फिर जा कर उन से पूछा, तो मास्टर जी ने बड़ी सादगी और शान्ति से, जैसे कोई बात ही न हुई हो, उत्तर दिया—'न किसी ने खाना दिया और न मैं ने खाया।' "

घर तब घर बनता है जब स्त्री और पुरुष पूरी योग्यता और पूरी लगन के साथ अपने पसीने से उसे सींचते हैं, पर घर के सर्वेसर्वा सरदार किशन सिंह सरदार अजीत सिंह और सरदार स्वर्ण सिंह तो देश की बेल को अपने ख़ून से सींचने में लगे हुए थे, फिर घर की बेल को अपने पसीने से कौन सींचता ? स्थिति ऐसी थी कि वह बिखर जाये, पर साहस-धैर्य की प्रतिमा श्रीमती जय कौर उसे अपने सुदृढ़ हाथों से थामे बैठी थीं और इस लिए बिखरने से बचा रहा। विद्यावती जी किन परिस्थितियों में जी रही थीं, इस का पता इस से चल सकता है कि सितम्बर १९०७ में जब उन्हों ने अपने पुत्र भगत सिंह को जन्म दिया, तो उस के एक दिन पहले तक सरदार किशन सिंह एक मुक़दमे में गिरफ़्तार थे। सरदार स्वर्ण सिंह जेल काट रहे थे और सरदार अजीत सिंह माण्डले (बर्मा) में जलावतन थे। तीन-तीन भालों से बिंधा उन का मातृत्व क्या हर क्षण कराहता न रहा होगा !

संयोग की बात, जिस दिन भगत सिंह का जन्म हुआ उसी दिन सब छूटे। इस से घर की ईंट-ईंट पर पहरा देती हताश उदासी हटी और ख़ुशी की पायलों की झंकार से घर उल्लसित हुआ, पर यह उल्लास धूप-छाँही था, इधर आया, उधर गया। १९०९ के आरम्भ में सरदार अजीत सिंह भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष को जारी रखने के लिए चुपचाप विदेश चले गये। उन के जाने के बाद सरदार किशन सिंह को गिरफ़्तार कर लिया गया कि इन्हें अपने भाई की पूरी जानकारी होगी। जानकारी तो थी ही, पर वह जानकारी अँगरेज़ी सरकार को देने के लिए तो नहीं थी। यही संघर्ष की पृष्ठभूमि थी। सरदार किशन सिंह के लिए जो संघर्ष था, विद्यावती जी के लिए वही संकट था। यही संकट होता, तब भी कोई बात न थी। एक घाव में कितना भी दर्द हो, आदमी उसे सह लेता है, पर घाव के बाद घाव हो, तो सहनशीलता भी क्या करे ? हथौड़ों की निरन्तर पड़ती चोटें तो मज़बूत चट्टान को भी चटका देती हैं।

पति संघर्ष में ग्रस्त, एक देवर जलावतन, दूसरा पहले गिरफ़्तार फिर बीमार, फिर स्वर्गवासी। एक देवरानी विधवा, एक न विधवा न सधवा। जीवन की चारों दिशाओं में हाहाकार ही हाहाकार। लेकिन कोई दुःख कितना भी बड़ा हो, निरन्तर बना रहे तो सहना आदत बन जाती है और आदत उसे सहने की शक्ति देती है। इस तरह विद्यावती जी का जीवन पुराने दुःखों के बीच कुछ सहज हो ही रहा था कि पंजाब-भर में ग़दर-पार्टी का आन्दोलन मच गया। अपनी मुसीबत तो थी ही, आज यह आया कल वह आया आरम्भ हो गया और हर आना-जाना विद्यावती जी के लिए एक नया आतंक

था। पूरे आन्दोलन में उन के प्राण धुकधुकी में रहे, जाने कब कौन-सी प्रलय सिर पर टूट पड़े।

ग़दर का आन्दोलन असफल हो गया, तो अँगरेज़ सरकार प्रत्याक्रमण पर आयी। विद्यावती जी को लाहौर से उन के पिता के घर भेज दिया और सरदार किशन सिंह अपने गाँव बंगा (ज़िला लायलपुर) चले गये। इस का अर्थ था रोज़गार की समाप्ति। बिना कमाये तो भरा-पूरा घर ख़ाली हो जाता है फिर यह तो राजनीति की बिजलियों से उजड़ा हुआ घर था। इस में अभाव ही एकमात्र भाव था, पर प्रतिदिन की ज़रूरतें तो राजनैतिक नहीं होतीं। वे राजनीतिज्ञ से भी अपनी पूर्ति माँगती हैं, पर बिना कमाये पैसा कहाँ और बिना पैसे पूर्ति कैसे हो ?

यह स्थिति मनुष्य को क्रोधी और चिड़चिड़ा बना देती है। फिर सरदार अर्जुन सिंह तो स्वभाव से ही क्रोधी थे। एक दिन वे अपने बेटे सरदार किशन सिंह पर भड़क उठे कि तुम कुछ काम नहीं करते, घर में खाली बैठे रहते हो। दुःखी हो कर सरदार किशन सिंह ने खाना एक समय कर दिया और खेत पर ही रहने लगे। विद्यावती जी अपने मायके मोराँवाली में थीं, वे उन्हें भी लेने नहीं गये। जो अपना पेट नहीं भर सकता, वह पत्नी का कहाँ से भरेगा ? और जो पेट नहीं भर सकता, वह उसे लेने कैसे आये ? लाना तो सुगम है, पर दाना तो दुर्गम है।

उन्हीं के शब्दों में—"दीवाली पास आयी, तो मेरे पिता जी ने भाई के साथ मुझे भेज दिया। जब मैं बंगा पहुँची तो सरदार जी बाहर खेतों में ही मिल गये और लगे धमकाने कि 'मेरी रोटी की तो व्यवस्था नहीं, तुम क्यों चली आयीं।" मैं हैरान थी कि यह क्या हुआ और अब मैं क्या करूँ ? वापस चली जाऊँ तो माँ-बाप और भाई क्या सोचेंगे, और रहूँ तो रहूँ कैसे जब ये ही रखने को तैयार नहीं ? घर पहुँची तो माँ जी मुझे देख कर प्रसन्न हुईं, पर सरदार जी तब भी यही कह रहे थे कि वापस चली जाओ। मैं कुछ निर्णय नहीं कर पा रही थी, पर माँ जी ने मुझे रहने को कहा और मैं रह गयी।"

सोचती हूँ, जो पत्नी बहुत दिनों बाद अपने पति के पास जा रही है और वह भी दीवाली के आनन्द-भरे त्योहार पर, वह क्या-क्या सोचती आयी होगी हर क़दम पर, पर जब उसे द्वार पर पहुँचने से पहले ही स्वागत-उपचार के बदले धुआँधार धिक्कार और प्रवेश से इनकार मिला होगा, तो उस पर क्या बीती होगी ? राजनीतिज्ञों को बहुत बार जेल पूरी होने पर जेल से बाहर किया गया है और द्वार पर ही नज़रबन्दी का नोटिस तामील कर फिर जेल में बन्द कर दिया गया है। वे कुछ ही साँस ले पाये हैं बाहर की हवा में और फिर पहुँच गये हैं अपनी बैरक में। निश्चय ही यह पनपती आशा पर तुषारपात है, पर उन की हालत तो उन क़ैदियों से भी बदतर थी उस समय, क्यों कि वे राजनीतिज्ञ उस सरकार के दुश्मन होते हैं, पर यहाँ तो उन का जीवन-साथी ही उन्हें जीवन के द्वार से धक्का दे रहा था। न्याय का तक़ाज़ा है कि यह भी सोचा

जाये कि धक्का देने वाले के लिए यह धक्का कितना त्रासदायक होगा कि उसे सहने में बड़े से बड़े वीर का भी छक्का छूट जाये।

लगभग दो वर्ष बाद सरदार किशन सिंह लाहौर गये और वहाँ जीवन-बीमा का काम आरम्भ कर दिया। काम कुछ जमा तो वे विद्यावती जी को भी वहीं ले आये और अपने तीनों बच्चों जगत सिंह, भगत सिंह और अमर कौर को दादा-दादी और चाचियों के पास बंगा में छोड़ दिया। लाहौर आ कर ही कुलबीर सिंह का जन्म हुआ। लाहौर के पास ही खासरियाँ में ज़मीन ख़रीद ली गयी, बीमे का काम भी चलता रहा। स्थिति अब पहले से बेहतर थी। उन्हीं के शब्दों में—"बीमे का काम अच्छा चल रहा था। खेती का काम भी आरम्भ हो गया था। कुछ पैसे बचे, तो मैं ने सोने की दो अँगूठियाँ और बटन बनवा लिये, पर जेवर हमारे पास कब रहे थे, जो अब रहते। कुछ दिन बाद घर का एक नौकर उन सब ज़ेवरों को चुरा कर भाग गया। बस जीवन में पहली और अन्तिम बार यही जेवर मैंने बनवाये। कहीं घूमने को मन करता, तो मैं अपनी ज़मीन पर चली जाती या शहर। सिनेमा देखने का तो न शौक़ था, न उन दिनों रिवाज ही।"

कुछ वर्ष बाद खेती का काम काफ़ी अधिक फैल गया। इस लिए मुख्य रूप से खासरियाँ में ही रहना आरम्भ किया। मन में शान्ति थी। जीवन में सुख-समृद्धि की भावना। जीवन का बोझ हलका होने लगा था और वह उभरने लगा था। भगत सिंह की शादी की बात चल रही थी। एक जगह से कुछ आदमी उन्हें देखने आये। सब को डर था कि भगत सिंह मना न कर दे, पर भगत सिंह उस दिन पूरी मस्ती में थे। बराबर उछलते-कूदते रहे, नाचते-गाते रहे। विद्यावती जी से कहा— "बेबे जी, मेरी सगाई होने वाली है, जिसे जो बाँटना हो बाँट दो। ख़ूब ख़ुशी मना लो।" वे लोग रात में घर पर ही रहे। दूसरे दिन सुबह भगत सिंह नें उस आदमी को खेत पर भेज दिया, जो ताँगा चलाता था और स्वयं उन्हें ताँगे में बैठा कर लाहौर तक छोड़ने गये। सगाई की तारीख निश्चित हो गयी, पर भगत सिंह उस से पहले ही अपने पिता जी की दराज़ से रुपये ले कर और एक पत्र वहाँ रख कर अन्तर्ध्यान हो गये। विद्यावती जी के लिए यह वज्रपात ही था। उन के सब सपनों पर पानी फिर गया था और वे तड़प उठी थीं।

वे लाहौर की ग्वालामण्डी में एक प्रसिद्ध ज्योतिषी के पास गयीं। उस ने भगत सिंह का कोई कपड़ा माँगा। उन की पगड़ी पेश की गयी, तो कुछ पढ़ कर ज्योतिषी ने कहा—"तुम्हारा बेटा कुछ दिन बाद आ जायेगा, पर फिर चला जायेगा। उस लड़के का भाग्य अद्भुत ढंग का है कि या तो वह तख़्त पर बैठेगा या फिर तख़्ते पर झूलेगा।" क्रान्तिकारी परिवार में रहने वाली विद्यावती जी के विचारों में तख़्त कहाँ आता, तख़्ता ही घूम गया और उन्हें लगा कि एक साथ बहुत से बिच्छू देह में डंक मार रहे हैं। यह १९२३ की बात है।

कभी ये डंक कम हो जाते थे, कभी कम; पर उस दिन तो रोम-रोम में डंक-ही-डंक हो गये जब १९२७ के बम-केस में भगत सिंह को गिरफ़्तार कर लिया गया। उन्हों ने अपने पति की गिरफ़्तारियाँ देखी थीं, एक देवर की जलावतनी देखी थी, दूसरे देवर की जेल और फिर मृत्यु देखी थी; पर यह तो उन की गोद में पनपे पुत्र की गिरफ़्तारी थी और गिरफ़्तारी भी दफ़ा १४४ तोड़ने में नहीं कि कुछ महीनों को जेल हो जाये, गिरफ़्तारी बम-केस में, जिस में आदमी फाँसी भी पा सकता है और काले पानी भी जा सकता है। यह गिरफ़्तारी उन के लिए कोई बीमारी नहीं, एक महामारी ही थी, जिस में गाँव के गाँव उजड़ जाते हैं। उन का मन आँधी की इस झँझोड़ में अस्तव्यस्त हो गया।

उन्हीं के शब्दों में—"मैं ने एक-एक पल अंगारों पर काटा। सरदार जी रात-दिन कोशिश कर रहे थे। वे बार-बार मुझे सान्त्वना देते थे, पर मेरा मन अशुभ कल्पनाओं से इतना भर गया था कि मुझे उन की सान्त्वना एक बहकावा ही लगती। मुझे लगता था कि मेरी ज़िन्दगी बिखर रही है और अब यह बिखराहट रुकेगी नहीं।" सोचती हूँ यह उस नारी के जीवन का भूकम्प था, जिस का बालपन अभावों से घिरे-घिरे दाम्पत्य के सुख की कल्पनाओं में बीता था, पर दाम्पत्य मिला था काँटों से बिंधा हुआ, तब उस ने मातृत्व के सुख की कल्पनाओं में अपने को उलझा लिया था, पर अब उस मातृत्व के द्वार पर भी काँटों के पेड़ उग आये थे—ज़हरीले काँटों के पेड़ और उस की अन्तिम कल्पनाएँ भी कण्टकाकीर्ण हो गयी थीं। राह चलते काँटा लग जाता है तो हम परेशान हो जाते हैं लेकिन जिस की पूरी ज़िन्दगी काँटों में बीत रही हो और उन काँटों के कटने की सम्भावना भी उस से छिन रही हो, उस का क्या हाल होगा? आराम में जीने वाले इस प्रश्न का उत्तर कहाँ दे सकते हैं?

बड़ी मुश्किल से साठ हज़ार की ज़मानत पर भगत सिंह को छुड़ाया गया और सोच-विचार के बाद उन्हें काम में लगाने को एक डेरी फ़ॉर्म बनाया गया, जो कि कुछ दिन खूब चला। लेकिन भगत सिंह को डेरी का काम तो करना नहीं था। वे तो उस काम से कहीं बड़े कामों के लिए उत्पन्न हुए थे, हाँ, उन को जन्म देने वाले माता-पिता और आसपास रहने वाले लोग उस समय यह कहाँ जानते थे कि भगत सिंह क्या हैं?

भगत सिंह टाँगे पर दूध ले कर लाहौर जाते और फिर कई बार दो-दो, तीन-तीन दिन वापस न आते। जब कई दिन के बाद लौटते तो विद्यावती जी की भयभीत प्रतीक्षा अन्तिम साँस ले रही होती। भगत सिंह को देख उन की आँखों में आँसू उमड़ पड़ते। भगत सिंह कुछ भी न कहते। वे रोने लगतीं, वे हँसते रहते, नाचने की तरह मटकते रहते या माँ को छेड़ते रहते। अन्त में जीत हँसी की ही होती। वे भी हँसने लगतीं और वे झट उन के आँसू पोंछ देते।

कभी-कभी तो विद्यावती जी की चिन्ता इतनी वढ़ जाती कि वे भगत सिंह को देखने के लिए स्वयं लाहौर पहुँच जातीं। एक वार इसी तरह वे लाहौर पहुँचीं। भगत सिंह तथा सुखदेव के साथ टाँगे में वैठ कर वे कहीं जा रही थीं कि सुखदेव की तरफ़ देख कर वोलीं—"यही तुम्हें इधर-उधर ले जाता है, इस को मैं आज ज़रूर थप्पड़ लगाऊँगी।" भगत सिंह सुखदेव से बहुत प्यार करते थे। झट वोले—"ना वेवे जी, इसे मत मारना, यह बड़े घर का लाड़ला वेटा है" और उन्हों ने इशारा कर के सुखदेव को नीचे उतार दिया। भगत सिंह अपनी वात पर दृढ़ रहते थे, पर मन किसी का न दुखे इस का पूरा ध्यान रखते थे, फिर वेवे जी के लिए तो उन के मन में अथाह प्यार था।

सुवह और शाम उन के जीवन में साथ-साथ चल रहे थे। भगत सिंह आ जाते, हँसते-हँसते काम में जुटे रहते, उन्हें दीखते रहते, वे खुश रहतीं। भगत सिंह चले जाते, न लौटते तो उन का मन आशंकाओं से भर जाता—पता नहीं मेरा भगत लौटेगा भी या नहीं, सरदार अजीत सिंह की तरह वह भी न लौटा तो? कितनी विचित्र वात है कि सरदार अजीत सिंह का जीवन जहाँ भगत सिंह के लिए दीप-शिखा की तरह मार्गदर्शक और प्रेरक था, वहाँ उन के लिए शूली की तरह आतंककारी भी था। वे चाहती थीं कि भगत सिंह डेरी के काम में लगे रहें, पर वे यह नहीं जानती थीं कि भगत सिंह भैंसों का दूध वेचने के लिए नहीं, माताओं के दूध का नाम ऊँचा करने को जन्मे हैं। माँ के दूध की शपथ उन के कार्यों की प्रेरणा है।

माँ को अपनी धुन थी और वेटे को अपनी। माँ की धुन कामना की थी, वेटे की धुन साधना की। कामना हारी, साधना जीती। साण्डर्स का वध होते ही भगत सिंह लापता हो गये। खोज-खवर की सीमा से दूर, सीमाहीन अज्ञातवासी। उन का मन विखर गया, जैसे डेरी विखर गयी थी। उन के व्यक्तित्व की सर्वोत्तम चीज़ हँसी है, पर तव उन की हँसी लुट गयी, उन की हँसी सो गयी, वे उदासी में डूव गयीं, जैसे साँस लेता कोई वुत्त हो!

एक दिन गाँव की वहुत सारी स्त्रियाँ इकट्ठी हो कर शहतूत खाने को चलीं तो वहुत ज़िद कर के उन्हें भी साथ ले चलीं कि उन का भी मन कुछ वहलेगा। उन्हीं के शब्दों में—"हम अभी जा ही रहे थे कि एक स्त्री ने आ कर कहा—'हाय, भगत सिंह पकड़ा गया।' वस मेरी तो कमर टूट गयी, वम का धमाका मेरे कलेजे पर हो गया। मेरी आँखों के सामने घूमने लगा, कभी भगत सिंह का खूबसूरत चेहरा, कभी जेल के मोटे-मोटे सींखचे, फिर भगत सिंह का चेहरा और फिर फाँसी का फन्दा। कलेजा विंध गया। मुझ में चलने की हिम्मत न रही। किसी तरह गिरती-पड़ती घर पहुँची। मुझे हर तरफ़ अँधेरा-ही-अँधेरा दिखाई दे रहा था।"

कुछ दिन वाद अपने पिता जी के नाम भगत सिंह का पत्र दिल्ली जेल से आया। उन्हों ने मुलाक़ात के लिए आने को लिखा था। उन्हें खुशी हुई; पर आगे यह भी लिखा था कि "वेवे जी को साथ न लावें, वे ख्वामखाह रो देंगी और मुझे भी दुःख

होगा ही।" वे नहीं गयीं, दूसरे लोग गये; पर उन का मन कितना तड़पा होगा, इसे कौन जान सकता है। दिल्ली में उम्र-क़ैद की सज़ा के बाद भगत सिंह को मियाँ वाली जेल भेजा गया, फिर कुछ दिनों बाद लाहौर दूसरे मुक़दमे के लिए लाये गये। जिन दिनों भगत सिंह की भूख-हड़ताल जारी थी, विद्यावती जी के शब्दों में—

"उन दिनों कुछ खाने को मेरा मन नहीं करता था। हर समय ख़याल आता था—भगत सिंह भूखा है, मैं कैसे खा लूँ? फिर थोड़ा-बहुत खाती थी यह सोच कर कि हमें तो पैदल चल कर लाहौर पहुँचना है।··· उन दिनों भगत और बटुकेश्वरदत्त (असेम्बली बमकाण्ड के साथी) केवल कंकाल मात्र रह गये थे। दोनों को स्ट्रेचर पर डाल कर अदालत में लाया जाता था। विद्या नाम की एक लड़की शहीद रामप्रसाद बिस्मिल की बहन बन कर हमारे साथ अदालत में जाती थी। वह कमर में लम्बी तलवार पहने रहती थी। एक दिन जब उस ने भगत और दत्त को स्ट्रेचर पर लाते देखा तो छाती पीट-पीट कर कहने लगी—'हमारे भाई भूखे मार दिये, ओ, इन ज़ालिमों ने हमारे भाई भूखे मार दिये।' उस की आवाज़ सुन कर अन्य दर्शक भी चिल्लाने लगे और इस तरह अदालत में कोहराम मच गया। अदालत बर्खास्त करनी पड़ी। उस शोर-गुल में कुछ मिनट तक भगत को वे ले जाना ही भूल गये। मैजिस्ट्रेट ने कहा—'पकड़ लो, इस लड़की को।' तब भगत ने ज़ोर से चिल्ला कर कहा था—'यहाँ मेरी माँ है, चाचियाँ हैं, बहनें हैं, किस-किस को पकड़ेंगे आप?' जितने क्षण भगत का स्ट्रेचर नहीं उठाया गया, दुर्गा (भाभी नाम से प्रसिद्ध एक क्रान्तिकारिणी) उन से बातें करती रही। मैं भी पास ही खड़ी थी। भगत उस समय मुझे बच्चा ही लग रहा था और मेरा जी चाह रहा था कि उसे गोद में उठा कर भाग चलूँ, लेकिन यह मुमकिन भी कहाँ था, मैं बेबस थी!"

मुक़दमे के दिनों में घर के सब लोगों का ध्यान, भगत सिंह और अदालत की ओर केन्द्रित हो गया था। काम-काज सब बन्द हो गया था। सरदार किशन सिंह मुक़दमे और जलसे-जुलूसों में लगे हुए थे। जो कुछ था उसे ही बेच कर खर्च जुटाया जाता था। छत-गिरे मकान की खिड़कियाँ और दरवाज़े तक उतार कर बेच दिये गये थे। ज़रूरतों की होली जल रही थी, उस के लिए कोई भी चीज़ हो, सिर्फ़ इंधन थी। जीवन जल कर राख हो रहा था पर घर का हर आदमी आग झपक रहा था। उस पर पानी नहीं डाल रहा था। परिवार की ज़िन्दगी ज्वालामुखी हो गयी थी।····

कई बार कई-कई घण्टे मुलाक़ात की प्रतीक्षा में जेल के बाहर खड़े रहना पड़ता था। जेल-अधिकारी ध्यान ही न देते थे और दिन-भर की प्रतीक्षा के बाद जब बिना मिले ही लौट जाना पड़ता, तो विद्यावती जी की हालत उस भिखारी से भी बदतर हो जाती, जो सुबह खाली झोली ले कर चला हो और सन्ध्या के झुटपुटे में ख़ाली झोली लिये ही लौट रहा हो, निराशा जिस के रोम-रोम में व्याप्त हो, पर उसे आशा में बदलने का कोई चारा न हो।

उन्हीं के शब्दों में—"बापू जी (सरदार अर्जुन सिंह) कुलबीर सिंह और मैं, एक बार मुलाक़ात को गये। दोपहर को ही जेल के दरवाज़े पर हम पहुँच गये थे, लेकिन साँझ घिर आयी, हमें मिलने को नहीं बुलाया गया। हम भगत के बहुत पास थे। बस एक दीवार ही हमारे बीच में थी, पर जिसे देखने को हमारी आँख तरस रही थी उसे हम न देख सके। प्यासे ही गये, प्यासे ही लौटे। वहाँ से पैदल चल पड़े। जाते समय पैरों में जो उत्सुकता थी, लौटते समय वह निराशा का बोझ बन गयी थी। मन भी बोझिल हो चुका था। फिर भी मैं किसी तरह मन के बोझ को ढोती हुई चल रही थी। अँधेरा घिर आया था और हम झाड़-झंखाड़-भरे रास्ते में जा रहे थे। मैं ने देखा, झाड़ियों के पीछे कुछ आदमी हैं और वे एक-दूसरे को कुछ इशारा कर रहे हैं। मैं समझ गयी कि चोर हैं, इस लिए मैं ज़ोर से बोली—'भगत सिंह का वकील तो कुछ बोलता नहीं, सरकारी वकील बहुत बोलता है, कुलबीर! हमें दूसरा वकील करना चाहिए।' सुनते ही वे पीछे हट गये। भगत सिंह चोरों के भी पूज्य हो गये थे!"

मैं जब-जब विद्यावती जी के कँटीले कष्टों और बेपनाह बर्दाश्तों की बात सोचती हूँ, मेरा रोम-रोम काँप उठता है। भारतमाता की स्वतन्त्रता के लिए देश के तरुणों ने बहुत-कुछ किया, बहुत-कुछ सहा पर क्या यह कम महत्त्वपूर्ण है कि माताओं ने सीने पर पत्थर रख कर अपने बेटों को अथाह कष्टों, यातनाओं में-से गुज़रते हुए देखा और पल-भर उन को देखनेमात्र के लिए भी यों भटकती फिरीं?

इसी तरह एक बार वे मुलाक़ात को गयीं, तो भगत सिंह ने कहा—"बेबे जी आप भी जेल में आ जाइए, यहाँ साथ ही रहेंगे, आप को चल कर आना नहीं पड़ेगा।" वे उत्सुकता से बोलीं—"कैसे आ जाऊँ बेटा? लेक्चर मुझे देना नहीं आता, पिकेटिंग कर के आ जाऊँ क्या?" भगत सिंह बोले—"नहीं, वह हमारा काम नहीं है।" वे भूल गयीं जेल-फाँसी को और उपहास के मूड में बोलीं—"तो किसी को ढेला मार कर आ जाऊँ?" सुन कर भगत सिंह खिलखिला कर हँस पड़े और आसपास के दूसरे लोग भी। सोचती हूँ—माँ-बेटे की ऐसी हँसी इतिहास ने कितनी बार देखी है?

फाँसी से कुछ दिन पहले की मुलाक़ात में भगत सिंह ने उन से कहा था—"फाँसी के दिन आप न आना बेबे जी? आप रोयेंगी, बेहोश हो जायेंगी, लोग आप को सँभालने में लगेंगे या लाशें लेंगे? कुलबीर को भेज देना, अगर जेल वालों ने दी, तो वह लाश ले जायेगा।" भगत सिंह के लिए उन की मृत्यु निमन्त्रित मृत्यु थी। इस लिए फाँसी के बाद की उन की लाश, उन के लिए सर्वोत्तम उपलब्धि थी, उन के जीवन की कृतार्थता और परिपूर्णता भी। इसी लिए अपनी लाश की बात वे इतनी निर्लिप्तता से कह गये, पर उन की माँ के कलेजे में उस समय काली का जो ताण्डव हुआ होगा, उसे तो वे ही जान सकती हैं।

२३ मार्च १९३१ को फाँसी दे दी गयी। उन्हीं के शब्दों में—"सुनते ही मेरा

कलेजा टुकड़े-टुकड़े हो गया। भीतर से आँसुओं का समुद्र उमड़ता पर आँखों तक आते-आते मेरी बुद्धि उसे रोक देती। हँसते-हँसते प्राण न्यौछावर करने वाले मेरे बेटे भगत के कहे अन्तिम शब्द मेरे कानों से बार-बार गूँज रहे थे—'बेबे जी रोना मत। ऐसा न हो आप पागलों की तरह रोती फिरें। लोग क्या कहेंगे कि भगत सिंह की माँ रो रही है।' कलेजा मुँह को आने लगता पर मैं भीतर-ही-भीतर घोलती रही उन आँसुओं को।"

सोचती हूँ, क्या फाँसी के फन्दे को गले में डालने से भी मुश्किल नहीं था यह काम एक माँ के लिए? फिर कैसे कर सकीं वे इसे? वे इसे इस लिए कर सकीं कि उस समय उन की एक देह में दो माताएँ एक साथ आ बैठी थीं—एक थी एक बेटे की माँ, एक थी एक शहीद की माँ। बेटे की माँ रोने को उमड़ रही थी, शहीद की माँ रोने को रोक रही थी। कितना करुण, पर कितना अरुण है उन का यह चित्र!

यह अन्तर्द्वन्द्व कुछ धीमा पड़ा, तो उन्हें घर दिखाई दिया। उस में न वह पुत्र था, न वह पैसा। वह पूरी तरह जम कर एक बार फिर उखड़ गया था। सैंकड़ों मन अनाज पैदा करने वाला यह किसान परिवार अनाज के दाने-दाने के लिए मोहताज़ हो गया था। १९३१ से १९३४ तक के चार वर्षों में घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। यह संकट किस काल कोठरी के संकट से कम था?

धीरे-धीरे यह संकट कम हुआ, पर १९३९–४० का वर्ष आया कि सब काम बनते-बनते बिगड़ गये। बसते-बसते उखड़ गये। उन के दो बेटे कुलबीर सिंह और कुलतार सिंह जेलों में जा पहुँचे और उन के पति सरदार किशन सिंह फ़ालिज से अपंग हो पलँग पर पड़ गये। अब वे ही सब-कुछ थीं, उन का व्यक्तित्व त्रिविध हो गया था। कभी वे घर को सँभालतीं, कभी खेती-बाड़ी को देखतीं, तो कभी जलसे की अध्यक्षता करने जातीं। एक बार मोरी गेट (लाहौर) के बाहर उन की अध्यक्षता में एक भारी जलसा हो रहा था। भाषण देते हुए उन्हों ने बहुत ही सादी भाषा में अँगरेज़ों को लक्ष्य कर के कहा—"मेरे एक बेटे को तुम ने फाँसी पर लटकाया, मेरे छोटे देवर सरदार स्वर्ण सिंह को जेल के अन्दर अत्यधिक शारीरिक कष्ट पहुँचा कर तपेदिक का रोगी बनाया और इस दुनिया से विदा होने के लिए मजबूर किया, मेरे दूसरे देवर सरदार अजीत सिंह को जलावतन हो कर विदेशों में भटकना पड़ा और अब मेरे दो बेटों को बिना कोई मुक़दमा चलाये गिरफ़्तार कर लिया है। क्या मैं इस सब से डर गयी? नहीं मैं मिट जाऊँगी, पर झुकूँगी नहीं। मैं ब्रिटिश-साम्राज्य को नयी चुनौती देती हूँ और दूसरे दो बेटे भी देश-सेवा के लिए पेश करती हूँ। आओ ज़ालिमो, अगर तुम्हारी हवस अभी पूरी नहीं हुई, तो इन को भी ले जाओ।" इस से जलसे में बेहद जोश फैल गया और शहीदे-आज़म जिन्दाबाद के नारों की गूँज से धरती-आकाश एक हो गये। उस समय उन का चेहरा एक रूहानी नूर से दमक उठा था—दिव्य तेज से प्रदीप्त हो गया था।

उन्हीं दिनों वे घी और मिठाइयाँ लेकर माण्टगुमरी जेल में पहुँचीं। उन्हें मालूम न था कि जेल में भूख-हड़ताल चल रही है। माण्टगुमरी जेल में वैसे ही वहुत सख्ती थी। फिर भूख-हड़तालियों से किसी को मुलाक़ात करने की इजाज़त कैसे मिलती? वे सुपरिण्टेण्डेण्ट जेल की कोठी पर गयीं और कहा कि मुझे अपने वेटों से मिलने की इजाज़त दी जाये। सुपरिण्टेण्डेण्ट जेल वहुत घवराया हुआ था, उस ने जवाव दिया—"मेरा नन्हा-सा वच्चा वहुत वीमार है, मैं वहुत परेशान हूँ, आप मुझे तंग न करें। वे भूख-हड़ताल छोड़ दें, तभी आप मिल सकती हैं।" उन्हों ने तमतमाहट से सुपरिण्टेण्डेण्ट की ओर देखा और जवाव दिया—"आप अपने नन्हें वच्चे के लिए परेशान हैं, तव मेरी क्या हालत होगी, जिस के दो नौजवान शेरों-जैसे वच्चे भूखे हैं?"

सुपरिण्टेण्डेण्ट ने अपनी मजवूरी वयान करते हुए मुलाक़ात कराने से इनकार कर दिया तव वहाँ उन की अध्यक्षता में वड़ा भारी जलसा हुआ। उन्हों ने सारे हालात वहाँ की जनता के सामने रखे, तो लोग जोश से भड़क उठे और वह जनसमूह जुलूस की शक्ल में सुपरिण्टेण्डेण्ट की कोठी के सामने आ पहुँचा। कोठी जेल के पास ही थी। वाहर से भीड़ ने नारे लगाये, तो उन नारों का जवाव नारों में जेल के अन्दर से क़ैदी देने लगे। इस पर भीड़ में और जोश फैला। अव सुपरिण्टेण्डेण्ट वहुत घवराया और गिड़गिड़ा कर विद्यावती जी से माफ़ी माँगते हुए वोला—कि सरदार कुलवीर सिंह (जो उस समय वीमार थे) को फ़ौरन लाहौर के मेयो अस्पताल में भेज दिया जायेगा। यह उन के व्यक्तित्व की विजय थी। मैं उन के इस रूप की जव कल्पना करती हूँ, तो मेरे अन्तःकरण में एक सिंहनी दहाड़ने लगती है और मैं रोमांचित हो सोचने लगती हूँ, सचमुच वे भगत सिंह की माँ होने के योग्य हैं, भगत सिंह उन के ही पुत्र होने के योग्य थे।

वेटों की जेल के छह-सात वर्ष, छह-सात युगों की तरह वीते। सुख के दिन वीतते देर नहीं लगती, पर दुःख के, मुसीवत के वर्ष तो क्या दिन भी भारी हो जाते हैं। काटे नहीं कटते! इन छह-सात वर्षों में प्राकृतिक और अप्राकृतिक प्रकोप भी अपने प्रचण्ड रूप में उन के द्वार पर घेरा डाले रहे। कभी वाढ़ आ जाने से घर वह गया, तो कभी दुश्मनों के आग लगा देने से फ़सलों के मोती राख के ढेर बन गये। इन वर्षों में जाने कितनी वार उन का घर विखर-विखर कर वसा और वस-वस कर विखरा। विखरने-वसने का शतरंज ही तो था विद्यावती जी का जीवन!

आया अगस्त १९४७ और वना पाकिस्तान। सव उखड़े, सव के साथ-ही-साथ यह परिवार भी उखड़ा, उखड़ा ही नहीं उजड़ा भी। कुलवीर सिंह, कुलतार सिंह, जेल से लौट ही आये थे, सरदार अजीत सिंह भी युगों की प्रतीक्षा के वाद आ गये, पर क्षण-भर के मिलन के वाद वे सदा के लिए चले गये। जो कुछ पाया था, वह फिर खो गया। खुशी की जो लहर आयी थी, वह मायूसी की ख़ामोशी में वदल गयी।

दो-तीन साल के वीच सव ने अपने-अपने ठिकानों की व्यवस्था कर ली। उन

के चारों बेटों—सरदार कुलवीर सिंह, सरदार कुलतार सिंह, सरदार रणबीर सिंह और सरदार राजेन्द्र सिंह—ने पंजाब से बाहर ज़मीनें ख़रीद लीं और अपने-अपने कामों में जुट गये। श्रीमती विद्यावती और सरदार किशन सिंह ने समुद्र के ज्वार-भाटे की तरह जीवन में एक बार नहीं अनेक बार ज्वार-भाटे देखे थे, पर अब समुद्र एकदम शान्त था। वरसों वाद एक वार फिर वे दोनों उसी तरह अकेले थे, जैसे वरसों पहले विवाह के समय, वही घर वही गाँव, खटकड़कलाँ। वे जीवन के प्रभात में जहाँ मिले थे, जीवन की सन्ध्या में फिर वहीं थे। समय की रेखाएँ उन के चेहरों पर स्पष्ट दीख रही थीं। एक भरे-पूरे परिवार के स्रष्टा, अब फिर अकेले थे। कुछ तो हमेशा के लिए उन का साथ छोड़ गये थे और जो थे वे अपने नये घरों को बसाने में लगे थे, ठीक उसी तरह जैसे कभी बंगा और लाहौर में सरदार किशन सिंह और विद्यावती जी ने घर बसाये थे। उन का अब एक ही सुख था, एक ही काम था—सरदार जी की देखभाल करना; पर यह भी बहुत दिन न चला और १९५१ में ही अचानक सरदार जी के हृदय की गति रुक गयी, वे हमेशा-हमेशा के लिए विदा ले कर चल दिये, वहाँ जहाँ से लौटना कभी सम्भव नहीं होता!

वे अब गाँव में अकेली थीं और उन के जीवन का अंग बन गयीं सरदार जी और भगत सिंह की यादें! ये यादें आज भी उन के दिल और दिमाग़ में उतनी ही ताज़ी हैं। अकसर स्वप्न में वे भगत सिंह को देखती हैं। ठीक वही चेहरा, वैसे ही कपड़े और उसी आवाज़ में उन्हें सुनाई पड़ता है—"बेबे जी।" वे चौंक कर उठ बैठती हैं, पर सामने कुछ नहीं होता। सामने होगा भी क्या? भगत सिंह तो उन की आत्मा में समाये हुए हैं। आत्मा की ही होती है वह आवाज़ और आत्मा ही उसे सुनती है। न कान उसे सुन सकते हैं, न आँखें उस आवाज़ देने वाले को देख सकती हैं। वे फिर लेट जाती हैं, पर तब नींद उन से बहुत दूर जा चुकी होती है। उन्हें याद आने लगती हैं एक-एक कर के पिछली घटनाएँ। वे अपनी अन्तरात्मा की फ़िल्म से देखने लगती हैं भगत सिंह को उन के विभिन्न रूपों में। फ़िल्म चलती रहती है और सवेरा हो जाता है!....

१९६३ का वर्ष बड़ा उल्लास ले कर आया। २३ मार्च १९६३ को जब भगत सिंह की भव्य मूर्ति का अनावरण खटकड़कलाँ में हुआ, तो हज़ारों आँखों ने एक साथ उसे इस तरह देखा जैसे उन का भगत सिंह बहुत बरसों बाद गाँव लौटा हो। मूर्ति को सब से पहला हार श्रीमती विद्यावती ने पहनाया और लाड़ से उस का हाथ पकड़ लिया। वे मूर्ति की ओर इस तरह देख रही थीं, जैसे वह अभी उन से बोलेगी। उन का चेहरा उस समय दमक उठा था, जैसे कि वे सोच रही हों, कि उन्हों ने ऐसे अमर सपूत को जन्म दिया, जो सदा यहीं रहेगा।

एक युग था कि भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त का नाम बच्चे-बच्चे की ज़बान पर (असेम्बली बमकाण्ड के बाद) आ गया था। यहाँ तक कि आम जनता यह जानती

ही न थी कि भगत सिंह और दत्त दो व्यक्ति हैं। लोग भगत सिंह के साथ दत्त इस तरह लगाते थे जैसे यह उन्हीं का उपनाम हो—भगत सिंह दत्त। भगत सिंह को फाँसो की सज़ा हुई, बटुकेश्वर दत्त की उम्र क़ैद, पर क़ैद खत्म होने और स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद भी श्री बटुकेश्वर दत्त ने इस परिवार या विद्यावती जी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा। सच तो यह कि उन के बारे में किसी को कुछ पता ही नहीं था। १९६३ में मूर्ति-स्थापना के समय की जो न्यूज़रील बनी, उसे दत्त जी ने पटना में देखा और उन के मुख से निकल पड़ा—"माँ, अभी ज़िन्दा है।" तव उन्हों ने अपने पुराने साथी श्री किरणचन्द्र दास (शहीद यतीन्द्रनाथ दास के छोटे भाई) से सम्पर्क साधा और उन से पत्र-व्यवहार किया।

९ सितम्बर १९६३ को श्री बटुकेश्वर दत्त पटना से खटकड़कलाँ पहुँचे। सवेरे से ही सारा गाँव दत्त जी की प्रतीक्षा में उमड़ा आ रहा था। लोग सड़क पर आँखें गड़ाये देख रहे थे। बाजे वाले क़तार में सुसज्जित हो खड़े थे, मानो उन का लाड़ला भगत सिंह ही आज कहीं दूर लोक से लौटकर आ रहा हो। यह सच भी था। ३२ साल बाद भगत सिंह अपने अभिन्न साथी की काया में अपने गाँव आ रहे थे। घर का मुख्य द्वार सुबह से ही खोल दिया गया था और वे (माँ) सुबह से ही द्वार पर अपने लाड़ले की राह जोह रहीं थीं। दोपहर के समय जब दत्त जी सरदार कुलतार सिंह के साथ गाँव पहुँचे और माँ को द्वार पर खड़ी देखा, तो उन की आँखें भर आयीं। माँ-बेटे ने एक-दूसरे को बाँहों में भर लिया। बरसों से बिछड़े माँ-बेटे का यह मिलन अपूर्व था। दत्त जी नीचे झुके और माँ के चरणों की पावन रज आँखों से लगायी। माँ ने बेटे के मस्तक को बार-बार चूमा और बोलीं, "बेटे, तुम वही पहले-जैसे दत्त हो।" दत्त जी ने आँखें पोंछी और रुँधे स्वर में बोले—"सचमुच तुम मेरी माँ हो।"

वे बहुत देर तक उन के चेहरे को एकटक देखती रहीं, फिर बोलीं—"दत्त, मैं तुम्हारे चेहरे में भगत सिंह को देख रही हूँ।" बस फिर दोनों अनेक स्मृतियों में डूब गये। दत्त जी ने एक बात सुनायी तो माँ ने दूसरी। एक संस्मरण ने तो दोनों को ही निहाल कर दिया—भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त दोनों से माँ जेल में मुलाक़ात करने जातीं। अपने एक तरफ़ बैठातीं भगत सिंह को दूसरी तरफ़ बटुकेश्वर दत्त को। तब खोलतीं खाने का डिब्बा, जो वे घर से जेल तक अपनी बग़ल में दबा कर लाती थीं। दोनों चुपचाप देखते रहते। वे टुकड़ा तोड़तीं, सब्ज़ी लगातीं और बटुकेश्वर दत्त के मुँह की तरफ़ हाथ बढ़ातीं।

अब सीन आरम्भ होता। दत्त कहते—'पहले भगत सिंह को,' और माँ अपना हाथ भगत सिंह के मुँह की तरफ़ बढ़ातीं। भगत सिंह कहते—'पहले बटुकेश्वर को,' तब माँ के होठों पर मीठी बिजली कौंध जाती और वे अपना हाथ बटुकेश्वर दत्त के मुँह की ओर बढ़ातीं। दत्त फिर वही कहते—'पहले भगत सिंह को' और माँ के मुँह से झुँझलाहट के शब्द निकलते, पर चेहरे पर खेल जाती उमंग की लहरें। वे भूल

जातीं जेल को, मुक़दमे को, फाँसी को, वियोग को, अथाह संकट को। उन की स्मृतियों में भर जाते उन के राम-लक्ष्मण और तब वे दो टुकड़े एक साथ तैयार करतीं, दोनों के मुँह तक एक साथ ले जातीं। दोनों मुँह खोल कर टुकड़े ले लेते और तब तीनों के अट्टहास से गूँज जाता जेल का वातावरण जैसे वह जेल न हो, वे अभियुक्त न हों और वह किसी पार्क की पिकनिक हो।

इस मिलन के ठीक एक साल वाद दत्त जी रोगशय्या पर पड़ गये, लगता है जैसे माँ से मिलना ही उन के जीवन की अन्तिम भूमिका थी। पहले तो वे पटना के अस्पताल में रहे, पर जव हालत अधिक विगड़ने लगी, तव उन्हें दिल्ली के मेडिकल इन्स्टीच्यूट में लाया गया। विद्यावती जी स्वयं लम्वी बीमारी भुगत चुकी थीं और चलने-फिरने से मजवूर थीं। सफ़र करना उन की शक्ति के बाहर था, पर वेटे के दुःख में माँ को अपना दुःख कब याद रहा है। वे कभी दिल्ली पहुँचतीं तो कभी गाँव लौटतीं। उन की उन दिनों की एक सूक्ति तो मातृत्व के विश्वकोश में सर्वोत्तम स्थान पर लिखने योग्य हो गयी—"यदि ईश्वर कोई ऐसी सर्वोत्तम व्यवस्था कर देते कि पुत्रों के दुःख माताओं को लग जाया करते तो माताएँ संसार में अपने एक भी वेटे को दुःखी न रहने देतीं।" इन शब्दों में कितनी गहरी कचोट है माता विद्यावती जी के हृदय की।

९ मार्च १९६५ को वे उज्जैन (मध्यप्रदेश) के नागरिकों के निमन्त्रण पर वहाँ गयीं। वहाँ उन की अध्यक्षता में वहुत बड़ा जलसा हुआ, जिस में भगत सिंह पर लिखी कविताएँ और गीत गाये गये। इन सब गीतों से वातावरण इतना मार्मिक हो गया कि लोग फूट-फूट कर रोने लगे। तव उन्हों ने अपने उस असीम धैर्य का परिचय दिया, जिस के वल से उन्हों ने जीवन में आने वाले अगणित दुःखों को सहन किया है। उन्हों ने लाड़ के स्वर में कहा, "तुम लोग रोते क्यों हो। आज तो भगत सिंह का विवाह हो रहा है। देखो कितना अच्छा मण्डप है, फूलों की कितनी सुन्दर झालरें लटक रही हैं, बिजली जगमगा रही है कवि लोग सेहरा पढ़ रहे हैं, घोड़ी गायी जा रही है। इसी से तो कहती हूँ, भगत सिंह का विवाह हो रहा है। फिर तुम लोग क्यों रो रहे हो, रोओ मत। सव लोग खुशी मनाओ।...."

कवि श्री कृष्ण 'सरल' ने लोगों को रोका कि वे दूर से माता जी पर फूल न फेंकें, क्यों कि इस तरह माता जी को चोट लग सकती है। लेकिन विद्यावती जी ने मना कर दिया—"लोगों को मत रोको, इन को अपने दिल की इच्छा पूरी कर लेने दो। ये तो फूल ही वरसा रहे हैं, अगर मेरे वेटे भगत सिंह की जय बोल कर कोई पत्थर भी मेरे ऊपर फेंके तो मुझे वे भी फूल-जैसे ही लगेंगे!"

उन के मुख से ऐसे उल्लास-भरे और धैर्यपूर्ण शब्दों को सुन कर लोग गद्गद हो उठे 'धन्य हो माँ, धन्य हो माँ' ध्वनि के साथ ही 'भगत सिंह ज़िन्दावाद' के नारों से आकाश गूँज उठा, पर उन के संयम का वाँध तब टूट ही गया, जब सरदार भगत सिंह महाकाव्य के प्रणेता श्री श्री कृष्ण 'सरल' ने अपना अँगूठा चाक़ू से चीर कर पुस्तक पर

ख़ून छिड़का और उस ख़ून का टीका माता जी के मस्तक पर लगाया। कवि ने पुस्तक उन के हाथों पर रख कर जब अपना मस्तक उन के चरणों में रखा तो उन की आँखों से आँसू की दो बूँदें लुढ़क पड़ीं। स्थानीय माधव महाविद्यालय के छात्रों ने तीन हज़ार तीन सौ इकत्तीस रुपये की बोली लगा कर वह महाकाव्य खरीद लिया। एक दूसरे स्वागत-समारोह में उन्हें ग्यारह सौ रुपये की थैली भेंट की गयी। यह सब धन उन्हों ने दत्त जी की चिकित्सा के लिए उसी समय दिल्ली भिजवा दिया।

जुलाई १९६५, दत्त जी की हालत दिन-प्रतिदिन बिगड़ रही थी। उन की वाणी मूक थी, आँखें मुँद चली थीं। उसी हालत में उन्हों ने पुकारा 'माँ'। तभी कार से विद्यावती जी को लाने का प्रबन्ध किया गया। दत्त जी अब कुछ घण्टों के ही मेहमान थे। माँ अब दत्त जी का सिर गोद में लिये बैठी थीं, उन्हें याद आ रहे थे भगत सिंह के वे शब्द जो फाँसी से पहले उन्हों ने उन से कहे थे—"मैं तो अब जाऊँगा ही पर अपना एक हिस्सा दत्त के रूप में छोड़े जा रहा हूँ।" २० अगस्त १९६५ को दत्त जी ने इस संसार से विदाई ली। सब के लिए यह दत्त जी की विदाई थी, पर उन के लिए तो उस दिन एक और भगत सिंह चला गया था!

दत्त जी की अन्तिम इच्छा थी कि उन के शव को अन्तिम संस्कार के लिए फ़ीरोज़-पुर में सतलज नदी के किनारे पर ले जाया जाये, जहाँ उन के अभिन्न साथी शहीद भगत सिंह का उन के अन्य दो साथियों शहीद राजगुरु और सुखदेव के साथ दाह-संस्कार किया गया था। दिल्ली से फ़ीरोज़पुर तक विद्यावती जी भी साथ गयीं। चिता में आग देने से पहले उन्हों ने एक बार फिर दत्त जी के चेहरे को देखा और शोक-विह्वल हो उन के मुख से ये शब्द निकल पड़े—"तुम चारों तो यहाँ इकट्ठे हो गये, अब मुझे भी अपने पास बुला लो!" उन के हृदय की इस करुण पुकार को सुन कर सैंकड़ों आँखें एक साथ बरस पड़ीं।

भगत सिंह को शहीद हुए बरसों बीत गये। एक लम्बा युग ही बीत गया, पर उन के हृदय में उन की याद एकदम ताज़ा है। वे बड़े विश्वास के साथ कहती हैं—"जब तक मैं जीवित हूँ, भगत सिंह हर दम मेरे पास है, और जब मरूँगी तो मैं भी उस के पास चली जाऊँगी!"

■ ■

१८५७ के नये संस्करण : सरदार अजीत सिंह

१९०३ में वायसराय लार्ड कर्जन ने दिल्ली में एक शानदार दरबार किया। यह अँगरेज़ी हुकूमत को सुदृढ़ करने का एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग था। इस में देश-भर के प्रायः सभी प्रमुख राजा-नवाव आये थे और उन्हों ने वायस-राय को उसी अदव और अदा से सिर झुकाया था, जैसे वे कभी दिल्ली के सम्राट् को झुकाया करते थे।

जनता को लॉर्ड कर्जन यह दिखाना चाहते थे कि देश के सव शक्तिशाली सामन्त वरतानिया हुकूमत के साथ हैं। मतलव यह कि अँगरेज़ अजेय हैं और भारत के लोगों का कल्याण इसी में है कि वे अव सिर झुका कर अपनी ग़ुलामी को ही अपना भाग्य मान लें। किस की हिम्मत थी जो इस वात का प्रतिवाद करे? सच तो यह है कि लॉर्ड कर्जन को प्रतिवाद की सम्भावना ही न थी कि प्रतिवाद की कोई चिनगारी कहीं चमक सकती है।

कोई चिनगारी नहीं चमकी, पर एक नौजवान इसी दिल्ली में राजा-नवावों से मिलता फिर रहा था। इस का काम उन के दिमाग़ों में क्रान्ति के ऐसे टाइम-वम रखना था, जो उस समय तो साधारण गोले ही मालूम होते हैं, पर समय पर फटते हैं तो विध्वंस मच जाता है। यह नव-युवक सरदार अजीत सिंह थे। इन का सन्देश था—राजा लोग आपस में मिल कर १८५७ की तरह ग़दर की तैयारी करें।

सोचती हूँ तो अक़्ल काम करना वन्द कर देती है कि एक नौज-वान, जिस की वेश-भूषा साधारण थी, वात-व्यवहार में साधारणता थी, जिस के पास कोई परिचय-पत्र नहीं था, कैसे राजा-नवावों के शाही भवनों में घुसा, कैसे उस ने उन से मुलाक़ात की और कैसे अपनी अनोखी वात उन से कही? इस से भी वढ़ कर यह कि उस में कितनी आग थी, जिस ने उसे भयमुक्त रखा, जिस से अनेक राजा प्रभावित हुए और (विशेष रूप से कश्मीर और वड़ौदा के राजाओं ने) इस कार्य के लिए आर्थिक सहायता दी?

दीपक से दीपक जलाने का, हृदय से हृदय जगाने का यह क्रान्ति-कार्य १९०६ तक भीतर-ही-भीतर चलता रहा। एक राजा दूसरे राजा

से सुगमतापूर्वक मिल नहीं सकता था, इस लिए विचार-क्रान्ति के सूत्रधार राजपंडित थे। इस राज्य का राजपण्डित उस राज्य के राजपण्डित से मिलता था। इस तरह इस राजा की वात उस राजा तक और उस राजा की वात इस राजा तक पहुँच जाती थी।

इस विचार-क्रान्ति का कहाँ से कहाँ तक फैलाव हुआ, इस का कोई इतिहास सुलभ नहीं है, पर इतना पता चलता है कि इस की गन्ध अँगरेज़ी सरकार के गुप्तचर विभाग को मिली थी और इस की सूचना वायसराय तक पहुँच गयी थी। वायसराय लॉर्ड मिण्टो ने प्रमुख राजाओं को एक पत्र भेजा था कि वे अपने राज्यों में फैलती हुई अशान्ति और उठती हुई वग़ावत को दवायें। राजा-नवावों ने लम्बे-लम्बे पत्र लिख कर अपनी राजभक्ति के गीत गाये थे। इन के उत्तर में वायसराय ने एक और पत्र भेजा था। इस में धमकी भी थी और कुछ सुझाव भी। राजद्रोही अध्यापकों, समाचारपत्रों और दूसरे प्रचारकों को सख़्त सजाएँ देने की वात इन में मुख्य थी।

स्पष्ट है कि आतंकवादी कार्य देश में वहुत हो चुके थे। दामोदर चाफेकर और उन के भाई वालकृष्ण चाफेकर ने २२ जून १८९७ को १८५७ के ग़दर के ४० साल १ महीने और ११ दिन वाद पूना में महारानी विक्टोरिया के ६०वें राज्याभिषेक के दिन श्री रैण्ड और लैफ़्टिनेण्ट एयर्स्ट के कलेजे में गोली मार कर भारतीय स्वतन्त्रता का पहला जयघोष किया था। इस के वाद भी आतंककारी धड़ाके होते ही रहे थे, पर सरदार अजीत सिंह ने जो कार्य आरम्भ किया, क्या वह इसी श्रृंखला की कोई कड़ी थी? नहीं; बड़ी विनम्रता पूर्वक मैं कहना चाहती हूँ कि यह तो १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति के अपूर्ण यज्ञ की पूर्णाहुति का एक नया समारम्भ था।

इतिहास अपने चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध है, पर क्या यह चमत्कार उन चमत्कारों का भी चमत्कार नहीं है कि २१–२२ साल का वह नवयुवक इस पूर्णाहुति की तैयारी आरम्भ कर रहा था, साधनों के नाम पर जो शून्य था और साथियों के नाम पर आत्माहुति ही जिस की एकमात्र शक्ति थी। हमारे लोक-कवियों ने लैला और मजनू, हीर और राँझा के समर्पणों को घर-घर पहुँचा दिया है, पर आत्मार्पण की यह कथा इतनी अछूती क्यों रही कि एक उड़ती-सी चर्चा बन कर ही रह गयी? फिर २१ वर्ष की उमर में सरदार अजीत सिंह ने जिस क्रान्तिधारा का अकेले आरम्भ किया था, उन के भतीजे भगत सिंह ने उसे अपनी २१ वर्ष की ही उम्र में असेम्वली में वम फेंक कर जन-जन के मन से जोड़ने का चमत्कार किया, क्या यह भी इतिहास के आश्चर्यों का आश्चर्य नहीं है?

२३ फ़रवरी १८८१ को खटकड़कलाँ (जालन्धर) में सरदार अजीत सिंह का जन्म हुआ। उन्हों ने गाँव में ही प्राइमरी परीक्षा पास की और मिडिल पास किया वंगा के गवर्नमेण्ट स्कूल से। घर का वातावरण उग्र आर्य-समाजी था और इन दिनों आर्य-समाज का अर्थ था स्वदेशाभिमान? क्या वालक अजीत सिंह में इस की झलक

मिलती है ? उन के ताया सरदार सुर्जन सिंह पक्के अँगरेज़-परस्त थे । वे अकसर अँगरेज़ कलक्टर से मिलने जाया करते थे और वातों-वातों में साहव वहादुर की चर्चा भी करते रहते थे । अजीत सिंह के मन में साहव को देखने की इच्छा पैदा हुई । कुछ दिनों में यह इच्छा वहुत तीव्र हो गयी । कह-सुन कर एक वार वे चाचा जी के साथ साहव को देखने जालन्धर गये । साहव की टूटी-फूटी हिन्दो सुन कर उन्हें वड़ी नफ़रत हुई—"यह क्या साहव है, जिसे ठीक बोलना भी नहीं आता ।"

एक वार यही साहव गाँव हो कर नवाशहर जा रहे थे । कुछ देर वे चाचा जी के पास ठहरे और उन से वातें कीं । उन की टूटी-फूटी भाषा सुन कर वालक अजीत सिंह के मन की घृणा इतनी वढ़ गयी कि उस ने साहव को नमस्ते भी नहीं की और एक पेड़ की छाया में खड़ा रहा । उस की आँखों में क्रोध साफ़ झलक रहा था । साहव ने पूछा, यह लड़का कौन है ? उन के जाने पर ताया जी ने नमस्ते न करने पर डाँटा और धमकी भी दी कि वे अब कभी उसे साहव के पास नहीं ले जायेंगे । इस पर अजीत सिंह ने तुनक कर उत्तर दिया—"जिन्हें ठीक-ठीक बोलना भी नहीं आता, उन्हें मैं नमस्ते क्यों करूँ ?"

१८९४ में अजीत सिंह ने साईं दास ऐंग्लो संस्कृत हाईस्कूल से मैट्रिक पास किया । उन की इच्छा अव वनारस में पढ़ने की थी । कारण था संस्कृत में वेहद दिलचस्पी । उन्हों ने अपने वड़े भाई सरदार किशन सिंह से सलाह की । माता-पिता से वात छिपा कर सरदार किशन सिंह इन का प्रवन्ध करने वनारस गये, पर वात खुल गयी । माता-पिता सहमत नहीं हुए और क़ानून की पढ़ाई के लिए उन्हों ने अजीत सिंह को वरेली कॉलिज भेज दिया । उन दिनों मैट्रिक पास कर के ही वकालत पढ़ने की स्वीकृति थी—वाद में वी० ए० पास करने का नियम हो गया था ।

पढ़ाई कुछ महीने ही चली थी कि वे वीमार हो गये । लौट आये, पर इन्हीं महीनों में इन में राजनैतिक चेतना की पहली चिनगारी जाग उठी थी । इस का कारण राजनैतिक साहित्य का अध्ययन था । अब वे डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर के छात्र थे । यहाँ पढ़ते हुए उन्हों ने सामाजिक कार्यों में खूब दिलचस्पी ली और राजनैतिक अध्ययन का क्रम जारी रखा । अपने राजनैतिक रूप में वे तव उभरे, जव इन्हीं दिनों श्री गोपाल कृष्ण गोखले लाहौर आये । इन्हों ने जलसों को संगठित करने में अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया, पर गोखले के सुन्दर सरस भाषणों ने इन्हें प्रभावित नहीं किया । इन की प्रतिक्रिया थी—"चमकदार भाषणों से स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती । इस के लिए तो कठिन लड़ाई लड़नी पड़ेगी । लड़ाई का क्षेत्र उन दिनों काँग्रेस ही थी, इस लिए सरदार अजीत सिंह उस के सदस्य वन गये और उस में अपने विचारों के साथी वनाने लगे ।

१८९६ में इण्टर पास कर वे स्कूल में अध्यापक हो गये । उन्हों ने अपना जो परिचय-पत्र उन दिनों छपाया था, वह इस प्रकार था—

१. पेज़ हिज़ बैस्ट काम्पलीमैण्ट्स ऐण्ड बैग्स टु अनाउंस टु सिविल ऐण्ड मिलीटरी ऑफिसर्स दैट ही अण्डर टेक्स टु टीच उर्दू, हिन्दी, पर्शियन ऐण्ड पंजाबी ऐट लाहौर ऐण्ड एब्रॉड।

२. मुन्शी अजीत सिंह् स वर्क हैज़ आलवेज़ रिसीव्ड प्रोवेशन फ्रॉम हिज़ पीपल्स।

३. मुन्शी अजीत सिंह इज़ ऐन ऐक्सपीरियन्स्ड कॉम्पीटेण्ट ऐण्ड कैपेबल ट्यूटर ऐण्ड नोज़ द बेस्ट वे टु प्रिपेयर ऐन ऑफ़ीसर फ़ॉर हिज़ एक्ज़ामिनेशन इन द शॉर्टेस्ट पॉसिबिल् टाइम।

४. मुन्शी अजीत सिंह कैन अण्डर टेक टु प्रिपेयर ऑफ़ीसर्स बाई कॉरस्पॉण्डेंस ऑल सो।

५. टर्म्स मॉडरेट, हाइएस्ट रैफ़रेंसिज, एक्सीलेण्ट टेस्टीमोनियल्स।

६. ट्रायल मोस्ट रिस्पैक्ट फुली सॉलीसिटेड।

इस परिचय-पत्र में उन्हों ने अपनी योग्यता और पात्रता का बखान जिस ढंग से किया, वह उन की बुद्धिमत्ता को प्रदर्शित करता है, पर उन का अपने को सरदार अजीत सिंह न लिख कर मुन्शी अजीत सिंह लिखना उन की कूटनैतिक दूरदर्शिता का भी प्रदर्शन करता है। मुन्शी का साफ़ अर्थ अध्यापक (मास्टर) तो है ही, साथ ही यह भी कि कायस्थ लोग अपने को मुन्शी लिखते थे। प्रसिद्ध है कि मुग़ल बादशाहत का क़लमदान हमेशा उन के साथ रहा। उर्दू पर्शियन के वे माहिर होते ही थे और राजभक्ति उन का सहज संस्कार थी। एक अँगरेज़ अफ़सर को अपने अध्यापक में और क्या चाहिए ?

अँगरेज़ अफ़सरों में इस प्रकार प्रवेश पाने का भीतरी उद्देश्य था—"अँगरेज़ों की मनोवृत्ति और जीवन-पद्धति का अध्ययन करना। जिस से यह पता चले कि अँगरेज़ के मन पर किस कार्य की क्या प्रतिक्रिया होती है और उस प्रतिक्रिया में अँगरेज़ क्या और किस तरह आचरण करता है।" इस की गहराई यह थी कि अँगरेज़ की मनोवृत्ति और कार्य-पद्धति का पूरा ज्ञान होने से हम अपने कार्य (ऐक्शन) की तैयारी के साथ ही उस पर अँगरेज़ की प्रतिक्रिया (रिऐक्शन) का पहले से ही अनुमान कर लेंगे और साथ ही उस का जवाब भी सोच लेंगे। यह एक बात ही सरदार अजीत सिंह को क्रान्ति-कारिता के बहुत ऊँचे सिंहासन पर बैठा देती है, शायद सर्वोच्च सिंहासन पर ही, क्योंकि देश के क्रान्तिकारियों में किसी भी दूसरे आदमी ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन की इस ऊँचाई को नहीं छुआ।

उन के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व की यह ऊँचाई कितनी थी, इस का पता एक और बात से भी लगता है कि उन्हों ने कलक्टरों, कमिश्नरों जैसे, अफ़सरों के चपरासियों का संघ बना लिया था। १९०६-७ के युग में यूनियन की बात सोचना भी किसी के लिए सम्भव न था। फिर यह यूनियन भी कैसी ? चपरासी लोग गुप्त फ़ाइलें अफ़सरों के सामने पेश करने से पहले सरदार अजीत सिंह के सामने पेश करते थे। सरदार जी

अनेक मसलों पर अखबारों में बयान दे देते थे। सरकार परेशान हो जाती थी कि उस के गुप्त रहस्य हमारी जानकारी से पहले अखबारों के पास कैसे पहुँच जाते हैं।

आर्य-समाज के लिए उन्हों ने बहुत-से पैम्फलेट और ट्रैक्ट लिखे। इन में 'विधवा की पुकार' बहुत प्रसिद्ध हुआ। उन के बड़े भाई सरदार किशन सिंह हिन्दू अनाथालय के सुपरिण्टेण्डेण्ट थे। सरदार अजीत सिंह की भी अनाथों में दिलचस्पी थी कि इन्हें इस ढंग पर पाला-पोसा जाये कि ये देश की सेना के सैनिक सिद्ध हों। एक बार सरदार किशन सिंह को मध्यप्रदेश-दुर्भिक्ष के बाद अनाथों को लेने वहाँ जाना था, पर वे बीमार पड़ गये। इस लिए सरदार अजीत सिंह को यह काम सौंपा गया। इसी काम से वे बंगाल भी गये। वहाँ उन का सम्पर्क कुछ क्रान्तिकारियों से भी हुआ।

सहारनपुर के निवासी श्री जतीन्द्र मोहन चटर्जी ने (अपने संस्मरणों के अनुसार) १९०४ में कुछ मित्रों के साथ एक गुप्त समिति बनायी थी और ढमोला नदी के किनारे बैठ कर अपने जीवन को देश के काम में लगाने का व्रत लिया था। सरदार अजीत सिंह इन के भी सम्पर्क में आये। क्रान्तिकारी साहित्य में श्री चटर्जी का ही नाम नीलाम्बर बाबा है। बाद में श्री चटर्जी बैरिस्टरी पढ़ने विलायत चले गये। लाला रामशरण दास कपूरथला वालों ने अपने विवरण में लिखा है कि जब वे लाला हरदयाल से मिले, तो जतीन्द्र मोहन चटर्जी उन के शिष्य की तरह उन के पास रह रहे थे। कुछ लोगों का कहना है कि सरदार अजीत सिंह को श्री चटर्जी ने ही क्रान्तिकारी बनाया, पर इस में कुछ तत्त्व नहीं है, क्यों कि श्री चटर्जी की गुप्त समिति बनाने से पहले ही सरदार अजीत सिंह राजाओं के साथ बग़ावत की बातें कर चुके थे। फिर सरदार अजीत सिंह का लक्ष्य तो १८५७ था और उन का कार्य खुली बग़ावत का गुप्त संगठन था, जैसा कि आगे के पृष्ठों में हम देखेंगे। गुप्त आतंकवादी वे कभी हुए ही नहीं।

उन के सामाजिक क्रान्तिकारी विचारों का पूर्ण प्रदर्शन हुआ उन के विवाह में। उन्हों ने श्री धनपतराय की पालिता पुत्री हरनाम कौर से विवाह किया, जिस की वंशावली अज्ञात थी। उस युग में यह कोई साधारण क़दम न था। वे रूढ़ियों के घोर विरोधी थे, अस्पृश्यता और जाति बन्धन के विरोधी थे और यह सब उन्हें पैतृक रूप में प्राप्त था।

१९०५-६ में अँगरेजी कूटनीति ने हिन्दुस्तान के बँटवारे की गहरी नींव खोदनी आरम्भ की और बंगाल के टुकड़े कर उसे दो प्रान्तों में बाँट दिया। इस से वहाँ का सार्वजनिक जीवन उबल पड़ा और स्वदेशी प्रचार के साथ विदेशी बहिष्कार का खुला सार्वजनिक आन्दोलन खड़ा हो गया। कलकत्ता में श्री दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में काँग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उस में सरदार अजीत सिंह भी अपने बड़े भाई सरदार किशन सिंह के साथ सम्मिलित हुए। काँग्रेस के गरम-नरम दल वहाँ साफ़-साफ़ अलग-अलग कैम्पों में बँट गये थे। गरम दल का नेतृत्व लोकमान्य तिलक

के हाथ में था। सरदार अजीत सिंह पूरी तरह उन के साथ हो गये। उल्लेखनीय बात यह है कि तिलक महाराज इन के व्यक्तित्व और विचारों से प्रभावित हुए और उन्हों ने इन की शक्ति को पहचाना।

कलकत्ता से सरदार अजीत सिंह यह संकल्प ले कर लौटे कि पंजाब में भी यह खुला आन्दोलन चलाना है और किसानों को संगठित करना है। भाग्य ने ऐसा संयोग किया कि चिनगारियाँ लपटों में बदल गयीं। महान् क्रान्तिकारी सूफ़ी अम्बाप्रसाद अपने अखबार 'जमी उल वतन' में लिखे एक लेख पर पाँच साल की जेल काट कर तभी छूटे और सरदार अजीत सिंह से आ मिले। भारतमाता सोसायटी की स्थापना हुई। इस के प्रमुख कर्ता-धर्ता थे सरदार अजीत सिंह, सूफ़ी अम्बाप्रसाद, सरदार किशन सिंह, सरदार स्वर्ण सिंह, लाला हरदयाल, लाला लालचन्द फलक, मेहता नन्दकिशोर, महाशय घसीटा राम, केदारनाथ सहगल आदि।

इस सोसायटी के दो शस्त्र थे : पहला भाषण और दूसरा प्रकाशन। प्रकाशन के लिए 'भारतमाता बुक एजेन्सी' स्थापित की गयी, जो राजद्रोहात्मक साहित्य का प्रकाशन और प्रचार करती थी। इस को आत्मा सूफ़ी अम्बाप्रसाद थे। भारतमाता (पहले मासिक, फिर साप्ताहिक), इण्डिया (अँगरेज़ी), पेशवा (उर्दू) और पंजाबी (अँगरेज़ी) देश में आन्दोलन के समर्थक पत्र थे। इन सब में क्रान्ति की आग ही शब्दों के रूप में संचित होती थी। '१८५७ की बग़ावत,' 'उँगली पकड़ते पहुँचा पकड़ा', 'देसी फ़ौज' 'बन्दर बाँट', 'जफ़र सेना' और 'बाग़ी मसीह' आदि पुस्तकों ने जनता के मन को उद्वेलित और उत्तेजित कर के रख दिया। वे सभी पुस्तकें, परचे और ट्रैक्ट सरकार ने ज़ब्त कर लिये, पर जब्ती से इन का प्रचार जनता में और भी बढ़ गया।

'बाग़ी मसीह' नाम की पुस्तक तो सूफ़ी अम्बाप्रसाद का भयानक बम ही सिद्ध हुई। सरकार सरदार जी को बाग़ी कहती थी। सूफ़ी साहब ने उन्हें बाग़ी मसीह कहा। मसीह का मोटा अर्थ है बीमारियाँ दूर करने वाला। सूफ़ी साहब ने सरदार जी को जनता के सामने एक ऐसे चिकित्सक के रूप में प्रस्तुत किया, जो अपनी बग़ावत की औषधि से उस की सब बीमारियों को दूर कर सकता है। इस पुस्तक ने सरदार जी को बेहद लोकप्रियता दी और उन्हें जनता के हृदयों में प्रतिष्ठित कर दिया। जनता के साथ ही सेनाओं पर भी इस साहित्य का प्रभाव पड़ा। भारतमाता सोसायटी के जलसों में आने के लिए सेना की छावनियों में भी निमन्त्रणपत्र भेजे जाते थे और सैनिक सरदार अजीत सिंह का भाषण सुनने आते भी थे। इसी आधार पर पंजाब सरकार के क्षेत्रों में भारतमाता सोसायटी के आन्दोलन को 'छोटा सन सत्तावन' कहा जाने लगा।

भाषणों का काम सरदार अजीत सिंह के हाथ में था। वे ज्वालामुखी प्रवक्ता थे। घण्टों बोलते थे और इस तरह बोलते थे, जैसे आग का झरना बह रहा हो। वे उबल पड़ते थे, श्रोता उफन पड़ते थे। बरतानवी अत्याचारों का वे वर्णन करते तो

आग हो जाते और देश की दुर्दशा का वर्णन करते, तो आँसुओं का दरिया हो जाते। वे ख़ुद जलते और श्रोताओं को जलाते। वे ख़ुद वहते और श्रोताओं को वहाते। वे बोलते रहते और वर्षा आ जाती तो भी एक श्रोता तक न हिलता। वे बोलते रहते और धूप फैल जाती, पर एक भी श्रोता टस से मस न होता। ऐसा भी दृश्य होता कि सारा जलसा दहाड़ता और ऐसा भी होता कि सारा जलसा अपने आँसुओं में डूब-डूब जाता। उन का आकर्षण अथाह था, प्रभाव वेपनाह था। वे उस आकर्षण और प्रभाव के घेरे में किसानों को लाने की योजना बना ही रहे थे कि स्वयं सरकार ने और परिस्थितियों ने किसानों को भारतमाता सोसायटी के आँगन में ला खड़ा किया। इस का क़िस्सा किसी जासूसी उपन्यास से कम नहीं। यहाँ पेश है भगत सिंह की क़लम से—

"एक दिन लाहौर और अमृतसर क्षेत्र में जाट कृषकों ने लगान बढ़ाये जाने के विरुद्ध एक सभा करने का निश्चय किया। शाह आलमी दरवाज़े के वाहर रतन चन्द की सराय में यह सभा आयोजित की गयी थी, किन्तु जव जाट लोग जमा हो गये, तो डिप्टी कमिश्नर ने रतन चन्द के लड़के को बुला कर ज़ायदाद ज़ब्त कर लेने की धमकी दी। इस पर रतन चन्द के लड़के ने वहाँ एकत्रित हुए किसानों को अपनी सराय से वाहर निकाल दिया। तव किसानों ने नगर के नेता माने जाने वाले सज्जनों से सम्पर्क स्थापित किया, किन्तु वहाँ से भी उन को साफ़ जवाव मिला। हर तरफ़ से मायूस हो कर वे वेचारे म्युनिसिपल गार्डन में जा बैठे। इसी वीच भारतमाता सोसायटी के सदस्यों को इस की सूचना मिली और वे इन लोगों को अपने स्थान पर ले आये। सोसायटी के पास एक कमरे के अतिरिक्त एक विशाल मैदान भी था। इस मैदान में दरियाँ विछा कर शामियाना लगवा दिया गया और एक तरफ़ उन किसानों के भोजन के हेतु लंगर का प्रवन्ध कर दिया गया। किसानों का उत्साह इस से अत्यधिक वढ़ गया और फिर पूरे एक सप्ताह वहीं प्रतिदिन सभाएँ हुईं, जिन में बड़े ही निर्भीक भाषण दिये गये। इस सभा में जाट किसानों का उत्साह देख कर भारतमाता सोसायटी के सदस्यों का हौसला और भी वढ़ गया।

इस के पश्चात् देहातों के दौरे का कार्यक्रम बनाया गया, जिस से किसानों को लगान-वन्दी के लिए तैयार किया जा सके। यह सरकार के विरुद्ध युद्ध-घोषणा थी और जनता में जोश इतना था कि इस संघर्ष में वह अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देने के लिए तत्पर मालूम होती थी।[१]"

किसानों के इस जोश का आधार क्या था? इस का विवरण भी भगत सिंह की ही क़लम से—"वंगाल-विभाजन के विरुद्ध जो शक्तिशाली आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और स्वदेशी के प्रचार तथा विदेशी के वहिष्कार की जो हलचल प्रारम्भ हुई थी,

---

१. काल कोठरी में रहते समय भगत सिंह द्वारा लिखित 'स्वाधीनता की लड़ाई मे पंजाब का पहला उभार' के अंश।

उस का पंजाब के औद्योगिक जीवन तथा साधारण जनता पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा था उन दिनों यहाँ भी (पंजाब में) स्वदेशी वस्तुएँ विशेषतः खाँड़ तैयार करने का खयाल पैदा हुआ और देखते-देखते एक-दो मिलें भी खुल गयीं। यद्यपि सूबे (प्रान्त) के राजनैतिक जीवन पर इस का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु सरकार ने इस उद्योग को नष्ट करने के लिए गन्ने की खेती का लगान तीन गुना कर दिया। पहले एक बीघे का लगान केवल ढाई रुपया था, वहीं अब साढ़े सात रुपये देने पड़ते थे। इस से किसानों पर एक भारी बोझ आ पड़ा और वह एकदम हतबुद्धि-से रह गये।

नया कॉलोनी ऐक्ट—दूसरी ओर लायलपुर इत्यादि में सरकार ने नयी नहर खुदवा कर जालन्धर, अमृतसर, होश्यारपुर इत्यादि के निवासियों को बहुत-सी सुविधाओं का लालच दे कर इस क्षेत्र में बुला लिया था। यह लोग अपनी पुरानी ज़मीन-जायदाद छोड़ कर आये और कई वर्ष तक अपना खून-पसीना एक कर के इन लोगों ने इस जंगल को गुलज़ार बना दिया, लेकिन अभी यह चैन भी न लेने पाये थे कि नया कालोनी ऐक्ट (न्यू कॉलोनाईजेशन ऐक्ट) इन के सिर पर आ खड़ा हुआ। यह ऐक्ट क्या था, कृषकों का अस्तित्व ही मिटा देने का एक तरीक़ा था। इस ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की निजी सम्पत्ति का अधिकारी केवल उस का बड़ा लड़का ही हो सकता था। छोटे पुत्रों का कोई हिस्सा नहीं रखा गया था। बड़े लड़के के मरने पर भी वह ज़मीन या अन्य जायदाद छोटे लड़कों को नहीं मिल सकती थी, बल्कि उस पर सरकार का अधिकर हो जाता।

कोई व्यक्ति अपनी ज़मीन पर खड़े वृक्षों को नहीं काट सकता था। उन से वह एक दातून तक नहीं तोड़ सकता था। जो ज़मीनें उन को मिली थीं, उन पर वह केवल खेती कर सकते थे। किसी प्रकार का मकान या झोंपड़ा, यहाँ तक कि पशुओं को चारा डालने के लिए खुडली (खोर) तक नहीं बना सकते थे। क़ानून का थोड़ा-सा भी उल्लंघन करने पर चौबीस घण्टे का नोटिस दे कर तथाकथित अपराधी की ज़मीन ज़ब्त की जा सकती थी। कहा जाता है कि ऐसा क़ानून बना कर सरकार चाहती थी कि थोड़े से विदेशियों को तमाम ज़मीन का मालिक (ज़मींदार) बना दिया जाये और ज़मीन के हिन्दुस्तानी काश्तकार उन के सहारे (दबाव) पर रहें। इस के अतिरिक्त सरकार यह भी चाहती थी कि अन्य प्रान्तों की भाँति पंजाब में थोड़े-से बड़े-बड़े ज़मींदार हों और शेष निहायत ग़रीब काश्तकार हों। इस प्रकार जनता दो वर्गों में विभक्त हो जाये। मालदार कभी भी और किसी भी हालत में सरकार-विरोधियों का साथ देने का साहस नहीं कर सकेंगे और निर्धन कृषकों को, जो दिन-रात मेहनत कर के भी पेट नहीं भर सकेंगे, इस का अवसर ही नहीं मिलेगा। इस प्रकार सरकार खुले-हाथों जो चाहेगी, करेगी।"

शहरों से देहातों तक और बाबुओं से किसानों तक सरदार अजीत सिंह के ज्वालामुखी भाषणों को फैलता देख कर पंजाब के गवर्नर ने सब ज़िलों को एक सरकूलर

भेजा कि जनता को चेतावनी दी जाये कि वह सरदार अजीत सिंह का भाषण न सुने। अँगरेज़ कलक्टरों ने अपने-अपने ज़िलों के देहातों और नगरों में इस आदेश का प्रचार किया, पर इस से सरदार अजीत सिंह का आकर्षण और भी बढ़ गया—उन के जलसों में लोग टूट पड़ने लगे। एक पत्रकार के शब्दों में—"सरदार अजीत सिंह ने जिस तरह उन दिनों जनता का मन जीत लिया था, उस का अब कोई विश्वास ही न करेगा।"

सरदार अजीत सिंह के जलसों का जाल सारे पंजाब में फैल गया। वे उन दिनों किस तेज़ी से काम कर रहे थे, इस का परिचय जलसों की इस अधूरी सूची से लगता है—

१४ मार्च, १९०७ को सरदार अजीत सिंह का लाहौर में भाषण हुआ। विषय था—'हिन्दुस्तान हमारा है' और उपस्थिति तीन हज़ार थी।

१७ मार्च को लाहौर में ही स्वदेशी पर उन्हों ने भाषण दिया।

तीसरा जलसा आर्य सेवक होटल के मैदान में हुआ। सरदार अजीत सिंह ने भाषण में कहा—"भाइयो, जानते हो आज हम यहाँ क्यों इकट्ठे हुए हैं ? इस लिए कि फिरंगी को बता दें कि हमारी पहली तहरीके आज़ादी को पूरे पचास साल गुज़र गये हैं। बेशक कुछ ग़द्दारों की ग़द्दारी की वजह से सत्तावन में हम असफल हुए, मगर अब आप को यहाँ से जाना होगा। हम ने पहली जंग आज़ादी की सफलता से जो सबक़ सीखा, वह यह है कि हम तलवार नहीं उठायेंगे। आप ने यहाँ बैठे एक हाथ कटे और फिरंगियों की क़ैद से आज़ाद हो कर आने वाले सूफ़ी अम्बाप्रसाद को देखा है। उन्हों ने आते ही 'इण्डिया' में एक मज़मून लिखा है, जिस का शीर्षक है—'हम पागल नहीं कि तलवार पकड़ें।' हम ने फिरंगी को आज ही इस प्लेटफ़ॉर्म से जो चैलेंज देना है, इस के लिए माजा और मालवा के ताक़तवर सरदारों की मंज़ूरी हमारे पास है। आप की मर्ज़ी और इजाज़त से हम फिरंगी को यह चेतावनी दे रहे हैं कि वे अपना रास्ता लें। हमारी पहली माँग यह है कि वे फ़ौरन यह काला क़ानून न्यूकॉलोनी लायलपुर और मिण्टगुमरी ख़त्म कर दें। दो माह के अन्दर ऐसा न हुआ, तो हम कोई टैक्स न देंगे। इस देश की लूट-खसोट को अब बरदाश्त नहीं किया जायेगा। हम में से हरेक सिर पर कफ़न बाँधे तैयार खड़ा है।"

सोचती हूँ इस भाषण को पढ़ कर कि बारडोली में जिस लगानबन्दी आन्दोलन के विजेता हो कर बल्लभ भाई पटेल देश में सरदार कहलाये, उस के आदि प्रवर्तक सरदार अजीत सिंह ही तो थे !

इस जलसे में १५०० छह फ़ुटे लट्ठबन्द किसान उपस्थित थे। इन सब ने अपना-अपना अँगूठा लगा कर प्रस्ताव पास किया और पंजाब सरकार की मार्फ़त भारत मन्त्री को इंगलैण्ड में यह समुद्री तार भेजा—"अँगरेज़ हिन्दुस्तान छोड़ जायें, तो बेहतर है, वरना अहिंसात्मक और शान्त ढंग से कर-बन्दी आन्दोलन बड़े ज़ोरों से शुरू कर

दिया जायेगा।" साथ ही यह भी नोटिस दिया गया कि सरकार अपनी नहरों को वन्द कर दे, वरना हम आवियाना (जलकर) नहीं देंगे।

जब सरदार अजीत सिंह वोल रहे थे, तो कई सौ शस्त्रधारी पुलिसमैनों और अफ़सरों ने मैदान को घेर लिया। उन्हों ने जलसा वरख़ास्त करने का हुक्म दिया। तभी सूफ़ी अम्वाप्रसाद दरवाज़े में कुरसी डाल कर वैठ गये और उन्हों ने दृढ़ता से कहा कि "मैं देखूँगा कौन कम्वख़्त जलसा वन्द करता है। किसी (एक गोली) को इधर आने तो दो।" वन्दूक़-संगीनधारी पुलिस खड़ी थी, पर किसी की भी यह हिम्मत नहीं हुई कि भीतर घुसने की कोशिश करे।

'इण्डिया' के सम्पादक लाला पिण्डीदास उस जलसे में उपस्थित थे। उन्हीं के शब्दों में—"जलसे में एक भी आदमी ऐसा न था, जो सरदार अजीत सिंह का भाषण सुन कर रो न रहा हो। सव रूमाल या दुपट्टे से आँसू पोंछ रहे थे। सरदार जी सरकार के अत्याचारों की कहानी कुछ इस अन्दाज़ से कहते थे कि लोग दहाड़ें मार-मार कर रोने लगते थे। वन्दे मातरम् की गूँज के साथ जलसा समाप्त हुआ, तो पुलिस ने भीड़ पर घोड़े दौड़ा दिये। मना करने पर भी वे नहीं माने, तो सरदार किशन सिंह और महाशय घसोटा राम ने अँगरेज़ पुलिस अफ़सर मिस्टर वीटी को पकड़ लिया और ख़ूव पीटा। सरदार किशन सिंह, सरदार स्वर्ण सिंह, लाला लालचन्द फलक, लाला गोवर्धन दास, महाशय घसीटाराम और पण्डित रामचन्द्र पेशावरी को गिरफ़्तार कर लिया गया।"

तीन रंगों का एक डण्डा, जो ढ़ाई हाथ लम्वा होता था, इस आन्दोलन का झण्डा था, जो हरेक के हाथ में रहता था। सरदार अजीत सिंह ने अपने भाषण में कहा था—"हम इन डण्डों से ही मार-मार कर अँगरेज़ों को भगायेंगे।" इस जलसे की रिपोर्ट के रूप में सरदार अजीत सिंह के इस आन्दोलन की गूँज लन्दन की पार्लयामेण्ट में भी ख़ूव गूँजी और इस तरह यह आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय हो गया।

२२ मार्च को लायलपुर में भारतमाता सोसायटी का जो विराट् जलसा हुआ, उस के संयोजक चौधरी शहावुदीन (वाद में सर शहावुदीन के रूप में पंजाव कौन्सिल के सरकार-परस्त अध्यक्ष) थे। इस में ८००० से भी अधिक लोग उपस्थित थे। ख़ास वात यह थी कि इस में लाला लाजपतराय को भी वुलाया गया था। लाला जी की गाड़ी कुछ लेट थी और कुछ देर इस लिए भी उन्हें लगी कि उत्साह में भरी जनता ने स्टेशन पर उन्हें जिस घोड़ा-गाड़ी में वैठा कर जुलूस निकाला, उस के घोड़े खोल दिये और उसे अपने हाथों से खींच कर जलसे तक लाये। जलसा समय पर आरम्भ हुआ, तो भारतमाता सोसायटी के कार्यकर्ता श्री बाँकेदयाल ने अपनी कविता 'पगड़ी सँभाल जट्टा, पगड़ी सँभाल ओये !' पहली वार पढ़ी। लोग झूम उठे और वाद में ऐसा समा वँधा कि कवि और श्रोता दोनों ही आँसुओं में वह गये। इस के वाद तो यह तहरीक 'पगड़ी सँभाल जट्टा' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गयी। जब लाला लाजपतराय जलसे

में आये, तो सरदार अजीत सिंह बोल रहे थे। तिरंगा डण्डा उन के हाथ में था और दूसरे बहुत से लोगों के हाथ में भी। भाषण क्या था, अंगारों की जयमाला थी। उन की एक-एक बात पर जनता तालियाँ बजा रही थी।

अपने भाषणों में जनता की तालियाँ लाला लाजपतराय की सब से बड़ी कमज़ोरी थी। इसे वे अपने जीवन की सब से बड़ी उपलब्धि मानते थे। भारत में इन तालियों पर उन का अभी तक अखण्ड राज्य था, पर आज उन्हों ने पहली बार देखा कि उन का प्रतिद्वन्द्वी उन के सामने है—सरदार अजीत सिंह का हर वाक्य तालियों की गूँज से घिरता जा रहा था। लाला जी शानदार जुलूस से लौटे थे, एक उत्साहित भरपूर जलसा उन के सामने था। वे बोले और खूब जम कर बोले। तालियाँ उन्हें खूब मिलीं, पर वे एक वहम का शिकार हो गये। सरकारी क्षेत्रों में यह वहम फैल गया कि लाला लाजपतराय गुरु हैं और अजीत सिंह शिष्य। वे जो कुछ कर रहे हैं, सब लाला जी के इशारे पर और वास्तविक नेता लाला जी ही हैं। इस वहम का आधार यह था कि लाला जी उस समय आर्य-समाज और काँग्रेस में नेतृत्व के सर्वोच्च शिखर पर थे और सरदार अजीत सिंह एक नौजवान ही थे। दो महीने बाद ही लाला जी को इस वहम की क़ीमत चुकानी पड़ी।

२७ मार्च को फिर लायलपुर में सरदार अजीत सिंह बोले और २९ मार्च को अमृतसर में। विषय था—भारत में राजनैतिक स्थिति। ये शहरों के जलसे थे। इन के साथ ही देहातों में जो जलसे हुए वे अलग थे। इस प्रकार मार्च के जलसों ने पंजाब की हवा गरम कर दी।

पहली अप्रैल को लाहौर के शाह आलमी दरवाज़े पर सरदार अजीत सिंह पूरे जोश से गरजे और उन्हों ने अँगरेज़ों के वध को उचित बताया और खुले आम आतंकवादियों का समर्थन किया। इस से इतना जोश फैला कि उसी दिन लाहौर में ही एक ओर जलसे में उन का भाषण कराया गया। इसे छात्रों ने आयोजित किया था। इस का कोई खुला ऐलान नहीं हुआ था, बल्कि सायकिलों पर घर-घर घूम कर छात्रों ने इस की सूचना दी थी।

६ और ७ अप्रैल १९०७ को लाहौर की सभाओं में उन के भाषण हुए। भीड़ खचाखच थी। भाषणों में मुख्य विषय था टैक्सों को बढ़ाने का विरोध। ९ अप्रैल को गुजराँवाला की सभा में सरदार अजीत सिंह फिर स्वदेशी पर बोले और १२ अप्रैल को अमृतसर की सभा में। ६००० से भी अधिक उपस्थिति थी। विषय था राजनैतिक स्थिति, उपाय था अँगरेज़ों को मार भगाना।

१४ अप्रैल को लाहौर में सभा हुई। हज़ारों आदमी उपस्थित थे। मुख्य विषय था समाचारपत्रों का दमन। लाला जसवन्त राय के पत्र 'पंजाबी' पर सरकार ने मुक़दमा चला दिया था और लाला जी को गिरफ़्तार कर लिया था। १६ अप्रैल को फिर सभा हुई लाहौर में ही। १७ और १८ अप्रैल को मुलतान में भाषणों की धूम

रही। सभाओं में सैनिक आते तो सदा ही थे; पर १८ अप्रैल की मीटिंग में २०० सिख सैनिक उपस्थित हुए। इस घटना ने पंजाब सरकार को सनसनी में डाल दिया। उस के गुप्तचरों की रिपोर्ट थी कि १० मई १९०७ को ग़दर की पचासवीं वर्षगाँठ पर सरदार अजीत सिंह और उन की पार्टी नये विप्लव की तैयारियाँ कर रही हैं।

२६ अप्रैल को बटाला में और २८ अप्रैल को गुरुदास पुर में सभाएँ हुईं, जिन में सरदार अजीत सिंह ने १८५७ के गदर की हिमायत की। देहातों में भी बराबर जलसे हो रहे थे और इस तरह वातावरण सनसनी से भरपूर था। सनसनी जनता में थी, आतंक अँगरेज़ों में था।

भारतमाता सोसायटी के गरम कार्यकर्ता और 'इण्डिया' के सम्पादक लाला पिण्डीदास पर सरकार ने इधर-उधर से ज़ोर डलवाया कि वे अजीत सिंह का साथ छोड़ दें, लेकिन उन के यह न मानने पर उन का अखबार बन्द कर दिया। इस पर भी वे बाज़ न आये, तो उन की गिरफ़्तारी का वारण्ट निकाला गया। एक निहत्थे आदमी की गिरफ़्तारी क्या थी, पारसी थियेट्रिकल कम्पनी का सनसनीख़ेज़ ड्रामा था। इस ड्रामे के हीरो मिस्टर बीटी और मिस्टर बारबर नाम के दो अँगरेज़ पुलिस अफ़सर थे। ४०० सशस्त्र सिपाही इन के साथ थे और बड़ी अकड़ फूँ के साथ गुजराँवाला पहुँचे थे, पर इन की हालत अभिमन्यु नाटक के राय बहादुर-जैसी थी। पण्डित राधेश्याम कथावाचक ने अपने प्रसिद्ध नाटक अभिमन्यु के प्रहसन में एक रायबहादुर का चरित्र दिया है। रायबहादुर महाराजा दुर्योधन की तरफ़ से युद्ध में लड़ने गये थे और शाम को अकड़ते हुए घर लौटे थे। जब पत्नी ने पूछा कि युद्ध में आज आप ने क्या क्या वीरता दिखायी, तो रायबहादुर बोले—मैं ने पचासों बहादुरों के पैर काट दिये। पत्नी ने पूछा—सिर क्यों नहीं काटे? रायबहादुर बोले—क्या वाहियात बात करती हो, सिर तो मेरे पहुँचने से पहले ही कोई उन के काट ले गया था।

मतलब यह कि रायबहादुर ने मुरदों के पैर काट दिये थे, पर मिस्टर बीटी और मिस्टर बारबर ने वीरता में रायबहादुर को भी मात दे दी। रायबहादुर मोरचे पर गये तो थे, पर ये गुजराँवाला के स्टेशन पर ही रह गये और दफ़ा १२४ का वारण्ट गुजराँवाला के पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट को भेज दिया कि वह लाला पिण्डीदास को गिरफ़्तार कर स्टेशन ले आये। यही नहीं, इन दोनों वीरों ने स्टेशन मास्टर से कहा कि वह उन्हें किसी सुरक्षित कमरे में बैठा कर बाहर से ताला बन्द कर दे और किसी को उन के यहाँ होने की ख़बर न दे।

गुजराँवाला का पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट भी आखिर अँगरेज़ था। उस का भी कलेजा घड़ी का पेण्डुलम हो गया। ४०० सशस्त्र सिपाहियों ने यद्यपि लाला पिण्डी दास का मकान घेर रखा था, पर उन के कमरे में तो इस बेचारे को ही घुसना था? उस समय तक ऐटम बम तो ईज़ाद हुआ नहीं था, पर जाने लाला पिण्डीदास क्या कर बैठें और उन का कमरा ही बेचारे साहब बहादुर का क़ब्रिस्तान बन जाये। ठीक

तो है, जीते-जी क़ब्र में कौन समझदार घुसेगा ? साहब बहादुर ने लाला अमीरचन्द मैजिस्ट्रेट ('वन्दे मातरम्' और 'पीपुल' सम्पादक श्री फ़ीरोज़चन्द के दादा) से मदद माँगी। बात ही क्या थी, वे लाला पिण्डीदास के पास गये, हँसते-हँसते कहा—"आप मेरे साथ चलें।" क़िस्सा सुन कर वे भी ख़ूब हँसे और साथ चल दिये। संगीनों के पहरे में उन्हें ट्रेन से लाहौर लाया गया। स्टेशन पर घुड़सवार दस्ता पहले से तैनात था। उस के पहरे में उन्हें जेल भेजा गया। यह सब सरदार अजीत सिंह के खुले आन्दोलन का आतंक था। इस आन्दोलन को अँगरेज़ १८५७ के नये ग़दर का पेश-खेमा समझते थे और भय से अधमरे हो रहे थे।

भारतमाता सोसायटी के कार्यकर्ताओं की धड़ाधड़ गिरफ़्तारियाँ हो रही थीं। इन में प्रतिष्ठित वकील, पत्रकार, विद्यार्थी और इसी तरह के दूसरे प्रतिष्ठित लोग थे। इन का मुक़दमा करने के लिए पटियाला से अँगरेज़ मैजिस्ट्रेट मि० बारबटन को बुलाया गया था।

एक दिन एक सिख सार्जेण्ट लाला पिण्डीदास, महाशय घसीटाराम और लाला दीना नाथ (सम्पादक 'देश') को जेल से अदालत में लाया, पर बारबटन साहब तब तक आये नहीं थे। आगे का क़िस्सा लाला पिण्डीदास के शब्दों में—"हम तीनों एक ही ज़ंजीर में बँधे एक बरामदे में बैठे थे। सिख सार्जेण्ट ने पूछा—'आप किस अख़बार के एडीटर हैं ?' मैं ने 'इण्डिया' और लाला दीनानाथ ने 'देश' का नाम बताया। जब उस ने महाशय जी से पूछा तो वे बोले—'आप को नहीं मालूम, मैं मुक्कामार अख़बार का एडीटर हूँ।' सारा बरामदा क़हक़हों से भर गया। सार्जेण्ट अब खुल गया था। उस ने बताया कि जब आप को गुजराँवाला से गिरफ़्तार कर के अँगरेज़ अफ़सर लाये, तो रेलवे स्टेशन से जेल के दरवाज़े तक दस-दस क़दम पर सिपाही तैनात किये गये थे। प्रबन्ध यह था कि उन में किसी एक ही फिरके के सिपाही नहीं थे। एक हिन्दू था, दूसरा सिख था, तीसरा मुसलमान था। यह एहतियात भी की गयी थी कि फ़ौजी गोरखे घुड़सवार शहर की सड़कों पर गश्त लगा रहे थे। जब हम हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने यह सुना कि अँगरेज़ों ने घबरा कर अपने स्त्री-बच्चों को क़िले में या स्पेशल ट्रेन में भेज दिया है, तो हम लोग ख़ूब हँसे थे।"

इस के बाद सिख सार्जेण्ट ने एक बहुत ही मज़ेदार क़िस्सा सुनाया कि "एक दिन हमारे अँगरेज़ पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट ने अपने दफ़्तर में गारद मँगायी, तो हम ने समझा कि किसी खास जगह उन्हें जाना है। साहब बहादुर आगे-आगे चले और हम पीछे-पीछे। सोच रहे थे, न जाने कहाँ जाना है, पर साहब बहादुर अपने बँगले के दरवाज़े पर पहुँच गये और बोले—आप सब जा सकते हैं। हम सैल्यूट दे कर लाइन में वापस आ गये और देर तक हँसते रहे।"

इस तरह सरदार अजीत सिंह ने अपने 'पगड़ी सँभाल जट्टा' के किसान आन्दोलन को अपनी वाणी की तेजस्विता से राजनैतिक क्रान्ति के रूप में बदल दिया

था। लाला लाजपत राय ने अपने एक भाषण में कहा था—"सरदार अजीत सिंह का असली उद्देश्य इस किसान आन्दोलन को पूरी तरह भड़का कर इसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ उग्र क्रान्तिकारी आन्दोलन बना देना था। सरदार जी कोई समझौता न चाहते थे, बल्कि वे तो अँगरेज़ी राज्य का मुकम्मल ख़ात्मा चाहते थे।"

सरदार अजीत सिंह का उद्देश्य इस बात से स्पष्ट है कि उन्हों ने अँगरेज़ों के जाने के बाद भारत में किस तरह का शासन होगा, इस के लिए एक संविधान की रचना की थी। यह संविधान अँगरेज़ अफ़सरों के हाथ लग गया था, साथ ही सूफ़ी साहब एवं सरदार जी का बहुत-सा साहित्य भी। बरसों की जाँच-पड़ताल के बाद पता चला है कि यह संविधान और साहित्य भारत सरकार के इतिहास-विभाग में सुरक्षित है, पर अभी तक जनता के लिए इस विभाग के द्वार बन्द हैं।

गुप्तचर-विभाग बहुत सतर्कता से सरदार अजीत सिंह के कामों पर नज़र रख रहा था, पर सरदार अजीत सिंह के भाषणों की भाषा धड़ाकेदार होते हुए भी क़ानूनी दाँव-पेंचों से भरपूर थी। इस लिए उन पर मुक़दमा चलाये, तो सफलता का निश्चित विश्वास न था। मुक़दमा चला और वे छूट गये, तो उन का प्रभाव और भी बढ़ जाना निश्चित था। इन्हीं दिनों तिलक प्रेस होश्यार पुर की तलाशी में एक परचा मिला, जिस का शीर्षक था—'अँगरेज़ों का वध करो।' गुप्तचर विभाग ने सरदार अजीत सिंह के भाषणों और लेखों से उद्धरण दे कर रिपोर्ट में लिखा—"अजीत सिंह के पाठक उस के विचारों को क्रियान्वित करने में देर न लगायेंगे।" एक दूसरी रिपोर्ट में कहा गया—"इन्हें (सूफ़ी अम्बाप्रसाद और सरदार अजीत सिंह को) पाँच साल के लिए बन्द कर दें, तो शान्ति होगी।"

५ मई, १९०७ को विस्तृत रिपोर्ट में कहा गया—"दो महीनों से ये लगातार मीटिंगें कर रहे हैं और खुले तौर पर राजद्रोह फैला रहे हैं। बड़े-बड़े शहरों के जलसों में सरदार अजीत सिंह ने अँगरेज़ों के और ऊँचे अफ़सरों के वध का और अँगरेज़ों पर आक्रमण कर के आज़ादी पाने का प्रचार किया है। फ़ौजों में भरती होने वाले क्षेत्रों में और समाज में बग़ावत फैलायी जा रही है। सिख-समाज, सिख-फ़ौज और पेन्शन पाने वाले सिपाहियों में प्रचार का विशेष ध्यान है। सिखों के गाँवों में राजद्रोह के परचे बराबर बाँटे जा रहे हैं। राजद्रोहात्मक भाषण में सिख-सैनिकों को बराबर बुलाया जाता है और वे आते भी हैं। अफ़सरों के दौरों पर गाड़ी वग़ैरह न देने का भी प्रचार जनता में किया जा रहा है। भारतीय सैनिकों और पुलिसमैनों को नौकरी छोड़ने का या नौकरी करते-करते ग़द्दारी करने का प्रोत्साहन दिया जा रहा है। अजीत सिंह ही इस सब के नेता हैं। वह अग्निमुख वक्ता है और किसानों एवं सैनिकों को एक साथ भड़का रहा है।"

यह रिपोर्ट पंजाब के लेफ़्टीनेण्ट गवर्नर के पास भेजी गयी और इसे अत्यन्त आवश्यक कार्य मानने की प्रार्थना की गयी, क्यों कि स्थिति भयानकता की ओर तेज़ी से

बढ़ रही है।

पंजाब के गवर्नर मि० इवट्सन ने वायसराय लॉर्ड हार्डिंग्ज़ को लिखा—"पंजाब में ग़दर होने वाला है और उस का नेतृत्व सरदार अजीत सिंह और उन की पार्टी करेगी। बग़ावत को रोकने का प्रवन्ध करें।"

अब यह फोड़ा पक गया था, पर इस का उभार बहुत दिन पहले से आरम्भ हो रहा था। इस का पता वायसराय लॉर्ड मिण्टो के उस पत्र से लगता है, जो उन्हों ने २९ अगस्त १९०६ को भारत मन्त्री लॉर्ड मौर्ले को लिखा था—"ग़दर पैदा करने के लिए फ़ौजों में ख़ूब काम किया जा रहा है। फ़ौजों में इस समय जो साहित्य बाँटा जा रहा है, उस का अगला क़दम यही है कि वहाँ ग़दर पैदा हो।"

७ मई १९०७ को सरदार अजीत सिंह और लाला लाजपत राय के वारण्ट निकाल दिये गये। इन पर भारत सरकार के गृह-सचिव श्री एच० एच० रिजले के हस्ताक्षर थे। लाला लाजपत राय तो ९ मई को ही गिरफ़्तार हो गये और वर्मा के माण्डले क़िले में भेज दिये गये, पर सरदार अजीत सिंह इतनी तेज़ी से घूम रहे थे कि तुरन्त हाथ नहीं आये। वे २ जून सन् १९०७ को अमृतसर में आधी रात के समय बहुत धूमधाम से मिस्टर डब्लू०, एच्० चैंडविक पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट के द्वारा रेगूलेशन तीन १८१८ के मातहत पकड़े गये। डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट मिस्टर पी० डब्लू० जोंकिस उन्हें साधारण पैसेन्जर ट्रेन से लाहौर छावनी लाये। रात की बात थी निभ गयी, पर लाहौर से उन्हें स्पेशल ट्रेन में ३ जून शाम को ५ बजे भेजा और आगे 'गाइड' नाम के स्पेशल स्टीमर में उन्हें भेजा गया। रिपोर्ट थी कि यदि उन्हें साधारण ट्रेन से भेजा गया तो बहुत गरम प्रदर्शन होंगे और इसी भय से रास्ते में किसी स्टेशन पर गाड़ी नहीं रुकी। अगर कहीं रुकी भी तो चारों ओर जंगल ही नज़र आया। १ अँगरेज़ इन्स्पेक्टर, १ हिन्दुस्तानो सब इन्स्पेक्टर, ६ भारतीय सिपाही, १ अँगरेज़ सार्जेण्ट और २ हिन्दुस्तानी कान्स्टेबिल उन के साथ थे।

भारत के वायसराय ने कहा—"हम भूल नहीं सकते कि लाहौर में अँगरेज़ लोग बिना कारण बेइज़्ज़त किये गये और रावलपिण्डी में दंगे हुए। इस पर पंजाब के गवर्नर ने जो गम्भीर रिपोर्ट दी, उसे भी हम भुला नहीं सकते। इसी रिपोर्ट पर लाला लाजपत राय और सरदार अजीत सिंह को जनता के हित के लिए गिरफ़्तार कर नज़र बन्द किया गया और राजद्रोह फैलाने वाली सभाओं पर पाबन्दी के लिए आर्डीनेन्स जारी किया गया।"

भारत मन्त्री मिस्टर मौर्ले ने पर्लमिण्ट में कहा—"पहली मार्च १९०७ से पहली मई तक पंजाब के प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों ने २८ सभाएँ कीं। इन में सिर्फ़ पाँच का ही सम्बन्ध किसानों के कष्टों से था, बाक़ी सब में राजद्रोह का प्रचार किया गया।"

माण्डला के क़िले में लाला जी और सरदार जी को एक-दूसरे से नहीं मिलने दिया जाता था। सरदार जी के आने का पता भी लाला जी को बहुत दिन बाद लगा।

लाला जी के भाषण तो ज़रूर धड़ाकेदार होते थे, पर मानसिक रूप से वे नरम दल के आदमी थे। सरदार अजीत सिंह का निर्वासन तो लोगों की समझ में आता था, पर प्रश्न था कि बेचारे लाला जी क्यों पकड़े गये ? मैं इसी अध्याय में पहले कह आयी हूँ कि भारतमाता सोसायटी की एक सभा में परिस्थिति-वश लाला जी के जोश में आ जाने के कारण सरकारी क्षेत्रों में यह वहम फैल गया था कि इस आन्दोलन के वास्तविक नेता लाला जी ही हैं, पर यह सिर्फ़ एक वहम ही था।

नरम दल के काँग्रेसी नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने १० जून १९०७ को वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी को एक पत्र में लिखा—"लाला लाजपत राय के सम्बन्ध में देश के प्रभावपूर्ण लोगों की ओर से उन के हस्ताक्षरों से युक्त एक प्रार्थना पत्र तैयार हो रहा है। उसे ले कर मैं जुलाई के अन्त तक स्वयं शिमला आऊँगा। इस पर वायसराय की कौन्सिल के सभी ग़ैर-सरकारी और भूतपूर्व सदस्यों के हस्ताक्षर होंगे, साथ ही प्रान्तीय कौन्सिलों के सदस्यों, काँग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्षों और प्रान्तीय कॉन्फ़्रेन्सों के भूतपूर्व अध्यक्षों के भी हस्ताक्षर होंगे।

अजीत सिंह को लाजपत राय के साथ जोड़ना लाला जी के साथ बहुत बड़ा अन्याय है। पिछली फ़रवरी में जब मैं लाहौर में था, अजीत सिंह ने लाला जी को कायर और सरकार-परस्त आदमी कह कर लांछित किया था। यह उन्हों ने इस लिए किया था कि लाला जी ने उन के आन्दोलन में कोई भाग नहीं लिया था।"

इस पत्र पर भीतर-ही-भीतर जाँच हुई। १६ जुलाई १९०७ को सी० आई० डी० के स्थानापन्न डायरेक्टर मि० जे० स्टीवेन्सन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा—"मेरा लाहौर का एजेण्ट कहता है कि अजीत सिंह १०० रुपये माहवार लाला जी से लेते रहे और लाला जी अपने राजनैतिक फण्ड से उन का खर्च देते रहे। लाला जी अजीत सिंह को उन के भाषणों के नोट्स बना कर भी दिया करते थे।"

यह रिपोर्ट एक गप्प थी, चारों ओर फैले वहम पर आधारित थी। लाला लाजपत राय ने अपनी 'आत्मकथा' के पृष्ठ ११९ पर स्वयं कहा है—"१९०६ में कलकत्ता काँग्रेस के समय गरम लोगों की जो मीटिंग हुई, उस में मैं जान गया था कि अजीत सिंह ने सूफ़ी अम्बाप्रसाद की मदद से भारतमाता सोसायटी की स्थापना की है और यह सोसायटी गरम पक्ष के सिद्धान्तों का प्रचार करती है। इस समय तक अजीत सिंह कई बार मेरे पास आर्थिक सहायता के लिए आये थे, पर मैं ने इस के लिए बहुत-सी शर्तें लगायी थीं, जिन्हें उन्हों ने पूरा नहीं किया।"

असल में सरदार अजीत सिंह की शक्ति का स्रोत लाला लाजपत राय जी न थे, न हो ही सकते थे। उन की शक्ति का स्रोत जनता थी। इस के बाद माजे और मालवा क्षेत्र के सरदार और कुछ राजा लोग थे। वे जलसों में एक पद बड़ी मस्ती से गाया करते थे—'माजे दे ज़ोर नाल, मालवे दे शोर नाल, असीं नहीं हारना।' इतिहास का सत्य यह है कि अपने क्षेत्र में सरदार अजीत सिंह ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को जन्म दिया,

चलाया और उसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप दिया। वे किसी की शाखा नहीं थे, एक स्वतन्त्र वृक्ष थे। वे किसी सूर्य से प्रकाश ले कर चमकने वाले चाँद नहीं थे, वे स्वयं सूर्य थे, जो प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपने आकाश में स्वयं उभरे थे।

यह १५ जून १९०७ थी। सरदार अजीत सिंह अब माण्डले के क़िले में थे। वर्मा तब भारत का एक प्रान्त था। उसे अँगरेज़ों ने बाद में अपनी कूटनीति के अनुसार १९३५ के शासन-सुधारों के समय भारत से अलग कर दिया था। १८५७ में बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र को वर्मा में ही नज़रबन्द रखा गया था। उस के बाद १८८२ में कूका विद्रोह के नेता गुरु राम सिंह को भी वर्मा में ही निर्वासन भोगना पड़ा था। बादशाह बहादुरशाह और गुरु राम सिंह ने आख़िरी साँस वर्मा में ही ली थी। बहुत बरस बाद लोकमान्य तिलक और नेता जी सुभाषचन्द्र बोस के निवास से भी माण्डले पवित्र हुआ था।

सरदार अजीत सिंह माण्डले के इसी क़िले में थे। लाला लाजपत राय उन से कुछ दिन पहले ही आ गये थे और उन्हें पुलिस के पहरे में सुबह-शाम घूमने की भी इजाज़त थी, पर सरदार जी के वहाँ आते ही क़िले में, क़िले के चारों ओर और बाहर सड़कों पर भी सख़्त पहरा कर दिया गया और सिपाही-ही-सिपाही दिखाई देने लगे। सरदार अजीत सिंह के ख़र्च के लिए सरकार ने १२० रुपये मासिक स्वीकृत किये थे और श्रीमती अजीत सिंह के लिए दस रुपये मासिक, पर परिवार के लोगों ने ये दस रुपये स्वीकार नहीं किये और लेने से इनकार कर दिया।

माण्डले के क़िले में एक साफ़-सुथरे बँगले में उन्हें रखा गया था। वे वहाँ दोनों समय व्यायाम करते थे और मस्त रहते थे। उन का अधिकांश समय संसार की क्रान्तियों में नेतृत्व करने वाले वीरों का जीवन-चरित्र पढ़ने में लगता था। ये जीवन-चरित्र बहुत प्रेरक थे। उन के मन में आया कि इन्हें अपनी भाषा के द्वारा देश की जनता तक पहुँचाना चाहिए, जिस से वह समझ सके कि आज़ादी के लिए क्या-क्या करना पड़ता है। इन सब को उन्हों ने अपनी भाषा में लिखा और जेल से छूटने के बाद 'मुहिब्बाने वतन' के नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। इस की शानदार भूमिका सूफ़ी अम्बाप्रसाद ने लिखी थी। यह पुस्तक लोकप्रिय हुई, पर सरकार ने इसे ज़ब्त कर लिया। अपनी दिलचस्प शैली और ज्वालामुखी घटनाओं के कारण ज़ब्त होने पर भी यह पुस्तक घर-घर पढ़ी गयी और बाद में जब सरदार जी ईरान में थे, तो पर्शियन भाषा में इस का अनुवाद हुआ—वहाँ भी यह घर-घर पढ़ी गयी। माण्डले जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट एक मूडी आदमी था। वह आप-ही-आप चढ़ जाता था और आप-ही-आप उतर भी जाता था। चढ़ता था तो छोटी से छोटी बात नहीं मानता और उतरता था, तो हँस-हँस कर बातें करने लगता था।

सरदार अजीत सिंह का बाहरी दुनिया से अब कोई सम्पर्क न था। किसी से भी उन्हें मिलने की इजाज़त न थी। वे घर पत्र भेज सकते थे, पर वह भी सेंसर करा

कर। घर से जो पत्र आते थे, वे जाँच-पड़ताल के बाद भी उन्हें नहीं मिलते थे। सरदार जी ने जेल अधिकारियों से कभी कोई माँग नहीं की। उन्हें कोई समाचारपत्र नहीं मिलता था। जेल अफ़सरों के अलावा कोई जेल-वार्डर भी उन के पास आता था, तो उस की तलाशी ली जाती थी। जब वह काम कर के उन के पास से लौटता था, तब फिर दुबारा तलाशी होती थी।

पुलिस के पहरे में उन्हें घूमने जाने की स्वीकृति थी। एक-दो बार वे गये भी, पर भारतीय लोग, उन्हें देख कर झुक-झुक कर नमस्कार करते थे। पुलिस उन नमस्कार करने वालों के साथ मार-पीट करती थी, इस लिए वे बाहर जाते ही न थे। भारतवासी भी पुलिस में थे, पर सरदार जी के किसी काम में उन्हें नहीं लगाया जाता था। बर्मी पुलिस के लोग ही उन के काम में लगाये जाते थे। पंजाब सरकार ने तो उन को 'भयंकर आदमी' माना ही था, सरकार-परस्त और अँगरेज़ों के अखबारों में भी उन के और उन के आन्दोलन पर बहुत ज़हर उगला जाता था। इस से माण्डले के जेल अधिकारी उन से सदा भयभीत रहते थे, पर सरदार जी का व्यवहार बहुत सन्तुलित था। वे शान्त भाव से अपनी दिनचर्या चलाते थे।

एक दिन जब वे गहरी नींद में सो रहे थे। उन्हें सपने में उन के कसूर वासी मित्र सरदार करतार सिंह दिखाई दिये। उन्हों ने कहा—"सरदार जी, आप ११ नवम्बर को छूट जायेंगे।" हमारे वंश में चमत्कारी सपनों की शृंखला रही है। सरदार जी को भी इस सपने के सच होने का विश्वास हो गया। ११ नवम्बर १९०७ को दिन में ११ बजे माण्डले के कमिश्नर ने सरदार जी को जेल के दफ़्तर में बुलाया, तो आते ही वे बोले—"मुझे मालूम है कि आप ने मुझे छोड़ने के लिए बुलाया है।" इस पर कमिश्नर चुपचाप आश्चर्य से उन की तरफ़ देखता रह गया। तब सरदार जी ने कहा—"सार्जेण्ट को बुला कर पूछिए। मैं ने बहुत दिन पहले उस से कह दिया था कि हमें ११ नवम्बर को छोड़ा जायेगा।" कमिश्नर भौंचक रह गये। सरदार जी को बाद में यह जान कर बहुत आश्चर्य हुआ कि उस सपने के कुछ दिन बाद ही करतार सिंह जी की मृत्यु हो गयी थी।

सरकारी काग़ज़ों के अनुसार ७ नवम्बर, १९०७ को भारत सरकार ने सरदार अजीत सिंह और लाला लाजपत राय को जल्दी से जल्दी छोड़ने का निर्णय किया। ११ नवम्बर को उन्हें छोड़ दिया गया, १२ नवम्बर को वही गाईड स्टीमर उन्हें प्रातः ७ बजे माण्डले से ले कर चला और १८ नवम्बर १९०७ को स्पेशल ट्रेन से वे लाहौर पहुँचे। सब भाषाओं के समाचारपत्रों की मोटी लाइनें उन के नाम के सुनहरे अक्षरों से भर गयीं। जनता में जोश का उफान आ गया। पंजाब-भर में उन के स्वागत में खुशियाँ मनायी गयीं। सरदार अजीत सिंह पहले से भी अधिक प्रसिद्धि और ख्याति ले कर लौटे। अब वे देश के हीरा हो गये, हीरो बन गये।

प्रश्न है कि खतरनाक कामों का रेकॉर्ड होते हुए भी भारत सरकार ने सरदार

अजीत सिंह को छोड़ने का निर्णय क्यों किया ? परिस्थितियों पर गहरी नज़र डालते हुए मैं सोचती हूँ कि लाला जी की निर्दोषिता तो गोखले जी के प्रार्थना पत्र से सिद्ध हो ही गयी थी। इस लिए लाला जी को रिहा करना तो अब अनिवार्य था, पर इस हालत में अकेले सरदार अजीत सिंह को नज़रबन्द रखने का अर्थ होता, उन्हें और भी अधिक प्रभावशाली बनाना, क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक-छत्र सम्राट् सिद्ध करना। यह सरकार के लिए मँहगा सौदा था, इस लिए उस ने उन्हें लाला जी के साथ छोड़ देना ही उचित समझा। इस का एक गहरा राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक कारण भी था। सरदार अजीत सिंह के किसान-आन्दोलन के सामने सरकार झुक गयी थी क्यों कि किसानों में फैली बग़ावत की लपटें सेनाओं में भी जा पहुँची थीं और वहाँ बग़ावत का धुवाँ उठने लगा था। झुकने के सिवा सरकार के पास कोई चारा न था। उस ने सरदार अजीत सिंह को किसानों से दूर किया और किसानों को ज़मीन पर मालिक के अधिकार (मिलकियत) देना स्वीकार कर लिया। इस तरह सरदार अजीत सिंह का आन्दोलन सफल हो गया और सरदार जी उस सफलता के समारोहों से दूर रहे। इस अवसर पर सरकार के विशेषज्ञों ने पूरी नीति पर दुबारा विचार किया और नया ऐक्ट ज्यों का त्यों वापस ले लिया। अब पूरी तरह किसान सन्तुष्ट थे और किसी आन्दोलन में पड़ने की उन्हें ज़रूरत न थी। इस प्रकार सरदार अजीत सिंह को अपने वातावरण में अकेले रह जाना चाहिए। वे इस स्थिति में भी किसानों को अपने साथ ले सकते हैं या नहीं, इस की परीक्षा उन्हें छोड़ कर ही हो सकती थी। सरकार ने अपनी विज्ञप्ति में कहा कि—पंचम जार्ज के राज्याभिषेक की खुशी में उन्हें छोड़ा गया है। जो भी हो, उन की रिहाई से पंजाब उफन पड़ा। उस ने उन्हें सिर-आँखों पर लिया और ऐसे शानदार प्रदर्शन हुए कि अँगरेज़ी सरकार सन्नाटे में आ गयी और उस के क्षेत्रों में एक प्रश्न खड़ा हो गया कि क्या उन्हें छोड़ना उचित था ?

दिसम्बर १९०७ के अन्त में काँग्रेस का अधिवेशन सूरत में हो रहा था। लोकमान्य तिलक के विशेष निमन्त्रण पर वे सरदार किशन सिंह के साथ सूरत गये। सूरत का यह अधिवेशन बड़ी विचित्र परिस्थितियों में हो रहा था। काँग्रेस के नरम और गरम दलों में गहरी दरार तो कलकत्ता अधिवेशन (१९०६) में ही पड़ गयी थी, पर वहाँ अधिवेशन के सभापति दादा भाई नौरोजी के सर्वपूज्य व्यक्तित्व के कारण बात निभ गयी थी। दोनों दल काँग्रेस पर कब्ज़ा करना चाहते थे, पर बहुमत नरम दल का था, नरम दल ने अपने को और भी शक्तिशाली बनाने के लिए अधिवेशन को नागपुर से सूरत में बदल दिया था। गरम दल तिलक को सभापति बनाना चाहता था, पर गोखले के नरम दल वालों ने डॉ० रासबिहारी घोष को चुन लिया। गरम दल वालों ने यह सोच कर कि लाला लाजपत राय अभी देश-निकाले से लौटे हैं, इस लिए उन का नाम सर्वसम्मति से चुना जा सकेगा, उन का नाम पेश किया था, पर लाला जी तैयार नहीं हुए।

लोकमान्य तिलक ने गरम दल वालों की अलग बैठक बुलायी और परिस्थितियों पर सलाह की। सरदार अजीत सिंह भी शामिल हुए। उन की राय थी कि प्रतिक्रियावादियों से दबना या उन्हें तरह देना ठीक नहीं है, उन से भिड़ना चाहिए। उन की दलील यह थी कि हम पंजाब में गरम आन्दोलन चला कर देख चुके हैं, जनता हमारे साथ है इस लिए हम नरम लोगों से खुली टक्कर लेंगे, तो जनता हमारे साथ होगी। तिलक बहुत प्रभावित हुए। सचाई यह कि अपने ढंग का आदमी उन्हें सार्वजनिक जीवन में पहली बार मिला था। वे सरदार अजीत सिंह पर मुग्ध हो गये, क्यों कि वे उन की आत्मा के साथी सिद्ध हुए। 'काँग्रेस का इतिहास' के लेखक डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैया ने तिलक और गोखले के विचारों की यह तुलना की है—"गोखले शासन और उस के सुधार की ओर मुख्य ध्यान देते थे, तिलक राष्ट्र और उस के निर्णय को सब से मुख्य समझते थे। गोखले का आदर्श था प्रेम और सेवा, तिलक का आदर्श था सेवा और कष्ट-सहन। गोखले विदेशियों को जीतने का उपाय करते थे, तिलक उन को हटाना चाहते थे। गोखले उच्च वर्ग और बुद्धिजीवियों की तरफ़ देखते थे, तिलक सर्वसाधारण और करोड़ों की ओर। गोखले का अखाड़ा था कौन्सिल भवन, तिलक को अदालत थी गाँव की चौपाल। गोखले अँगरेज़ी में लिखते थे, तिलक मराठी में। गोखले का उद्देश्य था स्व-शासन, जिस के योग्य भारतीय अपने को अँगरेज़ों की कसौटियों पर कस कर बनाये, तिलक का उद्देश्य था स्वराज्य, जो कि प्रत्येक भारतवासी का जन्मसिद्ध अधिकार है और जिसे वह विदेशियोंकी सहायता या बाधा की परवाह न करते हुए प्राप्त करे।"

लोकमान्य तिलक के पास राजनैतिक जीवन का जो सूत्र था, सरदार अजीत सिंह उसी के भाष्यकार थे। तिलक और सरदार अजीत सिंह ने नरम दलवालों से निपटने के लिए सरदार किशन सिंह के साथ मिल कर योजना बनायी। दूसरे दिन सभापति का चुनाव होने पर तिलक ने बोलने का समय माँगा। वे अधिवेशन को स्थगित करने की बात कहना चाहते थे, पर उन्हें समय नहीं दिया गया। तब वे अपने भाषण के अधिकार का उपयोग करने के लिए उठे और मंच की तरफ़ बढ़े। उन्हें रोकना था कि गुल-गपाड़ा मच गया और डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैया के ही शब्दों में "प्रतिनिधियों में से किसी ने एक जूता उठा कर फेंका, जो सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को छूता हुआ सर फ़िरोजशाह मेहता को लगा। तब मानो एक लड़ाई शुरू हो गयी। कुरसियाँ फेंकी गयीं और डण्डे चलने लगे, जिस से काँग्रेस उस दिन के लिए स्थगित हो गयी।"

इस वाक्य में डण्डे शब्द महत्त्वपूर्ण है और उस की जिज्ञासा है—क्या यह भारतमाता सोसायटी के चिह्न वाले डण्डे ही तो नहीं थे? इस प्रश्न का उत्तर अब कौन दे सकता है, पर दूसरे दिन गरम दल की सभा में भावविभोर हो कर तिलक महाराज ने कहा—"सरदार अजीत सिंह एक विलक्षण व्यक्ति हैं वे इस लायक़ हैं कि उन्हें स्वतन्त्र भारत का प्रथम राष्ट्रपति बनाया जाये। हमारे पास उन-जैसा कोई दूसरा

आदमी नहीं है।" तिलक महाराज ने केवल यह कहा ही नहीं, इस भावना को साकार रूप देने के लिए एक ताज भी अपने हाथ से सरदार अजीत सिंह के सिर पर रखा। यह ताज अब भी हमारे परिवार में सुरक्षित है।

सरदार अजीत सिंह भी तिलक महाराज के व्यक्तित्व से बेहद प्रभावित हुए और जब १९०८ में तिलक गिरफ़्तार हो गये, तो सरदार जी ने सूफ़ी अम्बाप्रसाद के साथ साधुओं-जैसे वस्त्र पहन लिये—इस प्रतिज्ञा के साथ कि जब तक तिलक नहीं छूटेंगे, हम इसी वेश में घर-घर आज़ादी की अलख जगाते रहेंगे।

माण्डला से लौटते ही सरदार अजीत सिंह भारतमाता सोसायटी के काम में जुट गये। भारतमाता बुक एजेन्सी लाहौर से फिर धड़ाधड़ साहित्य प्रकाशित होने लगा। 'पेशवा' नामक दैनिक पत्र दिन दुगुनी-रात चौगुनी उन्नति करने लगा। सरकारी रिपोर्ट में इसे पंजाब का सब से अधिक राजद्रोह फैलाने वाला पत्र कहा गया था क्यों कि यह बौद्धिक वर्ग की मानसिक ख़ुराक़ बन गया था। उस समय यह १५०० प्रति दिन छपता था और इस की माँग प्रतिदिन बढ़ रही थी।

इस काल का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था सरदार जी के द्वारा एक सर्वांगपूर्ण कोड की रचना। इस के द्वारा ही पत्रों को समाचार और मित्रों को सन्देश भेजे जाते थे। यह एक परिपूर्ण भाषा ही थी, पर इसे जानने वाले ही समझ सकते थे। यह कोड इतना परिपूर्ण था कि जब सरदार जी विदेश चले गये, तो इस के द्वारा उन्हों ने भारत के क्रान्तिकारियों के साथ तो सम्पर्क रखा ही, अपने अपने देश में संसार के जो लोग क्रान्तियाँ कर रहे थे, उन के साथ भी सम्बन्ध रखा और इस प्रकार यह संसार-भर की क्रान्तियों के बीच सम्पर्क का सुरक्षित सूत्र बन गया। सौभाग्य से यह कोड हमारे परिवार में सुरक्षित है।

माण्डला जाने से पहले उन्हों ने किसानों के दुःखों का लाभ उठा कर अपने गुप्त कार्य को खुले आन्दोलन (किसान आन्दोलन) का रूप दे कर जनता के जागरण का काफ़ी काम कर लिया था। अब उस तरह की परिस्थितियाँ नहीं थीं। उन्हों ने लाला हरदयाल और सूफ़ी अम्बाप्रसाद आदि के साथ सलाह कर एक दूरदर्शी और विराट् योजना बनायी। भारत की स्वतन्त्रता के लिए इस से पहले और इस के बाद भी कोई ऐसी व्यापक योजना एक ही व्यक्ति या पार्टी या संस्था के द्वारा कभी कहीं बनी है, यह कहना सम्भव नहीं है।

यह योजना देश से विदेश तक फैली हुई थी। इस का मूल आधार यह विश्वास था कि विश्वयुद्ध अवश्य होगा और भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए वही सर्वोत्तम समय होगा। योजना का मोटा रूप यह था कि देश के भीतर और विदेशों में एक साथ संगठन हो और विश्वयुद्ध आरम्भ होने पर जब अँगरेज़ उस में बुरी तरह परेशान हों, देश-भर में क्रान्ति कर दी जाये और विदेशों से भी उसे मदद मिले। इस लिए निश्चय हुआ कि लाला हरदयाल अमेरिका जायें, सूफ़ी अम्बाप्रसाद अफ़ग़ानिस्तान-ईरान जायें

निरंजन सिंह ब्राजील में जमें और सरदार अजीत सिंह को माण्डला जाने से जो प्रसिद्धि मिली है, साथ ही तिलक महाराज से उन के जो सम्बन्ध बन गये हैं, वे उन का उपयोग देश के विभिन्न क्रान्ति-संगठनों को एकता में बाँध कर उस समय भारत में क्रान्ति का संगठन करें।

भारतमाता सोसायटी के आन्दोलन की गूँज सारे देश में पहुँच गयी थी। उसे सुन कर बंगाल के क्रान्तिकारी श्री चन्द्रकुमार चक्रवर्ती सरदार अजीत सिंह के पास आये और उन्हें गुप्त संगठन में सहयोग देने लगे। सरदार जी ने उन का नाम रख दिया फ़रिश्ता जी। सहारनपुर के श्री जितेन्द्र मोहन चटर्जी (नीलाम्वर वावा) लाला हरदयाल की विद्वत्ता से वहुत प्रभावित थे और उन के शिष्य के रूप में उन के साथ काम कर रहे थे, पर लाला जी के विदेश जाने पर वे भी वैरिस्टरी पास करने इंग्लैण्ड चले गये। फ़रिश्ता जी के आने पर सरदार जी को एक अच्छा सहयोगी मिल गया और गुप्त संगठन फैलने लगा। जगह-जगह खुले जलसे करने का अपना काम भी सरदार अजीत सिंह ने जारी रखा।

एक दिन फ़रिश्ता जी का भी मन भाषण देने को हुआ। उस की कहानी श्री रामशरण दास के शब्दों में इस प्रकार है—"लाहौर-भर में ढिंढोरा पीटा गया कि ब्रेडला हाल में सरदार अजीत सिंह का भाषण होगा। वे लोकप्रिय वक्ता थे। उन का भाषण सुनने को लोग उत्सुक रहते थे। सरदार अजीत सिंह इन दिनों भी अपने भाषणों में सब-कुछ कहते थे, पर इस सफ़ाई से कि सी० आई० डी० वाले देखते रह जाते थे। उस दिन सरदार अजीत सिंह ही वक्ता थे और वे ही सभापति। उन के भाषण के बाद फ़रिश्ता जी एक अपरिचित की तरह सभापति के विना बुलाये ही भीड़ में से उठकर मंच पर आ गये और सरदार जी से विना पूछे ही अँगरेज़ी में धुवाँधार भाषण देने लगे। खूब तालियाँ वजीं, पर उन के एक वाक्य पर तो तालियों की गड़गड़ाहट से आकाश ही गूँज गया। वह वाक्य था—दि डाग ऑव इण्डिया इज़ वेटर दैन द गॉड ऑव इंग्लैण्ड—हिन्दुस्तान का कुत्ता इंग्लैण्ड के ईश्वर से श्रेष्ठ है।

फ़रिश्ता जी का भाषण सुनते-सुनते ही पुलिस-अफ़सर वेचैन हो गये और उन्हों ने उन्हें पकड़ लेने का फ़ैसला किया, पर भाषण पूरा होते ही वे कूद कर भीड़ में गुम हो गये। लायलपुर के डॉ० दीनानाथ ने उन्हें एक गिन्नी दी कि वे लाहौर से तुरन्त वाहर चले जायें और वे गुजराँवाला चले गये। सरदार अजीत सिंह ने जनता से एक अनजान आदमी की तरह कहा—"अजीव आदमी था यह कि न मुझ से इजाज़त ली, न पूछा और जो जी में आया कह गये। मेरा इन से और इन के विचारों से कोई सम्वन्ध नहीं है, पर क्या कोई वता सकता है कि ये हज़रत कौन थे?

किसी ने उत्तर नहीं दिया, पुलिस अपना ही मुँह ताकती रह गयी, पर फ़रिश्ता जी का वारण्ट निकाल दिया गया कि मिलते ही गिरफ़्तार कर लिया जाये। सरदार अजीत सिंह के कहने पर मैं (रामशरण दास) गुजराँवाला गया और सरदार जी के

आदेशानुसार वहाँ से फ़रिश्ता जी को साथ ले कर श्री अमर दास वकील के पास स्यालकोट छोड़ आया।"

इस तरह सरदार अजीत सिंह भाषणों, पेशवा अख़बार के लेखों, ट्रैक्टों और पुस्तकों के द्वारा जनता को खुले आम संगठित कर रहे थे, तो गुप्त रूप से क्रान्तिदल का संगठन भी बढ़ा रहे थे। गुप्तचर विभाग ने बहुत गरम रिपोर्ट पंजाब सरकार को भेजी। सरकार ने इस तरह केस तैयार किया कि सरदार अजीत सिंह को फ़ाँसी पर लटकाया जा सके और उन के नाम वारण्ट निकाल दिये। उन के बड़े भाई सरदार किशन सिंह सरकार के सेक्रेटरियेट की ही नहीं, गवर्नर के पेट की भी ख़बर रखते थे। उन्हों ने सरदार अजीत सिंह को तुरन्त विदेश जाने की राय दी और तैयारी में जुट गये। सरदार अजीत सिंह अपनी पत्नी को ले कर लाहौर से बंगा आ गये और तीन-चार दिन गाँव में रहे।

उन्हीं दिनों की एक घटना भगत सिंह की माता श्रीमती विद्यावती के शब्दों में— "भगत सिंह छोटा-सा था और अजीत सिंह उसे बहुत प्यार करते थे। वह भी उन्हें बहुत चाहता था। हमारे घर में एक झरोखेदार दीवार थी। भगत उस के पीछे छिप जाता और झरोखे में से अजीत सिंह को झाँक कर किलकारी मारता। वे बहुत देर तक भगत के साथ यही आँख-मिचौनी खेलते रहे। भगत की और उन की यही आखिरी मुलाक़ात थी (भगत सिंह उस समय दो साल के भी नहीं थे)।" दूसरे ही दिन वे सूफ़ी अम्बाप्रसाद आदि के साथ अपनी मातृभूमि को छोड़ कर विदेश की ओर चल दिये। यह विदाई रंग-बिरंगी थी। इस में करुणा के रंग भी थे और उत्साह का रंग भी। करुणा थी अपनों से जुदाई की, अनिश्चित भविष्य की और उस मातृभूमि से शायद हमेशा के लिए अलग होने की, जिस के लिए जीवन की सब आकांक्षाएँ समर्पित कर दी गयी थीं। उत्साह था नयी दिशाओं में क्रान्ति की ज्योति जगाने का और उस ज्योति से अपनी मातृभूमि के अँधेरे जीवन को प्रकाशमान करने का। यह १९०९ के आरम्भिक महीनों की बात है।

सरदार अजीत सिंह के भारत से चले जाने के बाद श्री रासबिहारी बोस क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता चुने गये। क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में यह पहला अवसर था, जब पूरे देश का नेतृत्व एक व्यक्ति के हाथ में आया। इस की पृष्ठभूमि सरदार अजीत सिंह अपने देशव्यापी सम्पर्क और सद्भाव से तैयार कर गये थे।

आन्दोलन अब गुप्तरूप में (अण्डर ग्राउण्ड) संगठित हो रहा था और बाहर शान्ति दिखाई देती थी। अँगरेज़ी शासन की हमेशा यह नीति रही कि वह आन्दोलन के उतार के समय उस पर पूरे ज़ोर से धावा बोलती थी। भारतमाता सोसायटी पर भी यह धावा आरम्भ हुआ।

प्रकाशित साहित्य के नाम पर २२ मुक़दमे भारतमाता सोसायटी के नेताओं पर चलाये गये। इन में सब मिला कर सरदार किशन सिंह को एक साल पाँच महीने की

सख्त क़ैद, दो सौ रुपये जुर्माना या न देने पर आठ महीने की और क़ैद ; लाला लाल-चन्द फलक को चार साल छह महीने क़ी सख्त क़ैद, पाँच सौ रुपये जुर्माना, न देने पर दस महीने की क़ैद और; जिआउल हक़ (एडीटर पेशवा) को पाँच वर्ष सख्त क़ैद; नन्द गोपाल को पाँच वर्ष सख्त क़ैद; डॉ० ईश्वरी प्रसाद को तीन वर्ष सख्त क़ैद; मुन्शी-राम को सात वर्ष सख्त क़ैद की सज़ा दी गयी। बूटा सिंह, गणेशी लाल खस्ता पर चलाये केश वापस ले लिये गये।

■ ■

सरदार अजीत सिंह :
स्वतन्त्रता की खोज में

आदमी चार दिन के लिए घर से वाहर जाता है तो सौ प्रवन्ध, हज़ार वातें सोचता है। उस को पता होता है कि वह कहाँ जा रहा है, कहाँ ठहरेगा, क्या करेगा और कव लौटेगा। फिर भी एक झमेला-सा मालूम होता है सफ़र पर जो इस तरह घर से जा रहा है कि भविष्य अज्ञात है, अवधि यात्रा की है नहीं और जिस के लिए सफ़र का अर्थ है भटकना, वह भी जाने कव तक और कहाँ से कहाँ तक, उस के मन की कैसी गति होगी ?

जव सरदार अजीत सिंह अपने साथी सूफ़ी अम्बाप्रसाद आदि के साथ उस रात घर से वाहर निकले होंगे तो उन के मन में कैसा तूफ़ान रहा होगा ? सोचती हूँ तो कलेजा मुँह को आने लगता है और दम घुटने लगता है, पर तभी मन में आता है कि ऊँचा आदर्श, और पवित्र लक्ष्य मनुष्य को इतना वल देते हैं कि वीहड़ वन भी चमन वन जाते हैं और गहरे समुद्र काग़ज़ की किश्तियों से पार करने लायक़ !

ऐसे सफ़र का पहला प्रश्न होता है—किधर से चलें, कौन-सी राह पकड़ें ? एक राह थी पेशावर होते हुए ख़ैवर का दर्रा पार कर अफ़ग़ानिस्तान पहुँचना, पर इस में वहुत ख़तरे थे। दूसरी राह थी कराची से पानी के जहाज़-द्वारा ईरान जा निकलना। उन्होंने यही राह चुनी, पर इस राह में भी तो धन की ज़रूरत थी, पास-पोर्ट आदि उपकरण आवश्यक थे। साथियों की संगठन-शक्ति अभिनन्दनीय है कि साधन जुट गये, उपकरण मिल गये। सरदार अजीत सिंह और उन के साथी ऐसे शानदार ढंग से कराची में जहाज़ पर चढ़े कि अँगरेज़ी सरकार के गुप्तचरों की नज़रें मुँदी की मुँदी ही रह गयीं। सरदार अजीत सिंह अव मिर्ज़ा हसन ख़ाँ थे।

समुद्र की छाती को चीरता जहाज़ ईरान के वन्दरगाह वुशेर जा पहुँचा और हमारे क्रान्ति-यात्री शान्ति के साथ ईरान पहुँच गये। ईरानी क्रान्तिकारी पार्टी के नेता सैयद असदुल्ला मुजतविक ने उन का दिल से ख़ैर मक़दम—स्वागत—किया। वहाँ से तुर्गिस्तान पहुँचे, जहाँ ख़ान जूरी ख़िज़ाँ ने स्वागत किया और ख़ान जमील ख़ाँ क़वीले के सरदार समाउद्दौला से मिलाया। इस का अर्थ था इस प्रदेश की सव से वड़ी शक्ति से परिचय।

वहाँ से पहुँचे शीराज़। लूट भी एक धन्धा है और उस ज़माने में उस क्षेत्र का यह एक बड़ा धन्धा था; जैसे आजकल सरहदों पर तस्करी व्यापार है। ये कई जगह लूटे गये और उस से कई गुनी जगहों पर पीटे गये। ठग इन्हें पीटते, तो यह खिलखिला कर हँसते। सरदार अजीत सिंह की प्रतिक्रिया थी—"यारो, पिटाई का स्वाद जीवन में पहली बार ही चख रहे हैं।" ये उस जीवट के प्रतिनिधि थे, जिस का अनुभव उर्दू की इन दो पंक्तियों में गूँथा गया है—

"यों तो ऐ सैयाद, आज़ादी के हैं लाखों मज़े।
दाम के नीचे तड़फने का मज़ा कुछ और है॥"

जब समाउद्दौला को यह खबर मिली, तो उन्हों ने गाँव के जत्थेदार को खबर भेजी कि इन मेहमानों का सामान वापस दिलाया जाये और समान वापस मिल गया। शीराज़ में वे इमामे-जुमा से मिले और इस्फ़हान होते हुए ईरान की राजधानी तेहरान पहुँच गये। इस सफ़र में कोई ग्यारह बार लुटाई हुई। इस सफ़र का एक बेहद मनोरंजक संस्मरण सरदार अजीत सिंह के ही शब्दों में इस प्रकार है : "इस सफ़र में एक शहजादा भी हमारे साथ था। वह कुछ बिस्किट ले कर चला था। वे लूट लिये गये और पिटाई भी हुई। वह बार-बार कहता था—मारपीट की कोई बात नहीं दोस्तो, पर तुम किसी तरह मेरे बिस्किट दिला दो। उस की यह बात सुन कर हम खूब हँसते थे।........"

तुर्गिस्तान से चलते समय सरदार अजीत सिंह और ऋषीकेश एक टोली में हो गये थे और सूफ़ी साहब और दूसरे साथी दूसरी टोली में। तेहरान में इमामे-जुमा के बेटे ने सरदार जी को डेमोक्रेटिक पार्टी के सचिव मिर्ज़ा मुहम्मद पहलवी से मिलाया और वहीं इन की मुलाक़ात हुई सैयद जमालुद्दीन तवखतीवी से, जो ईरान के प्रधानमन्त्री रह चुके थे। 'वर्क़' के सम्पादक और ईरानी क्रान्तिकारियों के नेता श्री ज़ियाउद्दीन (बाद में प्रधानमन्त्री) से भी सरदार जी की मित्रता हो गयी, जो तुरन्त ही बड़े काम की सिद्ध हुई और बाद के जीवन में भी। वहीं ईरान के विदेश मन्त्री (बाद में बादशाह) श्री रज़ाशाह पहलवी से सरदार जी की निकटता हो गयी।

ईरान उन दिनों अजीब संकट से गुज़र रहा था। उस के उत्तरी भाग पर रूस के ज़ार का प्रभाव था और दक्षिणी भाग पर अँगरेज़ों का। बादशाह कमज़ोर था, जो न रूस को कुछ कह सकता था, न ब्रिटेन को, पर क्रान्तिकारी लोग दोनों के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। सरदार जी ने फ़ारसी में 'हयात' नाम का पत्र निकाला। इस पत्र ने हिन्दुस्तान की आज़ादी के संघर्ष की हिमायत की और ईरान के हितों को भी बल दिया।

एक बार अँगरेज़ी पुलिस के किसी अधिकारी ने सरदार अजीत सिंह को पकड़ लिया, पुलिस के सर्वोच्च अधिकारी येपरन खाँ साइबेरिया के रूसी क्रान्तिकारी थे। श्री ज़ियाउद्दीन ने उन से कहा—"एक क्रान्तिकारी के द्वारा दूसरे क्रान्तिकारी को कष्ट नहीं मिलना चाहिए।" इस पर सरदार जी छोड़ दिये गये पर वे अब अँगरेज़ों की

निगाह में चढ़ गये थे, इस लिए उन का ईरान में रहना हर घड़ी खतरे में पड़ना था। वे ज़ियाउद्दीन के साथ ही ईरान से बाहर हो गये।

रस्तौव हो कर वे बाखू पहुँचे। वहाँ से सरदार अजीत सिंह टर्की पहुँचे और उभरती हुई शक्ति कमाल पाशा से मिले। ईरान के क्रान्तिकारी तुकीर ज़ँदा से उन के अच्छे सम्बन्ध हो गये। पाँच सप्ताह वहाँ रह कर वे वियेना गये और तब जर्मनी जा पहुँचे। प्रथम विश्वयुद्ध का वातावरण बन रहा था, पर सरदार अजीत सिंह समझ गये कि उस में अभी देर है। जर्मनी से वे पेरिस गये। वहाँ अध्यापन का काम करते रहे और भारतीय क्रान्तिकारी संघ की स्थापना भी उन्हों ने वहाँ की।

पेरिस से वे स्विटज़रलैण्ड पहुँचे। वहाँ का लुसेन स्थान उन्हें बहुत पसन्द आया और १९१२ तक वहीं रहे। काम था भारत की आज़ादी की टोह और रोज़ी थी श्री सैयदी असद नामक मिनिस्टर के बच्चों को पढ़ाना। लुसेन उन दिनों संसार-भर के क्रान्तिकारियों का अड्डा हो रहा था। सरदारजी ने बहुतों से मेल कर लिया। ज्यूरिच में वे लेनिन से भी मिले। मुसोलिनी से भी उन की मुलाक़ात हुई, जो उस समय विद्यार्थी ही थे।

ईरान के एक मिनिस्टर स्विटज़रलैण्ड आये। सरदारजी से वे परिचित थे। वे जर्मनी जा रहे थे। सरदारजी उन का दुभाषिया हो कर जर्मनी चले गये। जर्मनी के सर्वेसर्वा कैसर से उन की भावी युद्ध के सम्बन्ध में गहरी बातें हुईं। सरदारजी ने युद्ध के समय कैसर से एशिया की आज़ादी के लिए मदद करने की माँग की। कैसर का उत्तर था—"हम एशिया की मदद करेंगे, पर हमारी लड़ाई तो सिर्फ़ फ़्रान्स से है।" सरदार जी ने कहा—"यह कैसे हो सकता है कि आप युरॅप को रौंद दें और ब्रिटेन चुपचाप तमाशा देखता रहे। इस प्रकार आप की और ब्रिटेन की तो ठनेगी ही। इस लिए ब्रिटेन हमारा-आप का एक-समान दुश्मन है। आप हमारी मदद करेंगे तो अपने दुश्मन को शिकस्त देंगे और इस प्रकार हमारी मदद आप की भी मदद होगी।" कैसर पर उन की बात का गहरा असर पड़ा और वह उन के साथ बातचीत की गहराइयों में उतर गया।

सरदार जी ने कैसर के सामने अपनी पूरी योजना रखी कि जब युद्ध होगा तो निश्चित रूप से अँगरेज़ों के झण्डे के नीचे लड़ने वाले हज़ारों भारतीय सिपाही आप की सेना के द्वारा बन्दी बनाये जायेंगे। हम उन सिपाहियों से आज़ाद हिन्द सेना का संगठन करेंगे। आप की सेना-द्वारा टर्की का पतन होते ही हमारी सेना का रास्ता हिन्दुस्तान की ओर बढ़ने के लिए खुल जायेगा और वह हिन्दुस्तान की सरहद पर जा पहुँचेगी। सरहदों पर हमारे साथी संगठन का जो काम कर रहे हैं, उस के कारण सरहदी लोग हमारा स्वागत करेंगे। इस प्रकार सहसा प्रहार कर के युद्ध में काफ़ी टूटी अँगरेज़ी सेना को हम पूरी तरह खदेड़ देंगे।"

कैसर ने सरदार जी के उत्साह की प्रशंसा की और यह भी माना कि उन में

एक सेनापति की तरह व्यूह-रचना की अद्‌भुत शक्ति है, पर उन्हें इस बात में विश्वास नहीं हुआ कि भारतीय सेना किसी भी परिस्थिति में अँगरेज़ों के विरुद्ध युद्ध कर सकती है। इतना निश्चित है कि कैसर सरदार अजीत सिंह के काफ़ी निकट आ गये और उन्हों ने पूरी तरह मदद देने का वचन दिया। कैसर का जो मन्त्री सरदार अजीत सिंह को विदा करने आया, उस ने कहा—"हमारा कैसर माने न माने, मैं आप की बात में शत-प्रतिशत विश्वास करता हूँ।"

सरदार अजीत सिंह बर्लिन में कैसर से साठ-गाँठ पक्की कर के पेरिस आ गये। उन्हीं दिनों इंग्लैण्ड के राजा पंचम जार्ज फ़ान्स आने वाले थे। इंग्लैण्ड की विख्यात पुलिस ने रिपोर्ट की कि पेरिस में राजा जार्ज की हत्या के षड्यन्त्र की गन्ध महसूस हो रही है। विशेषज्ञों का ध्यान सरदार अजीत सिंह पर केन्द्रित हो गया। पेरिस से तंग कर के भारतीयों को खदेड़ा गया और सरदार जी को नज़रबन्द करने की बात पर भी विचार हुआ, पर वे वहाँ से स्विटज़रलैण्ड चले गये। श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा भी उन दिनों सरदार जी के साथ थे।

उन्हीं दिनों (मार्च १९१२) सरदार जी ने अपने श्वसुर श्री धनपतराय जी को जो पत्र लिखा वह उन की मनोवृत्ति और दृष्टि दोनों पर अच्छी रोशनी डालता है। उस के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

प्यारे बाबा जी महाराज, मौज बहार।

आप के चन्द मुबारिक क़लमात बन्दा तक पहुँचे। उन को पढ़ कर निहायत खुशहाल हुआ। खुदा आप का वजूद सलामत रखे। पेश अज ये कि मैं हिन्दुस्तान में आने की फ़िक्र करूँ, आप हिन्दुस्तान से बाहर दीगर मुमालिक भी देखें। आप अपनी बशीर आँखों से खुद मुलाहिज़ा फ़रमायेंगे कि दुनिया कहाँ जा रही है। मैं ने युरॅप के चन्द मुमालिक देखे हैं और अब यहाँ की वज़ ज़िन्दगी से वाक़िफ़ हूँ। अव्वल-अव्वल हरेक चीज़ आदमी के लिए गराँ नज़र आती है और इस में ज़रा भी शक नहीं कि असबाबे ज़िन्दगी युरॅप में शस हफ़्त मुकाबिल गराँ है। सद् रुपया माहवार से वाक़िफ़ आदमी युरॅप के हर शहर में ज़िन्दगी बसर कर सकता है। इस से कम बद गुज़रती है। ज़्यादा जिस क़दर किसी का दिल चाहे खर्च कर सकता है।

यहाँ दुनिया बिलकुल निराली है। अगरचे मेरे लिए कोई ग़ैरमामूली चीज़ नहीं, लेकिन मुक़ाबला करने से मालूम होता है कि यहाँ की ज़िन्दगी और मशरिकी ज़िन्दगी में बहुत फ़र्क़ है। क़ुदरत और सनअत दोनों के दस्त-बदस्त काम करने से यहाँ की ज़िन्दगी अच्छी गुज़रती है। आबोहवा बहुत अच्छी, हिफ़्ज़े सेहत के लिए हर क़िस्म के सामान मुहय्या हैं। तालीमोतदरीस व मुल्क की ज़रूरियात के मुताबिक़ हर चीज़ बाक़ायदा मुनज़्ज़म है। हुब्बे वतन की तालीम देने की अब यहाँ ज़रूरत नहीं। लोगों की रग़ो-रेशों में यह सिफ़्त दाखिल है, मगर मशरिकी पराखदिली या रूहानियत यहाँ देखने में नहीं आती। मर्दम रोज़ो-शब रुपया पैदा करने के सिवा और किसी

फ़िक्र में नहीं। अपने-अपने घर के लिए सब अच्छे हैं।

यह लोग सिर्फ़ मग़रिब ज़मीनी लोगों को ही आदम खयाल करते हैं। मशरिक ज़मीनी को इस के क़ाबिल नहीं मानते। इस के बावत उन के दिल को चोट लगे, बल्कि उन को मुसायब सुन कर खुशहाल होते हैं और अपनी खुशहाली के बेश्तर क़ायल हो कर उन के दिन को इत्मीनान हासिल होता है। नोह-परस्ती अलफ़ाज़ में है, ऐमाल में फक़त खुद-परस्ती देखी जाती है, लेकिन बावजूद इन तमाम सिफ़ात के तरक़्क़ी मादी क़ाबिले दीद है और आज़ादी की खूबियाँ इनसान यहाँ देखता है।

क़ुदरत के मन्ज़र निहायत खुशगवार है और रेलवे के सबब हर पहाड़ पर जाना आसान है। चूंकि लोग यहाँ बेशतर सफ़र करते हैं, सफ़र में राहत के असबाव भी बेशतर व बेहतर मोहय्या हैं। इनसानी ज़िन्दगी फ़क़्त इस लिए नहीं कि एक जगह तमामन बसर हो, उसे देखा चाहिए। एक चक्कर दुनिया में लगाइए। मेरे खयाल में आप इस मुसाफ़रत से बहुत महज़ूज़ होंगे।"

१९१४ में पहला विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। सरदार जी अपनी योजना में जुट गये। अँगरेज़ों की तरफ़ से भारतीयों की जो सेना मोरचों पर लड़ रही थी, उस में बग़ावत के भाव फैलाते रहे और भारत के क्रान्तिकारियों से अपना सम्पर्क जोड़ते रहे। केसर के साथ उन का हरदम ताज़ा सम्बन्ध बना रहा। अमेरिका में सरदार अजीत सिंह के साथी लाला हरदयाल ने ग़दर-पार्टी की स्थापना की थी और वहाँ कई हज़ार सिख-बन्धु भारत पहुँच कर ग़दर करने की तैयारी कर चुके थे। लाला जी ने बहुत चाहा कि इस समय सरदार अजीत सिंह अमेरिका आ जायें और ग़दर-पार्टी का नेतृत्व करने के लिए गुप्त रूप से भारत जायें। उन्हें अमेरिका लाने के लिए चन्दा दिया गया, इस का उल्लेख भी ग़दर-पार्टी के इतिहास में मिलता है, पर घटनाओं का अध्ययन करने से ऐसा मालूम पड़ता है कि सरदार जी अमेरिका जाने से अधिक अपना युरप में रहना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझते थे। एक बार लाला हरदयाल ने कुछ झुंझलाहट के साथ कहा था—"अजीत सिंह वहाँ बैठ कर अपना समय खराब कर रहे हैं।"

बात ऐसी नहीं थी, असल बात यह थी कि प्रथम विश्व-युद्ध में भारत में क्रान्ति अपने तीन रूपों में एक साथ आगे बढ़ रही थी। अमेरिका में संगठित ग़दर-पार्टी के वीर जोश में अन्धे हुए भारत पहुँच कर यहाँ की फ़ौजों को अपने साथ मिला कर आन्तरिक तूफ़ान उठाने की कोशिश कर रहे थे। क़ाबुल में राजा महेन्द्र प्रताप के राष्ट्रपतित्व में आज़ाद हिन्द सरकार क़ायम हो गयी थी। वह अपनी तैयारियों में जुटी थी। सरदार अजीत सिंह उन भारतीय सैनिकों को जो अँगरेज़ों से बाग़ी हो कर उन से आ मिले थे, या फिर जर्मन-सेनाओं के द्वारा गिरफ़्तार हो कर कैम्पों में रह रहे थे—एक आज़ाद हिन्द सेना का संगठन कर रहे थे। उन्हें आशा थी कि वे टर्की के रास्ते अपनी सेना ले कर क़ाबुल सरकार से जा मिलेंगे। इस हालत में अँगरेज़ों के छक्के छूट जायेंगे और हिन्दुस्तान आज़ाद हो जायेगा।

१९१६ के आरम्भ में ही सरदार अजीत सिंह ने भाँप लिया कि युद्ध का पासा अमरीका के मैदान में आते ही पलट जायेगा और जर्मनी की हार हो जायेगी। वे ब्राजील पहुँच कर वहीं वस गये और एक गुमनाम ज़िन्दगी जीने लगे। उन के लिए यह एक बहुत वड़ा धक्का था, पर धक्का देना और धक्का सहना ही तो क्रान्तिकारी का भाग्य है। यह वह समय है जव भारत के पत्रों में अकसर उन के मर जाने की खबरें फैल जाया करती थीं। एक बार जव ऐसी ही खबर फैल रही थी, ईरान निवासी एक अँगरेज़ महिला ने सरदार अजीत सिंह पर एक लेख किसी पत्र में लिखा। भगत सिंह ने बड़ी बुद्धिमानी से पता चला कर उस महिला को बी० एस० सन्धु के नाम से एक पत्र लिखा और उस से सरदार जी का पता पूछा। उस ने उत्तर दिया, मुझे उन का ठीक पता तो मालूम नहीं है, पर सम्भवतः वे राय डी जेनेरी (ब्राजील) में हैं। बहुत दिनों बाद उन का पत्र मिला और उस से उन का देश से और परिवार से टूटा हुआ सम्पर्क फिर जुड़ गया।

कोई १६ वर्ष वे ब्राजील में रहे। वे कुछ समय वहाँ प्रोफ़ेसर रहे, कुछ समय एक कपड़े की फ़र्म के मैनेजर रहे और कुछ समय टूथ-पेस्ट वनाने वाली एक फ़ैक्टरी में भी संचालक रहे। इन वर्षों में उन्हों ने उस क्षेत्र के तीन क्रान्तिकारी तूफ़ानों में भाग लिया और भारतीय क्रान्तिकारियों को भी संगठित करते रहे। अब फिर दुनिया के नक़्शे में नयी उथल-पुथल पैदा हो रही थी। यह कैसे सम्भव था कि दुनिया में नयी ऊष्मा पैदा हो और एक महान् क्रान्तिकारी के दिल की धड़कनों में उफान न आये? वे ब्राजील से चले और फ़्रान्स आये। यह १९३२ की बात है।

फ़्रान्स में कुछ दिन रह कर वे स्विटज़रलैण्ड चले गये, पर पेरिस की कला और स्विटज़रलैण्ड की सुन्दरता से उन्हें क्या लेना था, वे तो लोहे की तलाश में थे। उन्हें जर्मनी की ओर से हथौड़ों की ठुक-ठुक सुनाई दी। वे जर्मनी पहुँच गये। चिकित्सा के लिए वहाँ श्री सुभाषचन्द्र वोस ठहरे हुए थे। दोनों मिले। यह दो गरम हृदयों का शान्त मिलन था! फिर जर्मनी में वे काफ़ी दिन रहे और तब स्विटज़रलैण्ड लौट गये। उन्हें अपने भीतर नयी गुनगुनाहट सुनाई दे रही थी। वे उन छन्दों की तलाश में थे, जो उस गुनगुनाहट को नये गीतों में उतार दे। स्विटज़रलैण्ड से वे इटली जा पहुँचे। यह वह युग था, जब जर्मनी में हिटलर का और इटली में मुसोलिनी का सितारा दिन और रात ऊपर चढ़ता जा रहा था। मुसोलिनी से वे परिचित थे। मुसोलिनी ने उन का बहुत शानदार स्वागत किया। वे रोम में रहने लगे और नेपल्स में फ़ारसी के प्रोफ़ेसर हो गये।

संसार की राजनीति का गहरा अध्ययन कर सरदार अजीत सिंह ने १९३९ में एक लेख लिखा, जिस का शीर्षक था 'स्ट्रेटेजी ऑव प्रेजेण्ट वार'। इस का विषय यह था कि संसार में आज जो उथल-पुथल मची हुई है उस की आग किधर फैलेगी। बहुत-से आलोचकों ने उस समय इस लेख की हँसी उड़ायी थी, पर बाद में उन की भविष्य-

वाणी सच निकली और यह लेख उन की गहरी राजनीतिज्ञता का प्रमाण-पत्र हो गया। सरदार जी की प्रतिभा का एक बहुत बड़ा गुण था, किसी अपरिचित भाषा को जल्दी से जल्दी सीख लेना । उन्हों ने विदेशों में घूमते-घूमते ही लगभग चालीस भाषाएँ सीख ली थीं। इस भाषा-ज्ञान के कारण उन का अध्ययन बहुत व्यापक हो गया था और वे संसार-भर के राजनैतिक चिन्तकों के सम्पर्क में रह पाते थे। उन के चिन्तन की परिपूर्णता का यही रहस्य था, छह भाषाओं के तो वे स्वयं लेखक ही थे।

जिन दिनों दूसरे विश्व युद्ध की गरम गन्ध दूर से आ रही थी, सरदार जी संसार की नयी परिस्थितियों के अध्ययन में जुटे हुए थे। हिटलर और मुसोलिनी तपता सूर्य हो गये थे, जापान उन के साथ था, फ्रान्स में बेचैनी थी, इंग्लैण्ड चौंक रहा था। यह १९३४–३५ की बात है। अबीसीनिया के साथ लड़ाई और अबीसीनिया की हार ने मुसोलिनी को, सार प्रदेश को जर्मनी में मिला लेने की सफलता ने हिटलर को, और चीन पर चढ़ाई और इन सब बातों पर संसार की चुप्पी ने जापान को नयी तेजस्विता दे दी थी। सरदार अजीत सिंह यह सब देख रहे थे कि ३ सितम्बर १९३९ को दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो गया। सरदार जी ने मुसोलिनी को सुझाव दिया कि रोम रेडियो से हिन्दुस्तानी में एक प्रोग्राम प्रति दिन प्रसारित करने की योजना बनायी जाये। मुसोलिनी ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और उन्हें ही उस का प्रवक्ता और संचालक नियुक्त कर दिया। एक दिन भारत के लोगों ने सुना—"मैं आप का पुराना साथी अजीत सिंह रोम रेडियो से बोल रहा हूँ।" यह आवाज़ इतनी जोशीली और कड़कदार थी कि पाँच-सात दिन में ही लोकप्रिय हो गयी।

सरदार अजीत सिंह ने इस प्रकार अपने को भारतीयों के साथ खड़ा करने के बाद अपना पुराना प्रोग्राम हाथ में लिया—अँगरेज़ों के झण्डे के नीचे लड़ने वाली भारतीय सेनाओं को साथ ले कर भारत से अँगरेज़ों को भगाना। भारतीय क्रान्तिकारी श्री इक़बाल शैदायी उन के साथ थे। दूसरा विश्वयुद्ध अपने घमासान रूप में लड़ा जा रहा था। अँगरेज़ रेत की दीवार सिद्ध हो रहे थे और हिटलर अजेय चट्टान। मुसोलिनी खामोश था, पर १५ जुलाई १९४० को उस की फ़ौजों ने उत्तरी अफ़्रीका पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटिश केनिया अब उस के कब्ज़े में था। ६ अगस्त को उस की सेनाएँ ब्रिटिश सोमालीलैण्ड पर चढ़ दौड़ीं। अँगरेज़ों के लिए यह मुसीबत थी, सरदार जी के लिए बरकत। इटली के मुक़ाबले के लिए अँगरेज़ अपनी हिन्दुस्तानी फ़ौजों को उत्तरी अमरीका में लाने के लिए विवश हो गये। लार्ड बावेल की कमान में फ़ौजों ने शुरू में इटैलियन फ़ौजों को खूब पछाड़ा पर बाद में जर्मन सेनापति रीमेल की सेना के सामने आत्मसमर्पण करना ही इस का मुख्य कार्य हो गया।

वीरता की कमी इन आत्मसमर्पणों का मुख्य कारण न थी। पहला वातावरण था यह कि ये सिपाही ग़रीबी और भुखमरी के कारण फ़ौज में शामिल हुए थे। मजबूरी का यह अहसास उन्हें भावनाहीन कर देता था। फिर अफ़सरों का व्यवहार

इन के साथ ठीक न था—अँगरेज़ तो इन्हें कुछ समझते ही न थे। ये सिपाही ईराक हो कर मिस्र आये थे। ईराक की जनता ने इन्हें ख़ूब धिक्कारा कि ये वेवक़ूफ़ आदमी अपनी ग़ुलामी को मज़बूत करने का काम कर रहे हैं। एक प्रश्न बार-बार इन से पूछा गया—"तुम ऐसे ही बहादुर हो तो अपने देश से अँगरेज़ों को क्यों नहीं मार भगाते ?" गिरफ़्तारी के बाद ये लोग अनुभव करते थे कि जिन्हें दुश्मन मान कर हम लड़ने आये हैं, वे क़ैद में हम से ऐसा व्यवहार करते हैं, जो उस आज़ादी के व्यवहार से अच्छा है।

सरदार अजीत सिंह इन भारतीय सिपाहियों के लिए रेडियो से अलग कार्यक्रम प्रसारित करते थे। चोरी-चोरी सिपाही उसे सुनते थे और उन में यह आत्म-ग्लानि पैदा होती थी कि हम अपने देश के दुश्मनों को मज़बूत करने के लिए उन से लड़ रहे हैं जो हमारे देश की आज़ादी के काम में हमारे नेताओं की मदद कर रहे हैं। ख़ास बात यह थी कि अँगरेज़ लोग हिन्दुस्तानी सिपाहियों के साथ बहुत हीन व्यवहार करते थे, पर गिरफ़्तारी के बाद जर्मन सेना अँगरेज़ों और हिन्दुस्तानियों के साथ समान दरजे का व्यवहार करती थी। अँगरेज़ गिरफ़्तारी के बाद भी हिन्दुस्तानियों के साथ अपना व्यवहार हीनता से पूर्ण ही रखते थे। इस सब से यह वातावरण बन गया था कि लड़ने से गिरफ़्तार होना श्रेयस्कर है और सिपाही मौक़ा मिलते ही आत्मसमर्पण कर देते थे।

इन्हीं दिनों नेता जी सुभाषचन्द बोस क़ाबुल से सरदार जी के पास आये। सरदार जी के इटली और जर्मनी में ऊँचे सम्पर्क थे और सरदार जी के पास काम की पूरी योजना थी। दोनों में गहरा विचार-विमर्श हुआ और सरदार जी ने मुसोलिनो और हिटलर के साथ नेता जी का सम्पर्क-सूत्र जोड़ा तब नेता जी जर्मनी गये। सरदार अजीत सिंह ने लगभग एक लाख रुपया भी उन्हें काम के लिए दिया। सरदार जी के पास अनुभव और योजना का भण्डार था, नेता जी के पास उत्साह और संगठन-शक्ति का अजेय समुद्र। अब दोनों एक हो गये थे।

जुलाई १९४२ की बात है। बेन्गाज़ी के युद्धबन्दी कैम्प में यह ख़बर उड़ी कि नेता जी सुभाषचन्द बोस आ रहे हैं। लोगों में उत्साह फैल गया, पर नेता जी वहाँ नहीं पहुँचे और सरदार अजीत सिंह के साथी भारतीय क्रान्तिकारी श्री इक़बाल शैदाई वहाँ पहुँच गये। सब भारतीय युद्धबन्दियों को एक जगह इकट्ठा किया गया। श्री शैदाई ने उन के सामने देशभक्ति से भरपूर ओजस्वी भाषण दिया और देश की आज़ादी के लिए उन से सरदार अजीत सिंह द्वारा स्थापित 'आज़ाद हिन्द लश्कर' में भरती होने की प्रार्थना की। परिणाम स्वरूप अधिकांश भारतीय सैनिक लश्कर में शामिल होने के लिए तैयार हो गये।

एक-एक से पूछ कर सब सिपाहियों को दो हिस्सों में बाँट दिया गया। एक तरफ़ वे जिन्होंने लश्कर में शामिल होना स्वीकार किया था और दूसरी तरफ़ वे, जिन्होंने स्वीकार नहीं किया। दोनों को अब अलग-अलग कैम्पों में बाँट दिया गया। इटली ले जाने के लिए भी एक जहाज़ पर अँगरेज़ी क़ैदियों और लश्कर में भरती होने

से इनकार करने वालों को चढ़ाया गया, दूसरे में लश्कर में भरती होने वालों को। पहले जहाज़ में रंगभेद से काम लिया गया। अँगरेज़ अफ़सरों और सिपाहियों को जहाज़ की ऊपरी मंज़िल में जगह दी गयी और हिन्दुस्तानी अफ़सरों और सिपाहियों को नीचे की मंज़िल में। नीचे वाला तहखाना तो नरक ही था।

वेनगाज़ी से दोनों जहाज़ एक-साथ चले। दूसरे दिन अँगरेज़ी पनडुब्बी ने दोनों जहाज़ों पर तारपीडो का निशाना लगाया। समय की बात कि निशाना उसी जहाज़ पर बैठा, जिस में अँगरेज़ सवार थे। भाग्य का और भी तमाशा हुआ कि उस जहाज़ का ऊपर का हिस्सा ही उड़ गया। उस में कई सौ गोरे थे, जिन में केवल दो ही बचे। हिन्दुस्तानी सब बच गये। लश्कर में भरती होने वालों ने इस का यह अर्थ लगाया कि भगवान् ने देश की सेवा के लिए ही हमें बचाया है। लश्कर के सैनिकों को रोम ले जाया गया, जहाँ लश्कर की छावनी थी। बड़ा रोमांचकारी दृश्य था। लश्कर के फ़ौजियों ने इन नये आने वाले भाइयों का स्वागत किया। उन सब की टोपियों पर तिरंगे राष्ट्रीय बिल्ले लगे हुए थे और लश्कर की छावनी में चारों तरफ़ झण्डे ही झण्डे फहरा रहे थे। लश्कर के सैनिक ज़ोर से पुकारते—'हिन्दुस्तान,' नये सैनिक दूसरी ओर से गुँजाते —'ज़िन्दाबाद।' इस तरह बहुत देर तक 'हिन्दुस्तान ज़िन्दाबाद' के नारे गूँजते रहे।

सरदार अजीत सिंह ने आ कर इस जोश को प्यार की चाशनी में पाग दिया। उन्हों ने न तो सेल्यूट पर ध्यान दिया न नमस्ते पर। वे एक-एक सैनिक से भुजाओं में भर कर गले मिले और इतने भाव-विभोर हो गये कि उन का गला रुँध गया और आँखें डबडबा आयीं। छावनी परिवार के वातावरण में बदल गयी। न कोई सिपाही रहा, न अफ़सर, न हाई-कमाण्ड। इसी स्थिति में उन के मुँह से निकल पड़ा—"मेरे बच्चो, मैं तुम से मिल कर इतना खुश हूँ, जितना इस समय भगत सिंह से मिल कर हुआ होता। मेरे लिए तो तुम सभी भगत सिंह हो। मुझे विश्वास हो गया है कि अँगरेज़ या कोई भी अब न हिन्दुस्तान को ग़ुलाम रख सकता है, न उस का शोषण कर सकता है।" इस के बाद वे ख़ामोश हो गये।

जर्मनी में नेता जी ने 'प्राइज़ इण्डियन लिजो—आज़ाद हिन्द सेना—की स्थापना की थी। उन्हें सैनिकों की ज़रूरत थी। सरदार अजीत सिंह ने पाँच सौ सैनिक अपने पास रख लिये और बाक़ी को नेता जी के पास भेज दिया। इन पाँच सौ को नयी वर्दियाँ दी गयीं और परेड के बाद सबने यह शपथ ली।

"मैं ईश्वर के नाम पर शपथ लेता हूँ कि मैं स्वयंसेवक के रूप में 'आज़ाद हिन्दुस्तान लश्कर' में शामिल हो रहा हूँ। मैं देश की स्वतन्त्रता के लिए अपना तन-मन और धन सब कुछ न्यौछावर कर दूँगा और अपने देश की शान बढ़ाने के लिए अपने सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न करूँगा। जो कोई भी मेरे प्यारे देश पर कब्ज़ा करने के मनसूबे बाँधेगा, उस का विरोध करने में यदि मुझे अपनी जान की बाज़ी भी लगानी पड़ेगी, तो मैं परवाने की तरह हँसते-हँसते अपना प्राण न्योछावर कर दूँगा। देश के प्रति वफ़ादारी

मेरे जीवन का आभूषण होगा और देश के प्रति ग़द्दारी के अपराध में मुझे जो दण्ड दिया जायेगा, उस पर मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

'आज़ाद हिन्दुस्तान लश्कर' के सैनिकों की ट्रेनिंग आरम्भ हो गयी। यह ट्रेनिंग केवल युद्ध की ही नहीं थी, देश के इतिहास की भी थी, जिस से सैनिकों में अपने देश के लिए अभिमान और आत्मगौरव पैदा हो। लश्कर के सैनिक युद्धवन्दी कैम्पों में जा कर अँगरेज़-परस्त सैनिकों से मिलते रहते थे। वे इन से प्रभावित होते थे और इस तरह लश्कर के सैनिकों की संख्या बढ़ती रहती थी। इटली के सैनिक अधिकारी लश्कर के सैनिकों से बहुत प्रभावित थे और उन्हें इटली के सैनिकों से श्रेष्ठ मानते थे।

सरदार अजीत सिंह ने वारी रेडियो का नाम 'आज़ाद हिन्दुस्तान रेडियो' रख दिया था और वे उस पर प्रतिदिन ज़ोरदार भाषण देते थे। देश-भर में फैली भारतीय जनता और दुनिया में फैले भारतीय सैनिक उसे चाव से सुनते थे। नेता जी भी इस बीच इटली आये। 'आज़ाद हिन्द लश्कर' के काम से वे प्रसन्न भी हुए और प्रभावित भी। सरदार अजीत सिंह से उन की लम्बी बात-चीत हुई, वे जल्दी ही जर्मनी लौट गये।

सब काम ठीक चल रहा था कि युद्ध का पासा पलट गया। इटली की सेना के पैर उखड़ने लगे। उस ने चाहा कि आज़ाद हिन्द लश्कर का वह अपने हित में उपयोग करे, पर सरदार अजीत सिंह और उन के साथियों की साफ़ राय थी कि भारतीय सैनिक भारत के लिए ही लड़ेंगे, अन्य किसी के लिए नहीं। इटली वालों का खिलौना बनने से साफ़ इनकार कर दिया गया और अन्त में तो उसे भंग ही कर दिया गया और सब सैनिकों को उदेना के नज़रबन्दी कैम्प में भेज दिया गया। ८ अक्तूबर १९४३ को इटली का पतन हो गया। अब इन के लिए फिर से अँगरेज़ों के हाथों में पड़ने का डर था, पर ११ अक्तूबर को जर्मन सेना ने कैम्प को घेर कर सब को क़ैदी बना दिया और जर्मनी भेज दिया। 'आज़ाद हिन्द लश्कर' के सैनिक नेता जी की आज़ाद हिन्द सेना में जा मिले और इस तरह उस समय अँगरेज़ों के हाथ पड़ने से बच गये, पर सरदार अजीत सिंह क्या करें? वे इधर-उधर हुए, पर अन्त में २ मई १९४५ को अँगरेज़ों ने उन्हें पकड़ लिया। सभी जानते थे कि उन के लिए यह घटना मौत के मुँह में चले जाने के समान है। गिरफ़्तारी के साथ ही उन का सब-कुछ ज़ब्त कर लिया गया।

अब वे त्रास के शिविरों में जीते-जी नरक की ज्वाला सह रहे थे। त्रास सहना ही अब उन का वर्तमान दीखता था और मर जाना और मार डाला जाना ही उन का भविष्य। पर वे शान्त थे। जिस देश के लिए उन्हों ने जीवन-भर तप किया था, अपनी बरबादी के खेल खेले थे, उस के ही कुछ निवासी अब चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए उन्हें तिल-तिल जला रहे थे, सता रहे थे, और बिना गला काटे मौत की तरफ़ धकेल रहे थे। सरदार जी ने अपने एक मित्र से कहा था—"मैं मर जाऊँ, तो पत्रों में छपा देना कि मेरे दुःख झेलने और मरने का कारण इण्डियन मिलीटरी मिशन है।" ■ ■

सरदार अजीत सिंह :
स्वतन्त्रता के द्वार पर

अँगरेज़ जा रहे थे। हिन्दुस्तान आज़ाद हो रहा है, ज्यों ही देश की हवा में यह गन्ध आयी, समाचारपत्रों में सरदार अजीत सिंह की चर्चा आरम्भ हो गयी और ज्यों ही पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अन्तरिम सरकार स्थापित हुई, सरदार जी को वापस बुलाने का आन्दोलन आरम्भ हो गया। यहीं उन प्रयत्नों की कहानी भी कहना आवश्यक है जो भारत आने के लिए स्वयं सरदार जी ने समय-समय पर किये थे। भारत सरकार के गृह विभाग की फ़ाइलों से श्री फूलचन्द जैन-द्वारा तैयार की गयी टिप्पणियों के अनुसार—"१९३८ में जब सरदार अजीत सिंह स्विट्ज़रलैण्ड में पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मिले, तो उन्हों ने अपनी भारत आने की बेचैनी प्रकट की। स्विटज़रलैण्ड से सरदार जी नेपल्स गये और वहाँ से उन्हों ने ब्रिटिश सरकार से उस के (नेपल्स) के राजदूत-द्वारा भारत जाने के लिए पासपोर्ट देने की प्रार्थना की। व्यवस्था के अनुसार इंग्लैण्ड की सरकार ने भारत सरकार के गृह-विभाग को लिखा कि सरदार अजीत सिंह को पासपोर्ट नहीं, भारत के लिए विज़ा (प्रवेश-पत्र) दिया जा सकता है; यदि उन के ब्राजील वाले पासपोर्ट की मियाद कम से कम दो वर्ष की बाक़ी हो। यदि पासपोर्ट की मियाद समाप्त हो रही हो, तो विज़ा भी समाप्त समझा जाये, तब तक, जब तक कि ब्राजील सरकार उन के पासपोर्ट को फिर से नया न कर दे।"

सरदार अजीत सिंह और उन के भारतीय सलाहकारों ने ब्राजील के पासपोर्ट पर विज़ा ले कर भारत में आना स्वीकार नहीं किया, क्यों कि इस का अर्थ था यह स्वीकार करना कि सरदार अजीत सिंह एक विदेशी हैं और भारत सरकार जब चाहे उन का विज़ा कैन्सिल कर सकती है।

२० सितम्बर १९३८ में स्विट्ज़रलैण्ड में रहते हुए सरदार जी ने अपने नाम से भारत के लिए ब्रिटिश पासपोर्ट देने की प्रार्थना की। इस में उन्हों ने यह भी लिखा १९०९ के बाद अपने असली नाम का प्रयोग उन्हों ने नहीं किया और उन के सब प्रमाणपत्र आदि हसन ख़ाँ के नाम से ही हैं। उन्हों ने यह सिद्ध करने की भी कोशिश की कि वे ब्रिटिश नागरिक

रहे हैं। वे स्वयं जानते हैं कि वे ब्राजील के पासपोर्ट पर ब्रिटिश विज़ा ले सकते हैं, पर वे भारत में एक विदेशी के रूप में जाना पसन्द नहीं करते।

११ अक्टूबर १९३८ को इण्डिया-ऑफ़िस ने उन से उन परिस्थितियों की विस्तृत जानकारी माँगी, जिन के आधार पर उन्हें ब्राजील का पासपोर्ट मिला था। उन्हों ने बताया कि १९१४ में वे हसन खाँ के नाम से पर्शिया के पासपोर्ट पर ब्राजील आये और १९३२ में जब उन्हों ने युरॅप जाना चाहा, तो वह अपना रद्द हुआ पासपोर्ट दुबारा नहीं बनवा सके। इस का कारण यह था कि उस समय ब्राजील में पर्शिया का राजदूत नहीं था। तब उन्हों ने ब्राजील की सरकार से वहाँ की राष्ट्रीयता का प्रमाण-पत्र देने की प्रार्थना की। वह उन्हें उसी परिचय पर मिल गया, जो उन का पर्शिया (ईरान) के पासपोर्ट में दिया गया था कि उन का जन्म पर्शिया में हुआ है और उन के माता-पिता पर्शियन हैं।

१ अगस्त १९३९ को इण्डिया-ऑफ़िस ने उन्हें सूचित किया कि ब्रिटेन की राष्ट्रीयता और विदेशी सम्पर्क क़ानून के अनुसार ब्रिटेन का कोई नागरिक किसी दूसरे देश में जा कर वहाँ की नागरिकता के अधिकार प्राप्त कर लेता है, तो ब्रिटेन की नागरिकता का अधिकार समाप्त हो जाता है। आप इस स्थिति में हैं, इस लिए भारत आने का विज़ा सिर्फ़ ब्राजील के पासपोर्ट पर ही दिया जा सकता है, बशर्ते कि वह दो बरस के लिए मान्य हो।

सरदार अजीत सिंह ने दूसरे देशों की मार्फ़त पासपोर्ट ले लिया, जो भारत और दूसरे देशों में आने के लिए २० मार्च १९४१ तक के लिए प्रमाणित था। नवम्बर १९३९ में सूचना मिली कि उन का विज़ा जो ब्राजील के पासपोर्ट पर भारत जाने के लिए स्वीकृत था, कैन्सिल कर दिया गया है। कारण यह बताया गया कि सरदार अजीत सिंह ने अपने जाने की तारीख और वे किस जहाज़ से जाना चाहते हैं, यह बताने से इनकार कर दिया।

सरकार जिस परिणाम पर पहुँची वह इस प्रकार है—हमें सरदार अजीत सिंह के साथ एक विदेशी-जैसा व्यवहार करना चाहिए और उन्हें भारत में प्रवेश की तमाम सुविधाएँ देने से इनकार कर देना चाहिए।

भारत सरकार ने अप्रैल १९४६ में आख़िरी बार सरदार अजीत सिंह के भारत-प्रवेश पर विचार किया। उस समय वे गिरफ़्तार हो चुके थे और जर्मनी के एक कैम्प में नज़रबन्द थे। वह इसी परिणाम पर पहुँची कि उन्हें एक अवांछनीय विदेशी माना जाये और उन के भारत-प्रवेश को किसी भी हालत में स्वीकार न किया जाये।

अँगरेज़ सारी राजनीति का संचालन कर रहे थे। उन्हें मालूम था कि हम जा रहे हैं और इस दशा में सरदार अजीत सिंह को वापस करना पड़ेगा, पर वे उन के प्रति इतना कुढ़े और चिढ़े हुए थे कि वे उन्हें अपनी ही चक्की में पीस डालना चाहते थे। कूटनीति अँगरेज़ का चरित्र है। उन्हों ने जब देखा कि सरदार अजीत सिंह कैम्पों

के त्रासों से नहीं मरे, तो उन्हों ने सरदार जी को टी० बी० के अस्पताल में रख दिया। उन का उद्देश्य स्वास्थ्य नहीं था, मृत्यु थी कि उन्हें भी टी० बी० हो जाये और हम बिना हत्या किये ही इन से बदला ले सकें। रोम रेडियो से दिये गये सरदार जी के भाषण अँगरेज़ों के कानों में अब भी गूँज रहे थे।

लोकमत भारत में उग्र होता जा रहा था, पण्डित जवाहरलाल नेहरू पर समाचारपत्रों का ज़ोर तो पड़ ही रहा था, व्यक्तिगत ज़ोर भी पड़ रहा था—सरदार जी के भतीजे कुलवीर सिंह और कुलतार सिंह रोज़ उन का दरवाज़ा धमधमाते थे। अन्तरिम सरकार की ओर से ब्रिटेन की सरकार को लिखा गया कि सरदार अजीत सिंह को तुरन्त रिहा कर दिया जाये। सितम्बर १९४६ की बात है। पेरिस में विदेश-मन्त्रियों का सम्मेलन हो रहा था। उस में भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे श्री वी० के० कृष्ण मेनन। मेनन जब रूस के विदेश मन्त्री श्री मोलोतोव से मिलने गये, तो वहीं उन से आई० एन० ए० के नेता श्री गिरिजा मुखर्जी मिले। वे भी गिरफ़्तार हुए थे और तभी हाल ही में जेल से छूट कर आये थे। उन्हों ने भारत के नज़रबन्दों की हालत बतायी कि कैसे उन्हें ३०० ग्राम रोटी और बिना दूध-चीनी के एक प्याले कॉफ़ी पर २४ घण्टे गुज़ारने पड़ रहे हैं। सरदार अजीत सिंह के बारे में उन्हों ने बहुत आग्रह से कहा कि उन की हालत इतनी ख़राब है कि उन्हें जल्दी ही न छुड़ाया गया, तो उन की मृत्यु हो जायेगी। मेनन ने नेहरू जी पर ज़ोर डाला और नेहरू जी ने वायसराय पर। देश में भी उन के लिए आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। अँगरेज़ परिस्थितियों से मजबूर हुए और सरदार अजीत सिंह राक्षसी कष्ट भोगने के बाद छोड़ दिये गये—यह उन की इच्छा-शक्ति का ही फ़ौलाद था, जो अथाह घृणा, ज्वालामुखी क्रोध, नरक के त्रास और शारीरिक-मानसिक कष्टों के भयंकर आघात सह कर भी जीवित रहे।

सरदार अजीत सिंह अब मुक्त नागरिक थे। जर्मनी से वे सीधे इंग्लैण्ड पहुँचे। वहाँ जितने भी भारतीय थे, उन सब ने ही स्टेशन पर उन का शाही स्वागत किया। इंग्लैण्ड के अख़बार उन की चर्चा से भर गये। वे तुरन्त भारत आना चाहते थे, पर वहाँ रहने वाले भारतीयों ने उन्हें नहीं आने दिया, क्यों कि वे बेहद कमज़ोर हो गये थे। दो महीने वे इंग्लैण्ड ही रहे। वे जहाँ भी जाते, एक कार में वे होते, उन की रक्षा के लिए एक-एक कार उन की कार के आगे-पीछे होती कि कोई दुर्घटना न हो जाये।

मार्च १९४७ में वे कराची पहुँचे। डॉक्टर सत्यपाल, लाला केदारनाथ सहगल आदि चाहते थे कि वे सीधे लाहौर आयें, पर नेहरू जी चाहते थे कि वे पहले दिल्ली आयें। कराची में उन की तबीयत ख़राब हो गयी। वे कुछ दिन वहीं रह कर तब दिल्ली आये। उन दिनों वहाँ एशियाटिक कान्फ़्रेन्स हो रही थी। सरदार जी भी प्रतिनिधि के रूप में उस में शामिल हुए। क्रान्ति का एक जीवित सूर्य ३९ साल बाद

अपने देश में लौटा था और अब वह देख रहा था आज़ादी के उस सूर्य को, जो अरुणोदय के रूप में भारत के क्षितिज पर उग रहा है। उन्हों ने पहली अप्रैल १९४७ को देश के नवयुवकों के नाम अपना यह सन्देश प्रसारित किया—

"नौजवानाने वतन,

४० साल के दराज़ अरसा के बाद हिन्दुस्तान में आ कर आप को मुख़ातिब करने का मौक़ा मिला है। दुनिया-भर के मुमालिक में नौजवान अपनी क़ौमी आज़ादी के हसूल और बरक़रारी के लिए अपनी जानें क़ुरबान करते चले आये हैं। ऐसी क़ुरबानियों से अवाम में ज़िन्दगी पैदा हुआ करती है और उन का नाम रौशन हुआ करता है। हिन्दुस्तान में समाजी और सियासी इनक़लाबात की सख़्त ज़रूरत है और यह मुश्किल काम हम लोगों ने इस सदी के आगाज़ में शुरू किया, जिस की तकमील का इनहसार आप लोगों पर हैं।

आज़ादी हासिल करने और उसे बरक़रार रखने के लिए जाँबाज़ और बहादुर नौजवानों की ज़रूरत है। मेरी यह ख़्वाहिश है कि हिन्दुस्तान के नौजवान शहीद भगत सिंह और उस के साथियों की तरह क़ुरबानी के पुतले बनें, जो इनक़लाब-ज़िन्दाबाद के नारे बुलन्द करते हुए अपनी अजीज़ जानें इनक़लाब की ख़ातिर निसार करें।

ऐ हिन्दी नौजवानो! अपने मुल्क की ज़हालत और फ़ाक़ाक़शी को दूर करने का इज़्म-बलजिज़्म (इरादा और मज़बूत इरादा) करो। हर वक़्त और हर जगह अपने अजीज़ वतन की इज़्ज़त व ऐहतराम (पवित्रता) को मद्दे-नज़र रखो। हसूले इल्म (ज्ञानप्राप्ति) में इस क़दर कोशिश करो कि माहिर (विशेषज्ञ) बनो और मुक़म्मल इनसान बन कर अपनी क़ौम का नाम रौशन करो। अपने मुल्क के उन शहीदों को कभी मत भूलो, जिन्हों ने वतन की शान की ख़ातिर देश के अन्दर और बाहर भारतमाता के नाम पर अपनी जानें क़ुर्बान कीं। उन के नक़्शे-क़दम पर चलो, क्यों कि शहीदों की अमवाल (मौतें) कौमी हयात (जातीय जीवन) का बायस (कारण) हुआ करती हैं।

फ़िरकेदाराने झगड़ों से बचो, जो मुल्क की तरक़्क़ी के रास्ते में रोड़े बन रहे हैं। अपने वक़्त को क़ौम के लिए मुफ़ीद और ठोस कामों में शर्फ़ (ख़र्च) करो। मज़ाहब (सम्प्रदाय) और इखलाक (नैतिकता) की हक़ीक़त को समझते हुए नोहे-बशर (प्राणीमात्र) की खिदमत को अपना मक़सदे हयात (जीवन का लक्ष्य) बनाओ। तमाम दुनिया एक नये दौर से गुज़र रही है। अगर हमारी तरफ़ से इस वक़्त सुस्ती और गफ़लत का इज़हार हुआ तो कई मंज़िलें पीछे रह जाने का एहतमाल (ख़तरा) है।

वक़्त मुतवातर (लगातार) गुज़रता जाता है और वह किसी का इन्तज़ार नहीं करता। हमारे मुल्क को एक सुनहरी मौक़ा मिला है। आज़ादी हासिल करने की सहूलियतें मुयस्सर (प्राप्त) हैं। ज़माने के हालात मुआफ़िक़ हैं। इस अहम मौक़े पर आप लोग यह अहद (प्रतिज्ञा) करें कि शख़्सी ऐहज़ान (व्यक्तिगत दृष्टिकोण)

और मुफ़ाद (लाभ) को वतने-अजीज़ (प्यारे देश) के लिए क़ुरवान किया जायेगा। हर काम में खुद मिसाल बनने की कोशिश करो। जब तक हिन्दुस्तान से जहालत (अज्ञान) नादारी (अभाव) और भूख दूर न हो, अपनी जद्दोजहद मत तर्क करो।

अपने फरायज़ को अदा करते हुए हयाते अब्दी (अमर जीवन) हासिल करो।

ज़िन्दावाद एनकलाव !"

क्या लगता है कि यह एक बूढ़े, बीमार और पस्त आदमी की आवाज़ है ? इस पर कौन हाँ कहेगा ? यह तो एक उफनते हुए युवक की ही वाणी है। ठीक भी तो है, जिस की आत्मा हर क्षण नये संघर्ष के लिए तैयार है, वह बूढ़ा क्यों और कहाँ होगा ? सरदार अजीत सिंह जब १९०९ में देश से गये एक योद्धा थे और १९४७ में जब लौटे, तो भी एक योद्धा ही थे।

सुश्री मनुबहन गान्धी की क़लम से उन्हीं दिनों का एक चित्र—"सारी परिषद् (एशिया कॉन्फ़्रेन्स) बहुत ही ऐतिहासिक थी। प्रत्येक देश का झण्डा, प्रतीक और भौगोलिक रंग-बिरंगे नक़्शे आकर्षक ढंग से लगाये गये थे। देश-देश के स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी पोशाक़ में मौजूद थे। उन सब के बीच बापू जी आये। बापू जी ही सब से बूढ़े थे। यह लाल क़िला भी ऐतिहासिक है। महाभारत का स्मरण मानो फिर से ताज़ा हो रहा था। हज़ारों की भीड़ इस पुराने क़िले में इकट्ठी हुई थी। उन के बीच खुले शरीर, घुटनों से ऊपर की धोती पहने, बापू जी जब मंच पर आये, तब सब ने खड़े हो कर तालियों की गड़गड़ाहट से उन का स्वागत किया। बापू जी के चेहरे पर ऐसी तेजस्विता फैली हुई थी कि उसे देख कर क्षण-भर को रोमांच होता था। उसी समय श्रीमती सरोजिनी नायडू ने अपने 'बुलबुल'-जैसे मीठे स्वर में घोषणा की—"हमारे राष्ट्रपिता पधारे हैं।" श्रीमती नायडू को जो पुतलियाँ भेंट की गयी थीं, वे उन्हों ने बापू जी को भेंट कर दीं। हज़ारों की संख्या में सारा मण्डप गूँज उठा।"

इसी दिल्ली का, इन्हीं दिनों का यह चित्र क्या इस से कम मर्मस्पर्शी है—तीन पूरी दशाब्दियों और आठ वर्षों की जलावतनी के बाद सरदार अजीत सिंह भारत लौटे थे और पण्डित जवाहरलाल नेहरू के मेहमान थे। सरदारनी जी (श्रीमती हरनाम कौर) भी उस दिन पंजाब से चल कर दिल्ली आ गयी थीं। हमारे देश के इतिहास का सब से लम्बा और कड़वा वियोग संयोग में बदल रहा था। दोनों आमने-सामने थे। परिवार के लोग सरदार जी को चाचा जी—चाचा जी पुकार रहे थे, पर चाची जी अजनबी की तरह उन्हें देख रही थीं—कौन हैं ये ? वे ही हैं ये ? लगते तो नहीं ? सब कह रहे हैं ये वे ही हैं, पर मन में विश्वास तो नहीं होता ? घर वाले किसी धोखे में तो नहीं फँस गये ? अँगरेज़ों की धूर्तता का यह कोई मायाजाल तो नहीं ? ये वे ही हैं, तो वैसे क्यों नहीं लगते ? मैं क्या करूँ हे भगवान् ?

उन का मन अविश्वास, सन्देह और विश्वास की धूप-छाँह हो रहा था और उन के भाव उन के चेहरे पर नाच रहे थे, आ-जा रहे थे। पढ़ कर, सुन कर हँसी आती है,

और सरदार जी हँस ही पड़े—"देखो लड़को, तुम्हारी चाची मुझे पहचानती ही नहीं।" पर इस अविश्वास की जड़ कहाँ है ? विदाई के समय श्रीमती हरनाम कौर ने सरदार अजीत सिंह का जो स्वरूप देखा था, चालीस साल तक रात-दिन वे उसी का ध्यान करती रही थीं। वह स्वरूप चित्र वन कर उन के रोम-रोम में खुद गया था और अव जो स्वरूप उन के सामने था, वह उस चित्र से दूर पार भी मेल नहीं खा रहा था। सन्देह का उपाय है परीक्षा। वे परीक्षा पर उतर आयीं। उन्हों ने पुराने रिश्तेदारों के नाम पूछे, स्थान पूछे, घटनाओं की जाँच-पड़ताल की। सरदार जी ने हँस-हँस कर सब का जवाव दिया। अविश्वास के लिए अव गुंजायश न थी, पर विश्वास का पौधा भी जड़ न पकड़ रहा था। मन का यह अन्तर्द्वन्द्व एक छोटे वाक्य में समा गया—"ठीक है, वही होंगे।" मतलव यह कि आज का चित्र चालीस साल वाले चित्र के मुक़ावले फ़ीका ही रहा, चमकदार न हो सका। वे चार-पाँच दिन दिल्ली रह कर घर लौट गयीं। जर्जर संयोग से वह अजर वियोग अधिक शक्तिशाली निकला !

हम तुम मिले न थे, तो जुदाई का था खयाल,
अव यह मलाल है कि तमन्ना निकल गयी !

मैं ने जब से ज़रा-ज़रा होश सँभाली थी, तभी से वापू जी (सरदार अजीत सिंह) का नाम वार-वार सुना था। परिवार में अक्सर उन की चर्चा होती थी। चर्चा की इस माला में उन की वीरता के पुष्प गुँथे रहते थे। वीरता का वखान करते समय मनुष्य की वाणी में एक खास तरह का जोश उमड़ आता है। वह जोश उस वीर के भावना-चित्र को और भी अधिक चमका देता है। मेरे वालक-मन पर घर में उन की चर्चा सुन कर जो भाव-चित्र वना था, वह भी अनेक रंगों से चित्रित था और यह रंग खूब चमकदार थे।

यह चमक कितनी गहरी थी, इस का पता तव लगता था जव कभी-कभी उन की मृत्यु की अफ़वाह उड़ जाती थी। घर का वातावरण इस से दुःख में डूव जाता था, रोना-धोना मच जाता था। मैं ने उन्हें कभी देखा न था। देखती ही कहाँ ? उन के विदेश चले जाने के एक दशाब्दी वाद मेरे पापा जी का जन्म हुआ था। फिर भी मेरा नन्हा मन दुःख से भर जाता था। इस भावना ने मेरे मन को पारिवारिक सम्बन्ध से अधिक एक विशेष अनुरक्ति के साथ उन से वाँध दिया था।

उस दिन परिवार में एक विशेष चहल-पहल थी, खुशी का रंगीन वातावरण था, उत्सुकता और उत्साह की गन्ध सव जगह फैली थी। सरदार अजीत सिंह दिल्ली से लाहौर आ रहे थे और हम सव भी लाहौर पहुँच गये थे। उस समय का जो पहला चित्र मेरे मन पर अंकित है, वह लाहौर स्टेशन का है। वहाँ इतनी भीड़ थी कि तिल-भर भी जगह खाली न थी। मेरी उस नन्हीं-मुन्नी ज़िन्दगी ने स्टेशन तो वार-वार देखे थे, क्यों कि मैं ने अपने पापा जी के प्रथम दर्शन जेल में ही किये थे। वाद में भी उन से मिलने को जेल जाने के लिए रेल-यात्रा का क्रम वन रहा था, पर स्टेशन पर ऐसी भीड़

तो मैं पहली बार ही देख रही थी। भगत सिंह के शहीदी दिवस की भीड़ मैं ने देखी थी, पर आज की भीड़ तो उमड़ी पड़ रही थी।

तभी गाड़ी धड़धडाती हुई प्लेटफ़ॉर्म पर आ गयी। दुवले-पतले, सफ़ेद चिट्टे एक बूढ़े इन्सान को सव ने एक डिव्वे के दरवाज़े पर खड़े देखा। यही थे वीरों के वीर, राष्ट्र के प्रथम क्रान्तिकारी, लगभग चार दशाब्दियों की जलावतनी भोगने वाले और दोनों विश्व-युद्धों में अँगरेज़ों के विरुद्ध युद्ध करने वाले अजीत सिंह। प्लेटफ़ॉर्म 'सरदार अजीत सिंह ज़िन्दावाद' और 'सरदार भगत सिंह ज़िन्दावाद' के नारों से गूँज उठा और लोगों ने उन्हें हारों से लाद दिया। वे उस समय कितने सुन्दर लग रहे थे!

तब तो मैं क्या सोचती, पर वाद में मैं ने वहुत बार सोचा है कि जनता उन की जय वोल रही थी, यह तो स्वाभाविक ही था, पर उन के साथ वह सरदार भगत सिंह का नाम क्यों जोड़ रही थी? क्या इस लिए कि भगत सिंह उन के भतीजे थे? इस पर हाँ कहने में कोई तुक नहीं है। फिर जनता के मानस में उन के साथ भगत सिंह का जोड़ कैसे वैठ गया था? हमारे इतिहास का यह सत्य है कि सरदार अजीत सिंह जव राष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हुए, देश में एक तरफ़ काँग्रेस का आन्दोलन था, तो दूसरी तरफ़ आतंकवाद के धड़ाके थे, पर न उन्हों ने उस आन्दोलन का ही झण्डा उठाया, न पिस्तौल के घोड़े पर ही उँगली रखी। इन दोनों से अलग उन्हों ने क्रान्ति का एक नया पौधा रोपा, सींचा और पनपाया। इस के साथ ही हमारे इतिहास का यह एक आश्चर्य है कि वह आन्दोलन वरावर सवल होता गया और आतंकवाद के धड़ाके भी ताक़त पकड़ते रहे, पर उन के भतीजे भगत सिंह ने उस आन्दोलन के प्रवाह को एक वार छू कर ही छोड़ दिया और उस आतंकवाद को अपने व्यक्तित्व का वल दे, क्रान्ति की उस धारा में वदल दिया, जिसे सरदार अजीत सिंह अधूरा छोड़ गये थे। इतिहास के इसी चौराहे पर सरदार अजीत सिंह और भगत सिंह एक हैं, एक चित्र के दो पहलू हैं। क्या जनता सरदार अजीत सिंह और भगत सिंह को एक साथ जोड़ते समय दोनों की इस एकता को जान रही थी? जनता में एक ओर एक दो की स्पष्टता भले ही न हो, पर उस की सहज चेतना वहुत प्रवल होती है। यह उस की सहज चेतना ही थी, जो उस से 'सरदार अजीत सिंह ज़िन्दावाद' के साथ 'सरदार भगत सिंह ज़िन्दावाद' का नारा लगवा रही थी। कितनी गहरी और सूक्ष्मदर्शी होती है जन-चेतना? तभी तो लोकमत के रूप में यह प्रजातन्त्र का आधार वन पाती है।

फिर तो लाहौर में जलसे-जुलूसों की बाढ़ आ गयी। कितना सम्मान वरसा रहे थे लोग सरदार जी पर? वलिदान और वीरता जन-मानस के सव से वड़े आकर्षण हैं। जनता को उस का खोया वलिदानी वीर फिर से मिला, तो वह उमंग से भर गयी। वे वड़े जोश से वोलते थे, उन के भाषण तो मैं तव क्या समझती, पर लाहौर के एक जलसे में श्वेत वस्त्रों से सुसज्जित चुस्त लड़कियों ने उन के स्वागत में जो गीत गाया

था, उस की ये पंक्तियाँ मुझे आज भी याद हैं—

जय हिन्द, जय हिन्द, जय हिन्द,
शूरवीर वीर बन, देश को आज़ाद कर,
जान को क़ुरवान कर, देश को वचाये जा,
गाये जा-जय हिन्द, जय हिन्द, जय हिन्द !

उन्हो दिनों का एक संस्मरण लाला जसवन्तराय जी (सम्पादक 'पंजावी' के रूप में जिन्हें एक लेख पर जेल हुई थी और वाद में जिन्हों ने व्यापार-व्यवसाय में वहुत उन्नति की) के शव्दों में—"लाहौर के उस जलसे में बहुत भारी हाज़िरी थी। सरदार अजीत सिंह के स्वागत में जुड़ा था यह जलसा। इत्तफ़ाक़ से उन दिनों मैं भी लाहौर में था। मैं भी जलसे में पहुँचा, पर मैं मंच की तरफ़ वढ़ ही रहा था कि सरदार जी भाषण देने को उठ खड़े हुए। मैं अपनी जगह ही ठहर गया। खड़े होते ही सरदार जी की निगाह मुझ पर पड़ी। कमाल है उन की याद और कमाल है उन की इंसानियत कि उन्हों ने देखते ही मुझे पहचान लिया और विना एक भी शव्द कहे मंच से सीधे मेरे पास आ कर मुझे गले लगा लिया। मुझे इस जलसे की भीड़ देख कर भारतमाता सोसायटी के जलसों की भीड़ याद हो आयी। मेरा सौभाग्य है कि उस ज़माने में मुझे भी देश का थोड़ा वहुत काम करने का मौक़ा मिला। मैं लाला लाजपत राय का साथी था, जो नरम थे और देखभाल कर काम करते थे, पर सरदार जी तो खुद आग से ही खेलते थे, इस लिए उन के जलसों में वेहद भीड़ रहती थी।"

चार-पाँच दिन दिल्ली रह कर श्रीमती हरनाम कौर वंगाल चली गयी थीं। सरदार जी लायलपुर गये, तो वे आ कर मिलीं और फिर गाँव लौट गयीं कि वहीं सरदार जी का स्वागत करेंगी। वाजे थे, भीड़ थी, वन्दनवारें थीं, सारा गाँव सजाया गया था पर गरमी की अधिकता के कारण तवीयत खराव हो जाने से सरदार जी गाँव न पहुँच सके। श्रीमती हरनाम कौर के मन को इस से ठेस पहुँची, वे नाराज़ हो गयीं। सरदार अजीत सिंह स्वास्थ्य के लिए डलहौज़ी पहुँच गये। सब के वहुत वार कहने और उन के वार-वार लिखने पर वे डलहौज़ी आ गयीं। लगभग ४० साल तक क्रान्ति का वनजारा रहने के वाद सरदार जी अव अपनी गृहस्थी में थे और चालीस साल का एकाकीपन भोगने के वाद श्रीमती हरनाम कौर अब भरपूर जीवन जी रही थीं, पर मैं ने अकसर सोचा है—कैसा-कैसा लग रहा होगा दोनों को ? जो जीवन लगभग आधी शताब्दी तक नहीं मिला था, वह अव प्राप्त था, जो इतने दिनों खोया रहा था, वह अव उन का अपना था; पर क्या वे सुखी अनुभव कर रहे होंगे अपने को ? मैं मर्माहत हो जाती हूँ, मेरी अनुभूतियाँ कटे हुए जानवर की तरह तड़पने लगती हैं, यह सोच कर कि—ना, परिपूर्णता नहीं, उन दोनों को अपना यह जीवन कुछ अजीव-सा, कुछ लदा हुआ-सा लगता होगा। इतने दिनों अपने खास ढंग में जीते-जोते वही ढंग उन का अपना जीवन वन गया था, वही अब उन के लिए स्वाभाविक था और अब वे जो जीवन जी

रहे थे, वह अस्वाभाविक था। मेरे कलेजे में काँटा-सा चुभ जाता है, जब मैं सोचती हूँ कि सचाई यह है कि आधी शताब्दी की चोटों से उन की जीवन-मशीन में लगा सुख की अनुभूति का यन्त्र ही टूट गया था—भरपूर जीवन के आनन्द का अनुभव करना उन के लिए सम्भव ही न था। पुराने भवन की मरम्मत हो सकती है, पर टूट कर गिर पड़ा भवन मरम्मत से फिर कहाँ खड़ा हो सकता है? विश्व की क्रान्ति के इतिहास में उस रक्त का लेखा वड़ी सावधानी से रखा गया है, जो क्रान्ति के लिए वलिदान हुआ, पर उस ने भावनाओं के वलिदान का लेखा-जोखा कहाँ रखा है?

यह सव हो ही रहा था कि राष्ट्रीय मंच का परदा वदल गया, नया दृश्य सामने आ गया। सरकार ने घोषणा कर दी—१५ अगस्त १९४७ को अँगरेज़ी राज्य भारत के बँटवारे के साथ समाप्त हो जायेगा और भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा। इस घोषणा का सरदार जी पर क्या प्रभाव पड़ा? वे गम्भीर हो गये, वेहद गम्भीर। दो-तीन दिन के चिन्तन के वाद एक वाक्य उन का मुहावरा हो गया—"न जवाहरलाल देख रहा है, न जिन्ना, दोनों तरफ़ ख़ून की नदियाँ वह जायेंगी। मैं भला उसे कैसे देख सकता हूँ? ना, मैं उसे नहीं देखूँगा, मैं चला जाऊँगा।"

औरों ने सुना तो समझा कि ये फिर विदेश जाने की वात सोच रहे हैं, पर श्रीमती हरनाम कौर ने सुना तो एक विजली-सी खिंच गयी उन के रोम-रोम में—"ये फिर चले जायेंगे', इस विचार ने उन के टूटे अनुभूति यन्त्र को जोड़ दिया और उन्हों ने संयुक्त जीवन के आनन्द की फुंहार महसूस की। उन की सूखी खाल जैसे पहली वार चिकनी हो गयी, उन का रूखा मन जैसे लहलहा उठा—"नहीं जी, अव कहाँ जाना है।"

सरदार जी का मुहावरा दो-तीन दिन में वदल गया—"जिस आज़ादी के लिए मैं ज़िन्दगी-भर जूझता रहा, उसे विना देखे, मैं कैसे जा सकता हूँ?" श्रीमती हरनाम कौर ने सुना, तो उन्हें लगा कि यह मेरी विजय है, सरदार जी अव कहीं नहीं जा सकते। उन्हें लगा कि आज उन का जीवन कृतार्थ हुआ है। सीता के तप को राम ने आज पहली वार स्वीकृति दी है। उन्हें जीवन की परिपूर्णता का ऐसा वोध हुआ, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। उन का वोल मीठा हो गया, हृदय मीठा हो गया, दृष्टिकोण आशा-वादी हो गया, उन्हें लगा उन की उम्र वढ़ नहीं, घट रही है।

यह आ गया १४ अगस्त १९४७। सरदार जी वहुत खुश थे, सरदारनी भी वहुत खुश थीं। उस घर में उस दिन जैसे एक नये दाम्पत्य का उदय हुआ था। दोनों ने उस दिन नये कपड़े वदले, नया रूप लिया। सरदार जी में उस दिन वेहद स्फूर्ति थी, सरदारनी भी प्रसन्न थीं। उन का ही नहीं, उस दिन उस कोठी का ही काया-कल्प हो गया था। दिन-भर मिलने वालों की चहल-पहल रही, खुशियाँ अठखेलियाँ करती रहीं। सरदार जी अतीत की स्मृतियों के पन्ने पलटते रहे, सरदारनी जी अतीत की स्मृतियों को विस्मृति के गर्त में फेंकती रहीं। उन के सामने अव अन्धकार भरा अतीत नहीं, प्रकाश-

पूर्ण भविष्य था। सोचती हूँ, जीवन-भर कल्पना ही उन का जीवन रही !....

१४ अगस्त १९४७ की शाम आयी। सरदार अजीत सिंह पाकिस्तान की स्वतन्त्रता के समाचार वहाँ के रेडियो पर सुनते रहे। रात हुई, पर वे सोये नहीं, १२ बज गये, उन का रेडियो खुला था। वे भारत की स्वतन्त्रता के समारोह का आँखों-देखा हाल सुनते रहे। लॉर्ड माउण्टबेटन का भाषण उन्हों ने बहुत ध्यान से सुना। भारत अब स्वतन्त्र था। उन का यज्ञ पूर्ण हो गया था। वे पूर्ण प्रसन्न थे, पूर्ण स्वस्थ थे, जैसे बीमारी उन्हों ने कभी देखी ही न हो।

खुशी-खुशी वे सो गये। अभी चार भी नहीं बजे थे कि वे जाग गये और उन्हों ने सब को जगाया। बोले—"मेरी जिन्दगी का मक़सद पूरा हो गया, अब मैं जा रहा हूँ।"

"कहाँ ?" सरदारनी ने हँस कर पूछा। सरदार जी ने अपनी बात किसी और से कही—"लो, मेरा आखिरी बयान लिख लो। दुनिया-भर में मेरे दोस्त फैले हुए हैं। वे शिकायत करेंगे कि बिना हम से कुछ कहे ही चला गया।"

सुन कर वातावरण गम्भीर हो गया। उन के डॉक्टर को बुलाया गया। देख कर उन्हों ने कहा—"सरदार जी एकदम ठीक हैं।" अलग बुला कर उन्हों ने कहा—"सरदार जी बूढ़े हो चुके हैं, कमज़ोर भी काफ़ी हैं, जीवन-भर इन्हों ने बहुत मुसीबतें झेली हैं। ऐसी हालत में किसी वहम का हो जाना स्वाभाविक है। बयान न लिखना। इन के मन में मरने की बात जम गयी तो हार्ट फ़ेल हो सकता है।"

डॉक्टर साहब यह कह कर चले गये, टालमटोल की गयी, बयान नहीं लिखा गया। वे बोले—"तुम लोगों की नज़र में मेरी राय ग़लत है और डॉक्टर की राय ठीक है। खैर मत लिखो, दुनिया के लोग तुम्हारी ही शिकायत करेंगे।"

उन्हों ने सरदारनी को बुलाया। वे सोफ़े पर पैर लटकाये बैठे थे। सरदारनी सामने आ खड़ी हुईं। हाथ जोड़ कर सहज स्वर में बोले—"मैं ने तुम से शादी की थी। तुम्हारी सेवा करना मेरा फ़र्ज़ था, पर मैं भारतमाता की सेवा में लगा रहा। कुछ भी हो, क़सूर तो हुआ ही।" उन का स्वर गम्भीर हो गया। बोले—"सरदारनी, मुझे माफ़ कर देना।" और उन्हों ने झुक कर दोनों हाथों से श्रीमती हरनाम कौर के दोनों पैर छू लिये।

वे चौंक कर पीछे हटीं। सरदार जी ने अपने दोनों पैर ऊपर किये, एक ओर तकिये से लग, पैर फैलाये, ज़ोर से पुकारा 'जय हिन्द' और वे जीवन-मुक्त हो गये।

स्वतन्त्र भारत की पहली उषा ने सूर्य के आगमन की पहली घण्टी बजायी, तो उस आवाज़ के साथ ही सरदार जी की मृत्यु की खबर चारों ओर फैल गयी और डलहौजी के वे सब लोग जो स्वतन्त्र भारत में सरदार जी का भाषण सुनने के लिए एकत्र होने वाले थे, दुःख के आँसुओं में डूबे उन की अरथी के पीछे चले।

सोचती हूँ ऐसी स्वेच्छा-मृत्यु पौराणिक वीर भीष्म के बाद क्या इतिहास में कहीं कभी और भी किसी को प्राप्त हुई ? सचमुच सरदार अजीत सिंह हमारे राष्ट्र की क्रान्ति के भीष्म ही तो थे। ■ ■

आशा-निराशा की धूप-छाँह : श्रीमती हरनाम कौर

- वे अकेली थीं, एकदम अकेली, पर उन के साथ हरदम एक दिव्य-पुरुष रहता था।
- उन के जीवन के सब दीप बुझ गये थे, पर उन के अँधेरे घुप्प जीवन में एक ज्योति सदा जलती रहती थी।
- यह दिव्य पुरुष था उन का निर्वासित क्रान्तिकारी पति सरदार अजीत सिंह, जो उन से हज़ारों मील दूर था।
- अन्धेरे जीवन की यह लोथी प्रतीक्षा, वे आयेंगे, कब आयेंगे ?
- वर्षों की गाँठ लगाते-लगाते उन का तन बूढ़ा हो गया था—उस ने दुनिया देख ली थी, पर उन के मन ने देखा था विवाह, विवाह का सुख न भोगा था, इस लिए वह विवाह के वातावरण में ही ठिठक गया था, आगे न बढ़ा था, अभी उसी उम्र में जी रहा था, आकांक्षा से परिपूर्ण हो कर।
- वे अपने क्रान्तिकारी पति के विश्वव्यापी यश-साम्राज्य की साम्राज्ञी थीं, देश-भर के लिए वन्दनीय, पर अपने वातावरण में एक अभागी ही।
- वे एक साथ कैलाश का प्रकाशमान शिखर भी थीं, पृथ्वी का अँधेरा खण्ड भी : क्या ज़िन्दगी थी श्रीमती हरनाम कौर की कि स्मरण कर सब का सिर झुके, पर वैसी ज़िन्दगी जीने की कोई आकांक्षा न करे।

वह पागलपन का युग था। खूब पागल पैदा हुए उस युग में। पागल अपने हित की कोई बात नहीं सोचता, और अपने सिवा किसी की ओर ध्यान नहीं देता। वह अपनी बातों में इतना डूब जाता है कि उसे अपना भी ध्यान नहीं रहता। उसे न किसी की प्रशंसा प्रभावित करती है, न निन्दा। वह अपनी ही राह चलता है, अपनी ही नींद सोता है, अपनी ही जाग जागता है। कोई उसे समझदारी का पाठ पढ़ाना चाहता है, तो उस का उत्तर होता है—

> "इन्हीं बिगड़े दिमाग़ों में घनी खुशियों के लच्छे हैं,
> हमें पागल ही रहने दो, कि हम पागल ही अच्छे हैं।"

उस की कोई व्यक्तिगत चाह नहीं होती और एक मात्र चाह होती

है यह कि सब पागल हो जायें, कोई समझदार न रहे। श्रीमती हरनाम कौर के पिता भी एक पागल थे और उन के पागलपन का ही एक नमूना है, यह, कि उन्हों ने अपनी बेटी, 'हरि' के लिए एक पागल ही पति चुन लिया था। वे गोरक्षा के दीवाने थे और उन का दामाद देश-रक्षा का दीवाना। दोनों अपनी धुन के धुनी थे।

वे थे कसूर के प्रसिद्ध वकील श्री धनपतराय। गाय की रक्षा कैसे हो, यही उन का मिशन था। वे विद्वान् थे और यह वात समझ गये थे कि गाय की रक्षा गोमाता की जय बोलने से नहीं होगी। गाय की उपयोगिता बढ़ाने से होगी। सोचती हूँ विशाल देश के वे पहले आदमी थे, जिन्हों ने गाय के प्रश्न को धार्मिकता की दलदल से निकाल कर वैज्ञानिक उपयोगिता की साफ़ ज़मीन पर रखा था, परखा था। वरसों के चिन्तन के बाद वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि नयी गायों की नस्ल सुधारी जाये, जिस से वे अधिक दूध दें और दूध न देने वाली गायों को बैलों की तरह हल में और गाड़ियों में जोड़ा जाये। हमारे देश की जनता परिवर्तन को सुगमता से स्वीकार नहीं करती। उन की वात से भी लोग भड़क उठे थे। महीनों तक धार्मिक और सामाजिक पत्रों में उन के विरुद्ध मोटे-मोटे शीर्षक लगाये गये थे और उन्हें बुरा-भला कहा गया था, पर कहा तो मैं ने कि वे तो पागल पीढ़ी के पुत्र थे, जो निन्दा-स्तुति से ऊपर रहती है। धार्मिक पण्डितों ने उन्हें धर्म-सभाओं के उत्सवों में अधार्मिक घोषित किया था और क्या गाय का हल में जोड़ना धर्मानूकूल है ? इस प्रश्न पर शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था। उन्हों ने मुसकरा कर सब-कुछ सुना था, पर कहा कुछ नहीं था। वे स्वयं सामाजिक क्रान्ति की प्रचण्ड हुंकार थे, धर्मान्धता की ललकार वे भला क्या सुनते ?

उन के जीवन-चरित्र की सामग्री परिस्थितियों ने लूट ली है, पर उन के चरित्र का यह चित्र तो इतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित रहेगा ही कि हिन्दू होते हुए भी उन्हों ने अपनी बेटी का विवाह एक ऐसे सिक्ख युवक से किया जोदे श-भक्ति में उफन रहा था। यह भी स्पष्ट ही था कि यह उफान उसे ऐश-आराम के उपवन की ओर नहीं, लम्बी जलन की ओर ही ले जायेगा। फिर यह विवाह भी कैसे हुआ। क्या बारात चढ़ी ? घर-द्वार सजे ? वाजे वजे ? धूम-धाम मची ? धर्म-कर्म हुए ? नहीं, वह सब कुछ नहीं हुआ और हुआ सिर्फ़ यह कि श्री धनपत राय ने अपनी बेटी को अजीत सिंह के पास बैठाया और यह कहते हुए बेटी का हाथ वर के हाथ में दे दिया––"संसार की हर वस्तु तभी आगे वढ़ती है, एक शक्ति का रूप ग्रहण करती है, जब दूसरी के साथ मिल जाती है। जीवन में आगे बढ़ने के लिए, उन्नति के पथ पर चढ़ने के लिए मैं तुम दोनों को मिलाता हूँ।" जब-जब यह विवाह मुझे याद आता है, मैं सोचने लगती हूँ कि क्या संस्कार था, दो जीवनों की एकता का यह सूत्र हमारे समाज के लिए श्री धनपत राय का एक अमर उपहार नहीं है ?

बरसात पानी का मौसम है, सरदी ठण्डक का, गरमी-लू-झुलस का और बसन्त फूलों का, पर विवाह सपनों का मौसम है। इस विवाह में सपनों की भीड़ नहीं थी,

क्यों कि वे एक-तरफ़ा थे। सरदार अजीत सिंह के दिल-दिमाग़ में घरेलू जीवन का कोई सपना था, मुझे इस का विश्वास नहीं होता, क्यों कि उन की नस-नस में भारत में सशस्त्र क्रान्ति का एक ऐसा विराट् सपना समाया हुआ था कि किसी और छोटे सपने की वहाँ गुंजायश ही न थी। जो विनाश की होली जला रहा हो, खून का फाग खेल रहा हो, वह विकास की दीपावली में तेल के नन्हें दीपक कहाँ जला सकता है ? कवि के शब्दों में उन का भाव है—

"तुम समाये हुए हो नज़रों में,
अपनी आँखों में आये नींद कहाँ ?"

ठीक है उन की आँखों में किसी सपने की गुंजायश न थी और उन के लिए विवाह बड़ों की ख़ुशी के लिए और परिस्थितियों के कारण किया गया एक कर्तव्य था, पर हरनाम कौर की आँखों में तो एक सौ आठ सपने थे, और हर सपना अजीत सिंह के धागे में पिरोया हुआ था। उन सपनों का क्या हुआ ? विवाह के कुछ समय बाद गौना हुआ, तो सपने और रंगीन हो गये। अब दोनों साथ थे, पर साथ कैसा था ? ऐसा साथ जैसी पुरानी छपरिया, जिस में जगह-जगह छेद। दो दिन साथ रहते तो मन के बन्द द्वार खुलने लगते, पर अजीत सिंह शाम तक लौटने की बात कह कर चले जाते और राजनीति के चक्कर पर ऐसे चढ़ते कि कई दिन शाम ही न होती। फिर आते और दूसरे ही दिन चले जाते, तो सप्ताह-भर में लौटते। कभी-कभी पूरा महीना बीत जाता। हरनाम कौर घर को झाड़-बुहार कर, लीप-पोत कर साफ़ करतीं, पलँग की चादर बदलतीं, सजतीं-सँवरतीं, पर उन का यह उत्साह एक मानसिक आघात बन कर रह जाता, जब वे न आते। हँसी से खिलते प्रभात आते, उदासी से बुझती सन्ध्या आती और रात उन की प्रतीक्षा में काँटे उगा देती। ये काँटे उस दिन ज़हर-बुझे शूल हो गये, जिस दिन अजीत सिंह गिरफ़्तार हुए और माण्डले के क़िले में जलावतन कर दिये गये।

प्रतीक्षा पहले भी थी, अब भी, पर पहली प्रतीक्षा में एक स्वाद था, अब की प्रतीक्षा में एक विषाद। पहले देर-सवेर लौटना अजीत सिंह के अपने वश में था, उस पर आग्रह किया जा सकता था, किया जाता था और कभी-कभी वह सफल भी हो जाता था। अब आना-न-आना अजीत सिंह के वश में न था। सरकार की इच्छा पर था और इस इच्छा की सीमा का पता किसी को न था। न इसे प्रभावित करना ही किसी के हाथ में था। पहले अपनी बीमारी की झूठी-सच्ची ख़बर भेज कर अजीत सिंह की इच्छा को प्रभावित करना सम्भव था, पर अब सरकार की इच्छा तो किसी की मृत्यु पर भी कोमल होने को तैयार न थी। हरनाम कौर का हृदय-द्वार पहले भी बन्द रहता था, अब भी, पर पहले वह द्वार एक साँकल से बन्द था, जो खुल सकती थी, खुल जाती थी। अब उस पर ताला लग गया था और उस की ताली एक ऐसी जेब में थी, जिस में हाथ डालना हरनाम कौर के वश में न था। ज़िन्दगी सुनसान हो गयी

थी, इतनी सुनसान कि भविष्य की आशा के चाँद-सूरज तो दूर, कोई जुगनू भी कभी उस में न चमकता था। अँधेरा ही उन का वर्तमान था, अँधेरा ही भविष्य !

इस अँधेरे में एक दिन अचानक प्रकाश मर गया और प्रकाश भी सूर्य का। हरेक समाचारपत्रका पहला पृष्ठ सरदार अजीत सिंह के नाम से सुनहरे अक्षरों में चमक उठा। सरकार ने उन के निर्वासन का आदेश वापस ले लिया था और वे माण्डले से वापस आ रहे थे। हरनाम कौर के कपड़े चमक उठे, चेहरे पर रौनक चमकी, सिर के रूखे वाल चिकने हो कर चमक उठे और चमक उठा घर। सरदार अजीत सिंह आ गये और हरनाम कौर का जीवन सुगम हो गया, पर भाग्य को यह सुगमता अधिक दिन सहन न हुई।

उस दिन हरनाम कौर की देह वुखार से गरम तवा हो रही थी। उठना तो दूर, बैठना भी सम्भव न था। अजीत सिंह इसी हालत में उन्हें लाहौर से वंगा लाये और हरनाम कौर के 'कब आयेंगे', प्रश्न पर 'परसों आ जाऊँगा', कह कर चले गये।

जाने कितनी परसों आयीं और चली गयीं, पर उन का कोई पता नहीं था। दिन के वाद दिन, सप्ताह के वाद सप्ताह, महीने के वाद महीने और साल के वाद साल गुज़रते चले गये, पर वे नहीं लौटे, न कोई खवर ही दी। सरदार अजीत सिंह सरकार की आँख वचा कर देश छोड़ विदेश चले गये थे। राम के वनवास की सीमा चौदह वरस थी और पाण्डवों के अज्ञातवास की एक वरस, पर सरदार अजीत सिंह उस अज्ञातवास के लिए चले गये थे, जिस की कोई सीमा न थी। यह सव विवाह के चार वर्ष वीतते-न-वीतते ही हो गया था और हरनाम कौर श्रृंगार-सेजका स्पर्श कर अंगार-सेज पर आ वैठी थीं।

सास-ससुर ने इस अंगार-सेज को सहन योग्य वनाने के लिए अपने होनहार पौत्र जगत सिंह और भगत-सिंह को अपने पास गाँव में ही रख लिये और उन के पालन-पोषण की ज़िम्मेदारी और देख-भाल का काम दोनों चाचियों को सौंप दिया। उन का कलेजा अव भी खोखला था, पर गोद भर गयी थी। उन की शैया अव भी जल रही थी, पर होनहार वेटों की समीपता के कारण उस की जलन कम हो गयी थी। अन्तःकरण अव भी शून्य था, पर वातावरण वेटों की वातचीत से मुखर था। उन की भुजाएँ अब उमंग से फैलती थीं, तो कोई-न-कोई वेटा उन में सिमट आता था। वे उसे अपने पास सुलातीं, अपने हाथ से खिलातीं-पिलातीं और तैयार कर मदरसे भेजतीं। लौटने का समय उन्हें मालूम था, पर प्यार की उत्सुकता ने कव घड़ी का विश्वास किया है ? वे समय से पहले ही द्वार पर पहुँच जातीं और दूर-दूर तक ताकती रहतीं। कोई वालक या किशोर उधर से आता दीखता, तो पूछती—जगत सिंह आ रहे हैं क्या ? कभी-कभी यह प्रश्न बार-बार दोहराया जाता, तो उन की सास झल्ला कर कहतीं—एक तेरे ही बेटे तो मदरसे नहीं गये, फिर आयेंगे तो तेरे पास ही आयेंगे, वहाँ खड़ी क्यों वेकार ताक-झाँक करती है, जब कि काम करने को पड़ा है।

वे सुनतीं तो कभी-कभी अनसुना कर देतीं और कभी द्वार से लौट आतीं, पर

उन्हें चैन न पड़ती और फिर द्वार पर जा लगतीं। उन के चेहरे पर बहुत तेज़ी से भाव आते-जाते रहते, जैसे उन के भीतर कोई फ़िल्म चल रही हो और उस के दृश्य बदल रहे हों। अचानक जगत सिंह दिखाई दे जाते, फ़िल्म रुक जाती, उन के हृदय की धड़कन बढ़ जाती और उत्सुकता फट-सी पड़ती। वे जगत सिंह को गोद में उठा लेतीं और धीरे से पूछतीं—"तुम्हारे चाचा जी का पत्र आया है?" गाँव का डाकखाना स्कूल में ही था, पर डाकखाना किसी को अपनी तरफ़ से तो पत्र नहीं भेजता। जगत सिंह कहता, "ना" और बस उन की उत्सुकता का ज्वार एकदम उतर जाता और आँखों के कोयों में आँसू झलक आते। जगत सिंह उन का भाव समझ लेता। घर में हर समय देश की गुलामी अँगरेज़ों के अत्याचार और क्रान्ति की ही बातें होती रहती थीं। जगत सिंह अपनी छाती पर हाथ मारता और कहता—"चाची जी, मैं बड़ा हो कर अँगरेज़ों को देश से निकालूँगा और चाचा जी को वापस लाऊँगा।" छोटा भाई भगत सिंह भी पास ही होता। वह जन्म से ही बेहद भावुक और सहृदय था। यह सब देख कर वह हैरान-सा होता और फिर बहुत-से प्रश्न एक साथ पूछता, जिन में कुछ अँगरेज़ों के सम्बन्ध में होते, तो कुछ चाचा जी के और फिर अपने छोटे-छोटे हाथों से चाची के आँसू पोंछते हुए कहता—"चाची जी, मैं ज़रूर चाचा जी को वापस लाऊँगा।" आश्वासन का तार कितना ही कमज़ोर क्यों न हो, वह टूटे मन को एक बार ज़रूर सहारा देता है। हरनाम कौर सँभल जातीं, घर के काम में जुट जातीं और फिर दूसरे दिन उसी तरह अपना प्रश्न दोहरातीं—"तुम्हारे चाचा जी का पत्र आया है?" उत्तर भी वही होता और परिणाम भी, फिर भी इस में जीवन का चक्र घूमता तो था ही। इसी तरह बीत गये लगभग आठ साल और फिर एक दिन यह चक्र अचानक टूट गया और भविष्य का नक्षत्र जगत सिंह भगवान् की गोद में जा सोया।

यह एक बड़ा धड़ाका था, पर इस ने हरनाम कौर को भड़भड़ाया नहीं, एक दम गुम कर दिया, न आँखों में आँसू, न मुँह में विलाप, बस चुपचाप वे जहाँ बैठतीं बैठी ही रह जातीं। उन के भीतर इतने चित्र थे कि वे कुछ और कह न पातीं। अपना ही अतीत उन के सामने बिखरा पड़ा था, कुछ इस तरह जैसे आँधी में पत्ते कि एक को पकड़ो तो दूसरा उड़ जाये और एक की तरफ़ हाथ बढ़ाओ तो दूसरा सामने आ जाये। उन का जन्म कहाँ हुआ था, उन के माता-पिता कौन थे, कैसे थे, वे कुछ नहीं जानतीं। बस वे इतना ही जानती हैं कि अपने माता-पिता के घर वे दो-तीन वर्ष की उम्र तक रहीं और फिर उन से बिछुड़ गयीं। कहाँ, कैसे यह दुर्घटना हुई, वे कुछ नहीं जानतीं। उन की आरम्भिक स्मृतियाँ धनपत राय के आँगन में ही खेलती हैं। उन्हों ने १६ वर्ष की उम्र तक वहाँ रहते, वहाँ के जन-जन की ही नहीं, कण-कण की समानता अनुभव की और उन की आत्मीयता का भी वह परिवार पूरी तरह केन्द्र रहा। उन के वहाँ से चलते वहाँ की हर आँख रोयी और स्वयं उन की आँखें भी पानी-पानी हुईं। हरनाम कौर को ज़रा-सा भी कभी किसी ने आभास नहीं होने दिया कि वे इस घर में नहीं

जन्मीं। सोचती हूँ कितने विशिष्ट थे श्री धनपत राय और कितना शिष्ट था उन का परिवार; पर सत्य सत्य ही था और वह सत्य सूत्ररूप में ही सही, हरनाम कौर के अन्तःकरण में स्पष्ट था कि धनपत राय की इकलौती बेटी विख्यात हो कर भी मैं उन के घर में जन्मी नहीं हूँ।

वह पहले अपने जन्मदाताओं के साथ बसीं-बिखरीं, फिर धनपत राय के पुण्य परिवार में बसीं-उखड़ीं, फिर सरदार अजीत सिंह के साथ बसीं-उजड़ीं और तब बेटे जगत सिंह के साथ उन्हों ने अपने मन की बेल को रोपा, सींचा, पनपाया, बाँधा और टूटते देखा। सोचती हूँ, परिवर्तन के ऐसे धड़ाकों में तो एक कर्कश-कठोर पुरुष भी पागल हो जाये, फिर वे तो एक ममतालु महिला थीं। यही नहीं कि वे पागल या अस्त-व्यस्त नहीं हुई, जीवन में व्यवस्थित और प्रशान्त रहीं। उन के भीतर लाख विष उमड़ा हो, उसे उन्हों ने जीभ पर कभी नहीं आने दिया। उन की उपमा उस वृक्ष से दी जा सकती है, जो साँप-बिच्छुओं से भरे खण्डहर में खड़ा हो कर भी सदा फूल बरसाता रहता है।

मनोविज्ञान के अध्ययन से पता चलता है कि कठोर और क्रूर माता-पिताओं के बच्चे अक्सर डाकू और हत्यारे हो जाते हैं। जीता-जागता अनुभव है कि सिंचाई-नुलाई और खाद से खेत और उपवन फल-फूल देते हैं और इन के अभाव में सूख जाते हैं। प्यार, ममता, सहानुभूति, समवेदना, सद्व्यवहार, सदाचार मनुष्यता की खुराक़ हैं। इन के बिना वह रूखा हो जाता है, हताश हो जाता है, उस में 'फ्रस्ट्रेशन' आ जाता है, वह मनुष्य-द्रोही हो जाता है, उसे अपने सिवा सब बुरे लगने लगते हैं। हरनाम कौर उस युग के गाँव में रह रही थीं, जो ग़ुलामी और सामाजिक कुरीतियों से जकड़ा हुआ था और जहाँ समर्थ को ही सम्मान पाने का अधिकार माना जाता था। समर्थ शासक थे तो असमर्थ शासित। शासितों पर ममता कब किसने बखेरी है? सदा स्मरणीय विनायक दामोदर सावरकर ने अपनी अण्डमान-यात्रा का वर्णन किया है। उन्हें बैलों की तरह कोल्हू में जोड़ कर तेल निकलवाया जाता था, नारियल का छिलका कूट कर उस के तार निकालने को दिये जाते थे। हरनाम कौर भी ऐसे ही कठोर परिश्रम का जीवन जी रही थीं। उन की देवरानी श्रीमती हुकम कौर भी इस जीवन में उन के साथ थीं, उन पर मैंने इसी पुस्तक में अलग लिखा है, पर दोनों में स्वभाव का चौड़ा अलगाव था। नतीजा यह कि दोनों एक जुए के नीचे थीं, पर एक-दूसरे को सरसता न दे पाती थीं।

अनुभवी बड़ी बूढ़ियों का कहना है कि कोई पूरे समय पूरी मेहनत करे, तो पाव-भर सूत प्रति दिन कात सकता है। फिर कातना ही तो एक काम न था। उन का दिन तड़के चार बजे आरम्भ हो जाता था। जब वे चार-पाँच सेर अनाज की टोकरी ले कर अपनी देवरानी के साथ चक्की पर आ बैठती थीं। फिर दूध दुहना और चौके-बरतन के काम के बाद चरखे पर बैठना। उन के चरखे के चलने से ही परिवार का चरखा चलता

था। कपास के चुनने से ले कर सूत बुनने तक का सारा काम उन्हीं के हाथों से होता था। तव बनते थे सब के कपड़े। उस कपड़े में से कई थान खद्दर रंग कर फुलकारियाँ बनायी जाती थीं। जिन दिनों कातने का काम न होता, उन दिनों फुलकारियों पर कशीदाकारी आरम्भ हो जाती। दिन-भर एक क्षण के लिए भी न बैठने के बाद, उन के सिर पर होता रात का काम। सोचती हूँ, वे दोनों जीवित मनुष्य हो कर भी जड़ लोहे की मशीन हो गयी थीं, जिस का हर पुरजा अपनी जगह कसा हुआ था, जिस की रफ़्तार बाँध दी गयी थी और जिसे इधर-उधर होने की ज़रा भी गुंजायश न थी। वीस वर्ष की भरी जवानी से छप्पन वर्ष के ढलाव तक श्रीमती हरनाम कौर ने यही जीवन जिया। उन की ज़िन्दगी एक ऐसे क़िले में बीती, जिस की दीवारें ऊँची भी थीं, मज़बूत भी और जिस में कहीं कोई खिड़की न थी, जिस से बाहर के फूलों की महक भीतर आ सके। हाँ, एक खिड़की ऐसी अवश्य थी, जिस से बाहर के काँटे कभी-कभी उन तक अवश्य आ जाते थे। वे काँटे थे, अफ़वाहों के, वे काँटे थे चर्चाओं के—कीकर और करौंदे ही नहीं, नागफन के ज़हरीले काँटे से तेज़ और पैने। ये काँटे शरीर में चुभते हैं, वे काँटे कलेजे में चुभते थे।

वे कातती होतीं और पास-पड़ोस की कोई महिला उन के पास आ बैठती। दैनिक पत्रों में भी खबरें छपती हैं, पर हमारे देश में तो हर आदमी ही बिना छपा दैनिक पत्र है। यह महिला भी ऐसा ही दैनिक पत्र सिद्ध होती और खबर देती—"तू यहाँ बैठी उस के नाम का चरखा चला रही है और अजीत सिंह ने तो विलायत में मेम से शादी भी कर ली है, तभी तो चिट्ठी तक भी नहीं भेजता।" वह तो इतना कह कुछ देर बाद चली जाती, पर हरनाम कौर के कलेजे की झोपड़ी में ऐसी चिनगारी रख जाती जो उन्हें जलाती भी और रुलाती भी। कल्पना के सहारे आशा के पत्तों का जो महल हरनाम कौर हफ़्तों-महीनों में बनातीं, वह एक ही झोंके में ढह जाता। जो दूर हो कर, अज्ञातवासी हो कर भी उन का अपना बना रहता था, किसी और का हो जाता और उस के लौटने की राह ही बन्द हो जाती। वे तड़प उठतीं, तड़पती रहतीं। इस तड़प में उन के सूत का तार टूट जाता, तो जाने कब तक टूटा रहता और वह पूनी का टुकड़ा हाथ में लिये बैठी की बैठी रह जातीं। सच तो यह कि वे उस समय पीढ़े पर होते भी पीढ़े पर न होतीं और इस से बड़ा सच यह कि वे कहीं भी न होतीं, अपने आँसुओं में डूबी रहतीं। हम दूसरों के सम्बन्ध में कुछ कहते समय कितने हृदयहीन हो जाते हैं?

बचपन से ही भगत सिंह के हृदय पर चाचियों के आँसुओं की छाप पड़ चुकी थी। वहीं से उन्हों ने गुलामी के दर्द को अपने दिल में पाल लिया था। भारत की स्वतन्त्रता और चाचा जी की वापसी, दो ही प्रबल इच्छाएँ थीं उन की। इस के लिए उन्हों ने कोई सम्भव प्रयत्न न छोड़ा था। इसी से अब अजीत सिंह का पता मालूम हो गया था और कभी-कभार उन का गुमनाम पत्र किसी-किसी के पते पर आने लगा था। सन् १९२९ में जब भगत सिंह पर मुक़दमा चल रहा था, वे उन दिनों ब्राजील में थे।

कुलतार सिंह उस समय पाँचवीं कक्षा के विद्यार्थी थे। हरनाम कौर ने कुलतार सिंह से पत्र लिखाया—"आप तो परसों लौटने का वायदा कर गये थे, अभी तक आये क्यों नहीं ?" उत्तर मिला—"अजीज, परसों और बरसों में दो ही नुक़्तों (उर्दू लिपि के अनुसार अनुस्वार) का फ़र्क़ है !"

कभी-कभार के पत्र से यह तो निश्चित हो ही गया था कि वे जीवित हैं। कई वार रोम-रेडियो से उन के भाषण भी प्रसारित होते थे, पर कुछ महीनों यदि उन की कोई खवर न मिलती तो कभी-कभी बिना छपा दैनिक यह खवर भी लाता कि अजीत सिंह की मृत्यु हो गयी है। इस खवर में हरनाम कौर को अपने भविष्य की ही मृत्यु दीखती और वे वेहाल हो जातीं। हर खवर इस तरह दी जाती कि जैसे खवर देने वाला स्वयं अजीत सिंह की शव-यात्रा में शरीक हो कर लौटा है। हर खवर एक झूठ थी, पर यह झूठ उस दुखिया मन में इस तरह चुभता, इस तरह चुभता कि सच भी मात मान लेता। सोचती हूँ, हम अपने घर का कूड़ा गली में फेंक कर केले का छिलका सड़क में डाल कर, मल-मूत्र के लिए वच्चे को जहाँ-तहाँ वैठा कर और पान की पीक थूक कर ही वातावरण को गन्दा नहीं करते, अप्रामाणिक सुने-सुनाये या गढ़े-गढ़ाये विचार विखेर कर भी उसे सड़ाते हैं और भूल जाते हैं कि हम इस तरह उस वातावरण को खराव कर रहे हैं, जिस में दूसरों के साथ हम भी रहते हैं। हम रामलीला वार-वार देखते हैं, मन्थरा के कारनामों पर उसे कोसते हैं, पर हमारी आत्म-निरीक्षण और आत्म-चिन्तन की वृत्ति इतनी निर्वल हो गयी है कि यह अनुभूति हमारे अन्तःकरण को नहीं मथती कि स्वयं हमारा स्वभाव इतना हीन और दोष-दर्शी हो गया है कि मन्थरा हमारे सामने छोटी रह गयी है। भूकम्प पृथ्वी को हिला देते हैं, हरनाम कौर भी हिल जातीं, पर उन का यह विश्वास कभी खण्डित नहीं हुआ कि उन के पति जीवित हैं और वे एक दिन ज़रूर लौटेंगे। यह विश्वास ही उन के जीवन की धुरी थी।

इस वातावरण में, इन परिस्थितियों में रहते हुए भी हरनाम कौर का हृदय मानव के प्रति वेहद सहानुभूतिपूर्ण और संवेदनशील था। वे शिक्षित थीं और गाँव की लड़कियों को शिक्षित करती रहती थीं। पढ़ने वाली लड़कियों की भीड़ उन के पास जुड़ी ही रहती थी। एक वार तो उन्हों ने छोटा-सा स्कूल ही खोल लिया था, जिस में हिन्दी और पंजाबी की शिक्षा वे स्वयं देती थीं। टूटी हड्डियों को जोड़ना, मोच निकालना, दुखती आँखें ठीक करना और इसी तरह के दूसरे काम भी उन्हों ने अपनी सास श्रीमती जय कौर से सीख लिये थे। इस तरह वे अपने गाँव की मास्टरनी और डॉक्टरनी एक साथ थीं, पर न उन के नर्सिंग—होम की कोई फ़ीस थी, न स्कूल की। वे लड़कियों को पढ़ाती ही न थीं, उन्हें जीवन के सत्यों और तथ्यों की शिक्षा भी देती थीं, जिस से उन का व्यक्तित्व निखर उठता था। उन की आत्मा में कितनी तेजस्विता थी, इस का पता इस वात से चलता है कि एक वार उन की पढ़ाई एक लड़की को उस के पति ने किसी मतभेद पर अपने घर ले जाने से इनकार कर दिया। सब के सब प्रयत्न जब

बेकार हो गये, तो उन्हों ने उस युवक को एक पत्र लिखा। उन की आत्मा की तेजस्विता का उस युवक पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह आ कर उस लड़की को ले गया और उन दोनों में फिर कभी कड़वाहट नहीं आयी। उन के जीवन का यह पहलू उन के व्यक्तित्व की विशिष्टता को समझने के लिए साफ़ आईना है कि अपने विगड़े जीवन को भूल वे दूसरों के विगड़े जीवनों को वनाने-सँवारने में लगी रहीं। जिन्हें जीवनशास्त्र का ज्ञान और जीवन की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का परिचय है, वे मानेंगे कि यह कोई साधारण बात नहीं है।

स्वप्न प्रकृति के निर्माण का एक अद्भुत तन्त्र है। इसी की शक्ति से रावण के राक्षसी पहरे में समुद्र पार रहते भी सीता राम से प्रतिदिन मिल सकती थीं और राधा गोकुल में रह कर भी द्वारकावासी कृष्ण से। वियोग में स्वप्न रंक का भी उतना ही सहारा है, जितना राव का। स्वप्न के सम्वन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न वातें कही गयी हैं पर जन-सामान्य के जीवन में तो स्वप्न एक रहस्य ही हैं। हमारे परिवार में स्वप्नों के अनेक चमत्कार हैं। उस दिन भी एक चमत्कार ही हुआ था, जव हरनाम कौर ने सुवह उठ कर सव को वताया था कि "सरदार जी वहुत वड़ी फ़ौज के जनरल हो गये हैं और मैं ने उन्हें फ़ौजी वरदी में देखा है, अव वे फ़ौज़ ले कर ही यहाँ आयेंगे।" उस दिन सव ने एक दर्द के साथ उन का स्वप्न सुना था, पर बाद में सव ने आश्चर्य के साथ सुना कि उन दिनों सरदार अजीत सिंह सचमुच आज़ाद हिन्द लश्कर का इटली में निर्माण करते हुए पूरी तरह फ़ौजी मूड में थे।

हरनाम कौर निरन्तर भीतर-ही-भीतर उन की वात सोचती थीं, उन के मन की एक लहर कहती थी—वे आ जायें, पर भगत सिंह की फाँसी की वात सोच कर उन का मन थर्रा जाता था—ना, वे यहाँ न आयें, वहीं रहें। महाकवि 'हरिऔध' की राधा के शब्दों में उन का अन्तर्द्वन्द्व कुछ इस प्रकार था—

"प्यारे आवें, मम दुख हरें, प्यार से गोद लेवें,
ठण्डे होवें नयन, दुख हों दूर, मैं मोद पाऊँ।
यह भी है भार उर के और ये भाव भी हैं,
प्यारे जीवें, सुख से रहें, गेह चाहे न आवें।"

विवाह के वाद उन के पति ने पाठ का एक गुटका उन्हें दिया था। वे रात में सोने से पहले कभी उस का और कभी गीता का पाठ किया करती थीं। यह गुटका अन्त तक उन के पास रहा और उन की पति-निष्ठा को विश्वास का वल देता रहा। उन का विश्वास सफल हुआ और स्वतन्त्रता के अरुणोदय (मार्च १९४७) में सरदार अजीत सिंह भारत लौटे। कुछ दिन दोनों साथ रहे, पर स्वतन्त्रता के सूर्योदय की पहली किरण के साथ ही वे स्वर्ग सिधार गये। वे पहले भी अकेली थीं, फिर भी अकेली रह गयीं, पर दोनों स्थितियों में वड़ा अन्तर था। पहले अकेलेपन में आशा की एक ऊष्मा थी, प्रतीक्षा का साथ था, पर वाद का अकेलापन वर्फ़ की तरफ़ ठण्डा था और उस में

फिर कभी ऊष्मा आने की आशा तो दूर सम्भावना भी न थी। इस धक्के ने उन्हें अन्तर्मुख कर दिया था, बाहर से एकदम चुपचाप। उन में अथाह जीवन-शक्ति थी। वे तिड़क कर भी टूटीं नहीं और अपने को नयी परिस्थितियों के साथ मिला कर चलती रहीं।

उन की इच्छा थी कि मरने के बाद उन का दाह-संस्कार भगत सिंह की समाधि पर किया जावे। संयोग की बात कि फ़रवरी १९६२ में वे फ़िरोज़पुर में थीं। वहीं उन का देहान्त हुआ और उन की इच्छानुसार शहीद भगत सिंह की समाधि के पास ही उन का दाह-संस्कार किया गया।

मेरा मन जलती हुई दीपशिखा की तरह उन के जीवन का चिन्तन कर अपने से पूछता है—क्या उन का जीवन एक सफल जीवन था? क्या उन्हें उन की तपस्या का फल मिला? इस से भी आगे बढ़ कर क्या उन की तपस्या को समाज ने, राष्ट्र ने पहचाना, पूजा? मेरा मन एक बार घने गहरे अन्धकार से भर जाता है, क्यों कि न ग़ुलाम भारत ने उन की खोज-ख़बर ली, न आज़ाद भारत ने। वे गुमनाम जीवित रहीं, गुमनाम मर गयीं। मैं अवसाद में डूबने लगती हूँ, पर तभी मेरी आँखों में घूम जाता है, वह दृश्य, जहाँ भारत में सशस्त्र क्रान्ति के एक प्रमुख प्रणेता सरदार अजीत सिंह अपनी मृत्यु से कुछ देर पहले स्वतन्त्रता के पहले दिन १५ अगस्त १९४७ की ब्राह्मवेला में उन के पैर छू कर उन की तपस्या का अभिनन्दन करते हैं। उन के जीवन की यह सर्वोत्तम उपलब्धि थी, निश्चित ही ऐसी उपलब्धि जिस ने जीवन-भर भूख की अधमरी ज़िन्दगी जीने वाली उन की आत्मा को छत्तीस भोग, छत्तीसों व्यंजन से भरे भण्डार में ला बैठाया था। यह एक भारतीय नारी की महान् उपलब्धि थी, जिस ने हरनाम कौर को सीता, दमयन्ती और सावित्री की परम्परा में ला कर खड़ा कर दिया।

■ ■

क्रान्ति की किरण :
सरदार स्वर्ण सिंह

बाप जागरण क्रान्ति का अगुआ, बड़ा भाई लोकमान्य तिलक की राजद्रोही राजनीति का पोषक और मँझला भाई 'पगड़ी सँभाल ओ जट्टा' के रूप में उत्तर भारत की जनक्रान्ति का प्रवर्तक, घर में हर समय राजनीति की चर्चा, ग़दर मचाने के जोड़-तोड़, अँगरेज़ों को खत्म करने के मनसूबे। इस स्थिति में छोटा भाई स्वर्ण सिंह १६-१७ वर्षकी उम्र में ही उफनती बग़ावत के सपने लेने लगा, तो क्या आश्चर्य ?

१९०४-५ में राजपूताना में ज़बर्दस्त अकाल पड़ा। माताओं ने बेटियाँ दूसरों को सौंप दीं, बापों ने बेटे, यह तो साधारण बात थी, पर इस अफ़वाह ने देश का दिल दहला दिया कि माँ ने अपने बेटे को उसी तरह खा लिया, जैसे भेड़िया हिरन के बच्चे को खा लेता है। सरदार किशन सिंह उस अकाल के बीचोबीच खड़े थे, एक देवदूत की तरह और सेवा का काम कर रहे थे। वे अनाज, रोटी और कपड़े का वितरण करते, बीमारों को दवा-दारू देते और जिन बच्चों के माँ-बाप मर जाते, उन्हें कैम्प के संरक्षण में ले लेते।

अकाल समाप्त हुआ, तो कैम्प में काफ़ी बच्चे थे। उन का क्या हो ? वहाँ ऐसा कौन था, जिसे सौंप देते उन अनाथों को ? उन्हों ने लाला लाजपत राय से सलाह की और उन्हें अपने साथ ले आये। लाहौर के मोरी दरवाज़ा पर एक अनाथालय खोला गया और उस में उन बच्चों को रखा गया; इस मिशनरी भावना के साथ कि ये देश के बच्चे हैं और इन्हें देश के लिए तैयार करना है। यह पालन-पोषण का नहीं, जीवन-निर्माण का, जीवन को ज्वालामुखी बनाने का प्रयत्न था। इस की सफलता के लिए एक दहकते हुए व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। सब की निगाह सरदार स्वर्ण सिंह पर टिक गयी। वे अनाथालय के सुपरिण्टेण्डेण्ट बना दिये गये। उन का जन्म खटकड़ कलाँ, ज़िला जालन्धर में सन् १८८७ में हुआ था और अनाथालय का संचालन सँभालते समय उन के चेहरे के रोओं ने मूँछ-दाढ़ी का साफ़ रूप नहीं लिया था, पर कलेजे की ज्वाला ने उम्र के दिन कब गिने हैं ?

वे बच्चों को दाना-पानी के साथ देशभक्ति की चिनगारियाँ देने लगे और किताबी अक्षरों के साथ देश की गुलामी के ज्ञान का फूस बिछाने लगे। उन बच्चों के साथ और बच्चे भी आते गये, काम बढ़ता गया। अनाथालय लाहौर की सफल संस्थाओं में गिनती पाने लगा और उसे जल्दी ही हवेली राजा हरबंस सिंह में बदल दिया गया। क्या उन की सफलता यही थी कि अनाथालय में बच्चे और फ़र्नीचर बढ़ रहे थे? नहीं, उन की सफलता यह थी कि बच्चों में अनाथ होने की हीन-भावना नहीं थी और वे देश के तरुण बनने को पनप रहे थे। उन के चेहरों पर और विचारों-व्यवहारों पर देश-भक्ति के तेज की छाप थी। यह छाप ६ अप्रैल १९१९ में इतिहास के पन्नों पर ख़ून के छींटे बन कर इस तरह चमकी कि फिर कभी धुँधली न हो सकी।

उस दिन रौलेट ऐक्ट के विरोध में लाहौर की बादशाही मसजिद में एक बड़ा जलसा हुआ। लाला हरकिशन लाल सभापति थे। शहर में उस दिन हड़ताल थी, जलसा खचाखच भरा हुआ था। सरकार के क़ानून का विरोध सरकार का विरोध था ही, पर सब शान्त थे। जलसे के बाद जब लोग अपने-अपने घरों को लौट रहे थे, हीरामण्डी में नौगजे पीर के पास पुलिस ने अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलानी आरम्भ कीं। वे भी थे, जो भाग खड़े हुए, वे भी थे, जो दुबक गये और वे भी थे, जो गिर पड़े, पर नौजवान खुशीराम भी उन्हीं में था, जो गोली खाता रहा और पुलिस को अपने नारों से ललकारता रहा। इतिहास का एक अजब क्षण था कि धड़ाम की आवाज़ से बन्दूक़ चिंघाड़ती, गोली धाँय से दौड़ती, खुशीराम घायल हो जाता, ख़ून बहने लगता, गोली मारने वाला भौंचक हो कर देखता कि खुशीराम गिरा नहीं है, दीवाने जोश में भरा ललकार रहा है। तब दूसरी बन्दूक़ उठती, धड़ाम से चिंघाड़ती, गोली धायँ से दौड़ती, खुशीराम और घायल हो जाता, ख़ून और ज्यादा बहने लगता, दूसरा गोली मारने वाला भी भौंचक हो कर देखता कि खुशीराम गिरा नहीं, खड़ा है और ख़ामोश नहीं, जोश से ललकार रहा है। फिर नयी बन्दूक़ उठती, फिर नया धड़ाका होता, फिर नयी गोली दौड़ती, फिर नया घाव होता, नया ख़ून बहता और नया नारा गूँजता। इस तरह बारह गोली खा कर खुशीराम शहीद हुआ। गोली मारने वाले जोश में थे तो अँगरेज़ी सरकार की मशीनरी के पुर्ज़े-भर थे, पर खुशीराम के गिरने पर होश में आये, तो जीते-जागते इनसान हो गये। वे खुशीराम के चारों ओर घिर आये और बहुत देर आदर-भरी पीड़ा के भाव से, ख़ामोश पड़े खुशीराम को देखते रहे। हत्यारों की नज़रों के साये का आँचल ही शहीद का कफ़न हो गया। खुशीराम के साथी फ़क़ीरचन्द ने भी शान से गोलीं खायी और बुरी तरह घायल हो गये। अनाथालय के दूसरे बहुत से बालक भी देश के ही काम में लगे। स्पष्ट है कि यह सरदार स्वर्ण सिंह की ही देश-भक्ति का प्रभाव था कि अनाथों का निवास क्रान्ति का प्रकाशगृह हो गया था।

क्या स्वर्ण सिंह का यही कैरियर है कि उन्हों ने एक अनाथालय को क्रान्ति का

मन्दिर बना दिया ? मैं मानती हूँ कि यह भी कोई छोटा काम नहीं है, क्यों कि निष्ठा से किया छोटे से छोटा काम भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है, पर उन के क़दम यहीं नहीं रुके। वे तो 'चल-चल रे नौजवान' का नमूना थे, रुकना जिस का काम नहीं होता, चलना ही शान मानी जाती है। अनाथालय उन के लिए एक पाठ था। वे अनुभव से यह जान गये थे कि इस तरह का सेवा-कार्य अस्थायी तसल्ली (टैम्पोरेरी रिलीफ़) है, रोगनाशक चिकित्सा नहीं। प्रश्न उन के सामने यह था कि सब दुःखों की जड़ देश की ग़ुलामी है और उसे दूर कर के ही हम देश को नया रूप दे सकते हैं। इस पाठ ने अनाथालय को उन का बचाव केन्द्र बना दिया था, जहाँ पुलिस की निगाहों से बच कर वे सूफ़ी अम्बाप्रसाद और करतार सिंह केसगढ़िया आदि के साथ क्रान्ति-यज्ञ की वेदी सजाया करते थे।

१९०५-६ में एक साथ क्रान्ति के दो वृक्ष पनप उठे। बंगाल में बंग-भंग के विरोध में स्वदेशी प्रचार, विदेशी बहिष्कार का आन्दोलन और पंजाब में 'पगड़ी सँभाल ओ जट्टा' की तहरीक। दोनों एक-दूसरे से स्वतन्त्र थे, दोनों की विचारधारा भिन्न थी। बंग-भंग का आन्दोलन अहिंसात्मक जन-आन्दोलन था, तो पंजाब में खुलेआम ग़दर करने की हिंसात्मक आग बरसायी जा रही थी। पहले आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस के हाथ में था, तो दूसरे के प्रवर्तक सरदार अजीत सिंह थे। सरदार स्वर्ण सिंह ने इस तहरीक को व्यापक रूप देने के लिए चुपचाप गाँव-गाँव के चक्कर काटे थे, इसे संगठित करने में रात-दिन एक कर दिया था। असल में वे भारतमाता सोसायटी के प्रचार-मन्त्री थे। अपने समय में महान् हिटलर के प्रचार-मन्त्री गोयबल्स ने ऐतिहासिक नाम पाया, क्यों कि उस ने प्रचार के अनेक नये फ़ॉर्मूलों का आविष्कार किया। कौन है जो स्वर्ण सिंह की तुलना गोयबल्स से करे; पर यह एक ऐतिहासिक सचाई है कि स्वर्ण सिंह प्रचार-कला के आचार्य थे। कान से कान बात फैलाना तो वे जानते ही थे, कनस्तर पीट-पीट कर भीड़ जोड़ना भी वे जानते थे; और उर्दू की पत्रकारिता को खुली चिट्ठियों का प्रकाशन भी उन का ही दान है। उन की चिट्ठियों में करारापन होता था, जो पाठकों के मन को पकड़ लेता था, लेकिन भाषा की ऐसी कारीगरी भी होती थी कि पुलिस वाले पढ़ कर गुर्राते थे, पर क़ानून की जकड़ में उन्हें या सम्पादकों को फँसा न पाते थे।

एक घटना ने उन्हें गाँव की गलियों से निकाल कर शहर के चौराहे पर खड़ा कर दिया। उन के एक बड़े भाई सरदार अजीत सिंह माण्डले में जलावतन (निर्वासित) कर दिये गये थे और दूसरे बड़े भाई सरदार किशन सिंह फ़रार हो कर नेपाल जा पहुँचे थे। सरदार स्वर्ण सिंह ने सरदार अजीत सिंह की जलावतनी पर गरमागरम लेख लिखे और गुप्त रूप से छपा कर जनता में बाँटे। एक मामूली घटना उन्हीं दिनों सार्वजनिक जीवन में उभर कर ऊपर आ गयी। एक अँगरेज़ पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट ने सूअर का शिकार किया और अपने मुसलमान बैरा से कहा कि उठाओ इसे। इस्लाम के

अनुसार यह जानवर हराम है। अतः वैरे ने इनकार किया, तो अँगरेज़ ऑफ़िसर ने उसे गोली मार दी। वैरा की मृत्यु किसी तरह समाचार वन कर पत्रों में छप गयी। 'पंजावी' नामक अँगरेज़ी अख़वार के मालिक श्री जसवन्त राय और सम्पादक श्री के० के० उथावले पर मुक़दमे चले और दोनों को दो-दो साल के लिए सख़्त जेल की सज़ा दी गयी। अपील करने पर हाईकोर्ट ने भी सज़ा वहाल रखी। इस से जनता में गरमी आयी और जगह-जगह जुलूस निकले, जलसे हुए। लाहौर में जो शानदार जुलूस निकला, उस का नेतृत्व सरदार स्वर्ण सिंह कर रहे थे।

अँगरेज़ सरकार इसे कहाँ सहने वाली थी, सरदार स्वर्ण सिंह और उन के साथी गिरफ़्तार कर लिये गये और न्याय का नाटक होने के वाद २० जुलाई १९०७ को सर्वश्री स्वर्ण सिंह, करतार सिंह, वहाली राम, राम सिंह, घसीटाराम और गोवर्धनदास को डेढ़-डेढ़ साल की, लाला लालचन्द 'फलक' को नौ महीने की और गन्धर्वसेन को ३० वेंत की सज़ा दी गयी। सरदार स्वर्ण सिंह को वोर्स्टल जेल लाहौर में रखा गया और उन्हें सताने का एक अजीव तरीक़ा वरता गया। उन्हें महाशय घसीटाराम के साथ रहट में वैल की तरह जोड़ा गया, पर कमाल यह था कि उस रहट की सव डोलचियाँ फटी हुई थीं और पूरा घुमाने पर भी एक बूँद पानी न निकलता था। जव स० स्वर्ण सिंह ने यह देखा, तो वे वहाँ से हट गये और उन्हों ने रहट चलाने से इनकार कर दिया। क़ैदी की स्थिति हमेशा ही वन्धन की होती है, पर उस युग में तो ग़ुलाम की थी। क़ैदी की यह हिम्मत कि वह हुकुम मानने से इनकार करे! जेल-अफ़सरों ने उन्हें रोव में लेने की कोशिश की, तो उन्हों ने कहा—"क़ैदी मशक्कत करने को वाध्य है, पर यह रहट मशक्कत नहीं है, यह तो वदला लेने का ग़ैर-कानूनी यन्त्र है। मैं मर जाऊँगा, पर इसे नहीं चलाऊँगा, इतना ही नहीं, वे क़ैदियों के सामने भाषण देने लगे कि क़ैदी भी इनसान हैं और उन्हें ग़ैर-क़ानूनी वातों के सामने सिर नहीं झुकाना चाहिए। उन के भाषण से क़ैदी भड़क उठे और जेल वालों को पगली घण्टी (एक तरह का कर्फ़्यू) वजा कर क़ैदियों को वैरकों में वन्द करना पड़ा। वाद में अपील करने पर चीफ़ कोर्ट ने उन्हें ज़मानत पर रिहा कर दिया। छूटते ही वे फिर भारतमाता सोसाइटी के काम में लग गये।

सरकार की मुख्य निगाह सरदार अजीत सिंह पर थी और वह उन के चारों ओर अपना जाल बुन रही थी। वे आँख वचा कर देश से वाहर चले गये, तो सरदार स्वर्ण सिंह उन के सामने थे, पर स्वर्ण सिंह क्रान्ति के नेता नहीं, राजदूत थे। सरकार विश्वस्त थी कि क्रान्तिकारी गुप्त साहित्य इसी आदमी के द्वारा छपाया और गाँव-गाँव पहुँचाया गया है, लेकिन पुलिस के छापों में जो कुछ मिला था, उस में सरदार स्वर्ण सिंह का कहीं अता-पता भी न था। उन पर वह हाथ कैसे डालती? तव विशेषज्ञों को उन का मामला सौंपा गया, जो मुक़दमा चलाने में नहीं, मुक़दमा वनाने में माहिर थे। सरदार स्वर्ण सिंह और उन के साथी लालचन्द 'फलक' पर कई मुक़दमे एक साथ

चलाये गये—इस में नहीं, तो उस में और उस में नहीं तो इस में, कहीं तो फँसेगा ही।

मुक़दमा सत्य पर नहीं, सबूत पर खड़ा होता है और सबूत मिलते नहीं, बनाये जाते हैं। सरकार के पक्ष में सबूत बनाने वाले पुलिस अधिकारी थे और बने हुए सबूतों को जमाने वाले वकील थे। ज़रूरत ऐसे वकीलों की थी, जो उन बनाये सबूतों के महल को उलझाने वाली जिरहों और सुलझाने वाली बहसों से धराशायी कर दें; पर उस युग में ऐसे साहसी वकील कहाँ थे, जो सरकर के मुक़ाबले चोंगा गले में डालने की हिम्मत करें? तो एक तरफ़ वकीलों और सबूतों से लैश सरकार थी, दूसरी तरफ़ कचहरी के दाँवपेचों से अनभिज्ञ सरदार स्वर्ण सिंह। फिर मैजिस्ट्रेट उन का था, जो दावेदार थे। उस के पास सरकारी पक्ष के लिए भरपूर समय था, पर सरदार स्वर्ण सिंह की हर बात उस के लिए फालतू थी और फालतू बात सुनने की उसे फ़ुरसत क्यों होती?

जब यह मुक़दमा चल रहा था और वे जेल में थे, तो उन्हें इतना खराब खाना मिलता था कि वे उसे खा नहीं सकते थे और भूखे रहते थे। एक पेशी पर लाला लालचन्द 'फलक' ने (जो इस मुक़दमें में भी उन के साथी थे) अदालत में जेल की एक रोटी पेश की। जो पकड़ते ही टूट गयी, क्यों कि उस में बेहद मिट्टी मिली हुई थी। दूसरी पेशी पर सरदार किशन सिंह घर से खाना ले कर गये। सरदार स्वर्ण सिंह ने मजिस्ट्रेट से कहा—"मैं भूखा हूँ, पहले मुझे खाना खाने दो, बाद में मुक़दमें की बात होगी।" सरकारी वकील पिटमैन ने गुर्राकर कहा—"पहले मुक़दमे की कार्यवाही होगी, बाद में तुम खाना खा सकते हो।" सरदार स्वर्ण सिंह अड़ गये अपनी बात पर और सरदार किशन सिंह से ले कर खाना खाने लगे। खाना खाते जाते थे और पिटमैन की तरफ़ देख कर मुसकराते जाते थे। पिटमैन बहुत नाराज़ था, पर वह कर ही क्या सकता था?

सरदार स्वर्ण सिंह को डेढ़ साल की सख्त सज़ा दी गयी। जो आदमी क्रान्ति के पथ पर पैर रखता है, जेल की सड़क पर हो तो चलता है। क़ैद का ऐलान लाख नया हो, उस के लिए तो पुरानी बात ही होती है, वे जेल जाने से चिन्तित क्यों होते? फिर जेल कोई नयी बात तो न थी। वे जेल देख आये थे, उन के दोनों बड़े भाइयों की जीवन सहचरी थी जेल, पर हाँ, वे चिन्तित थे श्रीमती हुकम कौर के लिए, जो परिवार की एक विशेष परिस्थिति में उन की जीवन-सहचरी बना दी गयी थीं। जब जेल जाने के लिए उन्हें हथकड़ियाँ पहनायी गयीं, तो उन्हें हुकम कौर की चूड़ियाँ खनखनाती सुनाई दीं और बिजली का झन्नाटा उन की नसों में खिंच गया। वे एक सहृदय मनुष्य थे, सेवाशील और सुख-दुःख में काम आने वाले साथी थे, पर वे उस की कोई सेवा न कर सकते थे, जो सिर्फ़ उन की थी और जो इस लिए अपने अरमानों की चिता पर जीते-जी जलने को मजबूर थी कि वह उन की पत्नी है। क्रान्तिकारी होते हुए भी उन्हें उन के सपनों का पूरा अहसास था, जो हुकम कौर ने बचपन से विवाह के दिन तक सँजोये

होंगे, पर उन की आँखों में एक इतना बड़ा सपना छा गया था, जो थोड़ी देर में सब सपनों को ढँक देता था।

अब वे जेल में थे। जेल में अपराधी रहते हैं, पर अपराधी भी मनुष्य होते हैं। इस लिए जेल के भी कुछ नियम हैं। जो अपराधियों के अधिकारों की घोषणा करते हैं, पर पुलिस दीवान से गवर्नर तक उन के विरुद्ध था। जेल अधिकारियों को इनाम इस में मिलने वाला न था कि उन्हों ने इस क़ैदी को हिफ़ाज़त से रखा। उनका श्रेय इस में था कि उन्हों ने इसे बेकार कर दिया। उन की पारखी आँखों ने सरदार स्वर्ण सिंह को देखते ही परख लिया कि उन का मन लाख पत्थर का हो, तन बहुत कोमल है। उन्हों ने उन्हें लम्बी मुद्दत के लिए काल-कोठरी में डाल दिया, जहाँ का अन्धेरा एकान्त मनुष्य को तोड़ डालता है। इस के बाद उन्हें चक्की और कोल्हू में लगाया गया। काला सूनापन, पशुओं को भी थका देने वाली मेहनत, गन्दी और कम खुराक और नव-विवाहिता पत्नी का, उस के शापित भविष्य की चिन्ता से ग्रस्त वियोग।

पहले कमज़ोरी आयी, फिर बीमारी। हर जेल में हस्पताल होता है, चिकित्सा की जाती है। उन्हें भी डॉक्टर देखता रहा, पर रोग बढ़ता रहा, मृत्यु की जकड़न सख्त होती रही। बुख़ार रहने लगा, खाँसी आने लगी और तब थूक के साथ ख़ून। अँगरेज़ सरकार का दावा था कि वह क़ानून से चलने वाली सरकार है, ज़ोर-ज़बरदस्ती की नहीं। विशेषज्ञ डॉक्टर बुलाये गये, थर्मामीटर लगा, स्टेथेस्कोप ने दिल की बात कान में कही, और रिपोर्ट मिली कि तपेदिक हो गया है, सेकेण्ड स्टेज पर है, बचना असम्भव है। सरकार दण्ड देती थी, तो दया भी करती थी। जेल ने प्रस्ताव किया, कलक्टर ने समर्थन किया, गवर्नर ने स्वीकृति दी, वे छोड़ दिये गये। यही नहीं, यह भी कि उन पर कई कचहरियों में चल रहे कई मुक़दमे भी वापस ले लिये गये, उन्हें पूरी तरह मुक्त कर दिया गया। बेचारी सरकार और कर ही क्या सकती थी!

अब वे अपने घर में थे। डॉक्टर भी थे, पत्नी भी थी, चिकित्सा भी थी, ख़ुराक भी थी, सेवा भी थी। चिकित्सा अपना काम कर रही थी, सेवा अपना, पर मौत ने जो इरादा बाँध लिया था, अँगरेज़ी सरकार को उस ने जो आश्वासन दिया था, उस पर वह अडिग थी। जो जेल में होना था, वही घर में हो रहा था। सरकार अपना काम कर चुकी थी, मौत अपना काम कर रही थी और सरदार स्वर्ण सिंह? वे भी अपना काम कर चुके थे। उन्हों ने सरकार के काम में बाधा नहीं डाली थी और वे मौत के काम में भी बाधा नहीं डाल रहे थे। मृत्यु के प्रति वे निश्चिन्त थे। ठीक भी है, जो सोच-समझ कर फाँसी की राह चला हो कि एक झटका और बस सब-कुछ समाप्त, वह धीरे-धीरे पास आ रही मृत्यु की पगचाप से क्यों घबरायेगा?

लगभग डेढ़ साल वे जेल के सीखचों से मुक्त हो रोग-शय्या पर पड़े रहे। और १९१० में २३ वर्ष की भरी जवानी में देशानुरागी और गृहस्थ वैरागी का आदर्श छोड़, वे शहादत की नींद सो गये। कैसा मार्मिक संयोग है कि इस बलिदान के इक्कीस साल

बाद उन के भतीजे भगत सिंह भी २३ वर्ष की भरी जवानी में ही शहीद हुए। श्रीमती हुकम कौर उन के जीते भी अकेली थीं, उन के मरने के बाद भी। उन के जीते उन्हें प्रतीक्षा का सहारा था, उन के मरे स्मृतियों का सहारा मिल गया। जिन्हें प्रत्यक्ष सहारे मिले हैं, वे इन अप्रत्यक्ष सहारों के मीठे दर्द का रस क्या जानें ? सोचती हूँ, क्रान्ति के इतिहास में मरने वालों ने जो कुछ सहा है, क्या उस से भी अधिक असह्य नहीं हैं वह, जो उन के पीछे जीने वालों ने सहा ? एक वे हैं, जो मौत की क़ीमत में बहुत-कुछ पा गये, और एक वे हैं, जो ज़िन्दगी की क़ीमत में सब-कुछ दे गये। बोलते इतिहास की अपेक्षा खामोश इतिहास कितना मार्मिक है, कितना करुण !!

निराशा की जीवित निशा :
श्रीमती हुकम कौर

१९१० में उन का सौभाग्य-सूर्य डूब गया था और १९६६ में बुझा उन का जीवन-प्रदीप। १९१० और १९६६। खून जमने लगता है मेरा इस आँकड़े को याद कर के और मैं उस जमते खून को हरक़त देने के लिए उँगलियों पर गिनने लगती हूँ : १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६० और ६ जोड़ बैठता है छप्पन। बुद्धि ज़रा दौड़ती है एक जिज्ञासा से पचास वर्ष की आधी शताब्दी और उस से भी छह वर्ष अधिक ? जानता मन अनजान बनना चाहता है उस कबूतर की तरह, जो बिल्ली को देख कर आँख मूँद लेता है और सोचता है यह कि भाग गयी बिल्ली—कहाँ है यहाँ बिल्ली ? कहीं भी नहीं। अनजान बनता मन कहता है—नहीं जी, छप्पन नहीं हो सकते, छप्पन तो बहुत होते हैं। मैं फिर गिनने लगती हूँ उँगलियों पर १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६० और ६ जोड़ बैठता है वही छप्पन, आधी शताब्दी और छह वर्ष, कई बार यही उलट-पुलट होती है, पर गणित तो गणित है। मैं एक बार गिनूँ या एक सौ एक बार—एक और एक दो ही रहेंगे। हुकम कौर तपी थीं, जली थीं, पूरे छप्पन वर्ष तक, बिना किसी आशा के, बिना किसी प्रतीक्षा के, बिना किसी मानसिक सहारे के। उन का आज जैसा सूना था, उन का कल और परसों भी वैसा ही सूना होना था न उन के जीवन में आज कोई खुशी थी, न कल कोई खुशी होनी थी। उन के जीवन के लिए परिवर्तन सिर्फ़ कोश में लिखा शब्द था, व्यवहार में उस की क़ीमत न थी एक कहावत निराश से निराश मनुष्य को भी आशा का वरदान देती है—बारह साल में तो कुररी के भी भाग जागते हैं—पर बारह चौक अड़तालिस और आठ छप्पन वर्ष में भी उन के भाग नहीं जागे। वे सोये ही इस तरह थे कि उन्हें फिर कभी जागना न था। वे निराशा की ऐसी जीवित निशा थी, जिसका चाँद लुट गया था और सूर्य इस तरह डूब गया था कि फिर कभी उसे उगना ही न था। इस कहावत की तरह ही कहावत है, 'दसोटा नल का भी कट गया था'—ठीक है नल और दमयन्ती का हाथ छूट गया था, पर हुकम कौर का हाथ छूट नहीं टूट गया था, जिसे अब किसी के द्वारा पकड़े जाने की सम्भावना ही न थी। नल-दमयन्ती का

जीवन बिछड़ गया था, जिस की खोज एक दिन पूर्ण हो गयी, पर हुकम कौर का जीवन तो बिखर गया था, रेत में तेल की तरह, जिसे बटोरना अब सम्भव ही न था।

सोचती हूँ, तो सोचती ही रह जाती हूँ कि कितना शक्तिशाली था उन का व्यक्तित्व कि इस हालत में भी वे छप्पन साल जीवित रहीं और जीवन के इन लम्बे बरसों में कितने बरस ऐसे थे, जब सुबह चार बजे से रात के दस बजे तक उन्हों ने काम किया। कितना मज़बूत था उन का देह-दुर्ग कि टूटा नहीं, वे पागल नहीं हुईं, मुरझायीं—सूखी नहीं और फ़ालिज उन के पास आते डरता रहा। हिटलर बड़ा बहादुर था, जो खिड़कियों पर रंग करने वाले मामूली पेण्टर से बढ़ कर जर्मनी का फ़्यूहरर हो गया। उस का देश उसे ईश्वर मान कर पूजने लगा, दुनिया की राजनीति उस के इशारों पर अपनी चाल को ताल देने लगी, पर निराशा के पहले झोंके में ही ज़हर खा कर मर गया बेचारा। नेपोलियन उस से महान् था। वह सैनिक से सेनापति और सेनापति से फ़्रान्स का सम्राट् हो गया था और उस ने युरॅप को अपने बूटों से रौंद दिया था पर बाद में एक क़ैदी के रूप में उसे सेण्ट हेलेना में रहना पड़ा। वह मरा नहीं, आत्म-हत्या उस ने नहीं की, पर पाँच वर्ष में ही उस का जीवन तत्त्व खोखला हो गया।

इस के विरुद्ध हुकम कौर उस निराशा में, जिस का अन्त सम्भव ही न था, अखण्ड कर्ममय जीवन ५६ वर्ष तक जीती रहीं, आधी शताब्दी और छह वर्ष। करुणा का स्रोत उमड़ने लगता है छप्पन वर्ष की बात सोच कर, पर उस करुणा में काँटे उग आते हैं, जब मैं सोचती हूँ उन छप्पन वर्षों से पहले वर्षों की बात। पति का वियोग होने से पहले क्या वे जीवन की परिपूर्णता का उपभोग कर रही थीं? यह प्रश्न साधारण नहीं है, क्यों कि मनुष्य परिपूर्णता के शिखर पर चढ़ने के बाद अपूर्णता के गड्ढे में गिर पड़ता है, तो कसक होती ही है, पर तब उस भोगी हुई परिपूर्णता की स्मृतियों का सम्बल साथी हो जाता है—"अरे, देख ली एक बार दुनिया। जैसा एक बार ऐसा सौ बार। आज कुछ नहीं है तो क्या, कल तो सब-कुछ था।" कल का गर्व आज की हीनता से उबारे रहता है मनुष्य को।

हुकम कौर की बात सोचते-सोचते मेरा ध्यान अपने देश पर चला जाता है। हमारा देश वैभव और विकास के कैलाश तक पहुँचा और धड़ाम से गिर कर बिखर गया। उठने की कोई आशा न रही, पर उठा और ख़ूब उठा। प्रश्न है, किस सम्बल के सहारे उठा? उत्तर है—अतीत के गौरव का सहारा ले कर। ऋषि दयानन्द ने देश को पुकारा अतीत के गौरव के नाम पर। और सन्त विवेकानन्द ने ललकारा अतीत गौरव के नाम पर, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की दृष्टि अन्त तक देश के अतीत पर लगी रही और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी अपनी आवाज़ यहीं से आरम्भ की—"हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।" उज्ज्वल अतीत मनुष्य के लिए एक बहुत बड़ा सहारा है, जो उसे उठने की प्रेरणा देता है, उठ सकने का विश्वास दिलाता है।

करुणा की साक्षात् प्रतिमा श्रीमती हुकम कौर के साथ ऐसा अतीत कहाँ था ? मृत्यु से पहले डेढ़ वर्ष तक उन के पति सरदार स्वर्ण सिंह तपेदिक से ग्रस्त थे। उन दिनों में आशा की कोई किरण नहीं थी, डॉक्टर-हकीम-वैद्य—सभी ने उन के रोग को असाध्य कह दिया था। इस का अर्थ है कि इस डेढ़ वर्ष में हर घड़ी मृत्यु हुकम कौर के पास थी। किसी के घर में साँप के रहने का वहम हो जाये, तो उसे चैन नहीं पड़ती, पर हुकम कौर के तो घर में नहीं, पलँग पर ही मौत नाच रही थी। उन्हें कैसे चैन पड़ती। मृत्यु की चिन्ता, मृत्यु की आशंका, बस यही था उन का जीवन। एक दिन मृत्यु ने उस जीवन को चबा लिया, जो उस के पंजे में था और हुकम कौर का जीवन अँधियारा हो गया।

उन्हें अब न कभी सजना था, न सँवरना था, न किलकना था। न उन के हाथों में चूड़ियाँ खनकनी थीं, न माँग में सिन्दूर दमकना था। उन के जीवन का दशहरा और दीवाली पलक मारते होली में समा गये थे और जिन्दगी को पनपाने और पुलकाने वाले अरमान राख़ की एक ढेरी बन कर रह गये थे। इस ढेरी का क्या उपयोग था ? यही कि कभी-कभी आँधी-तूफ़ान में यह राख उड़ती थी और उन की आँखों के सामने अँधेरा घुप्प छा जाता था।

गुरुद्वारे में मनौती, मन्दिर में मनौती, पीर और थान पर मनौती मानी जाती है—मेरा यह काम सिद्ध हो जायेगा, तो मैं यह भेंट चढ़ाऊँगी। मनौती मन का सपना है, मुझे मानने में कोई आपत्ति नहीं कि यह एक अन्धविश्वास है; पर यह भी तो मानना पड़ेगा कि मनौती माताओं और पत्नियों की डगमगाती आशा-नौका की पतवार है। माँ सन्तान के संकट में और पत्नी पति की परेशानी में मनौतियों का सहारा लेती है, पर वे न माँ थीं, न पत्नी। वे तो सन्त कवि कबीर की भाषा में उस धौंकनी की तरह थीं जो साँस लेते हुए भी निर्जीव होती है। रमज़ान शरीफ़ की तपस्या कठिन है—हर इच्छा पर नियन्त्रण रखना पड़ता है, पर उस के अन्त में ईद का चाँद तो निकलता है, उस तपस्या का आबे-जमजम ठण्डक तो देता रहता है। हुकम कौर का जीवन तो ऐसा रमज़ान हो गया था, जिस में ईद होती ही नहीं, एक ऐसी अमावस, जिस के बाद दोयज के माथे पर चाँद का टीका सजता ही नहीं।

फल की आशा से पूजा-पाठ-प्रार्थना करने को धर्म ने घटिया बात बताया है, पर संसार में बढ़िया आदमी कितने हैं ? जीवन की रेल में तृतीय और द्वितीय श्रेणी के ही अधिक डिब्बे होते हैं, प्रथम श्रेणी के कम। फल की कामना ने ही धर्म और ईश्वर की भावना को जीवित रखा है, पर जिस के वृक्ष की जड़ कट गयी, वह फल कहाँ से पायेगा, फल की कामना क्या करेगा ? हुकम कौर भी ऐसी ही स्थिति में थीं। संस्कारवश वे भी पूजा-पाठ करती थीं पर अकसर ऊब कर यह भी कह देती थीं—"मुझे क्या दिया है भगवान् ने, जो मैं उस की पूजा करूँ।" सिर पर पति नहीं, गोद में सन्तान नहीं, यौवन निरर्थक, वर्तमान दुःख-भरा और निराशा में डूबा हुआ। ज़िन्दगी ही मौत तो

मौत से क्या भय ? फिर भी वे लम्बे वर्षों तक जीवित रहीं। सोचती हूँ कितनी शक्ति थी उन में और सोचती हूँ समाज ने उस शक्ति का उपयोग नहीं किया, यह कैसा दारुण चित्र है समाज की निर्जीवता का। साथ ही यह समाज की हृदय-हीनता का भी कैसा दयनीय चित्र है कि समाज ने उस हृदय को अपनी पूजा-प्रतिष्ठा दे कर सींचने की ज़रा भी कोशिश नहीं की, जिस का सारा रक्त समाज को शक्ति देने में ही निचुड़ गया था।

डेढ़ साल तक मौत के साथ रहने से पहले हुकम कौर के जीवन में क्या कोई फुलवारी महक रही थी ? करुणा में डूवा मन पूछता है, पर स्मृति का दूत कहता है—नहीं बीमार और मरणासन्न पति की समीपता पाने से पहले डेढ़ साल तक उन के पति जेल में थे और वहाँ से उन की बीमारी की खबरें चिनगारी बन कर आतीं और हुकम कौर को जलाती थीं। और उस से पहले ? उस से पहले विवाह की चार दिन की चाँदनी, छोटी उम्र के कारण जिस में चाव तो था, पर कोई गहरा भाव नहीं था, और उस से पहले साधारण परिवार के अभावों में पलने के कष्ट। सोचती हूँ जन्म से मरण तक एक मर्मान्तक निराशा का ही नाम है हुकम कौर, पर मर्मान्तक निराशा की लम्बी निशा में भी अडिग अकम्प भाव से चलते रहने की क्षमता से युक्त एक व्यक्तित्व का ही नाम क्या नहीं है हुकम कौर ?

जव आकाश का आखिरी सितारा डूवता है तो रात वैसी ही खोयी-खोयी हो जाती है, जैसे वह विधवा, पति की लाश के पास बैठा कर जिस की आखिरी चूड़ी तोड़ी जा रही हो। उन के जीवन का अंकुर जव उगा तो वहाँ सुख की एक किरण चमक रही थी। हुकम कौर कई भाइयों की इकलौती वहन थीं। संविधान लाख चिल्लाये और घोषणा करे, भारतीय माता-पिता के मन में वेटे-वेटी का भेद नये युग के प्रकाश में भी अन्धकार की तरह छाया हुआ है। फिर वह तो अन्धकार का युग ही था, जिस में माता-पिता और भाई लड़की को जन्म लेते ही गला घोंट कर मार देना खटमल मारने की तरह उचित और सहज समझते थे। बेटी के लिए परिवार में सम्मान पाने की एक ही रेखा थी कि वह कई भाइयों की इकलौती वहन हो। हुकम कौर को यह सम्मान-सुख प्राप्त हुआ था अपने जन्म के समय, पर अभागों के लिए फूल भी अंगार हो जाते हैं। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है—"कभी-कभी अमृत भी विप हो जाता है।"

विधवा होने के वाद दूर वंठे भाइयों का स्मरण हुकम कौर के टूटे जीवन का वैसा ही सहारा था, जैसे रात के थके बटोही के पैरों के लिए कहीं दूर पर जलते दीपक की रोशनी। रोशनी से हुकम कौर के भाग्य को चिढ़ थी, एक-एक कर के उन के सव भाई मर गये और भाभियाँ भी। जगत सिंह की मृत्यु ने उन के अकेलेपन को और भी रूखा कर दिया था। तव सारी ममता उन्हों ने भगत सिंह पर उँड़ेल दी। उन्हें जव फाँसी हुई तो उन का सूना जीवन नये भूकम्प से अधमरा हो गया। इस में उन का कोई दोष न था, पर भाग्यवाद के वृक्ष का सव से महत्त्वपूर्ण फल ही यह है कि

आदमी किसी को दोष नहीं देता बल्कि दूसरों के दोषों को भी अपने ही खाते में लिख लेता है। उस की भाषा होती है—मेरी, क़िस्मत ही फूटी थी, तो दूसरों का क्या दोष ? वे अब अकेली रह गयी थीं ममता की राह में और उन का अकेलापन कभी-कभी बड़े ही करुण शब्दों में मुखरित हो उठता था—अकेला तो पेड़ भी सूख जाता है, फिर मैं तो इनसान हूँ। सोच कर मन तड़प उठता है—कितनी प्यास थी उन के भीतर कि कोई मेरा अपना हो, सिर्फ़ मेरा-ही-मेरा, पर उन का अपना कौन था ? यों तो सब अपने ही थे, पर अपना तो अपना ही होता है। सड़क पर चलते कौन अकेला रहा है, लेकिन सड़क की भीड़ से किस का हृदय गुंजार हुआ है ? सड़क पर चलते सब अपनी धुन में होते हैं, सब के मन में अपना घर होता है, पर जिस का घर ही सूना हो, उस की कल्पना तो सड़क पर चलते भी सूनी ही रहेगी। वे सड़क की भीड़ में भी अकेली थीं। क्या यह स्थिति जीवन को तोड़ डालने वाली नहीं है ? और क्या इस स्थिति में भी लम्बी ज़िन्दगी जीना सरल है ?

श्रीमती हरनाम कौर उन की जेठानी भी पति-विहीन थीं और श्रीमती हुकम कौर भी, पर एक का पति विदेश में जीवित था, दूसरी का स्वर्ग में। विदेश में लाख दुःख हों, वहाँ से आदमी कभी-न-कभी लौट तो सकता है, पर स्वर्ग में लाख सुख हों वहाँ न पासपोर्ट है, न पोस्ट ऑफ़िस। हरनाम कौर बड़े घर की बेटी थीं, हुकम कौर साधारण घर की। इस से उन दोनों के प्रति दूसरों से मिलने वाले सम्मान में अन्तर पड़ता था। हरनाम कौर ने टूटी हड्डी जोड़ने, दुःखती आँख ठीक करने, मोच निकालने और लड़कियों को पढ़ाने का काम सीख रखा था और इन सब के कारण वे गाँव में अधिक सम्मानित थीं, उन्हें सब आदर के साथ मिलते थे, घर में भी उन के साथ अपेक्षाकृत अच्छा व्यवहार होता था। इन सब बातों ने हुकम कौर को उपेक्षित कर दिया और उपेक्षा मनुष्य को भावहीन कर देती है। वे भी चिड़चिड़ी हो गयीं थीं। जो मन में हो मुँह पर आ जाता था। हरनाम कौर इस मामले में चतुर थीं। मन की बात मन में रखती थीं, जीभ पर न आने देती थीं। कूटनीति प्रशंसा पाती थी, स्पष्टनीति निन्दा। यह निन्दा उन्हें कड़ुवा कर देती थी, यह कड़वाहट उन्हें और निन्दा में डुबाती थी। हमारा सत्य दर्शन का यन्त्र कितना कमज़ोर है ? उन का स्वभाव सभी देखते थे, भाव कोई नहीं। उपेक्षित और निन्दित हो कर भी उन में कर्तव्य का अथाह भाव था। सुबह चार बजे वे चक्की पर होती थीं, सात बजे चूल्हे पर, दस-ग्यारह बजे चौके पर और उस के बाद चरखे पर—काम-ही-काम, काम ही उन का धर्म था और काम ही उन का मर्म। घर अकसर उन के ही हाथ की रोटी खाता था, उन के ही काते सूत के वस्त्र पहनता था, फिर भी वे सब से अधिक उपेक्षित थीं।

बिना मोबिल आयल के तो मोटर का एंजिन भी घरघराहट करने लगता है। क्या वे कोई यन्त्र थीं, जड़-यन्त्र जो काम करता है, जिस में हृदय नहीं होता ? सब शायद ऐसा ही समझते थे, पर जब भी उन का ध्यान करती हूँ माण्टगुमरी जेल की

काली ड्योढ़ी मेरे सामने उन के धवल हृदय का ऐसा चित्र पेश कर देती है कि मेरा मन उन के प्रति आदर से ओतप्रोत हो जाता है। हुकम कौर ने कुलतार सिंह को जन्म नहीं दिया था, बाक़ी पालन-पोषण उन्हों ने ही किया था। उन के सूखे जीवन में मातृत्व की जो कुछ भी हरियाली थी, वह कुलतार सिंह के प्यार से ही सिंचित थी। कुलतार सिंह माण्टगुमरी जेल में नज़रबन्द थे। वहुत दिनों वाद मुलाक़ात की मंज़ूरी मिली थी और भविष्य अज्ञात था। माता-पिता, पत्नी और भाई-वहन ही मिल सकते थे। क़ानूनी रूप में हुकम कौर न माता थीं, न वहन, पर मिलने के लिए उन का रोम-रोम हाहाकार कर रहा था। वहुत सोच-विचार के वाद उन्हें वहन वनाया गया और रास्ते-भर पढ़ाया गया कि वे पूछने पर अपना नाम सुमित्रा या शकुन्तला वतायें, पर जेल का द्वार देख कर वे दुःख से इतनी कातर हुईं कि यह भूल गयीं और पूछने पर उन्हों ने नाम वताया हुकम कौर। अव वे कैसे मिल सकती थीं, सव भीतर गये, वे वाहर रह गयीं, जैसे जीवन में जीवन के द्वार पर ही भाग्य-द्वारा रोक दी गयी थीं, जेल के द्वार पर भी उन्हें रोक दिया गया। वे तड़प उठीं और द्वार को लग कर ज़ोर-ज़ोर से विलाप करने लगीं। उन के हाथ में घी का डिव्वा था, जो वे अपने कुलतार के लिए ले गयी थीं, उन की आँखों में आँसुओं की धारा थी, जिस से उन के हाथ और डिव्वा—दोनों भींग-भींग जा रहे थे। रोते-रोते वे वार-वार कह रहीं थी—काका, कुलतार सिंह मैं, वाहर हूँ। मैं ने तुम्हें जन्म ही तो नहीं दिया, पाल-पोस कर वड़ा तो किया है, अरे, फिर मैं ग़ैर कैसे हो गयी।

उन का विलाप ऐसा कि सुनो तो छाती फटे। दूसरे क़ैदियों की माताएँ भी, जो अपने-अपने वेटों से मिलने के लिए आयी हुई थीं, अपना दुःख भूल कर उन के दुःख में डूव गयीं। उन की आँखें ही नहीं, उन की बुद्धि, उन की आत्मा, उन की पूरी जीवन-चेतना ही विलाप कर रही थी—मैं ने तुम्हें जन्म ही तो नहीं दिया, पाल-पोस कर वड़ा तो किया है, अरे फिर मैं ग़ैर कैसे हो गयी ?

सोचती हूँ दशरथ ने भी विलाप किया था, नल ने भी और अज ने भी, सीता ने भी विलाप किया था, दमयन्ती ने भी, पर दशरथ और अज थे महाराजा और सीता, दमयन्ती महारानियाँ। उन के विलाप को वाल्मीकि, तुलसी और कालिदास ने साहित्य में सुरक्षित रख दिया। हमारे युग के कवियों ने प्राचीन कवियों-द्वारा विस्मृत उर्मिला, यशोधरा और रत्नावली को उन की चिताओं की राख से उठा कर लाख-लाख देश-वासियों के लिए स्मरणीय वना दिया, पर मैं सोच कर हैरान रह जाती हूँ कि उन की आँखों के सामने, उन की ही छाया में उन के ही युग के दशरथ, अज, नल और सीता, दमयन्ती, उर्मिला, यशोधरा और रत्नावली विलाप करते रहे, पर उन के कान हुकम कौर के विलाप न सुन सके, उन की क़लम कहाँ उठती ?

क्या हुकम कौर का दर्द यही था कि वे अपने पाले-पोसे वेटे के लिए ग़ैर हो गयीं। किसी के लिए भी यह वड़ा गहरा दर्द है, पर क्या इसी दर्द से छटपटा रही थीं हुकम

कौर ? हाँ, ऐसा ही लगता है, पर हाँ एकदम ना में बदल गयी, जब उन के विलाप से व्यथित हो, जेल वालों ने कुलतार सिंह को जेल की ड्योढ़ी में जा कर उन से मिल लेने की सुविधा दे दी। वे कुलतार सिंह को लिपट गयीं और एकदम उन के मुँह से निकला—कुलतार मेरी जिन्दगी तो कट गयी किसी तरह, पर सतीन्द्र कौर (श्रीमती कुलतार सिंह) का क्या होगा ? यह कहाँ रहेगी ? मतलब यह कि वे अपने लिए नहीं, सतीन्द्र कौर के लिए तड़प रही थीं, उन्हें अपने भविष्य की नहीं, सतीन्द्र कौर के भविष्य की चिन्ता उद्विग्न कर रही थी। इस से साफ़ बात यह कि उन के लिए सतीन्द्र कौर का उन की ही तरह जीना असह्य था। वे नहीं चाहती थीं कि उन्हों ने जो त्रास सहे हैं, वे सतीन्द्र कौर को भी सहने पड़ें, 'जो किसी के दिल में भी चोट हो, तो जिगर में मेरा तड़प उठे।' मानवीय सहानुभूति, मानवीय समवेदना का क्या यह क्लाईमेक्स नहीं है और जीवन की कौन-सी कहानी है, जो इस क्लाईमेक्स को पा कर 'क्लैसिकल' न हो उठे।

हुकम कौर खण्डहर में खड़ा वृक्ष थीं, जहाँ न कोई मालिक न कोई माली, पर वे चाहती थीं कि सतीन्द्र कौर सुरक्षित और पोषित चमन की महकती चमेली का जीवन जिये। यह उन के व्यक्तित्व का कोई साधारण पहलू नहीं है। हुकम कौर कितनी उदार, कितनी सहनशील, कितनी कोमल थीं कि अपना दुःख भूल कर दूसरों के सुख में रस ले पाती थीं, पर हमारा समाज कितना सड़ गया है कि नारियल के छिलके को तो देखता है और उस के भीतर के पोषक रस और मधुर फल को नहीं। इस से भी आगे यह कि वह पहले घोर उपेक्षा से मनुष्य को चिड़चिड़ा बनाता है फिर उस के बुरे स्वभाव की निन्दा में जुटा रहता है। हुकम कौर इस का जीवित उदाहरण थीं। उन के भाव को कोई न देखता था, उन के स्वभाव की सब निन्दा करते थे। सिराजुद्दौला के चरित्र को धूर्त अँगरेज़ इतिहासकारों ने योजनापूर्वक ख़ूब काला किया, पर बाद में कर्नल अलकाट ने ईमानदारी से खोज कर के जब सिराजुद्दौला का जीवन-चरित्र लिखा, तो उस के प्रथम पृष्ठ पर एक सूत्र अंकित किया—"सिराजुद्दौला बद नहीं, बदनसीब था।" सोचता हूँ क्या यही सूत्र हुकम कौर के जीवन-चरित्र का सार-सूत्र नहीं है।

यह बात है १९१० की कि वह बीस वर्ष की उमर में विधवा हो गयीं और यह बात है १४ जनवरी १९६६ की कि वे स्वर्ग सिधार गयीं। उन की मृत्यु एक दुःखिया औरत की मृत्यु थी; लेकिन एक बात इस मृत्यु पर महत्त्व की वार्निश कर देती है। उन का जीवन मृत्यु के धक्के सहते बीता था, पर उन के जीवन पर सब से गहरा प्रभाव जिस मृत्यु का पड़ा, वह थी प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री की ११ जनवरी १९६६ को मृत्यु।

क्या शास्त्री जी से उन का व्यक्तिगत सम्पर्क—सम्बन्ध था ? सम्बन्ध क्या होता, जब उन्हों ने उन्हें कभी देखा भी न था। फिर ? 'हाय, पाकिस्तान के राजा ने हमारे राजा को मार दिया !'—ये शब्द थे, जो हर घड़ी उन के मुँह से निकलते रहे।

तो शास्त्री जी उन के राजा थे, उन के देश के राजा थे ! क्या कहते हैं उन के दुःख-भरे शब्द ? यही न कि उन के मूक जीवन का अन्तःश्रोत राष्ट्र के साथ जुड़ा था और एक शहीद की पत्नी की भावना ही उन में न थी, राष्ट्र की जाग्रत् चेतना भी उन में थी। ठीक भी है, समाज और परिवार में उन्हों ने जो कुछ सहा था, वह देश के कारण और देश के लिए ही तो सहा था। उन का सहज प्रह्लाद के गरम खम्भे से लिपटने-जैसा ही दारुण तो था। उन की जलन को भगत सिंह ने ठीक-ठीक आँका था—जब वे जेल में थे, चाची जी ने उन से कहा था—बेटा, सरकार बड़ी सख्त है, तुम्हें सताती होगी। उन्हों ने उत्तर दिया था—"चाची जी, यह सरकार तुम्हारी सरकार से कम सख्त है और कम सताती है।"

■ ■

शहीदों के शहीद भगत सिंह :
जीवन-झाँकी

- क्या होते हैं भला सात वर्ष !
- उस युग में सात वर्ष का बालक मुश्किल से तख्ती ले कर स्कूल जाने लायक़ होता था।
- १९२४ से १९३१ सात ही वर्ष होते हैं।
- हिसाब में पाई से पाई मिलानी हो तो इन में तीन महीने और जुड़ते हैं—जनवरी, फ़रवरी, मार्च।
- मार्च भी पूरा नहीं, उस के सिर्फ़ २३ दिन !
- इस तरह कुल सात वर्ष दो महीने और तेईस दिन।
- कुछ भी नहीं, कुछ भी तो नहीं।
- हम सब के जीवन में सात वर्ष और तीन महीने देखते-ही-देखते गुज़र जाते हैं, तो सचमुच कुछ भी तो नहीं होते सात वर्ष और तीन महीने।
- हाँ, कुछ नहीं होते, पर वह इतने ही दिनों में तूफ़ान भी हो गया और निर्माण भी।
- संसार की सब से बड़ी शक्ति की नींव भी हिला गया और राष्ट्र को नयी समाज-व्यवस्था का सूत्र भी दे गया।
- हम वे दिन भी गिन लें, जो बेहोशी में बीते और वे दिन भी गिन लें जो बेख़ुदी में बीते तो तेईस वर्ष होते हैं।
- क्या होते हैं तेईस वर्ष। किसी भी कॉलेज में इस उम्र के नवयुवक बी० ए० या एम० ए० की कक्षाओं में बैठे मिलेंगे।
- पर वह तेईस वर्ष की उम्र में ही दुश्मन को बेहाल और देश को निहाल कर गया, इतिहास का एक पृष्ठ लिख गया, इतिहास का एक पृष्ठ हो गया !
- स्वामी विवेकानन्द उनतालीस वर्ष की उम्र में अपना काम कर गये थे, महामानव ईसा तैंतीस वर्ष की उम्र में और महापुरुष शंकराचार्य तीस वर्ष की उम्र में, पर उस ने तेज़ी से ये रेकॉर्ड भी तोड़ दिये और तेईस वर्ष की उम्र में ही अपने तमाशे का तम्बू फैला भी दिया और समेट भी लिया।

ये थे भगत सिंह, शहीदों के शहीद भगत सिंह !

कौन-सा दिन होता है और कौन-सी तारीख़, जिस में बालकों के जन्म नहीं होते, पर इन जन्म लेने वाले बालकों में कोई-कोई ऐसा भी होता है, जिस के जन्म के कारण उसे जन्म देने वाली तिथि इतिहास में स्मरणीय हो जाती है–स्वयं इतिहास बन जाती है। २५ दिसम्बर ईसा को जन्म दे कर, वैसाख की पूर्णिमा बुद्ध को जन्म दे कर और २ अक्तूबर गान्धी को जन्म दे कर जो पद पा गयी थी, वही पद २८ सितम्बर १९०७ आश्विन शुक्ला त्रयोदशी संवत् १९६४ विक्रमी शनिवार प्रातः लगभग ९ बजे भगत सिंह को जन्म दे कर पा गयी। यह घटना ग्राम बंगा, ज़िला लायलपुर (अब पाकिस्तान) में हुई।

प्राचीन साहित्य में संस्कृत के कवियों ने महापुरुषों के जन्म पर प्रकृति को प्रभावित होते–बादलों का घिर आना, या छँट जाना, पुष्पों का असाधारण रूप से खिल उठना इत्यादि–दिखाया है। भगत सिंह के जन्म पर प्रकृति पूरी तरह प्रभावित हुई, पर राष्ट्र की राजनीति के रूप में, जैसे उस ने अपने इशारों में साफ़ कहा हो कि आज राजनीति का एक भावी कर्णधार जन्मा हो। उसी दिन उन के चाचा सरदार अजीत सिंह के निर्वासन समाप्त होने की सूचना मिली और उसी दिन उन के पिता सरदार किशन सिंह और उन के छोटे चाचा सरदार स्वर्ण सिंह जेल से रिहा हुए। सब ने उन्हें भागों वाला–भाग्यवान्–कहा, और इसी से उन की दादी श्रीमती जयकौर ने उन का नाम रख दिया भगत सिंह।

उन्हों ने अपने माता-पिता से रूपवान् और बलिष्ठ व्यक्तित्व पाया था। आकर्षण उन के उस व्यक्तित्व की जन्मजात विशेषता थी। जीवन का पहला वर्ष पूरा करते-करते वे सब की गोद के लाडले हो गये थे। दादियाँ, माताएँ और बहू-बेटियाँ ही नहीं, छोटी उम्र के बालक भी उन्हें गोद लेने को उत्सुक रहते थे। उन की जो बातें सब को प्रभावित करती थीं, वह थीं उन का दूसरों को देखने और मुसकराने का निराला ढंग। बड़े-बूढ़े उन्हें देख कर उन के उज्ज्वल भविष्य की बातें किया करते थे–"बड़ा होनहार बेटा पैदा हुआ है सरदार किशन सिंह के घर।" और यह भी कि "खानदान की इज़्ज़त में यह चार-चाँद लगायेगा।"

और अब वे हो गये थे ढाई-तीन साल के। उन दिनों खेतों में नया बाग़ लग रहा था। ज़मीन तैयार हो चुकी थी और उस में आम के पौधे रोपे जा रहे थे। सरदार किशन सिंह अपने मित्र श्री मेहता नन्दकिशोर के साथ अपना बाग़ देखने के लिए खेतों पर गये। भगत सिंह भी साथ थे। पिता की उँगली छोड़ वे खेत में बैठ गये और पौधों की तरह छोटे-छोटे तिनके ज़मीन में रोपने लगे। आश्चर्य से मेहता जी ने कहा–"आपका बेटा तो अभी से किसान बन गया है और पौधे रोप रहा है।"

पिता ने लाड़ से कहा—"क्या कर रहे हो भगत सिंह।" उन के उत्तर ने दोनों को स्तब्ध भी कर दिया और मुग्ध भी–"बन्दूकें बो रहा हूँ।" स्वर ऐसा था कि जैसे कृषि का कोई विशेषज्ञ हो।

सोचती हूँ जो बालक बन्दूक़ शब्द का उच्चारण भी नहीं कर सकता और जो नहीं जानता कि बन्दूक़ का उपयोग क्या है, वह अपने खेत में बन्दूक़ बो रहा था, अपने उन हाथों से, जिन में चलाना तो दूर, अभी बन्दूक़ थामने की भी ताक़त न थी। बचपन भविष्य की भूमिका है। भूमिका को पढ़ कर हम ग्रन्थ का स्वरूप और विषय-विकास जान लेते हैं। बचपन में भी भविष्य के बीज और अंकुर मिल जाते हैं। उस दिन यह कौन सोच सकता था कि जो बालक तुतलाते-तुतलाते ही खेत में बन्दूक़ बोने लगा है, आगे चल कर उस का व्यक्तित्व स्वयं ही बन्दूक़ों का ऐसा खेत हो जायेगा जिस में उस के बलिदान के बाद भी बन्दूक़ें उपजेंगी और जब तक भारत का इतिहास जीवित रहेगा, बन्दूक़ें उपजती रहेंगी।

भगत सिंह के चाचा सरदार अजीत सिंह भारत से फ़रार हो कर विदेश चले गये थे। उन की पत्नी श्रीमती हरनाम कौर भगत सिंह को गोद में लिटा लेतीं और वात्सल्य की गहरी अनुभूति में डूब जातीं। वात्सल्य और दाम्पत्य की भावनाएँ जन्म-जात सहचरी हैं। वे दाम्पत्य की स्मृतियों में घिर जातीं और उन की आँखों की बद-लियाँ बरसने लगतीं। भगत सिंह देखते, तो विह्वल हो जाते। वे आँसुओं का कारण तो तब क्या समझते, पर उन का चेतना-यन्त्र इतना समर्थ था कि वे उन के दुःख को गहराई के साथ महसूस करते और गोद में लेटे ही लेटे आँसू पोंछते। कौन सोच सकता था उस दिन कि जो बालक आज अपनी चाची के आँसू पोंछ रहा है, वह भारतमाता के आँसू पोंछने के लिए जन्मा है। चाची बालक की निश्छल सहानुभूति पा कर और भी द्रवित हो जातीं, तो भगत सिंह गोद से उतर कर दोनों बाँहें चाची के गले में डाल देते। उन्हें अपने में कस कर मूक सहारा देते और कभी-कभी स्वयं भी रो पड़ते।

भगत सिंह की शिक्षा बंगा गाँव के प्राइमरी स्कूल में आरम्भ हुई तो वे श्रेष्ठ विद्यार्थी सिद्ध हुए। पाठ याद करने में वे सावधान रहते थे, तो लिखाई को सुन्दर बनाने में सतर्क। जमा-जमा कर पढ़ते, बना-बना कर लिखते। अध्यापकों के प्रति वे बहुत शालीन थे, तो साथी विद्यार्थियों के प्रति हमदर्द। स्कूल उन के व्यवहार से उन के लिए परिवार हो गया। छुट्टी होती तो बड़ी कक्षाओं के बालक उन को कन्धों पर बैठा कर घर छोड़ जाते।

उन का यह समय अपने दादा सरदार अर्जुन सिंह के संरक्षण में बीता। दादा जी धर्म-पुरुष भी थे, कर्म-पुरुष भी। निश्चय ही उन का धर्म और कर्म दोनों ही राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत थे, फिर भी भगत सिंह किस धातु के बने थे, इस का पता इस बात से भी साफ़ झलकता है कि उन्हों ने अपने दादा के धर्म का नहीं, कर्म का ही प्रभाव ग्रहण किया। गाँव के सीधे-सादे जीवन में रहते और हवन, वेदपाठ, प्रभु प्रार्थना और गुण-कीर्तन के गहरे घने वातावरण में पलते हुए भी भगत सिंह का धर्म के प्रति विरक्त रह जाना उन के उस लौह व्यक्तित्व का चित्र प्रस्तुत करता है जो जन्मजात होता है और विरोधी आँधियों में भी अपनी दिशा में आगे बढ़ता है।

उन की जो वृत्तियाँ बचपन से ही झलकने लगी थीं, उन में एक थी मित्रता की वृत्ति। साथ पढ़ने वाले बालक तो उन के मित्र थे ही, पर बड़ों-बड़ों से भी वे मित्रता जोड़ते थे। इस की भी एक निराली अदा थी। एक दिन गाँव का बूढ़ा दरज़ी उन की कमीज़ सिल कर उन्हें दे गया। कमीज़ देख कर बोले—"दरज़ी मेरा दोस्त है। वह मेरे लिए कमीज़ लाया है।" कोई उन्हें कुछ चीज़ दे देता, तो घर आ कर कहते थे—"वह मेरा दोस्त है, देखो, मुझे ये दे गया है।"

एक बार ऐसा हुआ कि उन्हों ने एक ही दिन में कई बार यह घोषणा की—"यह मेरा दोस्त है, वह मेरा दोस्त है।" घर में ही किसी ने कहा—"यह और वह क्या, तुम्हारा तो सारा गाँव ही दोस्त है।" छाती पर हाथ रख कर एक समझदार आदमी की तरह बोले—"हाँ, सारे मेरे दोस्त हैं।" उन के दावे का ढंग देख कर सब हँस पड़े, पर उस दिन उन हँसने वालों को क्या पता था कि यह बालक सोलह-सत्रह वर्ष बाद ही अपनी मौत का सिक्का फेंक कर करोड़ों स्त्री-पुरुषों की दोस्ती ख़रीद लेगा और उस के ये बोल उस के ही नहीं, इतिहास के बोल हैं।

तीसरी कक्षा में पहुँचते-पहुँचते वे उस क्रान्ति को झिलमिल रूप में समझने लगे थे, जिस के कारण उन के एक चाचा विदेशों में भटक रहे थे, घर न आ सकते थे, चाची को रोना पड़ता था, दूसरे चाचा जेल के अत्याचारों से शहीद हो गये थे और पिता का एक पैर जेल में रहता था। अब भगत सिंह चाचियों के दुःखी होने पर उन के पास बैठ जाते, इस तरह देखते कि जैसे उन के दुःख को ठीक-ठीक महसूस कर रहे हों, वे दोनों चाचियों को धीरज बँधाते, पर बाल-प्रतिभा का यह एक चमत्कार ही है कि वे श्रीमती हरनाम कौर को कहते—"चाची जी, आप दुःखी न हों, मैं अँगरेज़ों को यहाँ से भगा दूँगा और चाचा जी को वापस लाऊँगा।" दूसरी चाची श्रीमती हुकम कौर से कहते—"चाची जी, आप दुःखी न हों। मैं अँगरेज़ों से अच्छी तरह बदला लूँगा।" कहते समय उन का बाल-स्वर ऐसा सन्नद्ध होता, जैसे किसी देश का सेनापति आक्रमणकारियों को भगाने के सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री को आश्वासन दे रहा हो। सुनते-सुनते चाचियाँ अपना दुःख भूल कर बालक को अपने में समेट लेतीं और रोते-रोते भी मुसकरा पड़तीं।

चौथी कक्षा में पहुँचने पर वे सभी विद्यार्थियों से पूछा करते थे—"तुम बड़े हो कर क्या करोगे।" कोई कहता—नौकरी करूँगा, कोई खेती की बात करता, कोई दुकानदारी की। वे सुनते रहते, पर जब कोई कहता—"मैं शादी करूँगा, तो वे जोश से कहते—शादी करना भी कोई बड़ा काम है। मैं हरगिज़ शादी नहीं करूँगा। मैं तो अँगरेज़ों को देश से बाहर निकालूँगा।"

पढ़ने में इतने तेज़ थे कि चौथी कक्षा की पढ़ाई के साथ ही उन्हों ने घर में रखी सरदार अजीत सिंह, सूफ़ी अम्बाप्रसाद और लाला हरदयाल की लिखी पचास से अधिक छोटी-बड़ी पुस्तकें पढ़ डालीं। घर में पुराने अखबारों की फ़ाइलें भी थीं। उन

में सरदार अजीत सिंह और लाला लाजपत राय के निर्वासन तथा दूसरे राजनैतिक काण्डों के समाचार थे। इन सब को भी उन्हों ने पढ़ डाला। इस अध्ययन ने चाचियों के आँसुओं की छाया में बोयी गयी अँगरेज़-विरोधी प्रवृत्ति को अंकुरों का रूप दे दिया। उम्र के विचार से वे अभी बालक ही थे, पर बात-चीत, विचार-विमर्श और चाल-ढाल में अपनी उम्र से बहुत आगे थे—बहुत आगे, इतने आगे कि उन के अध्यापक उन का आदर करते थे और दूसरे छात्रों को वैसा बनने की प्रेरणा देते थे। पढ़ाई, अनुशासन, सफ़ाई, स्वच्छता, और सहयोग के लिए ताड़ना तो दूर रहा, उन्हें कभी कहना भी न पड़ता था। लोकप्रियता के जिस शिखर पर वे अपने जीवन के अन्त में पहुँचे, उस का शिलान्यास उन्हों ने बचपन में ही कर दिया था। उन का बचपन सचमुच उन के भविष्य की भूमिका थी।

■ ■

किशोरावस्था

गाँव में प्रायमरी पास कर भगत सिंह अपने माता-पिता के पास नवाकोट लाहौर चले गये। उन दिनों सिखों के वालक सिख जाति-द्वारा स्थापित और संचालित खालसा स्कूलों में ही पढ़ा करते थे। सब के आग्रह करने पर भी सरदार किशन सिंह ने उन्हें खालसा स्कूल के वजाय डी० ए० वी० स्कूल में भरती किया। दादा जी सरदार अर्जुन सिंह का प्रभाव तो इस में था ही, पर खास वात यह थी कि खालसा स्कूलों का प्रवन्ध सरकारपरस्त आदमियों के हाथ में था और वहाँ 'गॉड सेव द किंग'—ईश्वर राजा की रक्षा करे—का गीत प्रार्थना में गाया जाता था। भगत सिंह के जन्म के पीछे क्रान्तिवीरपुत्र की कामना थी। वे उन्हें राजभक्ति के वातावरण में कैसे रख सकते थे।

भगत सिंह पाँचवीं क्लास में पढ़ने लगे। गाँव के स्कूल और शहर के स्कूल दोनों के वातावरण और स्तर में अन्तर है, यह सोच कर पिता जी ने उन के लिए ट्यूशन का प्रवन्ध कर दिया। कुछ दिन वाद जव एक दिन सरदार किशन सिंह अध्यापक से मिले तो पूछा—"आप का शिष्य ठीक पढ़ रहा है।" अध्यापक का उत्तर था—"वह तो शिष्य क्या, स्वयं गुरु है। मैं इसे क्या पढ़ाऊँ, वह तो लगता है, पहले ही सव-कुछ पढ़ा हुआ है।" स्कूल की पुस्तकें तो वे पढ़ते ही थे, वाहर की जो पुस्तक या समाचारपत्र उन्हें मिल जाता, उसे भी वे याद कर डालते थे। उन्हीं दिनों राष्ट्रीय प्रश्नों पर उन का ज्ञान अपनी कक्षा और उम्र दोनों से काफ़ी आगे था। यह १९१७ की वात है। प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था। उस के वीच में ग़दर-पार्टी ने भारत में अँगरेज़ों के विरुद्ध १९ फ़रवरी १९१५ को ग़दर करने की योजना वनायी थी, वह अनेक कारणों से असफल हो गयी थी। उस के नेता गिर-फ़्तार कर लिये गये थे और मुक़दमा चला कर फाँसी-काले पानी आदि की सज़ाएँ दी जा चुकी थीं। मुक़दमा जेल के भीतर हुआ था और उस की खवरें भी सेंसर हो कर ही अखवारों में छपती थीं। फिर भी युद्ध की खवरों के वाद जनता के लिए सव से सनसनीदार खवरें वे ही थीं। भगत सिंह ने उन्हें वहुत ध्यान से पढ़ा था और उन का मन उन से वहुत आन्दो-लित हुआ था। कहना चाहिए, कि सरदार अजीत सिंह, सूफ़ी अम्वा प्रसाद,

और लाला हरदयाल का साहित्य पढ़ कर उन के मन पर अँगरेज़ों के विरोध की जो रेखाएँ खिंची थीं, वे इन खबरों से और गहरी हो गयी थीं। एक समझदार बालक का मन ऐसी खबरों से जितना प्रभावित हो सकता है, भगत सिंह का मन उस से अधिक प्रभावित हुआ था। उस का एक कारण तो भगत सिंह का जन्मजात संस्कार था, दूसरा यह कि उन के पिता सरदार किशन सिंह देश के क्रान्ति-आन्दोलन के एक प्रमुख पुरुष थे। भगत सिंह जब-तब उन से इस बारे में पूछते रहते थे और गहरी जानकारी पाते रहते थे।

२२ जुलाई १९१८ को उन्हों ने अपने दादा सरदार अर्जुन सिंह को उर्दू में यह कार्ड लिखा था—

ओम

श्रीमान् पूज्य बाबा जी, नमस्ते।

अर्ज़ यह है कि खत आप का मिला। पढ़ कर दिल को खुशी हासिल हुई। इम्तहान की बाबत यह है कि मैं ने पहले इस वास्ते नहीं लिखा था, हमें बताया नहीं था। अब हमें अँगरेज़ी और संस्कृत का बताया है। उस में मैं पास हूँ। संस्कृत में मेरे १५० नम्बरों में से ११० नम्बर हैं, अँगरेज़ी में १५० में से ६८ नम्बर हैं। जो १५० नम्बरों में से ५० नम्बर ले जाये, वह पास होता है। नम्बर ६८ ले कर अच्छा पास हो गया हूँ। किसी क़िस्म का फ़िकर न करें। बाक़ी नहीं बताया और छुट्टियाँ, ८ अगस्त को पहली छुट्टी होगी। आप कब आयेंगे, तहरीर फ़रमावें।

आप का ताबेदार
भगत सिंह

संस्कृत में भगत सिंह ने १५० में ११० नम्बर लिये, पर अँगरेज़ी में १५० में ६८ ही, उन्हों ने सोचा कि इस का दादा जी के मन पर बुरा प्रभाव न पड़े, इसी लिए बताया कि पास होने के लिए तो ५० नम्बर ही काफ़ी थे, मैं ६८ नम्बरों से 'अच्छा पास' हो गया हूँ। कार्ड के ऊपर लिखा ओम् और संस्कृत में दिलचस्पी दादा सरदार अर्जुन सिंह का प्रभाव दर्शाते हैं और बात कहने का ढंग, उन के स्वभाव में भोलेपन और चातुर्य का जो संगम था, उसे स्पष्ट करते हैं। पढ़ाई के साथ-साथ हमेशा उन की रुचि खेलों में भी समान रही। वे उन में रस लेते थे और परिपूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे।

१९१९ में जब महात्मा गान्धी ने भारत की राजनीति के द्वार पर अपने कोमल और बलिष्ठ हाथों से एक ज़ोरदार दस्तक दी, भगत सिंह सातवीं क्लास में थे। असहयोग की आँधी ज्यों-ज्यों बढ़ती आ रही थी, उन की स्फूर्ति उभरती जा रही थी। असहयोग के पंच-बहिष्कारों में स्कूलों का बहिष्कार भी था। भाषणों में सरकारी अदालतों और नौकरियों के बहिष्कार के साथ जोशोखरोश से स्कूल छोड़ देने की भी बात कही जाती थी। भगत सिंह जलसों में जाते थे और अपने भीतर उस आवाज़ को

गम्भीर घोष के स्वर में गूँजता पाते थे। उन के ही घर में जब भारतमाता सोसायटी का आन्दोलन उठा था, वे नन्हें शिशु थे, जब ग़दर-पार्टी का आन्दोलन हुआ था, वे चौकन्ने, पर दूर बैठे दर्शक थे; लेकिन अब जो आन्दोलन उमड़ रहा था, उस के तो वे ठीक बीच में थे। वह उन्हें एकदम पास से स्पर्श कर रहा था। यह स्पर्श कितना यथार्थ था।

१३ अप्रैल १९१९ को अमृतसर में जलियाँवाला काण्ड हो गया। भगत सिंह तब अपनी उम्र के बारहवें साल में थे। दूसरे दिन ठीक समय पर वे घर से स्कूल चले गये, पर ठीक समय पर लौटे नहीं। वातावरण में अशान्ति फैली हुई थी, सब को चिन्ता हुई—क्यों नहीं आया भगत सिंह। चिन्ता ठीक थी, पर छुट्टी के समय तो वह आये जो स्कूल जाये। वे स्कूल गये ही कहाँ थे? सुबह घर से निकले तो सीधे अमृतसर जा पहुँचे और जलियाँवाला बाग़ जा कर जनता के ख़ून से लथपथ मिट्टी उठायी, माथे से लगायी और थोड़ी-सी एक शीशी में भर कर लौट पड़े। सोचती हूँ तो हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। अमृतसर में आतंक की आँधियाँ चल रही थीं, दमन का नगाड़ा बज रहा था। फ़ौजी लोग नमस्ते की जगह भी गोली का उपयोग करते थे, पिटाई, गिरफ़्तारी, ख़ून और लाश ही वहाँ के दृश्य थे। उस हालत में कैसे वे जलियाँवाला बाग़ पहुँचे होंगे, कैसे वहाँ से मिट्टी ले कर लौटे होंगे और स्वयं उन के ख़ून में कैसे-कैसे उफान आये होंगे।

देर से वे घर पहुँचे, तो छोटी बहन अमर कौर अपने स्वभाव के अनुसार उछलती-कूदती उन के पास आयी—"वीरा जी, आज इतनी देर क्यों कर दी? मैं ने आप के हिस्से के आम रखे हुए हैं। चलो खा लो।" आज भगत सिंह अपने स्वभाव के अनुसार चहकते हुए नहीं आये थे, उदास और क्षुब्ध थे। घबरा कर बहन ने पूछा—"क्यों, क्या बात है तबीयत तो ठीक है?" गम्भीरता से भगत सिंह ने कहा—"खाने की बात मुझ से मत करो। आओ तुम्हें एक चीज़ दिखाऊँ।" ख़ून से रँगी मिट्टी की वह शीशी दिखा कर बोले—"अँगरेज़ों ने हमारे बेहद आदमी मार दिये हैं।" सारी बातें बहन को बताने के बाद फूल तोड़ कर लाये और शीशी के चारों ओर रख दिये, बाद में भी बहुत दिनों तक यह फूल चढ़ाने का क्रम चलता रहा। यह बलिदान की वन्दना थी, ख़ून ख़ून को पहचान रहा था और ख़ून ख़ून को पुकार रहा था!

सोचती हूँ, उस दिन किसी को और स्वयं उन्हें भी क्या पता था कि उन का बलिदान एक दिन राष्ट्रीय बलिदानों का प्रतीक हो जायेगा और वे शहीदों के शहीद, शहीदे-आज़म कहलायेंगे। भविष्य को कौन जानता है, पर इतना स्पष्ट है कि उन का निर्माण जिन कणों से हुआ था, वह शहादत-बलिदान के ही कण थे, जिस हवा में उन्हों ने साँस लिये थे, उस में क्रान्ति की ही महक थी। वे क्रान्तिकारी शहीद के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकते थे, क्यों कि वे उस वंश का अमृत-फल थे—परिवर्तन, उथल-पुथल, बग़ावत, संघर्ष, बेचैनी, विध्वंस और क्रान्ति ही जिस के सपनों का शृंगार थे।

विचार आये, विचार गये, भगत सिंह उन में तैर रहे थे। आन्दोलन देश में उभर रहा था, पर उन की आत्मा में तो उफन ही रहा था। यह सन् १९२१ था और नौंवी क्लास थी। उन्हों ने निश्चय कर लिया कि उन्हें डी० ए० वी० स्कूल में नहीं पढ़ना है, आन्दोलन में कूदना है। इस की सूचना पिता जी को देनी आवश्यक थी, पर तब तक वे बहुत शर्मीले थे। इसी लिए उन्हों ने अपने साथी श्री जयदेव गुप्ता से कहा—"तुम कह दो पिता जी से।" उन्हों ने सरदार किशन सिंह से कहा, तो वे तैयार ही थे। जो होली के हुड़दंग में ख़ुद कूदा हुआ हो, वह बेटे को गुलाल से दूर रहने की बात कैसे कहेगा?

भगत सिंह ने स्कूल छोड़ दिया और इस तरह वे आन्दोलन की पहली सीढ़ी पर चढ़ गये। आन्दोलन की दूसरी सीढ़ी थी स्वदेशी का प्रचार और विदेशी का बहिष्कार। दोनों ही कार्यों का सम्बन्ध वस्त्रों से था। भगत सिंह के घर में धुनाई-कताई की परम्परा थी। पहले से ही घर के सब लोग खद्दर के वस्त्र पहनते थे। इस लिए स्वदेशी में उन के लिए कोई खास आकर्षण न था, हाँ विदेशी वस्त्रों की होली जलाने में उन्हें रस आता था। इस में उन की पूरी दिलचस्पी थी। वे लड़कों की टोली बना लेते, घर-घर से विदेशी वस्त्र माँग कर लाते, फिर उन का धूम-धाम से जुलूस निकालते और किसी चौराहे पर उन की होली जलाते।

होली में रोशनी होती, लपटें उठतीं, गरमी फैलती। भगत सिंह के मन में भी रोशनी होती, लपटें उठतीं, गरमी फैल जाती। इन होलियों ने ही विद्रोह की ओर बढ़ते उन के पहले क़दम देखे और उन की संगठन-शक्ति, तेजस्विता और व्यवहार-पटुता के पहले स्पर्श उन के साथियों को मिले। जो परिवार दूसरी टोलियों को एक भी विदेशी वस्त्र देने से साफ़ इनकार कर देते थे, वे भगत सिंह को कई-कई वस्त्र देते थे। जो लोग दूसरों की बातों से चिढ़ जाते थे, ग़ुस्सा करते थे, भगत सिंह की बातों से खिल उठते थे। श्री अजय घोष ने भगत सिंह की शहादत के बाद कहा था—"जो व्यक्ति भी कभी उन से मिला, उस पर उन की असाधारण प्रतिभा तथा बड़प्पन का गहरा प्रभाव पड़ा। इस का कारण यह नहीं था कि वे बहुत अच्छे वक्ता थे, वरन् यह कि उन की बातों में इतना जोश, इतना बल और ऐसी शालीनता होती थी कि कोई भी व्यक्ति उन से मिलने पर उन से प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सकता था।" प्रभावशाली वार्तालाप की यह वृत्ति उन में बचपन से ही थी, पर इस ने पहली सार्वजनिक अँगड़ाई ली थी, विदेशी वस्त्रों की होली के संगठन में ही। अपनी टोली के जुलूस के नारों में ही उन की आवाज़ सब से ऊपर सुनाई देती और उन के चलने में भी ऐसी नाटकीयता रहती, जैसे वे किसी ऐतिहासिक फ़िल्म के हीरो हों।

आन्दोलन अपनी पूरी रफ़्तार पर आ गया था और अपनी उम्र के हिसाब से वे भी अपनी पूरी रफ़्तार पर थे। तभी एक धड़ाका हुआ और उस ने सारा सीन ही बदल दिया। ५ फ़रवरी १९२२ को गोरखपुर ज़िले के चौरीचौरा स्थान पर कांग्रेस का

एक जुलूस निकल रहा था। भीड़ ने पुलिस के इक्कीस सिपाहियों और एक थानेदार को खदेड़ कर थाने में वन्द कर दिया और थाने की इमारत में आग लगा दी। वे सव जल कर मर गये। १७ नवम्बर १९२१ को वम्बई में भी ऐसा ही काण्ड हो चुका था और १३ जनवरी १९२२ को मद्रास में। इन घटनाओं से प्रभावित हो कर १२ फ़रवरी १९२२ को काँग्रेस की कार्य समिति ने अपनी वारडोली की वैठक में, जो आन्दोलन को नयी तेज़ी देने के लिए बुलायी गयी थी, असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया और काँग्रेस के एक करोड़ सदस्य बनाने, मरने का प्रचार करने, राष्ट्रीय विद्यालयों को खोलने, मादक द्रव्य निपेध का प्रचार करने और पंचायतें संगठित करने का कार्यक्रम देश के सामने रखा।

पण्डित मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपत राय ने, जो उस समय इसी आन्दोलन के कारण जेल में थे, इस प्रस्ताव को वहुत नापसन्द किया और गान्धी जी को वहुत सख्त पत्र लिखे। महाराष्ट्र और वंगाल में भी इस के विरुद्ध वहुत गरम प्रतिक्रिया हुई। इस प्रस्ताव का समर्थन करने के लिए २४-२५ फ़रवरी १९२२ को दिल्ली में महासमिति की जो वैठक वुलायी गयी, उस में डॉ० मुंजे ने गान्धी जी की निन्दा का प्रस्ताव रखा और कई सदस्यों ने इस प्रस्ताव के समर्थन में भाषण दिये।

देशव्यापी विरोध की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया भगत सिंह के मन में एक तूफ़ान वन कर उतरी। वे इस वात से परेशान हो गये कि इतने बड़े देश के आन्दोलन में दो-चार जगह वेक़ावू भीड़ का उपद्रव कर वैठना इतनी वड़ी वात कैसे हो सकती है कि पूरे देश का आन्दोलन ही स्थगित कर दिया जाये। इस चिन्तन से उन के मन के सामने एक प्रश्न खड़ा हो गया—हिंसा श्रेष्ठ है या अहिंसा, इस पर हम वाद-विवाद कर रहे थे या देश की आज़ादी के लिए लड़ रहे थे। आख़िर हमारे आन्दोलन का उद्देश्य क्या था?

हिंसा और अहिंसा के इस अन्तर्द्वन्द्व में उन के अन्तःकरण में एक बहुत ख़ूबसूरत चेहरा चमक उठा। यह १९ वर्षीय युवक सरदार करतार सिंह सरावा का था, जो देश में अँगरेज़ों के खिलाफ़ सशस्त्र ग़दर मचाने की तैयारी में पकड़ा गया और हँसते-हँसते शहीद हो गया। यह चेहरा भगत सिंह के कलेजे में, स्मृतियों में धड़कते सव चेहरों से ऊपर था। भगत सिंह उसे प्यार करते थे। उस के रोम-रोम में लहराते मृत्यु के चाव पर न्योछावर थे।

वे देवताओं के स्तोत्रों की तरह उन के संस्मरणों का मन-ही-मन जाप किया करते थे। १५ सितम्बर १९१५ को जव जजों ने उन्हें फाँसी की सजा सुनायी, तो उन्हों ने कहा था—"थैंक्यू, आप को धन्यवाद।" उन के एक साथी को आजन्म कारावास की सज़ा सुनायी गयी थी, तो उस ने कहा था—"कालापानी नहीं, मैं फाँसी चाहता हूँ।" जज झुंझला पड़ा था और झल्लाहट में उस ने कहा था—"इस के लिए अपील करो।"

भगत सिंह ने अपने मन से पूछा—क्या चौरीचौरा सत्य है और करतार सिंह एवं उन के साथियों का कार्य असत्य है? दूसरे प्रश्न ने उन्हें झकझोर दिया—यदि करतार सिंह का कार्य असत्य है, अनुचित है, तो सरदार अजीत सिंह, सूफ़ी अम्बाप्रसाद, वीर सावरकर और श्री रासविहारी बोस का हमारे देश के इतिहास में कोई स्थान नहीं। वे सब क्या उपद्रवकारी ही हैं? उन के मन ने इस पर हाँ नहीं की, ज़ोर से ना की और इस ना ने उन्हें गान्धी जी से, अहिंसा से दूर खड़ा कर दिया।

१५ वर्षीय भगत सिंह के मन में यह सब तूफ़ान उठ रहे थे, जैसे वे राष्ट्र के कोई प्रमुख विचारक हों। हम कह सकते हैं कि उन की उम्र यह सब सोचने लायक़ नहीं थी, पर उन के सामने तो १९ वर्षीय सरदार करतार सिंह सरावा थे, जिन के बारे में जजों ने अपने फ़ैसले में लिखा था—"ही इज़ वन आँव द मोस्ट इम्पॉरटेण्ट आँव दीज़ सिक्स्टी वन एक्सक्यूज़्ड ऐण्ड हैज़ द लार्जेस्ट डौज़ियर आँव देम ऑल। देयर इज़ प्रैक्टीकली नो डिपार्टमेण्ट आँव दिस कॉन्सपिरेसी इन अमेरिका, आँन द वायज ऐण्ड इन इण्डिया इन ह्विच दिस एक्यूज़्ड हैज़ नाट प्लेड हिज़ पार्ट।"—वह इन ६१ अभियुक्तों में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण आदमी है। इस के बारे में हमारे पास सब से अधिक सबूत हैं। अमेरिका, समुद्री रास्ते, और हिन्दुस्तान में होने वाले इस षड्यन्त्र का कोई ऐसा हिस्सा नहीं, जिस में इस ने अपना पार्ट अदा न किया हो।"

सोचती हूँ आगे चल कर सशस्त्र आतंकवादी कार्यक्रम को मानसिक रूप में एक जन-आन्दोलन और नयी समाज-व्यवस्था का सुदृढ़ सूत्र होने वाली क्रान्ति का रूप देने में भगत सिंह को जो ऐतिहासिक सफलता मिली, उस के बीज उन के जीवन के इसी मोड़ पर बोये गये थे।

यह सच है, पर यह भी सच है कि यह भविष्य की बात है। इस समय तो भगत सिंह निर्णय की नहीं, जिज्ञासा की ही स्थिति में थे—अहिंसा का यह मार्ग ठीक नहीं है, यह देश को उस के लक्ष्य आज़ादी तक नहीं पहुँचा सकता, यह उन का मन कहता था, पर इस में जनता के मन को आन्दोलित करने की अद्भुत क्षमता है, यह भी उन का मन कहता था। फिर मार्ग क्या है, फिर मार्ग क्या है?

असहयोग की असफलता ने भगत सिंह को मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के उस स्थल पर खड़ा किया था, जहाँ हिटलर उस समय था—जब वह आस्ट्रिया में खिड़कियाँ—दरवाज़े रँगने वाला एक मजदूर ही था, पर राष्ट्र के अतीत, वर्तमान और भविष्य की कड़ियाँ मन-ही-मन बैठा रहा था। यह अन्तर्द्वन्द्व, यह जिज्ञासा, मार्ग की यह खोज ही असहयोग में भगत सिंह की सब से बड़ी उपलब्धि थी।

इस उपलब्धि के बीजों की भूमि उन में चौरीचौरा काण्ड से पहले ही तैयार हो रही थी। इस का पता उन के उस कार्ड से लगता है जो डाक मुहर के अनुसार उन्होंने १४ नवम्बर १९२१ को अपने दादा जी के नाम लिखा था—

ओम्

लाहौर

मेरे पूज्य दादा साहब जी, नमस्ते ।

अर्ज़ यह है कि इस जगह खैरियत है और आप की खैरियत श्री परमात्मा जो से नेक मतलूब हूँ । अहवाल यह है कि मुद्दत से आप का कृपा पत्र नहीं मिला । क्या सबब है । कुलबीर सिंह, कुलतार सिंह की खैरियत से जल्दी मुत्तला फ़रमायें । बेबे साहब अभी मोराँवाली से नहीं आयीं । बाक़ी सब खैरियत है ।

आप का ताबेदार

भगत सिंह

इस कार्ड की लाइनों के बीच उलटे रुख (जिस से पुलिस आदि का ध्यान न जाये) लिखा है—"आज कल रेलवे वाले हड़ताल की तैयारी कर रहे हैं । उम्मीद है कि अगले हफ़्ते के बाद जल्द ही शुरू हो जावेगी ।" १९२८ में इतिहास जिसे भारत में समाजवाद का उद्घोषक सिद्ध करने वाला था, वह १९२१ में ही देश में अपने ढंग की पहली हड़ताल के प्रति इतना सचेष्ट था, उसे इतना महत्त्वपूर्ण मानता था, कि कार्ड में छिपा कर उस की खबर दादा जी को भेजनी आवश्यक समझता था—होनहार बिरवान के होत चीकने पात !

■ ■

नेशनल कॉलेज

नेशनल कॉलेज की स्थापना पंजाब काँग्रेस के नेताओं का, जिन में श्री लाला लाजपत राय प्रमुख थे, एक श्रेष्ठतम रचनात्मक कार्य था। इस में अधिकतर वे ही विद्यार्थी प्रविष्ट हुए थे, जिन्हों ने असहयोग आन्दोलन में स्कूल-कॉलिज छोड़ दिया था और किसी-न-किसी रूप में उस में भाग लिया था। स्वाभाविक है कि उन के मन राजनैतिक उत्तेजना और राष्ट्रीय चेतना से पूर्ण थे।

दूसरी विशेषता यह थी कि इस कॉलेज में ऐसे अध्यापक रखे गये थे, जिन का उद्देश्य विद्यार्थियों को परीक्षा पास कराना या सरकारी नौकरी के लिए तैयार करना नहीं था। राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए तैयार करना था।

तीसरी विशेषता यह थी कि इस कॉलेज में अँगरेज़ी कॉलेजों के ढंग का घिसा-पिटा पाठ्य-क्रम नहीं था, वरन वह एक सरस, सजीव, राजनैतिक ज्ञानवर्धक और उद्बोधक पाठ्य-क्रम था। भारतीय इतिहास की जानकारी तो दी ही जाती थी, विश्व इतिहास की जानकारी भी दी जाती थी। इस में भी बादशाहों का ही लेखा-जोखा नहीं पढ़ाया जाता था, फ़्रान्स, इटली और रूस की राज्यक्रान्तियों का इतिहास भी पढ़ाया जाता था। भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न हुए, उन की पूरी जानकारी दी जाती थी और संसार के जो दूसरे देश अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे थे, उन के आन्दोलनों का परिचय भी दिया जाता था।

इस अध्ययन के साथ समय-समय पर राष्ट्रीय नेताओं के भाषण भी होते थे। इन से वातावरण में गरमी आती थी, प्रेरणा मिलती थी और रुचि बढ़ती थी। इस प्रकार लाहौर का नेशनल कॉलेज राष्ट्रीयता का महान् स्रोत बन गया था।

आचार्य श्री जुगलकिशोर विलायत से अपनी शिक्षा समाप्त कर तब आये ही थे और स्वतन्त्र देश की मानसिक उन्मुक्तता से ओतप्रोत थे। उन्हों ने नेशनल कॉलेज के वातावरण को सहज बना दिया और हर प्रकार की कट्टरता से दूर रखा। वे उस माली की तरह थे जो पेड़-पौधों के लिए ठीक तरह ज़मीन तैयार कर देता है, उन्हें रोप देता है, खाद देता है और सिंचाई की व्यवस्था करने के बाद अपने ढंग पर बढ़ने के लिए उन्मुक्त

छोड़ देता है। वे उस माली की तरह नहीं थे, जो वृक्षों को काट-छाँट कर वम्बई के हैंगिंग गार्डन की तरह अपनी मनपसन्द सजावट का उपकरण-मात्र वना कर छोड़ता है। उन की दृष्टि इस वात पर थी कि उन के उपवन में उत्तम वृक्ष रोपे जायें, उन्हें पूरी खुराक मिले, वातावरण ठीक मिले और उस में वे अपने रुझान के अनुसार वढ़ें। सोचती हूँ, नेशनल कॉलेज का भाग्य था कि उसे आचार्य जुगलकिशोर जी प्रिन्सिपल के रूप में मिले। वे कॉलेज की आत्मा थे।

भाई परमानन्द राजनैतिक विद्रोह के अपराध में कालेपानी की सज़ा भोग कर आये थे। अपनी सुन्दर आकृति, मधुर स्वर, सादा रहन-सहन और सौम्य स्वभाव के कारण जनता में देवता-स्वरूप भाई परमानन्द के नाम से प्रसिद्ध थे। वे नेशनल कॉलेज में प्रोफ़ेसर तो थे ही, सर्वेसर्वा लाला लाजपत राय जी के व्यवस्था-प्रतिनिधि भी थे। उन के जीवन के साथ एक विद्रोह की क़हानी नत्थी थी और वे विद्यार्थियों के लिए विद्रोह की जीती-जागती मशाल ही थे। वे पढ़ते-पढ़ाते अन्दमान की आप-वीती सुनाने लगते थे और इस प्रकार भावुक विद्यार्थी उन कष्टों की अनुभूति में भाव-विभोर हो जाते थे, जो देश की स्वतन्त्रता के लिए देशभक्तों ने सहे। भाई जी नेशनल कॉलेज के प्राण थे, जो सदा कर्म-प्रेरणा जगाते रहते थे।

भारत की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक और भारतीय इतिहास के मौलिक एवं गहरे विद्वान् श्री जयचन्द्र विद्यालंकार तीसरे प्रोफ़ेसर थे, जो नेशनल कॉलेज के वातावरण में राजनैतिक ज्योति जगाये रखते थे। उन के अध्यापन की यह विशेपता थी कि वे विद्यार्थियों में जिज्ञासा जगाते थे और तथ्यों, सत्यों और निष्कर्पों को वोझ या आदेश की तरह ग्रहण न कर, तर्क की कसौटी पर खरा-खोटा परख कर ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति पैदा करते थे। वे नेशनल कॉलेज की भुजा थे! और भी कई श्रेष्ठ प्रोफ़ेसर थे जिन में श्री छवील दास का नाम उल्लेखनीय है।

भगत सिंह को सरदार किशन सिंह ने इसी नेशनल कॉलेज में भरती कर दिया। भगत सिंह मैट्रिक पास नहीं थे, नौवीं क्लास में उन्हों ने असहयोग में स्कूल छोड़ दिया था। इस स्थिति में उन्हें कॉलेज के प्रथम वर्ष में कैसे प्रविष्ट कर लिया गया। भाई परमानन्द ने उन के ज्ञान की जाँच की। अँगरेज़ी में भगत सिंह कमज़ोर थे, पर उन्हें स्कूल की पुस्तकों के अतिरिक्त ऐतिहासिक और राजनैतिक पुस्तकें पढ़ने का वेहद शौक़ था। इस लिए इन विषयों में भगत सिंह का ज्ञान ही नहीं, चेतना भी अपनी शिक्षा से वहुत आगे थी। फिर भाई जी उन के व्यक्तित्व से, वार्त्तालाप से, बुद्धिमत्ता और आदर्शवादी दृष्टिकोण से वहुत प्रभावित हुए। भाई जी ने उन्हें दो महीनों का समय विशेप तैयारी के लिए दिया और कॉलेज में ले लिया। कुछ दिन निश्चय ही भगत सिंह पर वोझ पड़ा, पर परिश्रम उन का स्वभाव था। चैलेंज को स्वीकार करना और होड़ में जूझना उन का संस्कार था, इस लिए जल्दी ही वे अपने साथियों के साथ हो गये और पढ़ाई का काम ठीक-ठीक चल निकला।

भगत सिंह स्वतन्त्रता के असहयोग आन्दोलन में भाग ले चुके थे। उस के स्थगन से उन के मन में जिज्ञासाएँ जागी थीं, कॉलेज के पाठ्य-क्रम में रौलेट कमेटी की रिपोर्ट भी थी। इस में भारत की स्वतन्त्रता के सशस्त्र प्रयत्नों का ब्योरेवार वर्णन था। इस अध्ययन ने उन्हें अहिंसा के विचार से और दूर कर दिया। दूरी की इस खाई को चौड़ा करने में वहुत बड़ा भाग लिया प्रोफ़ेसर जयचन्द्र विद्यालंकार ने। ग़दर-योजना के १९१५-१६ में असफल हो जाने के वाद पंजाब में सशस्त्र प्रयत्नों की शृंखला टूट गयी थी और सिर्फ़ जयचन्द्र जी ही एक मात्र ऐसे आदमी थे, जिन का सम्पर्क बंगाल के क्रान्तिकारियों से था। जिन विद्यार्थियों में अपेक्षाकृत राजनैतिक बेचैनी अधिक होती थी, वे जयचन्द्र जी के आस-पास हो जाते थे। भगत सिंह का व्यक्तित्व तेजस्वी था, विचार तेजस्वी थे, वे थोड़े ही दिनों में उन के वहुत निकट हो गये। इस निकटता ने भगत सिंह की अध्ययन-पिपासा को नियमबद्ध कर दिया। 'जो पुस्तक मिली पढ़ डाली' की जगह अव हो गया—'इस के बाद वह, उस के वाद यह'—इस से ज्ञान विस्तृत और पोपला की जगह विकसित और गहरा होने लगा।

नेशनल कॉलेज के साथ ही लाला लाजपत राय ने द्वारकादास पुस्तकालय की भी स्थापना की थी। श्री राजाराम शास्त्री (वाद में उत्तरप्रदेश के मज़दूर नेता और कौन्सिल के सदस्य) उस पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। भगत सिंह अपने स्वभाव के कारण उन के अच्छे मित्र हो गये थे। वे उन से पुस्तकें तो लाते ही थे, उन की खाने-पीने की चीज़ें भी छीन लेते थे। सी० आई० डी० की भी निगाह पुस्तकालय पर रहती थी, क्यों कि पुस्तकालय युवकों का केन्द्र था। वहाँ ख़ूब राजनैतिक वहसें होती थीं। श्री राजाराम शास्त्री के शब्दों में—"इस वहस में सरदार भगत सिंह आतंकवाद और समाजवाद दोनों का समर्थन करते थे। जहाँ भगत सिंह को एक ओर कार्ल मार्क्स प्रभावित करते थे, वहाँ दूसरी ओर प्रसिद्ध रूसी अराज़कतावादी वाकूनिन की भगत सिंह भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। रूस में कुछ क्रान्तिकारी अपनी जान न्यौछावर कर के अपने सिद्धान्तों के प्रचार में विश्वास रखते थे। इसे 'आत्म-वलिदान-द्वारा प्रचार' कहा जाता था (प्रोपेगण्डा वाई डेथ) भगत सिंह को ऐसे क्रान्तिकारियों ने सब से अधिक प्रभावित किया था, जो अपना वलिदान कर के अपने सिद्धान्तों का प्रचार दुश्मन की अदालत में खड़े हो कर किया करते थे।

एक दिन मैं ने एक 'अराजकतावादी' पुस्तक पढ़ी। सम्भवतः उस का नाम था 'अराजकतावाद और अन्य निबन्ध' (अनारकिज़्म ऐण्ड अदर एसेज़) इस में एक अध्याय था 'हिंसा का मनोविज्ञान' (साइकोलॉजी ऑव वायलेन्स)। इस में फ़्रान्स के अराजकतावादी नवयुवक वेलाँ का वह तमाम बयान दिया गया था, जिसे उस ने गिरफ़्तार होने पर अदालत के सामने दिया था। उस में उस ने बताया था कि किस प्रकार पहले ट्रेड यूनियनों को संगठित किया, सार्वजनिक सभाओं में व्याख्यान दिये और शान्तिमय प्रदर्शन किये, पर श्रमजीवियों तथा अन्य मेहनतकशों के शोषण

पर क़ायम इस पूंजीवादी समाज के कर्णधारों पर प्रभाव नहीं पड़ा। तब मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि क्यों न फ़ान्स की असेम्वली में वम का धमाका किया जाये, जिस से वहरे शासक जग जायें। वहरों को सुनाने के लिए ऊँची आवाज़ की आवश्यकता होती है, यही सोच कर मैं ने असेम्वली में वम फेंका था। मेरा उद्देश्य विलकुल स्पष्ट था—सोते हुए शासकों को खूनी क्रान्ति से सावधान कर देना। अव मैजिस्ट्रेट मुझे जो भी सज़ा दें, मैं उसे सहर्ष शिरोधार्य करूँगा।

वेलाँ का वयान काफ़ी लम्वा और जोशीला था। उसे पढ़ कर मैं वहुत प्रभावित हुआ। कितने ही नवयुवकों को मैं ने उसे पढ़ ने को दिया, पर जव भगत सिंह ने उसे पढ़ा तो मारे ख़ुशी के उछल पड़े। उस पुस्तक को उन्हों ने कई वार पुस्तकालय से अपने नाम पर लिया। वेलाँ के वयान को उन्हों ने याद कर डाला, कॉपी पर नोट कर लिया मुझ से रोज़ आ कर पूछते थे कि किस नवयुवक ने इसे पढ़ा है और उस पर इसका क्या प्रभाव पड़ा।"

निश्चय ही वेलाँ के उदाहरण ने उन के मन में यह संकल्प जगाया कि आगे चल कर मैं भी ऐसा ही करूँगा। और जव सचमुच उन्हों ने ऐसा किया तो वे वेलाँ को भूले नहीं और वम फेंकने के वाद असेम्वली में फेंके परचे में उन्हों ने वेलाँ के नाम का सादर स्मरण किया।

इन्हीं दिनों जव गम्भीर राजनैतिक अध्ययन और प्रोफ़ेसर जयचन्द्र विद्यालंकार के सम्पर्क से उन के मन में एक आतंकवादी विकसित हो रहा था, एक दिन जयचन्द्रजी के मकान पर ही विख्यात क्रान्तिकारी श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल से उन की मुलाक़ात हुई। इस परिचय और वातचीत से भगत सिंह के सामने क्रान्तिकारी दल के नये क्षितिज खुल गये।

भगत सिंह क्रान्तिकारियों के घर में जन्मे थे। देश से जलावतन उन के चाचा सरदार अजीत सिंह पास न हो कर भी हर समय एक प्रेरक-शक्ति और आदर्श के रूप में उन के सामने थे। देश की स्वतन्त्रता के लिए जीवन-भर जूझने वाले पिता सरदार किशन सिंह उन के पास ही थे। इस लिए उन का मन दो तेज़ तरंगों से लहरा रहा था। पहली तरंग थी 'मैं कुछ करूँगा' और दूसरी लहर थी—'मैं ऐसा क्या करूँ कि कुछ वेजोड़ वात वने'। इसी वात को यों कहना ठीक होगा कि वे उमंग और जिज्ञासा के झूले में झूल रहे थे और हर उठती लहर को पकड़ने की कोशिश में रहते थे।

असहयोग आन्दोलन के समाप्त होते-न-होते ही अकाली आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। इस का उद्देश्य सरकार-परस्त और स्वार्थी महन्तों के क़ब्ज़े से निकाल कर गुरुद्वारों की सम्पत्ति को सिख-समाज के सार्वजनिक नियन्त्रण में लाना था। इस आन्दोलन के कार्यकर्त्ताओं का वाहरी चिह्न था काली पगड़ी। भगत सिंह भी उन दिनों वड़े ठाठ से काली पगड़ी पहनते थे और कृपाण रखते थे।

उस छोटी-सी उम्र में ही उन में इतनी तेजस्विता थी कि हर उठता आन्दोलन

उन्हें अपने साथ लेने को उत्सुक था और हर आन्दोलन के प्रति वे सचेष्ट थे। श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल ने अपने 'बन्दी जीवन' (पृ० ३००) में लिखा है—"मुझे पता लग गया था कि सरदार गुरमुख सिंह इत्यादि, जो अपना अलग संगठन कर रहे थे, यह नहीं चाहते थे कि अब की बार सिख लोग ग़ैर सिख-संस्थाओं के साथ मिल कर भारतीय विप्लववादी आन्दोलन में भाग लें। यहाँ तक सरदार गुरुमुख सिंह जी ने चाहा कि हमारे सच्चे साथी सरदार भगत सिंह को हम लोगों से तोड़ कर अपनी संस्था में मिला लें। इस कारण गुरुमुख सिंह जी ने भगत सिंह को बहुतेरा समझाया कि तुम बंगालियों के फेर में मत पड़ो। इन के फेर में पड़ोगे तो फ़ाँसी पर लटक जाओगे, काम कुछ भी नहीं कर पाओगे। इस प्रकार से गुरुमुख सिंह जी भगत सिंह जी से कितनी बातें कहते थे, वे हम लोगों से सब कह देते थे। बहुत बहकाने पर भी श्री भगत सिंह जी ने हम लोगों का साथ नहीं छोड़ा।"

भगत सिंह अब क्रान्तिकारी-दल के बाक़ायदा सदस्य थे और नेशनल कॉलेज के परिश्रमी विद्यार्थी भी। एक और प्रवृत्ति में भी वे भाग ले रहे थे। वह थी अभिनय की प्रवृत्ति। उद्देश्य था जनता में गुलामी की पीर और आज़ादी की बेचैनी पैदा करना। नेशनल कॉलेज में एक नेशनल नाटक क्लब की स्थापना की गयी। 'राणा प्रताप', 'भारत-दुर्दशा' और 'सम्राट् चन्द्रगुप्त' नाटकों में भगत सिंह अपनी भूमिकाओं में पूरी तरह सफल रहे। 'सम्राट् चन्द्रगुप्त' के अभिनय से अभिभूत हो उन के प्राध्यापक भाई परमानन्द ने उन्हें मंच पर ही हृदय से लगा लिया और लाड़ से कहा—"मेरा भगत सिंह–सचमुच भविष्य में शशिगुप्त सिद्ध होगा।" इस क्लब के नाटकों की सफलता इस से सिद्ध है कि अँगरेज़ी सरकार ने इस पर पाबन्दी लगा दी–इसे बन्द कर दिया। सोचती हूँ, क्या व्यक्तित्व था उन का कि नेता भी, अभिनेता भी, प्रणेता भी! वे वर्तमान के उद्बोधक और भविष्य के उद्घोषक होने को ही जन्मे थे। वे युग की आकांक्षा के वीर-पुत्र थे।

१९२३ में भगत सिंह एफ० ए० पास कर बी० ए० के प्रथम वर्ष में प्रविष्ट हुए, पर तभी परिस्थितियों ने उन्हें कॉलेज की क्लास से उठा कर लम्बी राह पर ला खड़ा किया। वे दादी जय कौर के लाड़ले थे। उन के बड़े भाई जगत सिंह की असमय मृत्यु ने इस लाड़ को मोह में बदल दिया। उन्हों ने अपने पुत्र सरदार किशन सिंह से आग्रह किया कि अब भगत सिंह का विवाह कर दिया जाये। वे डिक्टेटर थीं स्वभाव में–जो कह दिया, सो हो। भगत सिंह के मन में मृत्यु-सुन्दरी घूम रही थी। वे विवाह के लिए कैसे तैयार हो सकते थे? उन के पिता सरदार किशन सिंह एक अजीब शिकंजे में फँसे थे। एक तरफ़ माता का आग्रह था, दूसरी तरफ़ पुत्र का अटल निर्णय। स्वयं वे आग्रही न होकर भी विवाह के पक्ष में थे।

एक बात मैं यहीं साफ़ कर दूँ कि सरदार किशन सिंह के मन में अपने पुत्र के भविष्य की क्या कल्पना थी? कुछ लोगों ने उन के मन को बिना पहचाने उन के

बाहरी व्यवहार को देख कर उन की ऐसी तसवीर खींच मारी है, जैसे वे घोर प्रगति-विरोधी थे और भगत सिंह को घर में ही केन्द्रित रखना चाहते थे। मुझे दुःख होता है कि इन लोगों ने सरदार किशन सिंह की एक कमज़ोरी को भी सहानुभूति से नहीं देखा। फिर कमज़ोरी भी कैसी कमज़ोरी ? उन के चरित्र का गम्भीर अध्ययन कर, विश्लेषण कर मैं इस परिणाम पर पहुँची हूँ कि भगत सिंह का विवाह करने में उत्सुकता उन की कमज़ोरी नहीं, दृष्टिकोण की भिन्नता ही थी।

वे अपने पुत्र भगत सिंह की शक्तियों को जानते थे और उन के मन में भावना थी कि वह नरम लाजपत राय की जगह नया गरम लाजपत राय बनें। साफ़-साफ़ यह कि उन के मन में नये लोकमान्य तिलक का नक़्शा था, जो काँग्रेस को, यानी आज़ादी के सार्वजनिक आन्दोलन को प्रगतिशील गरमी दे कर आज़ादी को भारत के आँगन में उतारे। और भी साफ़ शब्दों में मैं कहूँगी कि नेता जी सुभाषचन्द्र बोस के व्यक्तित्व ने जो तेजस्वी रूप आगे चल कर लिया, अपने पुत्र का वही रूप उन की आँखों में समाया हुआ था। कोई छिपाने की बात नहीं कि फ़ाँसी पर झूलते भगत सिंह का चित्र उन की आँखों में नहीं था, उन्हें प्रिय नहीं था। वे अपने छोटे भाई सरदार अजीत सिंह, अपने मित्र महान् रासविहारी बोस और अपने पुत्रवत् प्रिय शहीद करतार सिंह सराबा के कार्यों का परिणाम देख चुके थे। उन के दृष्टिकोण को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह बात न भूलें कि उन्हों ने ग़दर-पार्टी के काम में आर्थिक सहायता दी थी, पर सराबा से साफ़ कह दिया था कि तुम्हारा ग़दर-आन्दोलन जिस खुले रूप में संगठित किया जा रहा है, वह भारत में सफ़ल नहीं हो सकता, क्यों कि यह 'अमेरिका' नहीं है। सरदार किशन सिंह के जीवन का एक-एक क्षण भारत की स्वतन्त्रता के काम में लगा है। उन की कमज़ोरी और ताक़त की तुलना करने से पहले हमें यह घटना ध्यान में रखनी होगी कि आर्य-समाज के महान् नेता और डी० ए० वी० कॉलेज के संस्थापक महात्मा हंसराज के पुत्र श्री बलराज जब १९१४ के षड्यन्त्र केस में कालेपानी की सज़ा पा गये, तो उन्हों ने अपने पुत्र से सब तरह सम्बन्ध विच्छेद करने की खुले-आम घोषणा कर दी थी। इस के विरुद्ध सरदार किशन सिंह क़दम-ब-क़दम क्रान्तिकारियों के साथ रहे, निश्चय ही क्रान्तिकारियों के जीवन-सूत्र के साथ कि जियें अनजाने और मर जायें अनजाने। उन की कमज़ोरी यह नहीं थी कि वे क्रान्ति-विरोधी थे। हाँ, उन की कमज़ोरी यह थी कि उन में पैत्रिक रूप में बहुत ग़ुस्सा था, ग़ुस्से में वे बौखला जाते थे और गालियाँ तो देते ही थे, कभी-कभी मारने भी लगते थे।

विवाह के सम्बन्ध में या विवाह के उपाय से भगत सिंह को घर-गृहस्थी का साधारण आदमी बनाने के लगाव में वे आग्रही होते, तो १९२३ से १९२९ तक जब भगत सिंह उन के निकट रहे, क्या वे एक बार भी आग्रह न करते ? क्या इस प्रश्न पर दोनों में कभी एक बार भी कहा-सुनी या मन-मुटाव न होता ? ज़रूर होता, पर हम सब जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ और वे उन की फाँसी के दिन तक उन के प्रति गहरे

वात्सल्य में ओत-प्रोत रहे।

इसी पृष्ठभूमि में ये शब्द हैं—वे भगत सिंह के विवाह के लिए आग्रही नहीं थे, हाँ पूरी तरह उत्सुक थे। एक दिन उसी इलाक़े के एक वहुत अमीर आदमी भगत सिंह को अपनी वहन के लिए देखने आये। भगत सिंह उस दिन वहुत प्रसन्न रहे, उछलते-कूदते रहे और अपने ताँगे में स्वयं घोड़ी हाँक कर उन्हें लाहौर तक छोड़ने गये। भगत सिंह उन्हें पसन्द आ गये और वे सगाई के लिए तारीख़ तय कर गये।

सगाई की इस वातचीतसे भगत सिंह के द्वार खुल गये। तैयारी पहले से थी ही। इस तैयारी को समझने के लिए श्री शचीन्द्र नाथ सान्याल के ये शब्द मार्ग-दर्शक हैं—"मेरा यह एक नियम था कि दल के आदमी की परीक्षा करने की गरज से मैं यह देखना चाहता था कि अपने दल का व्यक्ति त्याग करने के लिये कहाँ तक तैयार है। हम लोग तो उसी को अपने दल का आदमी समझते थे, जो व्यक्ति हर घड़ी इस बात के लिए तैयार हो कि जव कभी कहा जाये तभी घर-वार छोड़ कर काम करने के लिए मैदान में उतर पड़े। इस नीति के अनुसार मैं ने भगत सिंह से कहा कि क्या तुम घर-वार छोड़ने को तैयार हो? यदि तुम शादी कर लोगे, तो आगे चल कर अधिक काम करने की आशा तुम से नहीं रहेगी और यदि तुम घर में रहते हो तो तुम्हें शादी करनी पड़ेगी। मैं नहीं चाहता कि तुम शादी करो। इस लिए मेरी इच्छा है कि तुम घर छोड़ कर, मैं जहाँ कहूँ, वहाँ रहने लग जाओ। भगत सिंह घर छोड़ने के लिए तैयार हो गये।"[१]

मैं ने अपने एक लेख में क्रान्तिकारियों की फ़रारी का विश्लेषण करते हुए लिखा था—"क्रान्तिकारियों ने स्वतन्त्रता के लिए बड़े-बड़े कार्य किये, वलिदान दिये, उन का शत-शत अभिनन्दन, पर इन वलिदानों में घरों के मोह से निकल कर क्रान्ति के पथ पर आने का काम कितना मार्मिक है? फिर घर का मोह ही तो नहीं होता उस के वाता-वरण की एक जकड़न भी तो होती है और ज्यों ही इस जकड़न पर परिवार का कोई सदस्य ज़रा-सा-ज़ोर देता हैं, परिवार के अणु और विराट् की शक्ति मिल कर उस ज़ोर को तोड़ देने में जुट जाते हैं। शिकार साहित्य में पढ़ा है कि अजगर भागना तो दूर, तेजी से हिल-डुल भी नहीं सकता, वह अपने शिकार को पास पाते ही अपनी कुण्डली में जकड़ लेता है और पूरी ताक़त से दबा कर उस की नस-नस तोड़ देता है, जिस से वह खाने लायक़ मुलायम ग्रास बन जाये। क्या घर की जकड़न, किसी अजगर की जकड़न से कम ताक़तवर होती है और भागने वाले को कम ताक़त से दवोचती और तोड़ती है? ठीक है, न कम ताक़त से दवोचती है, न कम ताक़त से तोड़ती है, पर अधिकतर क्रान्तिकारियों को इस दवोच और तोड़ को छलाँग कर ही वाहर आना पड़ा है। महात्मा बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण की गाथा हमारे साहित्य में रत्न-जड़े अक्षरों में

१. 'वन्दी जीवन' पृ० २७७।

लिखी है, पर सशस्त्र क्रान्ति के इतिहास का तो हर पन्ना ही किसी-न-किसी महाभि-निष्क्रमण से रँगा हुआ है। फिर महात्मा बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण में तो परिवार के प्यार ने ही चोट खायी थी, पर क्रान्ति के इन महाभिनिष्क्रमणों में तो बिलखते परिवारों के अभावों और भावों के दारुण घाव भरे पड़े हैं।"

सगाई की निश्चित तिथि से कुछ दिन पहले भगत सिंह घर से लाहौर गये और वहाँ से जाने कहाँ फ़रार हो गये। उन के पिता को अपनी मेज़ की दराज़ में रखा यह पत्र मिला—

पूज्य पिता जी नमस्ते।

मेरी ज़िन्दगी मक़सदे आला यानी आज़ादी–ए–हिन्द के असूल के लिए वक़्फ़ हो चुकी है। इस लिए मेरी ज़िन्दगी में आराम और दुनियाबी ख़ाहशात बायसे कशिश नहीं हैं।

आप को याद होगा कि जब मैं छोटा था तो बापू जी ने मेरे यज्ञोपवीत के वक़्त ऐलान किया था कि मुझे ख़िदमते-वतन के लिए वक़्फ़ कर दिया गया है। लिहाज़ा मैं उस वक़्त की प्रतिज्ञा पूरी कर रहा हूँ।

उमीद है आप मुझे माफ़ फ़रमायेंगे।

आप का ताबेदार

भगत सिंह

इस फ़रारी के साथ ही नेशनल कॉलेज का अध्याय समाप्त हो गया। यह १९२३ के उत्तरार्द्ध की बात है।

■ ■

घर से वाहर पैर रखने का अर्थ था कि क्रान्ति-यात्रा आरम्भ हो गयी। भगत सिंह अपने पिता के नाम जो पत्र छोड़ गये थे, उस में साफ़ लिखा था कि वे देश-सेवा के लिए समर्पित हैं और उसी काम से आगे वढ़ रहे हैं। सगाई की वात तो वहाना थी। देहाती कहावत है—'रोने को जी चाह रहा था, घिसर पड़ी'। सगाई की वात न उठती तो क्या वे घर के धन्धे में ही लगे रहते। वे लाहौर से चले और सीधे जा पहुँचे कानपुर। श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल के शब्दों में—"मेरे कहने पर भगत सिंह जी घर छोड़ कर कानपुर चले गये थे। पहले-पहल कानपुर में मन्नीलाल जी अवस्थी के मकान पर उन के रहने का इन्तज़ाम किया गया था।"

कानपुर क्षेत्र का काम उन दिनों योगेशचन्द्र चटर्जी देख रहे थे। भगत सिंह ने उन के साथ काम आरम्भ किया। श्री सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य (वाद में 'प्रताप' के सम्पादक) श्री वटुकेश्वरदत्त, श्री अजय घोष (वाद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेट्री) और श्री विजयकुमार सिनहा-जैसे क्रान्तिकारियों से उन का परिचय वहीं हुआ। ये सव वंगाली थे और इन के वीच एक सिख युवक का रहना सी० आई० डी० को सन्देह का निमन्त्रण देना था। श्री गणेशशंकर 'विद्यार्थी' ने अपने 'प्रताप' के सम्पादन विभाग में भगत सिंह को स्थान दे कर इस मसले को हल कर दिया। अव भगत सिंह भगत सिंह न रह कर वलवन्त सिंह हो गये थे और 'प्रताप' में वह इसी नाम से लिखते थे। इस व्यवस्था के होने से पहले कुछ दिन अखवार बेच कर अपने खाने-पीने का काम उन्होंने चलाया।

अव भगत सिंह क्रान्तिकारी दल के आदमी थे और दल का काम ही उन का काम था। काम को समझना और उसे पूरी तरह अपनी मुट्ठी में ले लेना उन का स्वभाव था। वे काम को समझ रहे थे, पर जो काम उन के मन में उधेड़-बुन मचाता था, वह डकैती डाल कर पार्टी के लिए रुपया लाना था। पार्टी को रुपये की ज़रूरत थी, रुपया पाने का और कोई रास्ता न था, यह डकैती का एक पहलू था, पर डकैती तो किसी नागरिक के घर ही डालनी थी। इस लिए डकैती पार्टी को जनता से दूर करती थी। जनता में उसे अलोकप्रिय वनाती थी, यह उस का

दूसरा पहलू था। भगत सिंह ने संसार की क्रान्तियों के इतिहास का गहरा अध्ययन किया था और उन्हें विश्वास हो गया था कि चौंका देने वाले कुछ काण्डों से देश में क्रान्ति नहीं हो सकती। उस के लिए जनता को साथ लेना होगा, लेना ही होगा; पर डकैती तो उसे और भी दूर करती हैं। उन्हों ने निश्चय कर लिया था कि वे इस स्थिति को वदलें और अपने जीवन को ही उस का साधन वनायेंगे।

कानपुर पुलिस की निगाहों में चढ़ गया था। एक वड़े काण्ड की तैयारी आरम्भ हो गयी थी, इस लिए पार्टी के सदस्य वेहद सतर्कता वरत रहे थे और इधर-उधर हो गये थे। भगत सिंह को श्री गणेशशंकर 'विद्यार्थी' ने ग्राम शादीपुर, तहसील खैर, ज़िला अलीगढ़ के नेशनल स्कूल में हेडमास्टर वनवा दिया था। वे ठाकुर टोडर सिंह (वाद में काँग्रेसी एम० एल० ए०) के घर पर रहते थे और स्कूल का काम देखते थे। स्कूल थोड़े ही दिनों में चमक उठा था। किसी ने लेनिन महान् के लिए कहा था—"वे क्रान्तिकारी न वन जाते तो प्रोफ़ेसर होते।" भगत सिंह की अध्ययनशीलता और अध्यापकी को देख कर कह सकते हैं कि वे क्रान्तिकारी न होते तो एक सफल प्रिन्सिपल होते।

वे क़दम-क़दम आगे वढ़े जा रहे थे, पर घर के लोग क़दम-क़दम परेशान हो रहे थे—कहाँ गया भगत सिंह। उन्हीं दिनों भगत सिंह ने अपने मित्र श्री रामचन्द्र को एक पत्र लिखा। उस में अपना पता भी दिया। हिदायत थी कि वह किसी को पता न वतायें; लेकिन परिवार की परेशानी रामचन्द्र के सामने थी। उन्हों ने श्री जयदेव गुप्ता से पत्र का ज़िक्र किया, पर पता नहीं वताया। वहुत आग्रह हुआ तो उन्हों ने कहा—"पता वताने की तो क़सम है। उसे मैं तोड़ नहीं सकता, पर तुम्हारे साथ उस पते पर चल सकता हूँ।"

दादी श्रीमती जय कौर सख्त वीमार थीं और भगत सिंह को एक वार देखने के लिए तड़प रही थीं। सोचती हूँ उन के हृदय में यह कचोट अवश्य होगी कि विवाह का आग्रह मेरा ही था, जिस के कारण भगत सिंह को घर छोड़ना पड़ा। सरदार किशन सिंह ने 'वन्दे मातरम्' में विज्ञापन छपवाया था कि "भगत सिंह जहाँ भी हों लौट आयें, उन की दादी सख्त वीमार हैं।" समय की वात, यह विज्ञापन श्री गणेशशंकर 'विद्यार्थी' ने पढ़ा था, पर तव उन्हें क्या पता था कि उन का लाड़ला वलवन्त सिंह ही भगत सिंह है और विख्यात क्रान्तिकारी सरदार किशन सिंह और सरदार अजीत सिंह का वंश-पुष्प है।

श्री जयदेव गुप्ता और श्री रामचन्द्र जव 'विद्यार्थी' जी के पास पहुँचे तव यह भेद खुला। पत्र में सम्भवतः पता 'विद्यार्थी' जी का ही था। वहाँ से ये लोग शादीपुर गये। भगत सिंह ने उन्हें दूर से देख लिया और विद्यार्थियों को मेहमानों की खातिर करने और अपने वारे में कुछ न वताने की वात कह इधर-उधर हो गये। ये लोग फिर 'विद्यार्थी' जी के पास आये और उन का आश्वासन पा घर लौटे। सब समाचार सुन सरदार

किशन सिंह ने कानपुर के काँग्रेसी नेता मौलाना हसरत मोहानी (वाद में लीग के नेता) को पत्र लिखा कि वे 'विद्यार्थी' जी के द्वारा भगत सिंह से मिलें और उन्हें घर लौटने को कहें। भगत सिंह के नाम भी एक पत्र उसी लिफ़ाफ़े में भेजा, जिस से वे विश्वास कर सकें। पत्र में विवाह के लिए आग्रह न करने का वचन था और दादी जी के बीमार होने की बात कही गयी थी। 'विद्यार्थी' जी और मौलाना साहब ने ज़ोर डाला और दादी की बीमारी ने उन्हें मर्माहत किया। भगत सिंह कोई छह महीने बाद घर लौटे। घर का उदास वातावरण उन के आने से खिल उठा और किसी ने भी उन से विवाह की बात नहीं की। वे पूरी तल्लीनता से दादी की सेवा में जुट गये। अच्छी से अच्छी नर्स जो सेवा नहीं कर सकती थी, वह उन्हों ने की। दवा और ख़ुराक का ध्यान तो रखा ही, उन्हें ख़ूब हँसाया भी। वे कुछ दिन में स्वस्थ हो गयीं। अब स्थिति यह हो गयी कि भगत सिंह कभी दादी के पास बंगा में रहते थे तो कभी लाहौर चले जाते, कभी दूसरे दिन ही लौट आते, कभी कई-कई दिन न लौटते। उत्तर भारत में क्रान्ति संगठन में जो नया ताना-बाना पूरा जा रहा था, उसी में वे लगे हुए थे।

उन्हीं दिनों एक घटना ने सिद्ध कर दिया कि भगत सिंह में कितनी संगठन-शक्ति है और वे किसी मौक़े पर पिस्तौल का घोड़ा दबा कर धमाका कर देने वाले जोशीले जवान ही नहीं, किसी पार्टी का नेतृत्व कर सकने के योग्य नेता हैं। यह १९२४ के मार्च महीने की बात है।

अकाली आन्दोलन का मोर्चा ननकाना साहब से हट कर जैतों में जम गया था। ननकाना साहब के गोलीकाण्ड और राक्षसी लाठी चार्ज से हुए शहीदों को श्रद्धांजलि देने के लिए शोक-दिवस मनाया गया। उस में भुजा पर काली पट्टी बाँध कर सब शामिल हुए। आशा के विरुद्ध नाभा के महाराज रिपुदमन सिंह काली पट्टी बाँध कर जुलूस और जलसे में शामिल हुए। वे स्वतन्त्र विचारों के नरेश हैं, यह तो सुना था सब ने, पर वे इतना साहस कर बैठेंगे, यह किसी को आशा न थी, क्यों कि यह तो खुले-आम अँगरेज़ी सरकार का विरोध था। वायसराय उन से सख़्त नाराज़ हुआ और वे गद्दी से उतार कर देहरादून में नज़रबन्द कर दिये गये। इस पर अकालियों के जत्थे जैतों (नाभा) जाने लगे और बड़ा ख़ूंख़ार मोर्चा वहाँ जम गया।

जैतों जाने वाला एक जत्था सरदार किशन सिंह के गाँव बंगा हो कर गुज़रने वाला था। सरकार और सरकार-परस्त लोग इन जत्थों को महत्त्वहीन सिद्ध करने में लगे थे पर राष्ट्रीय लोग इन का धूमधाम से स्वागत करते थे। जत्थेदार सरदार करतार सिंह और सरदार ज्वाला सिंह लाहौर जा कर सरदार किशन सिंह से मिले कि बंगा में जत्थे के स्वागत का प्रबन्ध करने के लिए वे आयें, वे ज़रूर आते, पर उन का बीमे के काम से बम्बई जाना तय हो चुका था। फिर भी उन्हों ने स्वागत की जिम्मेदारी ले ली और व्यवस्था करने के लिए भगत सिंह को गाँव भेज दिया। स्वागत क्या, यह तो एक मोर्चा था, क्यों कि सरदार किशन सिंह के कुटुम्ब भाई सरदार बहादुर दिलबाग़ सिंह,

फ़र्स्ट क्लास ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट एलान कर चुके थे कि इस इलाक़े में खाना-पीना तो क्या, जत्थे वालों को पेड़ का सूखा पत्ता भी नहीं मिलेगा। वे जत्थेदार इसी कारण लाहौर गये थे। ऐसे मोरचे पर पिता-द्वारा भगत सिंह को पूरी ज़िम्मेदारी सौंपना क्या स्पष्ट नहीं करता कि उन्हें अपने पुत्र पर पूरा भरोसा था। भगत सिंह उस समय केवल सत्रह वर्ष के नवयुवक थे। वे मोरचे पर पहुँच गये।

अव एक तरफ़ थे सरदार वहादुर दिलवाग़ सिंह, दूसरी तरफ़ था सत्रह वर्ष का एक नवयुवक।

सरदार वहादुर का सारे इलाक़े में रोव और दवदवा था। वे अँगरेज़ सरकार का दाहिना हाथ समझे जाते थे और कहा जाता था कि उन की मर्ज़ी के विना इलाक़े में पत्ता भी नहीं खड़क सकता। उस नवयुवक को तव लोग अच्छी तरह जानते भी न थे, क्यों कि गाँव से दूर लाहौर में वह अभी तक पढ़ता रहा था और छुट्टियों में ही कभी घर आता था।

हाँ, दोनों में कोई जोड़ न था, कोई तुलना न थी, पर दोनों में एक तरह का शीत-युद्ध छिड़ गया था। हारने पर सरदार वहादुर की प्रतिष्ठा का वृक्ष कुम्हला सकता था और जीतने पर नवयुवक की प्रतिष्ठा का पहला अंकुर उग आने वाला था।

दोनों दो दुश्मनों की तरह जूझ रहे थे, पर दुश्मन न थे। रिश्तेदार ही नहीं, एक ही वंश-वृक्ष के दो टहने थे। दोनों की देह में एक ही पुरखे का रक्त था, पर दोनों के क़दम भिन्न दिशाओं की ओर थे! सरदार वहादुर अँगरेज़ सरकार के जमे रहने में अपनी वृद्धि के सपने देखते थे, तो नवयुवक अँगरेज़ सरकार को उखाड़ फेंकने में ही देश की समृद्धि के सपने सँजोता था।

एक के पास धन का वल था, तो दूसरे के पास मन का। एक के साथ पुलिस की शक्ति थी, तो दूसरे के साथ देश-भक्ति की। सफलता की कसौटी यह थी कि जनता किस के साथ होगी। पहले ने भय का गर्जन किया, "जो मेरा साथ नहीं देगा, उसे उखाड़ फेंका जायेगा।" दूसरे ने प्यार का निमन्त्रण दिया—"यह हमारे गाँव के सम्मान का प्रश्न है।"

मोरचा यही था कि अकालियों का तेरहवाँ शहीदी जत्था जैतों जा रहा था। सरकार इन जत्थों के विरोध में थी। इस लिए गाँवों में यह आदेश भिजवाया गया था कि किसी गाँव में कोई जत्था आ कर रुके, तो उस के लिए खाने-पीने का कोई सामान न पहुँचाया जाये। जनता इन जत्थों के पक्ष में थी, पर जनता का शरीर भय से जकड़ा हुआ था और उस में सामने आने का दम न था। वंगा गाँव में भी सव चाहते थे कि जत्थे का स्वागत किया जाये, पर सरदार वहादुर दिलवाग़ सिंह चाहते थे कि सिवाय दुत्कार के जत्थे वालों को यहाँ कुछ न मिले, यहाँ तक कि गाँव में ढिंढोरा पिटवा दिया गया कि कुओं पर से डोल उठा लिये जायें, ताकि जत्थे वाले ख़ुद खींच कर भी पानी न पी सकें।

व्यवस्था और भय का जो जाल सरदार बहादुर ने बिछाया था, उसे चारों ओर घूमती पुलिस ने और भी मज़बूत कर दिया, पर संगठन-शक्ति और योजना-चातुर्य की बलिहारी कि बिना सरदार बहादुर को चौंकाये वह नवयुवक उस जाल के भीतर ही शान्त भाव से अपना काम कर रहा था, इस तरह कि जैसे वह कुछ नहीं कर रहा है—धीमे-धीमे, गहरे-गहरे, चौकस और चौकन्ने भाव से। सरदार बहादुर पूरी व्यवस्था करने के बाद अब निश्चिन्त थे। उन्हें विश्वास हो गया था कि वे गवर्नर के सामने अपने कारनामे का बखान ख़ुशामद में लिपटी शान से कर सकेंगे, जिस की भाषा होगी यह कि हुज़ूर, यह आप का इक़बाल है, पर जिस का मतलब यह होगा कि हुज़ूर देखा आप ने मेरा इक़बाल।"

निश्चित तारीख़ पर जत्था आया और गाँव के बाहर ठहरा, तो जत्थे के स्वागत में उस नवयुवक ने ज़ोरदार भाषण दिया। उस की ख़ास बात यह थी कि उस में गोपीनाथ साहा (बंगाल के शहीद) और दूसरे क्रान्तिकारियों की साफ़ शब्दों में प्रशंसा की गयी थी। गाँव के कुछ लोग पास आ गये थे और कुछ दूर से भाषण सुनते रहे थे। उसी समय जत्थे के स्वागत में आतिशबाज़ी भी छोड़ी गयी, जो उस नवयुवक ने पहले से ही ख़रीद कर रखी थी। लोगों ने जब एक नवयुवक की यह हिम्मत देखी, तो उन के मन पर से आतंक की वह काली चादर हट गयी, जिसे सरदार बहादुर ने यत्नपूर्वक फैलाया था। फिर भी झिझक अभी बाक़ी थी। रातों-रात मनों दूध, टोकरों रोटियाँ, घड़ों सब्ज़ियाँ, सब-कुछ घरों-घरों से तैयार हो कर उस नवयुवक के घर पहुँच जाता और दिन निकलने से पहले ही वह नवयुवक और उन के हम-उम्र साथी, उसे सिरों पर उठा कर ले जाते और जत्थे के पास पहुँचा देते। इतना ही नहीं, दूसरे गाँवों से भी लोग रोटियाँ लाते, गन्ने के खेत में निश्चित जगह पर रख जाते और जत्थे वाले उठा लेते। यह सब उस नवयुवक के संगठन-कौशल का ही चमत्कार था। जत्था एक दिन के बजाय तीन दिन ठहरा और ख़ूब धूम-धाम रही। जब जत्था चला तो जत्थे वाले गा रहे थे—

"लाज रख ली, लाज़ रख ली, भगत सिंह प्यारे ने लाज रख ली।"

हाँ, वह नवयुवक भगत सिंह ही थे। भगत सिंह, जिस ने इस घटना के सात वर्ष बाद हँसते-हँसते अपने जीवन की बलि दे कर इतिहास में शहीदे-आज़म भगत सिंह का अमर नाम पाया।

सरदार बहादुर की शान टुकड़े-टुकड़े हो गयी थी। वे प्रतिशोध की भावना से भर उठे और उन्हों ने सरकार पर ज़ोर डाला कि भगत सिंह को जेल में बन्द किया जाये, पर वे नाबालिग थे, सरकार झिझक रही थी। सरदार बहादुर ने इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया, तो गिरफ़्तारी का वारण्ट निकाला गया। भले ही भगत सिंह नाबालिग थे, पर उन की बुद्धि तो बालिग थी। वे कन्नी काट गये और हाथ नहीं आये।

भगत सिंह अब दिल्ली में थे और 'दैनिक अर्जुन' के सम्पादन विभाग में काम कर रहे थे। नाम वही—बलवन्त सिंह। कुछ दिन बाद फिर कानपुर पहुँचे। गंगा में बाढ़ आयी हुई थी। ऐसे अवसरों पर स्वयंसेवकी करना उन का पैत्रिक गुण था। लोगों को बचाने और बसाने में जुट गये। अनेक क्रान्तिकारी वहाँ थे। पार्टी को रुपये की बेहद ज़रूरत थी, एक-एक रुपया अशर्फ़ी हो रहा था। उपाय था यही कि कहीं डकैती डाली जाये। डाली गयी और कई में भगत सिंह भी शामिल हुए। पहली बार जब वे डकैती में गये थे, तो उस कार्य की कुरूपता उन पर इस हद तक छा गयी थी कि उन्हें क़ै हो गयी थी। अब वे कुरूपता को बरदाश्त कर लेते थे, पर इस में उन पर इतना ज़ोर पड़ता था कि उन के चेहरे का रंग बदल जाता था और सफलतापूर्वक लौटने पर भी वे घण्टों परेशान रहते थे। वह सफलता भी बहुत साधारण होती थी। उन की निगाह आज के आतंक पर नहीं, कल की जन-क्रान्ति पर केन्द्रित थी।

भगत सिंह अब लाहौर में थे और पूरी शक्ति से नौजवान भारत सभा की स्थापना में जुट गये थे। उस का प्रगतिशील संविधान बनाने में श्रेष्ठ मनुष्य, श्रेष्ठ साथी और श्रेष्ठ क्रान्तिकारी श्री भगवतीचरण क़दम-ब-क़दम उन के साथ थे। इस स्थापना के पीछे उन का यह सहज चिन्तन था कि जन-मानस से जोड़े बिना सशस्त्र क्रान्ति का प्रयत्न केवल आतंकवाद के सहारे सफल नहीं हो सकता था। इस के साथ ही वह चिन्तन भी जो डकैतियों की कुरूपता से उन के मन में जन्मा था उन्हें प्रेरित कर रहा था। इन दोनों के साथ एक अनुभव भी था, जो उन्हें १९२४ में केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव के समय हुआ था। लाला लाजपत राय जी ने महामना मालवीय जी के साथ मिल कर 'इण्डीपेण्डेण्ट काँग्रेस' पार्टी के नाम से काँग्रेस के मुक़ाबले पर चुनाव लड़ने की नयी पार्टी बना ली थी। साफ़-साफ़ बात यह थी कि लाला जी उस साम्प्रदायिक वातावरण में बह गये थे, जो हिन्दू-मुस्लिम दंगों के रूप में सारे देश में उन दिनों फैला हुआ था। भगत सिंह के पिता सरदार किशन सिंह काँग्रेस के साथ थे और उन्हों ने लाला जी से जम कर टक्कर ली थी। इस टक्कर में भगत सिंह ने पूरे जोश के साथ उन्हें सहयोग दिया था। जलसे किये थे। भाषण दिये थे, धुआँधार नारे लगाये थे, पोस्टर चिपकाये थे, हैण्डबिल बाँटे थे, भाग-दौड़ की थी और इन सब के बीच एक सार्वजनिक आन्दोलन का रोमांचकारी उल्लास अनुभव किया था। इस सार्वजनिक आन्दोलन के इस रोमांचकारी उल्लास को वे गुप्त सशस्त्र क्रान्ति आन्दोलन के साथ जोड़ना चाहते थे। नौजवान भारत सभा उसी का एक उपकरण थी।

श्री रामकिशन बी० ए० (कौमी) सभा के प्रेसीडेण्ट बने, भगत सिंह जनरल सेक्रेटरी और भगवतीचरण प्रचार मन्त्री। काँग्रेस में हमेशा दो ग्रुप रहे हैं, एक नरम, एक गरम। समाजवादी ग्रुप का विकास तो काँग्रेस में १९३५ के बाद हुआ, उस समय तो व्यक्तियों के रूप में ही कुछ प्रगतिशील लोग थे। उन सब लोगों ने भारत नौजवान सभा का साथ दिया। ऐसे लोगों में सर्व श्री केदारनाथ सहगल, डॉक्टर सैफ़ुद्दीन

किचलू, लाला पिण्डीदास, लाला लालचन्द फलक और डॉक्टर सत्यपाल आदि थे। क्रान्तिकारी साथियों का सहयोग तो था ही—यह संस्था ही उन की थी। कुछ ही दिनों में नौजवान भारत सभा की शाखाएँ दूर-दूर तक फैल गयीं। जब सभा ने ग़दर-पार्टी के शहीद युवक शिरोमणि करतार सिंह सरावा का बलिदान दिवस एक खुले उत्सव के रूप में मनाया तो सनसनी फैल गयी। उत्सव में सरावा का एक बड़ा चित्र (जो इसी अवसर के लिए बनवाया गया था सफ़ेद खद्दर से ढँक कर रखा गया। जब महान् क्रान्तिकारिणी श्रीमती दुर्गा भाभी और सुशीला दीदी ने अपनी-अपनी उँगली काट कर उस खद्दर पर खून के छींटों का अभिषेक किया तो उपस्थित जनता देश-भक्ति और बलिदान की भावना से अभिभूत हो उठी। एक शहीद क्रान्तिकारी का बलिदान दिवस इस तरह मनाना एक ऐतिहासिक घटना थी और सरावा के चित्र का अनावरण गुप्त आन्दोलन का जनता के मानस-क्षेत्र में प्रथम उद्घाटन ही था।

भारतीय भाषाओं और संस्कृति की रक्षा, शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य को बढ़ाना और कुरीतियों को दूर करना भी सभा का उद्देश्य था, पर यह सब क़िले की दीवार की तरह थे। असली उद्देश्य था इन के सहारे जनता में पहुँच कर राजनैतिक लक्ष्य की सिद्धि करना। सभा का सदस्य बनते समय हरेक को शपथ लेनी पड़ती थी कि वह अपने हित से देश के हित को श्रेष्ठ समझेगा। नौजवान भारत सभा के उद्देश्य इस प्रकार थे—

१. समस्त भारत के मज़दूरों और किसानों का एक पूर्ण स्वतन्त्र गणराज्य स्थापित करना।

२. एक अखण्ड भारत-राष्ट्र के निर्माण के लिए देश के नौजवानों में देश-भक्ति की भावना उत्पन्न करना।

३. उन आर्थिक, सामाजिक और औद्योगिक आन्दोलनों के साथ हमदर्दी रखना, सहायता करना, जो साम्प्रदायिकता-विरोधी हों और किसान मज़दूरों के आदर्श गणतान्त्रिक राज्य की प्राप्ति में सहायक हों।

४. किसान और मज़दूरों को संगठित करना।

इस संविधान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि नौजवान भारत सभा ने पूर्ण स्वतन्त्रता की यह घोषणा १९२६ के आरम्भ में की, जब कि देश के सबसे बड़े राजनैतिक दल काँग्रेस ने ऐसी घोषणा १९२७ की मद्रास काँग्रेस में की, जिस के सभापति डॉक्टर अन्सारी थे। मज़ेदार बात यह है कि यह प्रस्ताव काँग्रेस के कई अधिवेशनों में पेश हो कर फ़ेल हो चुका था और इस बार भी उस के पास होने का कारण श्रीमती एनी बेसेण्ट की खामोशी और उन्हीं दिनों युरॅप से लौटे पण्डित जवाहर-लाल नेहरू की गरमी थी।

क्रान्तिकारी दल के लिए जोशीले सदस्यों को छाँटना भी सभा का एक उद्देश्य था। इसी काम के लिए भगत सिंह ने लाहौर के विद्यार्थियों की भी एक यूनियन

संगठित की थी, जो नौजवान भारत सभा की सह-संस्था थी। एक वात स्पष्ट है कि भगत सिंह के इन सब प्रयत्नों का उद्देश्य था—जनता में राजनैतिक जागरण पैदा करना और उस जागरण का समय पर उपयोग करने के लिए क्रान्तिकारी दल को मज़बूत वनाना।

समय-समय पर नौजवान भारत सभा अपने जलसे करती थी। उन में जो भाषण होते थे उन की टोन दूसरे सार्वजनिक भाषणों से भिन्न होती थी। जनता उन्हें पसन्द करती थी, उन में दिलचस्पी लेती थी। सामाजिक क्रान्ति को समर्थन देने वाले आयोजन भी सभा करती थी, जिस से अन्धविश्वाशों और कुरीतयों पर चोट पड़े, समाज के लोग एक-दूसरे के नज़दीक आयें, भेदभावों की दीवारें टूटें। सभा का नारा था—हिन्दुस्तान ज़िन्दावाद। श्री मुज़फ़्फ़र अहमद ने अपने एक लेख में लिखा है कि भगत सिंह वाद में सभा की तरफ़ से उदासीन हो गये थे, क्यों कि वह एक सार्वजनिक संगठन बन कर रह गयी थी और क्रान्ति के काम को आगे वढ़ाने में असफल रही थी। मैं समझतो हूँ यह कथन ठीक नहीं है। सभा ने अपने समय पर अपना काम वख़ूवी किया और भगत सिंह की पूरी दिलचस्पी जीवन के अन्त तक नौजवान भारत सभा के साथ रही और वे जेल से भी सभा का मार्गदर्शन करते रहे और १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन को उस से वहुत लाभ पहुँचा। इस से भी वढ़ कर यह कि १९२५ के साम्प्रदायिक अँधेरे में एक राजनैतिक संगठन की स्थापना करने की सूझ और उसे जमा कर खड़ा कर देने की शक्ति भगत सिंह के उस समय के व्यक्तित्व को हमारे सामने एक चमकदार रूप में प्रस्तुत करती है। एक और चीज़ भी इस वात की गवाह है कि भगत सिंह विचार की दृष्टि से उस समय पूर्णता तक पहुँच गये थे। यह चीज़ है—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पंजाव की खुली होड़ (कम्पटीशन) में लिखा पंजाव की भाषा-समस्या पर लेख। भापा-शैली और विवेचन की दृष्टि से यह उन की पक्की प्रौढ़ता का प्रमाण है।[1]

इस वीच काकोरी केसमें भगत सिंह वरावर दिलचस्पी लेते रहे और जेल में वन्द उस के अभियुक्तों से भी सम्पर्क वनाये रहे। एक-दो वार शानदार वेश-भूषा में मुक़दमा सुनने भी गये। श्री योगेशचन्द्र चटर्जी के शब्दों में—"सरदार भगत सिंह खाकी रंगके ब्रीचेज़ (ब्रिजिस) कोट तथा सिर पर कसीदा की हुई पगड़ी पहने अदालत में आये। वे हमारे वहुत निकट एक अगली ही सीट पर बैठ गये और उन्हों ने ज़रा भी इस वात की चिन्ता नहीं की कि वहाँ अनेक सी० आई० डी० अधिकारी उपस्थित थे, जिन्हों ने अदालत को घेर रखा था। वे महान् और निर्भीक क्रान्तिकारी थे।" श्री चन्द्रशेखर आज़ाद इस मुक़दमे के विख्यात फ़रार थे। श्री विजय कुमार सिन्हा भी वाहर थे और दूसरे कई सुयोग्य सदस्य भी। सव लोग पार्टी के संगठन को मज़वूत

१. यह लेख सुरक्षित है। 'हिन्दी सन्देश' के २८ फ़रवरी १९३३ के अंक में श्री भीमसेन विद्यालंकार ने इसे छापा था। वाद में लेखिका-द्वारा सम्पादित 'संजीवनी' वार्षिको के दूसरे अंक में भी यह छापा गया।

बनाने में लगे हुए थे। केन्द्रीय समिति का दफ़्तर आगरे में ही था। इस बीच काकोरी केस के अभियुक्त श्री योगेशचन्द्र चटर्जी को जेल से छुड़ाने की जो योजनाएँ बनीं (वे सफल नहीं हुईं) उन में भगत सिंह पूरी तरह शामिल थे। दल में उस समय उन का स्थान उन के अध्ययन, स्वभाव और तेजस्विता के कारण बहुत ऊँचा हो गया था—वे बिना चुनाव ही दल के नेता माने जाने लगे थे।

उन का व्यक्तित्व तेज़ी से अपने लक्ष्य तक पहुँच रहा था। उन के राष्ट्रीय व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक उल्लेख यहीं उचित होगा। भारत के कम्युनिस्ट नेता श्री शौक़त उस्मानी जब मास्को से भारत लौटते समय स्टालिन महान् से मिले, तो उन्हों ने यह सन्देश दिया—"भगत सिंह से कहना, वे मास्को आयें।" उस्मानी साहब यहाँ आने पर मेरठ षड्यन्त्र केस में गिरफ़्तार हो गये और वह सन्देश भगत सिंह को नहीं दे सके। यह बात उस्मानी साहब ने अपने लेख में कही है। एक प्रश्न यह उठता है कि स्टालिन महान् भगत सिंह से कैसे परिचित हुए। सम्भव है उस्मानी साहब ने उन से भगत सिंह के सम्बन्ध में कुछ कहा हो, पर एक सूत्र और भी है। रूसी नेतृत्व के सीधे तत्त्वावधान में सरदार गुरमुख सिंह और सरदार सन्तोख सिंह जो संगठन बना रहे थे वे भगत सिंह को उस में लेने में असफल हो गये थे। बहुत सम्भव है उन्हों ने रूस में यह खबर भेजी हो कि हमारे आन्दोलन को भगत सिंह भारतीय रूप दे सकते हैं और उसी आधार पर स्टालिन ने उन से मिलना चाहा हो। जो हो, भगत सिंह का राष्ट्रीय व्यक्तित्व अब पूरे निखार पर आ रहा था और उन का साधनाकाल पूर्ण हो गया था।

■ ■

पहली गिरफ़्तारी

यह थी सन् १९२७ की २९ जुलाई। भगत सिंह अपने काम का ताना-वाना पूर कर वाहर से लौटे और अमृतसर के स्टेशन पर उतरे। अपनी आदत के अनुसार इधर-उधर भाँपने की कोशिश की कि कोई पीछा तो नहीं कर रहा है और वहुत चौकन्ने भाव से स्टेशन से वाहर आये। कुछ आगे वढ़े तो एक पुलिस वाला उन की तरफ़ वढ़ता नज़र आया। वे झपटे, वह और भी तेज़ झपटा, वे दौड़े, वह भी उन के पीछे दौड़ने लगा, भरा हुआ पिस्तौल उन की जेव में था, पर उन्हों ने सन्तुलन वनाये रखा। अव आँख-मिचौनी आरम्भ हुई। वे एक गली में घुसते दूसरी में जा निकलते। पीछा करने वाला भी तेज़ था। वह भी उस गली में जा पहुँचता, वे और आगे वढ़ जाते।

श्री रणवीर सिंह के शब्दों में—"यूँ ही दौड़ते-वचते एक मकान के वोर्ड पर उन की निगाह पड़ी। लिखा था—सरदार शार्दूली सिंह एडवोकेट। वे आँख वचा कर मकान के भीतर चले गये। एडवोकेट साहव मेज पर वैठे फ़ाइलें देख रहे थे। भगत सिंह ने स्थिर और शान्त भाव से सव वातें उन से कह दीं और पिस्तौल उन की मेज़ पर रख दिया। एडवोकेट साहव ने पिस्तौल मेज़ की दराज़ में रखा, भगत सिंह को नाश्ता कराने का आदेश नौकर को दिया और द्वार पर जा टहलने लगे। कुछ देर वाद पुलिस वाला भी जा पहुँचा।

"वकील साहव, इधर एक सिख नौजवान आया है?" सिपाही ने पूछा।

"हाँ आया तो था, दौड़ा-दौड़ा एक नौजवान। कोट, पाजामा पहने था, वही तो नहीं?"

"जी हाँ, वही तो है! वहुत मशहूर चोर है, किधर गया?"

वकील साहव के मकान से कुछ आगे क्रान्तिकारी विचारों के पंजावी मासिक 'किर्ती' का दफ़्तर था। वकील साहव ने उधर इशारा करते हुए कहा—"उस दफ़्तर की तरफ़ गया है।" वात ठीक थी, क्रान्तिकारी भगत सिंह 'किर्ती' की तरफ़ नहीं जायेगा तो कहाँ शरण पायेगा। भगत सिंह जव नाश्ता कर रहे थे तव 'किर्ती' का दफ़्तर पुलिस से घिरा हुआ था।"

सोचती हूँ तो सोचती ही रह जाती हूँ कि कौन-सी भावना थी वह, जिस के वशीभूत हो कर एक वकील सब कुछ जानते-बूझते भी भयंकर ख़तरे से खेल रहा था। बात खुल जाती तो वकालत का लायसेंस ज़ब्त होता, जेल में चक्की पीसनी पड़ती और परिवार संकट में फँसता। फिर भगत सिंह उन के कौन थे, जिन के लिए वे इतने बड़े ख़तरे से जूझ रहे थे? यह देश-भक्ति का भाव था, यह वीर-पूजा का भाव था। मानना पड़ेगा कि सरदार शार्दूल सिंह उस राष्ट्रीय-भावना के श्रेष्ठ प्रतिनिधि थे, जो उस युग में जन-साधारण की सहज मनोवृत्ति बन गयी थी।

दिन-भर भगत सिंह घर के भीतर रहे और रात में पिस्तौल वकील साहब के पास छोड़, छहराटा स्टेशन से रेल में बैठ गये। लाहौर स्टेशन पर उतर कर वे कुछ देर प्लेटफ़ॉर्म पर खड़े रहे। पिस्तौल उन के पास नहीं था, इसलिए वे काफ़ी निश्चिन्त थे। जब कोई उन के पास नहीं आया तो वे स्टेशन से बाहर निकले और ताँगे में बैठ कर चल पड़े। कुछ दूर जाने पर ताँगा पुलिस ने घेर लिया और उन के हाथों में हथ-कड़ियाँ डाल दी। पुलिस उन्हें थाने ले जा रही थी, कोई परिचित मिल गया तो उन्हों ने अपने पिता को गिरफ़्तारी की सूचना भिजवा दी।

इस गिरफ़्तारी का आधार कुछ था, पर नाम कुछ था। लाहौर में दशहरे का जो मेला होता था, उस की भीड़ पर किसी ने बम फेंक दिया था। दस-बारह आदमी मर गये थे और पचास से ज़्यादा घायल हुए थे। इसे दशहरा बम-काण्ड कहा गया। आम जनता क्रान्तिकारियों को बम-पार्टी कहती थी। यह बात सारा देश जानता था कि क्रान्तिकारी लोग बम-पिस्तौल से अँगरेज़ों को डराना चाहते थे। चाँदनी चौक में लॉर्ड हार्डिंग्ज़ पर २३ दिसम्बर १९१२ में बम फेंका जा चुका था। काकोरी केस तो १९२५ में ही हुआ था, जिस में चलती ट्रेन रोक कर सरकारी ख़ज़ाना लूट लिया गया था।

इस पृष्ठभूमि में जब १९२६ के दशहरे पर वह बम फटा तो सब के ध्यान में क्रान्तिकारी कौंध गये। अँगरेज़ी सरकार की ख़ुफ़िया पुलिस ने इस अवसर का पूरा फ़ायदा उठाया, और यह बम क्रान्तिकारियों ने फेंका है, सन्देह की इस चिनगारी को ख़ूब हवा दी। इस से उसे दो फ़ायदे थे। पहला यह कि जनता में क्रान्तिकारियों के प्रति नफ़रत फैलती थी; दूसरा यह कि सन्दिग्ध क्रान्तिकारियों को फँसाने में पुलिस को सुविधा प्राप्त होती थी।

ऊपर से देखने से ऐसा लगता था और कहा भी यही जाता था कि भगत सिंह की गिरफ़्तारी दशहरा बम-काण्ड के सिलसिले में हुई है; पर इस बात में कोई तुक न थी। चन्नणदीन नाम के आदमी ने बम फेंका था। जानकार लोग उसे पुलिस का ही आदमी कहते हैं। वह पुलिस के इशारे पर ही साम्प्रदायिक तनाव पैदा करने के लिए यह सब करता था। बाद में वह दुष्टात्मा साँप के काटने से मर गया। भगत सिंह को गिरफ़्तार कर के पुलिस काकोरी केस के फ़रारों और दूसरे सम्बन्धित क्रान्तिकारियों

की खोज-ख़बर लेना चाहती थी। काकोरी काण्ड को अन्तिम रूप देने के लिए क्रान्तिकारियों की जो बैठक मेरठ में हुई थी, उस में भगत सिंह निमन्त्रित थे। —वे उस में जा न सके थे—इस की सूचना पुलिस के पास थी। यह बात इस से भी सिद्ध है कि काकोरी केस के निर्माता पुलिस अधिकारी खान बहादुर तसदुकहुसेन स्वयं लाहौर आये थे और उन्हों ने भगत सिंह से पूछताछ की थी।

भगत सिंह ने इस बन्दी-जीवन में अद्‌भुत क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का परिचय दिया। पुलिस के त्रास सहने में वे चट्टान सिद्ध हुए और अपने रहस्यों को छिपाये रखने में भोलेपन का उन्होंने ऐसा अभिनय किया कि चालाक अफ़सर भी दुविधा के चक्कर में पड़ गये। पुलिस की हवालात अब भी गाँव की चौपाल नहीं है कि आदमी वहाँ आराम से बैठा बातें करता रहे, फिर यह तो अँगरेज़ी राज की बात है। छान-बीन भी एक ऐसे क्रान्तिकारी की हो रही थी, जिस पर पुलिस की निगाह तो बहुत दिनों से थी—(१९२४ से), पर अपनी होशियारी की वजह से जो पुलिस के हाथ नहीं आ रहा था और अब लाहौर के क़िले में एकदम उस की मुट्ठी में था।

दशहरा बम-काण्ड तो बहाना था। पूछ-ताछ का निशाना तो दल और काकोरी के फ़रार अभियुक्त थे। पुलिस अफ़सर अपनी बातों पर आते, तो भगत सिंह दशहरा बम-काण्ड की ग़ैर इनसानी हरकत की निन्दा करने लगते। यह सब वे इतने निश्चिन्त भाव से करते कि उन का चेहरा एकदम शान्त रहता। अफ़सरों के काग़ज़ कुछ कहते, भगत सिंह के बोल कुछ। अफ़सर सब-कुछ कर सकते थे। उन के ग़ुस्से पर किसी की रोक न थी। उन्हों ने क्या-क्या किया और भगत सिंह ने क्या-क्या वहाँ सहा, इस बारे में उन्हों ने कभी किसी से ज़्यादा नहीं कहा। उन के प्रिय सखा श्री जयदेव गुप्ता से जब मैं ने पूछा कि क्या आप के साथ भगत सिंह जी की इस मामले में कोई बातचीत हुई? तो कुछ देर सोचने के बाद वे बोले, "ऐसी कोई बात उन्हों ने मुझे नहीं बतायी।" इस न बताने का कारण यह है कि "वे दूसरे के कष्ट को सवाया देखते थे और अपने कष्ट को बिलकुल न कहते थे। यह उन के चरित्र की ख़ास बात थी।" पर हाँ, हमारे खानदान के काग़ज़ों में एक लाइन मिलती है—"आप को शाही क़िला लाहौर में तरह-तरह की अज़ीतें दी गयीं।" सिर्फ़ चाची हरनाम कौर को ही उन्हों ने इस सम्बन्ध में कुछ संकेत दिये थे।

१९४२ की जनक्रान्ति में देश के विख्यात नेता श्री जयप्रकाश नारायण और श्री राममनोहर लोहिया लाहौर के इसी क़िले में रहे थे और तब उन पर वहाँ होने वाले अत्याचारों की कहानियाँ पत्रों में छपी थीं। १९६७ में प्रकाशित और श्री ओंकार शरद-द्वारा लिखित डॉ० राममनोहर लोहिया की जीवनी में लोहिया जी पर लाहौर क़िले में हुए अत्याचारों की लम्बी कहानी देने के बाद पृष्ठ १४३ पर लिखा है—"बड़ा अफ़सर जो लोहिया को यातना देने के लिए ख़ास तौर पर मुक़र्रर किया गया था, वह वही था,

जो चौदह वर्ष पूर्व[1] भगत सिंह के लिए मुकर्रर हुआ था। उस अफ़सर ने लोहिया से कहा था कि भगत सिंह ने भी बाद में भेद बता दिया था।............चौदह वर्ष पहले भारत के लाडले भगत सिंह को तो इसी क़िले में.........."

भगत सिंह के भेद बताने की बात गप्प है। पुलिस अफ़सरों का यह ख़ास नुस्ख़ा था कि वे हरेक अभियुक्त को अलग-अलग रख कर यह धोखा दिया करते थे कि उन्हें दूसरे साथी से पूरा भेद मिल गया है। यह सब अभियुक्त को हताश—(डिमॉरेलाइज़) करने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया थी। वे अभियुक्त के मन पर यह असर डालने का प्रयत्न करते थे कि बच तो मैं अब सकता नहीं, फिर बेकार कष्ट क्यों सहूँ, सब रहस्य कह क्यों न दूँ। अफ़सरों की निरन्तर पूछ-ताछ और दूसरी सख़्तियाँ इस हिसाब से एक के बाद एक होती थीं कि अभियुक्त रहस्यों को छिपाये रखने की शक्ति और चेतना से वंचित हो जाये और जो वह कहना नहीं चाहता, उसे कह दे। भगत सिंह १५ दिन लाहौर के क़िले में रहे और बाद में बोर्स्टल जेल में भेज दिये गये। उन के पिता सरदार किशन सिंह के प्रभाव और क़ानूनी कार्यवाहियों के कारण पुलिस भगत सिंह को मैजिस्ट्रेट के सामने पेश करने को बाध्य हुई। वह उन से कोई बात कहलवा न सकी थी, इस लिए कुछ ही सप्ताह बाद भगत सिंह जेल से मुक्त हो गये। मुक्ति का कारण था हाईकोर्ट-द्वारा जमानत की स्वीकृति। यह जमानत उस युग की पत्रकारिता के लिए एक विशेष समाचार बन गयी थी, क्यों कि यह जमानत ६० हज़ार रुपये की थी। इस से स्पष्ट है पुलिस ने उन के भयंकर मनुष्य होने के बारे में कैसी रिपोर्ट दी होगी। फिर भी हाईकोर्ट के जज जमानत मानने को मजबूर थे, क्यों कि उस रिपोर्ट में भगत सिंह के विरुद्ध सन्देह चाहे लाख थे, पर भगत सिंह की स्वीकृति का कोई शब्द तो न था और न कोई ऐसा प्रमाण ही, जो अदालत में टिक सके।

६० हज़ार रुपये उस युग में बहुत थे। फिर एक सरकार-विरोधी आदमी की जमानत के लिए तो वे बहुत से भी ज़्यादा थे। सरदार किशन सिंह के मित्र बैरिस्टर दुनीचन्द (लाहौर वाले) ने ३० हज़ार की जमानत दी, श्री दौलत राम ने ३० हज़ार की। दौलतराम जी आदमी तो सरकार-परस्त थे, पर किसी की जमानत करना उन का कुछ धार्मिक जैसा विश्वास था। सोचती हूँ भगत सिंह सींखचों के उस पार तप कर रहे थे, तो सरदार किशन सिंह सींखचों के इस पार क्रान्ति-यज्ञ की वेदी सजा रहे थे। कहने की बात इतनी है कि भगत सिंह की जमानत हो गयी, पर इन तीन शब्दों को सत्य बनाने में सरदार किशन सिंह को कितनी परेशानियाँ उठानी पड़ी होंगी। भगत सिंह ने अपनी साधना में रक्त की अंजलि दी, पर सरदार किशन सिंह ने उस साधना में पसीने की जो अंजलि दी, वह क्या इतिहास के भण्डार को कोई कम क़ीमती धरोहर है।

---

१. भगत सिंह २६ जुलाई १९२७ को गिरफ़्तार हुए थे और और लोहिया जी पकड़े गये थे २० मई १९४४ को। इस तरह दोनों के लाहौर क़िले में रहने का अन्तर १४ का नहीं १६ वर्ष का है।

पिता-पुत्र में मतभेद था, पर जीवन के आदर्श का नहीं, उस आदर्श के लिए जीवन के आचरण का ही यह मतभेद था। सरदार किशन सिंह का सिद्धान्त था, 'दुश्मन पर चोट करो, पर चोट खाओ मत। अपने को बचाओ, जिस से वार-वार चोट कर सको।' यह गुप्त आतंकवादी दृष्टिकोण था। भगत सिंह का दृष्टिकोण दूसरा था। वे उस गुप्त आतंकवाद को क्रान्ति का जन-आन्दोलन बनाने की दिशा में बढ़ रहे थे। उन का जीवन-दर्शन था—'इस तरह चोट खाओ, इस तरह अपनी आहुति दो कि चोट मारने का काम कुछ लोगों का न रहे और उसे जनता अपने हाथ में ले ले।' अपने आदर्श के लिए भगत सिंह ने ऐसा कर्म किया कि देश के इतिहास में उस का कोई जोड़ नहीं, पर उस कर्म के लिए उन के पिता ने इतना सहा कि वह भी वेजोड़ है।

■ ■

भगत सिंह में वग़ावत और अनुशासन का अजव मिलाप था। वे इस वात को ख़ूव अच्छी तरह समझते थे कि जिन्हों ने ६० हज़ार रुपये की जमानत दी है, उन के प्रति उन का क्या उत्तरदायित्व है। वे ऐसा कोई काम नहीं कर सकते थे, जिस से उन के जमानती किसी तरह के ख़तरे में पड़ें। लाहौर के पास खासरियाँ में उन के पिता ने एक डेरी खुलवा दी। भगत सिंह डेरी का काम देखने लगे। उन्हों ने इन दिनों अपनी व्यापारिक प्रतिभा का वहुत अच्छा परिचय दिया। वे स्वयं पिता जी के साथ जा कर भैंसें ख़रीद कर लाये और दूसरे प्रवन्धों में भी उन्हों ने दिलचस्पी ली।

सुवह चार वजे से उठ कर भैंसों का दूध निकालना, दिन निकलने के साथ ही ताँगे में दूध के वरतन लाद कर लाहौर ले जाना, अपने ग्राहकों को उसे देना, उन का हिसाव रखना, उन से पैसा लेना और ज़रूरत की चीज़ें खरीदना। यह सव काम वे एक समझदार व्यापारी की तरह करते थे। किसी दिन नौकर न हो तो गोवर भी अपने हाथ से उठाते थे। उन का सौन्दर्यवोध वहुत ऊँचे दरजे का था। क्या वे अपने जीवन के मूल कार्य—क्रान्ति से इन दिनों दूर हो गये थे ? प्रश्न का उत्तर है यह प्रश्न कि—क्या आत्मा और शरीर कभी जीवन में अलग हो सकते हैं। डेरी दिन में डेरी रहती थी, रात में क्रान्तिकारियों की धर्मशाला वन जाती थी। भगत सिंह एक बड़ा भिगौना (टोपिया) और एक स्टोव खरीद लाये थे। गरम दूध साथियों को ठाठ से मिलता था। वहीं सलाह-मशवरे होते थे, योजनाएँ वनती थीं, गपशप भी होती थी।

फिर भी भगत सिंह जमानत से जकड़े हुए थे और इस जकड़न को तोड़ने में लगे हुए थे। वे स्वयं ही सरकार को जमानतियों की तरफ़ से लिखते रहते थे कि या तो भगत सिंह पर मुक़दमा चलाओ, या फिर जमानत समाप्त करो। पत्रों में भी इस सम्वन्ध में चर्चा होती रहती थी। सरकार के लिए यह एक प्रश्नचिह्न था। तभी श्री वोधराज ने पंजाव कौन्सिल में सवाल उठाया कि सरकार के पास सबूत है तो वह भगत सिंह के खिलाफ़ मुक़दमा क्यों नहीं चलाती ? वाद में डॉ० गोपीचन्द भार्गव ने भी ऐसे ही प्रश्न का नोटिस दिया। सरकार ने जमानत समाप्त होने की

घोषणा कर दी और भगत सिंह मुक्त हो कर अपने काम में लग गये ।

इसी बीच भगत सिंह को डेरी में जो एकान्त मिला, उस का उपयोग उन्हों ने क़लम की साधना में लगाया। अपने अधूरे लेखों को पूरा किया और नये लेख लिखे। सब का सम्बन्ध क्रान्तिकारियों से था। भगत सिंह ने बहुत परिश्रम से क्रान्तिकारियों के चित्र और चरित्र खोज निकाले थे। उन चित्रों की उन्हों ने स्लाइडें बनवायीं। नौजवान भारत सभा के मंच पर मैजिक लालटेन के द्वारा ब्रेडला हाल (लाहौर) में समय-समय पर उन का प्रदर्शन होता था और उन की वीरगाथा सुनायी जाती थी। काकोरी के शहीदों की स्मृति में 'काकोरी डे' मनाया गया। उसी जलसे में मैजिक लालटेन से काकोरी के शहीदों का परिचय दिया जा रहा था कि लालटेन खराब हो गयी। बिना रोशनी तसवीर परदे पर कैसे आये। किसी को कुछ सूझा नहीं, पर भगत सिंह ने तुरन्त एक मोटी मोमबत्ती जला कर एक हाथ में ले ली और दूसरे से उसे हवा से बचाते रहे। कभी-कभी हवा का ज़रा तेज़ झोंका आता, मोमबत्ती की लपट हाथ को छू जाती, हाथ को जलन महसूस होती, तब भी हाथ वहीं का वहीं रहता।

प्रगतिशील विचारों की पत्रिका 'किर्ती' (अमृतसर) से उन का सम्पादक-मण्डल के सदस्य-जैसा ही सम्बन्ध जुड़ गया था। वे उस में पंजाबी में लिखते थे। साथ ही वे उर्दू में भी लिखते थे। 'अकाली' पत्र से तो उन का सम्बन्ध १९२४ से ही था। वे बेलगाँव काँग्रेस (१९२४) में उस के प्रतिनिधि हो कर गये थे। 'चाँद' का 'फ़ाँसी अंक' जो नवम्बर १९२८ में प्रकाशित हुआ, उस के अन्त में 'विप्लव यज्ञ की आहुतियाँ' के नाम से ८० पृष्ठों में क्रान्तिकारियों के जो जीवन-चित्र छपे हैं, (कुछ को छोड़ कर) भगत सिंह के ही लिखे हैं। कुछ उन्हों ने हिन्दी में लिखे थे और कुछ पंजाबी उर्दू से भगत सिंह के अनन्य साथी और विख्यात क्रान्तिकारी श्री शिव वर्मा द्वारा हिन्दी में रूपान्तरित किये गये थे।

जमानत हटते ही डेरी से भगत सिंह का ध्यान हट गया। ग्राहकों को समय पर दूध नहीं पहुँचा, तो ग्राहक टूटे और ग्राहक क्या टूटे, डेरी ही टूट गयी। इस टूट का बोझ भी सरदार किशन सिंह पर ही पड़ा। अप्रैल-मई १९२८ तक भगत सिंह का घर से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध बना रहा। इस के बाद वे पूरी तरह अन्तर्ध्यान हो गये। अपने जीवन की पूर्णाहुति में जुट गये। इस के बाद की उल्लेखनीय घटना ८-९ सितम्बर १९२८ को दिल्ली के पुराने क़िले फ़िरोज़शाह के खण्डहरों में हुई क्रान्तिकारी दल की बैठक है। इस बैठक का भगत सिंह के जीवन में उत्तर भारत के क्रान्तिकारी संगठन के जीवन में और भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक अविस्मरणीय ऐतिहासिक महत्त्व है।

इस बैठक में पंजाब, युक्तप्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) बिहार और राजपूताना के क्रान्तिकारी आये थे। श्री चन्द्रशेखर आज़ाद इस में नहीं आ सके थे। उन्हों ने अपना सन्देश भेज दिया था कि जो सब तै करेंगे, मुझे स्वीकार होगा। इस प्रकार पूरे दल का सर्वोच्च नेतृत्व इस बैठक में भगत सिंह के हाथों में ही था। इस में दल की केन्द्रीय

समिति का निर्माण कर भगत सिंह ने दल को नया रूप दिया और उन्हों ने क्रान्तिकारी संगठन का नाम हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोशियेशन (हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र संघ) से बदल कर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोशियेशन (हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ) कर दिया। इस का साफ़ अर्थ था क्रान्ति के उद्देश्य की पहली बार स्पष्ट घोषणा। निश्चय ही उस में रूस की क्रान्ति का प्रभाव था और इस विचार को पूर्ण रूप से ग्रहण करने में श्री विजय कुमार सिनहा, श्री शिव वर्मा और श्री सुखदेव-जैसे कई साथी भगत सिंह के सहायक थे। इस बैठक में एक विशेषता यह थी कि उत्तर भारत के क्रान्तिकारी संगठन ने पहली बार बंगाल के दादाशाही नेतृत्व की अधिनायकता मानने से इनकार कर दिया। साथ ही उत्तर भारत के क्रान्तिकारी संगठन पर शिथिलता के जो बूढ़े साये बुरी तरह छाये हुए थे, उन्हें भी पूरी तरह दूर कर दिया। अब यह संगठन एक ताज़ादम संगठन था। भगत सिंह की जीवन-साधना के पथ में दिल्ली की बैठक एक मील-पत्थर है, इस में सन्देह नहीं।

इस बैठक में विभिन्न साथी विभिन्न प्रान्तों के इंचार्ज नियुक्त किये गये और भगत सिंह एवं श्री विजय कुमार सिनहा को प्रान्तों के बीच कड़ियाँ जोड़ने का काम दिया गया। इस रूप में निश्चित था कि भगत सिंह को देश-भर में घूमना पड़ेगा। इस घूमने में उन के दाढ़ी और केश बाधक थे। इस लिए पार्टी ने फ़ैसला किया कि भगत सिंह बाल कटा दें। कुछ ही दिन बाद फ़िरोज़पुर जा कर बाल कटा दिये गये, पर कटाने से पहले वे काटे गये। पहले साथियों ने उन बालों पर क़ैंची की कारीगरी दिखायी। बाद में नाई को बुलाया गया, जिस से सन्देह पैदा न हो। अब भगत सिंह सिखवीर की जगह राष्ट्रवीर हो गये और उन के गुणों के अनुरूप ही उन्हें पार्टी नाम मिला रणजीत।

उन्हीं दिनों का एक महत्त्वपूर्ण और इतिहास की कड़ियों को जोड़ने वाला संस्मरण श्री कमलनाथ तिवारी (लाहौर षड्यन्त्र केस के अभियुक्त और बाद में संसद्-सदस्य) के शब्दों में—"साण्डर्स हत्याकाण्ड से कुछ दिन पहले भगत सिंह देशी बम बनाने के लिए कुछ आवश्यक केमिकल्स खरीदने के उद्देश्य से कलकत्ता आये। यह काम मुझे सौंपा गया। उन का बाज़ार में जाना सन्देहास्पद हो सकता था। मैं बहुत-सी दुकानों पर गया। अधिकतर दुकानदारों ने सरकारी प्रतिबन्ध के कारण केमिकल्स देने से इनकार कर दिया। बाद में क्रान्तिकारी दल से सहानुभूति रखने वाले दुकानदारों के यहाँ मैं भाई बैजनाथ सिंह 'विनोद' (बाद में 'जायसवाल युवक' और 'विश्ववाणी' के सम्पादक) के साथ गया। उन से आवश्यक केमिकल्स मिल गये। उन में बी० पाल का नाम मुझे आज भी याद है।

उन केमिकल्स को एक भूटिया मज़दूर के सिर पर रखवा हम दोनों आर्य-समाज (उस समय क्रान्तिकारियों का केन्द्र) लौट रहे थे कि भूटिया की टोकरी उस के सिर से गिरने को हुई। हम ने उस को ऐसे डाँट-डपट करनी शुरू कर दी जैसे कि हमारा उस

से कोई सम्बन्ध ही न हो। बात यह थी कि सामने ही एक सार्जेण्ट खड़ा था। हमें भय हुआ कि यदि कहीं उस को केमिकल्स के बारे में सन्देह हो गया, तो हम दोनों उस चंगुल से न बच सकेंगे। हमारी डाँट-डपट काम आ गयी। भूटिया सँभल कर आगे बढ़ गया और सार्जेण्ट का ध्यान उस की ओर से हट कर हम पर लग गया। उस ने हम को समझाया कि उस मामूली-सी बात पर ग़रीब भूटिया को डाँटने की क्या ज़रूरत थी। थोड़ी दूर जा कर सामान रिक्शा पर रख दिया गया और हम दोनों सकुशल सामान के साथ आर्यसमाज पहुँचे।

दूसरे दिन सवेरे भगत सिंह, फणीन्द्रनाथ घोष (बाद में सरकारी गवाह) और यतीन्द्रनाथ दास (बाद में शहीद) एक साथ आर्यसमाज में आये। तीनों ने मिल कर देसी बम में काम आने वाली 'गन कॉटन' तैयार की। शेष केमिकल्स और 'गन कॉटन' ले कर भगत सिंह आगरा के लिए रवाना हो गये।''

असल में इसी यात्रा में भगत सिंह का यतीन्द्रनाथ दास से परिचय हुआ था। भगत सिंह को आगरा के लिए ऐसे आदमी की ज़रूरत थी, जो बम बनाना सिखा सके। बाद में यतीन्द्रनाथ ने ही आगरा आ कर बम बनाने की शिक्षा दी थी। 'गन कॉटन' कलकत्ता में ही इस लिए बनायी गयी थी कि उसे बनाने में बरफ़ की ज़रूरत थी और सर्दियों में उतनी बरफ़ आगरे में मिल नहीं सकती थी। जो बम बाद में असेम्बली में फेंका गया, वह आगरा से ही दिल्ली लाया गया था। भगत सिंह तेज़ी और मुस्तैदी से अपने काम में लगे थे। सचमुच उन में अथाह संगठन-शक्ति थी।

लाहौर से दिल्ली, दिल्ली से कानपुर, कानपुर से आगरा, आगरा से कलकत्ता और कलकत्ता से फिर लाहौर। आज यहाँ तो कल वहाँ, कल वहाँ तो परसों न जाने कहाँ। भाग-दौड़ के ये साल भगत सिंह ने कैसे बिताये। निश्चय ही ये वर्ष भीषण संघर्ष के रहे। मन में बड़े भारी मनसूबे थे और जेब में एक पैसा नहीं था, दिमाग़ स्वप्नों से भरा था, पर पेट खाली था, इरादे शहंशाही थे और देह पर ठीक कपड़े भी नहीं थे। कभी अखबार बेच कर रोटी के पैसे इकट्ठे किये, तो कभी चने चबा कर और कभी पानी पी कर ही सो रहे। घर से गये तो देह पर कमीज़-कोट और पाजामा थे, पर लौटे तो कमीज़ नहीं थी, कोट से ही देह ढँकी हुई थी और कोट को कोट बनाये रखने के लिए पाजामे के पाँयचे, आस्तीनों की जगह उस में सिले हुए थे। सोचती हूँ कैसे लगते रहे होंगे उस वेश में भगत सिंह। रेल के मुसाफ़िरों ने उन्हें क्या समझा होगा— भिखारी या आधा पागल। कंगाल समझना तो स्वाभाविक था ही। कलेजा मुँह को आने लगता है यह सोचते-सोचते कि जीवित इतिहास सब के बीच था, पर कोई भी उसे पहचान न पा रहा था।

■ ■

साण्डर्स-वध

भगत सिंह को जो पढ़ना था पढ़ चुके थे, जो सोचना था सोच चुके थे और जो निर्णय करना था, निर्णय भी कर चुके थे। यह निर्णय था मरना, पर इस तरह मरना कि मृत्यु सस्ती नहीं, महँगी हो जाये और उस से देश की आज़ादी के लिए देशव्यापी क्रान्ति का वातावरण ख़रीदा जा सके। वे अब मौक़े की तलाश में थे। वह मौका स्वयं उन्हें अँगरेज़ी सरकार ने दे दिया।

भारत के शासन-सुधारों की जाँच कर के इंग्लैण्ड की सरकार को अपनी रिपोर्ट देने के लिए लॉर्ड साइमन की अध्यक्षता में एक कॅमीशन भारत आयेगा, इस की घोषणा वायसराय ८ नवम्बर १९२७ को कर चुके थे। ३ फ़रवरी १९२८ को वह कॅमीशन बम्बई भी पहुँच गया। भारत का जन-जीवन १९२४ से ही साम्प्रदायिक दंगों के जाल में फँसा हुआ था, पर साइमन साहब भारत क्या आये, भारत का सोयापन ही एकदम से जाग उठा। उस दिन सारे देश में हड़ताल मनायी गयी और बम्बई में 'साइमन गो बैंक' (साइमन लौट जाओ) के नारों के साथ ऐसा गरम प्रदर्शन हुआ कि अँगरेज़ी सरकार भौंचक रह गयी। बम्बई के बाद दिल्ली में काले झण्डे दिखाये गये, मद्रास में पुलिस ने गोली चलायी, जिस से तीन प्रदर्शन-कारी मारे गये। कलकत्ता में भी तगड़ी मुठभेड़ हुई। कुछ लिबरल राज-नीतिज्ञों को छोड़ कर सारा देश कॅमीशन के बहिष्कार में उठ खड़ा हुआ।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में—"जहाँ-जहाँ कॅमीशन गया, वहाँ-वहाँ विरोधी जनसमूहों ने 'साइमन गो बैंक' के नारे लगा कर उस का 'स्वागत' किया और इस तरह भारत के तमाम लोगों की बहुत बड़ी तादाद न सिर्फ़ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गयी, बल्कि अँगरेज़ी के 'गो बैंक' ये दो शब्द भी उसे मालूम हो गये। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन शब्दों से कॅमीशन के मेम्बरों के कान भड़कते थे और अपनी उसी भड़क की वजह से वे चौंक पड़ते थे। कहते हैं कि एक मर्तबा जब वे नयी दिल्ली के वेस्टर्न होटल में ठहरे हुए थे, तब उन्हें रात के अँधेरे में 'साइमन गो बैंक' का नारा सुनाई देने लगा। इस तरह रात में पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढ़े, जब कि असल बात यह थी कि वह आवाज़ उन गीदड़ों की थी, जो शाही राजधानी के ऊजड़ प्रदेशों में रहते हैं।"

उत्तर भारत में क्रान्तिकारी दल इस समय पूरी तरह संगठित हो चुका था और भगत सिंह कोई-न-कोई चमत्कार करने को बेचैन थे। दल के साथी भी उन से सहमत थे। उन्हों ने दल के सामने प्रस्ताव रखा कि साइमन कॅमीशन पर बम फेंका जाये और इस तरह उसे खत्म कर के जनता को जागृत किया जाये। प्रस्ताव शानदार था और दिल्ली चाँदनी चौक में लॉर्ड हार्डिग्ज पर जो बम २३ दिसम्बर १९१२ को फेंका गया था, उस की कहानी को चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) तक पहुँचाने वाला था। क्रान्तिकारी दल की केन्द्रीय समिति ने उसे स्वीकार कर लिया, पर इसे पूरा करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता थी, वे न जुट सके। दल घोर आर्थिक संकट में गुज़र रहा था। प्रस्ताव कार्यरूप में परिणत न किया जा सका।

इन्हीं परिस्थितियों में अक्तूबर १९२८ के अन्तिम सप्ताह में साइमन कॅमीशन लाहौर आ रहा था और लाहौर की जनता उस के बहिष्कार के लिए उफन उठी थी। स्टेशन पर उतरते ही साइमन कॅमीशन को काले झण्डे दिखाने और पूरी भीड़ के साथ वापस जाओ कहने की योजना थी। इस प्रदर्शन में सभी संगठन शामिल थे, पर इस आयोजन का नेतृत्व 'नौजवान भारत सभा' के हाथों में था। उस के क्रान्तिकारी सदस्यों की टोली स्टेशन पर उस जगह जा अड़ी थी, जहाँ से गुज़रने के सिवा साइमन कॅमीशन के सदस्यों के लिए और कोई चारा न था। भगत सिंह स्वयं लाला लाजपत राय के पास गये थे और उन्हें भीड़ के आगे रहने को राजी कर आये थे। लाला जी को क्रान्तिकारियों की टोली ने अपने में घेर लिया था और एक युवक ने उन पर छतरी भी तान ली थी।

भीड़ अथाह थी और लाहौर के पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट मिस्टर स्कॉट अपने दूसरे अफ़सरों के साथ स्वयं स्टेशन पर थे। उन्हों ने मौक़े का निरीक्षण कर तुरन्त ताड़ लिया कि जब तक लाला जी और नौजवानों की यह टोली यहाँ से न हटे, साइमन कॅमीशन के सदस्यों को प्रदर्शन की तेज़ बौछारों से नहीं बचाया जा सकता। इस लिए उन्हों ने अपने विश्वसनीय असिस्टेण्ट पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट मिस्टर साण्डर्स को रास्ता साफ़ करने का काम सौंपा और ज़रूरत पड़े तो लाठी-चार्ज करने की बात भी कही। पहले जनता की भीड़ पर लाठी चलायी गयी। समारोह में जोश के साथ इकट्ठे हो जाना एक बात है और विद्रोह में होश के साथ जमे रहना दूसरी बात है। जनता पहली स्थिति में थी। लाठी-चार्ज से वह पीछे हटी, लौटी, बिखरी, इधर-उधर हट कर जमी और रास्ता काफ़ी खुला, पर लाला लाजपत राय अभी अपनी जगह पर थे और नौजवानों की टोली अपनी जगह। इस का अर्थ है कि प्रदर्शन का मोरचा अभी ज्यों-का-त्यों क़ायम था और सरदार किशन सिंह एवं भगत सिंह उसे अपना बल दे रहे थे।

स्कॉट से सलाह कर साण्डर्स इस टोली के सामने आये और पुलिस के सिपाहियों को भीड़ धकेलने का आदेश दिया, पर यह रेत की दीवार न थी, यह तो फ़ौलादी

चट्टान थी। तब साण्डर्स बड़ा डण्डा ले कर आगे आये और बहुत तेज़ी से बाज़ की तरह टूट पड़े। जिधर भी उन का हाथ उठा, उन्हों ने डण्डा चलाया। बहुतों को चोट आयी ही, पर उन्हों ने लाला जी को भी बख्शा नहीं। भगत सिंह और उन के साथियों की कोशिशों के बावजूद लाला जी का छाता टूट गया और उन के कन्धे और छाती में भी चोट आयी। शाम को मोरी दरवाज़े के मैदान में कांग्रेस के आह्वान पर जो सार्वजनिक सभा हुई, उस में आदमी-ही-आदमी थे। लाला लाजपत राय भाषण-कला के बादशाह थे, पर उस दिन तो वे और भी गरमा कर बोले। पुलिस के अँगरेज़ अफ़सर भी जलसे में थे, इस लिए उन्हों ने अँगरेज़ी में कहा—"आई डिक्लेयर दैट द ब्लोज स्ट्रक ऐट मी विल वी द लास्ट नेल्स इन द काफ़िन ऑव द ब्रिटिश रूल इन इण्डिया—मैं घोषणा करता हूँ कि मुझ पर जो चोट पड़ी है, वह भारत में अँगरेज़ी राज के कफ़न की आखिरी कील साबित होगी।"

चोट शारीरिक भी थी और मानसिक भी। शायद मानसिक अधिक थी। उन के स्वाभिमान को इस चोट से बहुत ठेस पहुँची थी। एक पुलिस अफ़सर लाहौर में पंजाब-केसरी पर खुले-आम डण्डा चलाये, यह उन की कल्पना से बाहर की बात थी। वे अब भी घूमते-फिरते थे, कांग्रेस की मीटिंग में दिल्ली गये थे, वहाँ पण्डित जवाहरलाल नेहरू से टकराये थे, लौट कर उन्हों ने अपने अँगरेज़ी साप्ताहिक 'पीपुल' में नेहरू के विचारों के विरोध में एक लेखमाला लिखनी आरम्भ की थी। इस लेखमाला का एक लेख छप भी गया था, पर जब वे दूसरा लिख रहे थे तब १७ नवम्बर १९२८ को उन की मृत्यु हो गयी। उन की मृत्यु से देश की जनता में उन के प्रति अपार श्रद्धा और अँगरेज़ी सरकार के प्रति अपार क्रोध उफन पड़ा।

भगत सिंह की दूरदर्शी आँखों ने परिस्थिति की इस अनुकूलता को भाँप लिया और दल के सामने प्रस्ताव रखा कि लाला जी पर आघात के रूप में जो राष्ट्र का अपमान किया गया है, उस का बदला लिया जाये। साइमन कमीशन को बम से उड़ाने की योजना साधनों की कमी के कारण सफल न हो सकी थी। इस प्रस्ताव की खूबी यह थी कि वह जनता के क्रोध को तृप्त कर के जनता की आदर भावना को क्रान्तिकारियों से जोड़ता था और दल को उस असफलता के भाव से बचाता था। ९-१० दिसम्बर को लाहौर में दल की मीटिंग हुई, जिस में गहरे चिन्तन और विचार के बाद प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

लाला जी का अपमान पुलिस ने किया था, पुलिस अध्यक्ष थे मिस्टर स्कॉट। लाठी उन्हीं के हुक़्म से चलायी गयी थी। इस लिए उन्हें ही निशाना बनाना तय हुआ, पर हत्या हो गयी साण्डर्स की। मुक़दमें में जो बयान जयगोपाल ने दिया, उस से स्पष्ट है कि वह साण्डर्स को ही स्कॉट समझता रहा। सचाई यह थी कि स्कॉट उन दिनों लाहौर में था ही नहीं। भारतीय सशस्त्र क्रान्ति इतिहास में ऐसा और मौक़ों पर भी हुआ है कि हुलिए या वातावरण की समानता के कारण किसी के बदले कोई

मारा गया।[1]

जो हो यह निशाना वहुत योजना के साथ लगाया गया था। क्रान्तिकारी दल की जो स्थिति थी, जो साधन थे, उन्हें देखें तो पूरी ईमानदारी के साथ इस योजना की तुलना दूसरे महायुद्ध की कई विश्वविख्यात रचनाओं से कर सकते हैं। इस योजना के तीन भाग थे। पहला यह कि जयगोपाल स्काट के आने-जाने की ठीक जानकारी और उन की पहचान करें। दूसरा यह कि भगत सिंह और राजगुरु ठीक समय पर गोली चलायें, एक की गोली चूके तो दूसरे की गोली चले। तव भी यदि वे अपनी मोटर साइकिल से भाग चलें, तो साइकिल तैयार रहे और भगत सिंह उस पर चढ़ भागते हुए स्काट का वध करें। तीसरा यह कि पुलिस दफ़्तर का कोई आदमी इन दोनों का पीछा करे, तो श्री चन्द्रशेखर आज़ाद उसे अपने निशाने से रोकें और दोनों को भागने में मदद दें। पुलिस दफ़्तर के सामने ही डी० ए० वी० कॉलेज था और योजना यह थी कि भगत सिंह और राजगुरु स्कॉट का जीवन समाप्त कर कॉलेज के अहाते को पार करते हुए उस के छात्रावास में और वहाँ से अपने ठिकाने चले जायें। एक-एक वात सोच ली गयी थी और एक-एक जगह निगाहों में जमा ली गयी थी। विद्यार्थी जैसे पाठ याद करता है, ऐसे ही योजना का पाठ पूरी तरह तैयार कर लिया गया था।

उस दिन १७ दिसम्बर १९२८ थी और लाला जी को मरे एक महीना पूरा हो रहा था। दोपहर वाद जयगोपाल (वाद में सरकारी गवाह) खवर लेने गये कि स्कॉट पुलिस दफ़्तर में आ गये हैं या नहीं, राजगुरु जेव में भरी हुई पिस्तौल डाले पैदल ही चल निकले और भगत सिंह एवं चन्द्रशेखर आज़ाद साइकिलों पर चले, जैसे दो सैलानी पिकनिक को जा रहे हों। किसी ने इन की ओर ध्यान नहीं दिया, सिवा इतिहास के जो आकाश में मुसकराते हुए अपने नये अध्याय के इन लेखकों को देख रहा था।

लेकिन आरम्भ हो गया, इतिहास को घड़ी की सुइयाँ तेज़ी से घूमने लगीं। साइकिल ठीक करने के वहाने से पुलिस दफ़्तर के ठीक सामने खड़े जयगोपाल ने लाल मोटर साइकिल देखी, पल-भर में उस पर वैठे स्कॉट दिखाई दिये। हाँ, अपनी समझ के अनुसार वे स्कॉट ही समझ रहे थे यद्यपि थे वे असिस्टेण्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट मिस्टर साण्डर्स। दफ़्तर से वाहर ज़रा वच कर खड़े हुए भगत सिंह और राजगुरु को उन्हों ने (जयगोपाल ने) इशारा दिया। साण्डर्स अव फाटक पर आ गये थे, पर इस समय यह उन के दफ़्तर का नहीं यमराज का फाटक था। वे हैण्डिल को घूमने का इशारा अपनी उँगलियों

---

१. सिंहावलोकन में श्री यशपाल ने माना है कि जयगोपाल की गवाही भ्रमपूर्ण थी, पार्टी में साण्डर्स की हत्या का निर्णय हुआ था। स्कॉट अपने बँगले पर ही रहते थे और कभी-कभी दफ़्तर आते थे। उन की नीली मोटर थी, साण्डर्स लाल मोटर साइकिल पर आते थे और मोटर साइकिल को हमेशा एक ही जगह खड़ी करते थे। मैं ने इस सम्बन्ध में वहुत छानवीन, पूछताछ की, पर इस वात का कोई जवाव नहीं मिला कि यदि हत्या साण्डर्स की करनी थी तो पोस्टरों पर स्कॉट का नाम क्यों लिखा गया था, जिसे वाद में काटना पड़ा।—लेखिका

से दे ही रहे थे कि राजगुरु झपट कर मृत्यु और अमरता के दूत की तरह सामने आ गये। उन्हों ने पिस्तौल उठायी, उन की उँगलियों ने साण्डर्स की उँगलियों से पहले अपना काम किया—मोटर साइकिल घूमने से पहले ही पिस्तौल का घोड़ा दब गया। साण्डर्स और मोटर साइकिल दोनों लुढ़के, भगत सिंह आगे बढ़े, पिस्तौल चली, पाँच धड़ाके हुए और साण्डर्स का सिर ही नहीं, कन्धे तक छिद गये। इतिहास का नया अध्याय लिखा गया, दिन-दहाड़े खुले-आम ब्रिटिश सिंह का एक मज़बूत दाँत तोड़ दिया गया।

भगत सिंह और राजगुरु तेज़ी से डी० ए० वी० कॉलेज की ओर बढ़े, जहाँ नरसिंह आज़ाद अपना माउज़र साधे जंगल के पीछे खड़े थे। ट्रैफ़िक इन्सपेक्टर मिस्टर फर्न और दो सिपाही इन दोनों के पीछे दौड़े। भगत सिंह के चौकन्ने दिमाग़ ने उन के पैरों की आहट पहचानी, पिस्तौल फिर सधा, और मुड़ कर गोली दाग़ दी। निशाना फर्न पर था। बचने की कोशिश में वह लुढ़क गया। उन के गिरते ही सिपाही ठहर गये। भगत सिंह ने फर्न को ख़त्म करने के लिए फिर पिस्तौल उठायी थी कि चन्द्र-शेखर की ललकार आयी—"चलो।" इस ललकार में कितनी मीठी पुचकार थी। भगत सिंह की पिस्तौल रुक गयी, दोनों तेज़ी से बढ़े।

पुलिस का हेड कान्स्टेबल चन्दन सिंह उन दोनों के पीछे भागा। वह ग़ुस्से में इतना अन्धा हो रहा था कि भागते-भागते गालियाँ भी दे रहा था। भगत सिंह और राजगुरु जँगले के पार हो गये थे और आज़ाद स्वयं रास्ता रोके खड़े थे। आज़ाद ने अपना माउज़र उठाया, चन्दन सिंह को तेज़ी से घूरा और ललकारा—"ऐ, पीछे हटो, भागो।" मगर चन्दन सिंह जोश में था, वह नहीं रुका और आगे बढ़ा। आज़ाद की उँगलियाँ हिलीं, माउज़र से गोली छूटी, चन्दन सिंह धड़ाम से धूल में लेट गया। वह क्या धूल में लोटा, पुलिस का साहस ही धूल में लोट गया—फिर किसी ने पीछा नहीं किया, हरेक के सामने अपनी मौत खड़ी थी। डी० ए० वी० कॉलेज के छात्रा-वास से दो साइकिलें चलीं। एक पर आज़ाद और राजगुरु थे और दूसरी पर भगत सिंह। सब अपने-अपने काम में लगे थे, केवल इतिहास उन्हें देख रहा था, मुसकरा रहा था। कुछ ही क्षणों में सब साथी मौजंग हाऊस (लाहौर में क्रान्तिकारियों के निवास) पहुँच गये। लाहौर का सरकारी क्षेत्र सन्नाटे में था और जनता का क्षेत्र एक मानसिक रोमांच से पुलकित था। भगत सिंह उस सन्ध्या को बेहद उत्फुल्ल थे।

ठीक है, सरकारी क्षेत्र में सन्नाटा था और जनता के क्षेत्र में पुलकित रोमांच था, पर बोध तो कहीं भी नहीं था। सरकार के विख्यात गुप्तचर विभाग को लकवा मार गया था—इतनी बड़ी घटना हो गयी और हमें सुरसुराहट भी न मिली। खुली सड़क पर योजना का पूर्वाभ्यास हुआ होगा और खुली सड़क पर पुलिस दफ़्तर के सामने एक अँगरेज़ अफ़सर दिन-दहाड़े मार डाला गया। यह किस ने किया, क्यों किया ? इस के पीछे कौन है ? जनता के लिए यह चमत्कारी धड़ाका था। उस के पीछे क्या आदर्श है, या क्या योजना है, इस से वह भी अपरिचित थी, पर दूसरे दिन सुबह

सूरज निकलने से पहले ही सरकारी पक्ष और जनता पक्ष दोनों के सामने बात साफ़ हो गयी। दीवारों पर जगह-जगह अँगरेज़ी के छोटे पोस्टर चिपकाये गये थे। इन पोस्टरों का कागज़ गुलाबी था और स्याही लाल थी। उन पर लिखा था—

"हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र सेना

नोटिस

नौकरशाही सावधान

जे० पी० साण्डर्स की मृत्यु से लाला लाजपत राय की हत्या का बदला ले लिया गया।

यह सोच कर कितना दुःख होता है कि जे० पी० साण्डर्स-जैसे एक मामूली अफ़सर के कमीने हाथों देश की तीस करोड़ जनता-द्वारा सम्मानित एक नेता पर हमला कर के उन के प्राण ले लिये गये। राष्ट्र का यह अपमान हिन्दुस्तानी नवयुवकों और मर्दों को चुनौती थी।

आज संसार ने देख लिया है कि हिन्दुस्तान की जनता निष्प्राण नहीं हो गयी है। हिन्दुस्तानियों का ख़ून जम नहीं गया, वे अपने राष्ट्र के सम्मान के लिए प्राणों की बाज़ी लगा सकते हैं। यह प्रमाण देश के उन युवकों ने दिया है जिन की इस देश के नेता, निन्दा और अपमान करते हैं।

अत्याचारी सरकार सावधान

इस देश की दलित और पीड़ित जनता की भावनाओं को ठेस मत लगाओ। अपनी शैतान हरकतें बन्द करो। हिन्दुस्तानियों को हथियार न रखने देने के लिए बनाये तुम्हारे सब क़ानूनों और चौकसी के बाद पिस्तौल और रिवाल्वर इस देश की जनता के हाथ में आते ही रहेंगे। यदि यह हथियार सशस्त्र क्रान्ति के लिए पर्याप्त न भी हुए तो भी राष्ट्रीय अपमान का बदला लेते रहने के लिए तो काफ़ी रहेंगे ही। हमारे अपने लोग हमारी निन्दा और अपमान करें, विदेशी सरकार चाहे हमारा कितना भी दमन कर ले, परन्तु हम राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा के लिए और विदेशी अत्याचारियों को सबक़ सिखाने के लिए सदा तत्पर रहेंगे, हम सब विरोध और दमन के बावजूद क्रान्ति की पुकार को बुलन्द रखेंगे और फाँसी के तख़्तों से भी पुकारते रहेंगे—

'इन्क़लाब जिन्दाबाद'

हमें एक व्यक्ति की हत्या का खेद है, परन्तु यह व्यक्ति उस निर्दयी, नीच और अन्यायपूर्ण व्यवस्था का एक अंग था, जिसे समाप्त कर देना आवश्यक है। इस व्यक्ति की हत्या हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के कारिन्दे के रूप में की गयी है। यह सरकार संसार की सब से अत्याचारी सरकार है।

मनुष्य का रक्त बहाने के लिए हमें खेद है, परन्तु क्रान्ति की वेदी पर रक्त बहाना अनिवार्य हो जाता है। हमारा उद्देश्य ऐसी क्रान्ति से है, जो मनुष्य-द्वारा मनुष्य

के शोषण का अन्त कर देगी।

इन्क़लाब ज़िन्दाबाद।"

ह० बलराज
सेनापति पंजाब हिसप्रस

१८ दिसम्बर १९२८

उन पोस्टरों पर जो हत्या से पहले ही तैयार हो गये थे स्कॉट का नाम लिखा था, उसे काट कर साण्डर्स लिख दिया गया था। जो पोस्टर हत्या के बाद रात में तैयार किये गये थे, उन पर साण्डर्स का ही नाम था।

इन छोटे पोस्टरों ने एक साथ दो काम किये। पुलिस को स्तम्भित कर दिया और जनता को पुलकित कर दिया। पुलिस यानी पूरी सरकारी मशीनरी अपमान से अधमरी हो गयी और जनता गर्व से हरी हो उठी। लाला जी के अपमान और मरण का जो काँटा उस के कलेजे में चुभ रहा था, वह पल भर में निकल गया। उस काँटे ने जो छेद पैदा किया था, उस में क्रान्तिकारियों का प्यार भर गया। इस प्यार में भरोसे की रोशनी थी, बदले की ताज़गी थी, सन्तोष का सुख था। साफ़-साफ़ बात यह कि क्रान्तिकारी युवक अब जनता के मन से जुड़ गये थे, जनता के मन में बस गये थे। इस भावना की मनोवैज्ञानिक गहराई में उतरने की ज़रूरत है। १९२० में जनता का मन जलियाँवाला बाग़ की असहायता झेलने के बाद महात्मा गान्धी के खुले नेतृत्व से जुड़ गया था, उसे सहारा मिला था कि अब उस के दुःख दूर होंगे, पर असहयोग की असफलता ने उस मन को अविश्वास के अन्धेरे में डुबाया था और बाद के साम्प्रदायिक दंगों में त्रस्त बहुमत जनता ने जो असहायता सही, उस ने उसे तोड़ दिया था। यह टूटा हुआ मन साण्डर्स-वध और उस के बाद इन पोस्टरों से लहलहा उठा था—"नहीं, अब भी कोई है, जो हमारे दुश्मन को ललकार सकते हैं। और मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त कर सकते हैं।" जनता की यह नयी भावना ही साण्डर्स-वध की सब से बड़ी उपलब्धि थी और क्रान्तिकारी दल के लिए भगत सिंह का एक ऐतिहासिक उपहार।

अंगरेज़ी सरकार इसे समझ रही थी और उस के अफ़सर दाँत किटकिटा रहे थे, पर उन के सामने, उन की पहुँच में कोई न था जिसे वे मसल दें। चबा डालें। वे अँधेरे में भटक रहे थे। नौजवान भारत सभा और स्टुडेण्ट्स युनियन के खुले कार्यकर्ता उन के सामने थे। पुलिस अन्धाधुन्ध उन्हें पकड़ रही थी, उन के घरों की तलाशियाँ ले रही थी, पर उन में से किसी को जब सचमुच ही कुछ पता न था, तो पुलिस उन से क्या पता पाती।

अँगरेज़ी सरकार १७ दिसम्बर की दोपहर को हिल गयी थी, पर उसी शाम को वे सब भूखे थे, उन के पास खाने को रूखी रोटी भी न थी, जिन्हों ने उसे हिलाया था। जयगोपाल मुखबिर ने बाद में कहा था—"मैं आज़ाद के कहने पर जब अपने मित्र बंशीलाल से माँग कर दस रुपये लाया, तो खाने-पीने की व्यवस्था हुई।" ■ ■

लाहौर से कलकत्ता

भारत की सशस्त्र क्रान्ति के इतिहास में सूरज और चाँद की तरह चमकते सब चेहरे यहाँ आ कर बुरके में छिप जाते हैं। वे अपने पूरे महत्त्व के साथ उपस्थित हैं, पर दिखाई नहीं देते। क्या पण्डित चन्द्रशेखर आज़ाद, क्या सरदार भगत सिंह और क्या राजगुरु, किसी का चेहरा सामने नहीं है। बस दो भोली, सुन्दर और युवती स्त्रियों के चेहरे ही इतिहास के दर्पण में दिखाई दे रहे हैं। इन में पहला चेहरा है श्रीमती दुर्गा भाभी का और दूसरा चेहरा है सुशीला दीदी का। ये दोनों इस तरह जगमगा रहे हैं, जैसे मन्दिर की नयी प्रतिमाएँ। एक और भी चेहरा यहाँ है, जो दिखाई नहीं देता, पर जिस की एक हलकी झलक दिखाई देती है। यह श्रीमती दुर्गा-भाभी के पति श्री भगवती चरण का चेहरा है। कुछ लोग इस लिए मुँह छिपाते हैं कि उन्हें नज़र न लग जाये कुछ लोग इस लिए मुँह छिपाते हैं कि उन का मुँह दिखाने लायक़ नहीं होता; और कुछ लोग इस लिए मुँह छिपाते हैं कि उन में मुँह दिखाने की हिम्मत नहीं होती। इन सब के विरुद्ध भगवती चरण अपना मुँह इसलिए छिपाते रहे हैं कि उन के साथी का मुँह दुनिया को पूरी तरह दिखाई दे।

साण्डर्स-वध के समय क्रान्तिकारी दल के सभी प्रमुख सदस्य लाहौर में थे। साण्डर्स-वध के बाद उन में से अधिकांश इधर-उधर चले गये, पर मुख्य प्रश्न तो भगत सिंह को निकालने का था, वे बहुत दिन से फ़रार थे, पुलिस उन के फिराक में थी। पुलिस में उन्हें पहचानने वाले लोग थे। दशहरा बम-काण्ड के समय चुपचाप लिया गया उन का फ़ोटो भी पुलिस के पास था। साण्डर्स-वध के समय एक सिख नौजवान को पुलिस ने देखा था (बाल कटवा देने के बावजूद भगत सिंह उस दिन सिर पर पगड़ी बाँधे थे। मुखबिर जयगोपाल ने अपने बयान में यह बताया है) फिर लाहौर के चप्पे-चप्पे पर पुलिस का पहरा और सी० आई० डी० की नज़र थी। मौत की दाढ़ से कभी कोई निकल भी आये, पर लाहौर से निकलना असम्भव था, पर असम्भव को सम्भव बनाने वाले ही तो क्रान्तिकारी होते हैं।

श्री भगवती चरण की सूझ पर बलिहारी। वे स्वयं मेरठ षड्यन्त्र में फ़रार थे। फिर भी एक दिन चुपचाप घर आ कर दुर्गा भाभी को १०००

रुपया पास रखने को दे गये थे, बिना कुछ बताये। वे रुपये घर में थे। एक नक़ली नाम से फ़र्स्ट क्लास का छोटा डिब्बा (कूपे) लाहौर से कलकत्ता के लिए रिज़र्व था। तारे आसमान में हलके-हलके झमझमा रहे थे। सुबह पाँच बजे की बात है। एक नौजवान साहब बहादुर सिर पर तिरछा फ़ैल्ट हैट लगाये, ऊँचे उठे कालर का ओवर कोट पहने, बायीं तरफ़ अपने बेटे को इस तरह गोद में सँभाले कि उधर से चेहरा ढँक जाये, दायाँ हाथ ओवर कोट की जेब में डाल पिस्तौल के घोड़े पर उँगली टिकाये और अपनी बाँयीं तरफ़ अपनी सुन्दर पत्नी को लिये शान्त धीर-गति से प्लेटफ़ॉर्म पार कर अपने रिज़र्व डिब्बे में आ बैठे। साथ में शानदार बिस्तर अटैची थी और पीछे-पीछे पुरानी दरी में लिपटा बिस्तर लिये नौकर था। ये साहब बहादुर भगत सिंह थे, उन की पत्नी बनीं दुर्गा भाभी थीं, भगत सिंह की गोद में भाभी का बेटा शची था और ये नौकर राजगुरु थे।

पुलिस की रिपोर्ट में भगत सिंह दाढ़ी केश वाले थे, कुँआरे थे। फिर वह सपत्नीक और पिता बने भगत सिंह को कैसे पहचानती। और वह पहचानती तो भाग्य का चक्र कैसे घूमता। कलकत्ता मेल उस दिन लाहौर से क्या चली, इतिहास-पुरुष का रथ ही चला—महान् विजय के पथ पर। अब यह कहने में क्या लगता है कि लाहौर से कलकत्ता मेल चली, पर उस दिन कलकत्ता मेल का चलना कितनी बड़ी बात थी। भगत सिंह तो मौत से खेल ही रहे थे, पर दुर्गा भाभी के लिए क्या कहा जाये, जिन के पति स्वेच्छा से मृत्यु के साथ पंजा लड़ाते हुए अज्ञातवास कर रहे थे और जो अपने अकेले पुत्र को ले कर उस दिन जलती हुई होली के बीच खड़ी हो गयीं। श्री चन्द्रशेखर आज़ाद भी रामनामी दुपट्टा ओढ़े, माथे पर चन्दन लगाये, हरिओम् के साथ डकार लेते मथुरा का पण्डा बने इसी ट्रेन के किसी डिब्बे में बैठे जा रहे थे। एक रहस्यवादी कविता ही बन गयी थी उस दिन कलकत्ता मेल।

लखनऊ स्टेशन आ गया। राजगुरु आज़ाद पहले ही उतर चुके थे। साहब बहादुर भगत सिंह और आधुनिका दुर्गा भाभी शान से प्लेटफ़ॉर्म पर उतरे, वेटिंग रूम में भी कुछ देर बैठे और कलकत्ता तार दिया—"भाई साहब के साथ आ रही हूँ।" यह तार सुशीला दीदी को दिया गया था। वे उन दिनों कलकत्ता में सर सेठ छज्जूराम की बेटी की शिक्षक अभिभावक थीं और उन्हीं की तिमंज़िली कोठी में रहती थीं।

कलकत्ता मेल रोज़ ही लाहौर से कलकत्ता जाती थी, उस दिन भी वह अपने सदा के रास्ते पर सदा की तरह कलकत्ता पहुँची, पर उस की उस यात्रा के वे लगभग चालीस घण्टे उस के एक डिब्बे में कैसे बीते सोच कर ही दिल की धड़कन बेक़ाबू होने लगती है। डिब्बे की तरफ़ देखने वाली हर आँख डिब्बे में बैठे दो मुसाफ़िरों को यमराज की आँख दिखाई देती होगी। डिब्बे की तरफ़ बढ़ता हर आदमी का क़दम आदमी का क़दम हो कर भी शायद मौत का क़दम दिखाई देता होगा। बुद्धि तक़ाज़ा करती होगी—तुम्हें हर क्षण स्वाभाविक मुद्रा में रहना होगा, चेहरे पर भावों का

उतार-चढ़ाव आना वर्जित है, पर चेहरा तो हृदय के भावों का दर्पण है। जब हृदय में तूफ़ान हैं तो चेहरा फिर शान्त कैसे रहे। ठीक है, पर जो हृदय के तूफ़ान और बुद्धि के उफान पर नियन्त्रण रख सकते हैं, वे ही तो संसार की डगमगाती नाव को पार लगाते हैं। फिर भी युगों बाद मेरा मन मुझ से पूछता है—रास्ते में वे कैसे रहे होंगे ? उन्हों ने कैसे अपना सन्तुलन बनाये रखा होगा ? कैसे भोजन किया होगा ? रात आने पर वे कैसे सोये होंगे। शायद एक सोया होगा और दूसरा पिस्तौल पर हाथ रखे बैठा रहा होगा। सम्भवतः यह चालीस घण्टे चालीस युगों की तरह बीते होंगे और कलकत्ता पहुँचना जीते-जागते स्वर्ग पहुँचने-जैसा लगा होगा। हम सभी सफ़र करते हैं, उस का सुख पाते हैं, पर ऐसे सफ़र का सौभाग्य तो इतिहास-पुरुषों के भाग्य की ही विभूति है। धन्य है लाहौर से कलकत्ता तक के वे चालीस घण्टे, जिन्होंने राष्ट्र के प्रवाह की धारा ही मोड़ दी।

भगत सिंह और दुर्गा भाभी कलकत्ता स्टेशन पर उतरे, तो सुशीला दीदी, भगवती चरण भी वहाँ उपस्थित थे। अपनी फ़रारी में वे दीदी के पास रह रहे थे। दुर्गा को उन्हों ने इस रूप में देखा तो आश्चर्य-मुग्ध रह गये। असल में दुर्गा जी की शक्ति का उन के लिए भी यह नया प्रदर्शन था। उन के मुँह से निकल पड़ा—"वाह, मैं ने तुम्हें आज पहचाना।" क्रान्तिकारियों में एक से एक विशिष्ट व्यक्तित्व हुए हैं, पर भगवतीचरण अपनी जगह अनुपम हैं, अकेले हैं। अपनी पत्नी को इस रूप में देख कर किसी के भी मन में क्षोभ हो सकता है, पर कितना विशाल मन था उन का कि हलकी बात वे सोच ही नहीं सकते थे। सचमुच वे क्रान्तिकारी और लक्ष्यदर्शी मानव थे। भगवतीचरण और दुर्गा भाभी की क्रान्ति-जोड़ी को प्रणाम !....

भगत सिंह और दुर्गा भाभी एक दिन होटल में रहे, दूसरे दिन सर सेठ छज्जूरामकी कोठी में चले गये और एक सप्ताह से अधिक वहीं रहे। सर सेठ का भवन होने के कारण वह स्थान सी० आई० डी० के सन्देह से सुरक्षित था, पर क्या सर सेठ विश्वसनीय थे। इस प्रश्न का उत्तर मन को मानवीयता के अमृत से भर देता है। भगत सिंह को वहाँ रखने की और निश्चिन्त रहने की स्वीकृति सर सेठ की पत्नी श्रीमती लक्ष्मीदेवी ने ही सुशीला दीदी को दी थी। इन लोगों को ऊपर की मंज़िल में ठहराया गया था और भोजन आदि की व्यवस्था स्वयं लक्ष्मी देवी ही करती थीं, उन दो के अतिरिक्त भगत सिंह का सही परिचय किसी को भी न था। यह सुशीला दीदी का चरित्र है कि उन्हों ने माता लक्ष्मी देवी से सब-कुछ कह दिया, यह माता लक्ष्मी देवी का चरित्र है कि सुशीला दीदी उन से सब-कुछ कह सकीं और यह इतिहास का चरित्र है कि उस ने एक सप्ताह के आतिथ्य के बदले में माता लक्ष्मी देवी और उन के पति सर सेठ छज्जूराम के नाम को सदा के लिए अपना अतिथि बना लिया।

भगत सिंह जब कलकत्ता पहुँचे तो वहाँ काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। राजनैतिक दृष्टि से वातावरण बहुत उत्तेजनात्मक था। काँग्रेस में विचार का मुख्य

विषय था अँगरेज़ी सरकार को यह अल्टीमेटम देना कि यदि एक वर्ष के भीतर नेहरू कॅमिटी की रिपोर्ट (लगभग औपनिवेशिक स्वराज्य) को स्वीकार न करेगी, तो फिर काँग्रेस कभी भी पूर्ण स्वराज्य से कम पर राजी न होगी। नौजवानों के नेता पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचन्द्र बोस सरकार को समय देने के विरुद्ध थे और इस प्रकार पुरानी और नयी पीढ़ी में गहरी कशमकश थी। वातावरण उत्तेजना का था और साण्डर्स-वध की घटना ने उसे और भी गरम कर दिया था। पण्डित मोतीलाल नेहरू काँग्रेस के अध्यक्ष थे।

देश-भर के राजनैतिक नेता कलकत्ता आये हुए थे और सरकार के गुप्तचर भी। भगत सिंह बंगाली ढंग की धोती-कुरता पहने और ऊपर शाल ओढ़े उत्तेजना और उल्लास के इस वातावरण में घूम रहे थे, पर क्या एक निष्क्रिय सैलानी दर्शक की तरह? भगत सिंह युगद्रष्टा थे, वे तमाशे के दर्शक कहाँ हो सकते थे? उन की दृष्टि लक्ष्यवेधी थी और वह इस बात पर टिकी हुई थी कि काँग्रेस अपने मद्रास निर्णय (पूर्ण स्वराज्य) से पीछे हट कर औपनिवेशिक स्वराज्य से भी कम पर आ गयी थी। उन की आत्मा ने कहा, यह तो प्रगति नहीं है, यह तो पीछे हटना है, अगति है। वे बेचैन हो उठे कि इस समय कुछ ऐसा काम करना चाहिए कि पीछे हटने की इस मनोवृत्ति पर एक तगड़ी मनोवैज्ञानिक चोट पड़े।

सोचती हूँ कलकत्ते का यह सप्ताह ही भगत सिंह के जीवन का सर्वोत्तम काल है, क्यों कि उन्हों ने अपने जीवन का सर्वोत्तम निर्णय इसी सप्ताह लिया था और वे अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व के सर्वोच्च ऐतिहासिक शिखर पर इसी सप्ताह पहुँचे। सोच कर अक़्ल हैरान हो जाती है कि देश का परिपक्व नेतृत्व जब समझौते के पैवन्द लगाने की बात सोचने में लगा हुआ था, तब एक इक्कीस साल का युवक जो अभी-अभी विद्रोह का धड़ाका कर चुका था, क्रान्ति का नया तूफ़ान उठाने के मनसूबे बाँध रहा था।

भगत सिंह के मन में नेशनल कॉलेज के समय से ही फ़्रान्सीसी अराजकतावादी वेलाँ का (जिस ने फ़्रान्स की असेम्बली में बम फेंका था) चित्र सजा हुआ था। उन की अनुपम मृत्यु साधना का प्रेरक यह चित्र ही था। संकल्प की स्वर्णकिरण उन के मन में चमक उठी—"यही समय है, यही समय है।" उन की बुद्धि ने कहा—"अब नहीं तो फिर कभी नहीं।" किरण ने निर्णय के सूर्य का रूप ले लिया और उन्हें महसूस हुआ कि उन का हाड़-माँस का शरीर अब फ़ौलाद का हो गया है। यह संकल्प का, निर्णय का, दृढ़ता का, अटलता का अनुभव था। यह उन के जीवन का दिव्य क्षण था। उन्हों ने दिल्ली केन्द्रीय असेम्बली में बम फेंकने का निर्णय कर लिया और वे अपनी मँहगी और भारी मृत्यु के द्वार पर आ खड़े हुए थे।

श्री योगेशचन्द्र चटर्जी के शब्दों में—"भगत सिंह ने असेम्बली भवन में बम फेंकने की योजना के बारे में अनुशीलन समिति नामक गुप्त संगठन के एक उच्च कोटि के नेता स्व० प्रतुलचन्द्र गाँगुली के साथ चर्चा की। श्री गाँगुली ने भगत सिंह की

योजना को पसन्द किया। असेम्बली में वम फेंकने के वाद गिरफ़्तार होने पर जो रिवाल्वर उन के पास पकड़ा गया था वह भगत सिंह को श्री गाँगुली ने ही दिया था। कुछ वम भी कलकत्ता से ही दे दिये गये थे। भगत सिंह का जो प्रसिद्ध चित्र फैल्ट हैट पहने हुए मिलता है, वह भी कलकत्ता में ही लिया गया था।"

ईशावास्य उपनिषद् में एक वहुत सुन्दर मन्त्र आता है। उस का भाव यह है कि सत्य स्वर्ण के प्याले से ढँका हुआ है और आवश्यकता है कि वह प्याला हटे, जिस से हम सत्य का दर्शन कर सकें। कलकत्ता प्रवास के इस एक सप्ताह में भी ऐसा ही हुआ। वहाँ दो अल्टीमेटम तैयार हुए। पहला काँग्रेस के प्रस्ताव के रूप में और दूसरा भगत सिंह के निर्णय के रूप में। काँग्रेस का प्रस्ताव स्वर्ण का प्याला था, उसे संसार ने देखा, पर भगत सिंह का निर्णय तो ढँका हुआ था, उसे किसी ने नहीं देखा। उस निर्णय का, भगत सिंह का, क्रान्तिकारी दल का और देश का हित भी इसी में था कि उसे अभी कोई न देखे, कोई न जाने। दल के सदस्य इस वात से सहमत थे कि काँग्रेस का नरम पड़ना, पीछे हटना, देश के लिए अहितकर होगा, इस लिए कोई ऐसा कार्य इस समय किया जाना चाहिए, जिस से प्रगति की धारा में नयी तेज़ी आये। भगत सिंह और दूसरे साथियों के लिए वाद में दूसरे सुरक्षित मकान का प्रवन्ध हो गया और वे सर सेठ की कोठी से वहाँ वदल दिये गये। कुछ दिन वे उस में रहे और तव आगरा चले गये।

हरि (कलकत्ते में भगत सिंह का नाम) जव कलकत्ते से चले तो सुशीला दीदी ने अपने खून से उन के मस्तक पर तिलक किया और उन्हें ऐसे ही विदा किया जैसे राजपूतनियाँ युद्ध में जाते समय अपने भाइयों को विदा किया करती थीं। जो लोग एक दूसरे से हमेशा के लिए विदा हो रहे थे, वे कितने खुश थे, कितने गौरवान्वित।

अव भगत सिंह आगरा में थे और दूसरे अनेक क्रान्तिकारी भी। हींग की मण्डी और नमक की मण्डी में दो मकान ले लिये गये थे और वम वनाने और वनाना सिखाने का काम ज़ोरों से चल रहा था। साण्डर्स-वध के वाद दल को साधनों की पहले-जैसी कमी न रही थी और सव काम वड़े पैमाने पर हो रहे थे। सहारनपुर और लाहौर में भी वम-फैक्टरियाँ खोल दी गयी थीं। इस संगठन के साथ असेम्वली में वम फेंकने की भगत सिंह की योजना केन्द्रीय समिति ने स्वीकार कर ली थी। दिल्ली के वाज़ार सीताराम में एक मकान ले लिया गया था और श्री जयदेव कपूर परिस्थितियों की जाँच करने के लिए वहाँ वैठ गये थे। भगत सिंह आगरा से दिल्ली आते-जाते रहते थे और योजना की वारीक़ियों का अध्ययन कर रहे थे। देश में सरकार के गुप्तचर अपना जाल फैला रहे थे, पर उन्हें साण्डर्स के वध का कोई सूत्र नहीं मिल रहा था जव कि वायसराय के सामने ही उस से वड़े काण्ड की तैयारी हो रही थी।

■ ■

असेम्बली बम-काण्ड

असेम्वली में वम फेंकने की वात भगत सिंह के मन में नेशनल कॉलिज में ही पक्की हो गयी थी, जब उन्हों ने फ़्रान्सीसी अराजकतावादी श्री वेलाँ का फ़्रान्स की असेम्वली में वम फेंकने के वाद दिया गया वयान पढ़ा था, पर अव वे और उन के विचारक साथी अनुभव करते थे कि उस का समय आ गया है। कलकत्ता से जव भगत सिंह आगरा के लिए चले, तो उन के मन में कार्य की पूरी रूपरेखा थी, जिस की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि मैं ऊपर दे चुकी हूँ।

श्री चन्द्रशेखर आज़ाद भी इस से सहमत हो गये थे और दूसरे साथी भी। वात यह थी कि सभी अनुभव करते थे कि दल को इस समय कुछ ऐसा काम करना चाहिए जो अद्‌भुत हो। काकोरी काण्ड के अभियुक्तों को जेल से छुड़ाने में जो असफलता मिली थी, उस पर भगत सिंह रो पड़े थे, पर दूसरे लोग भी क्षुब्ध थे। साइमन कॅमीशन पर वम न फेंक सकने की खिन्नता भी तक़ाज़ा कर रही थी। साण्डर्स-वध की सफलता ने उवाल उठा दिया था और आगरा में जो वम इन दिनों वने थे, वे अपने उपयोग के लिए ज़िद कर रहे थे। असेम्बली में बम फेंकना इन सव वातों का समाधान था। श्री जयदेव कपूर दिल्ली में उस का ताना-वाना पूर रहे थे। उन्हों ने असेम्वली के सदस्यों में ऐसा विश्वसनीय सम्पर्क जोड़ लिया था कि जव वे चाहें उन्हें असेम्वली में जाने के लिए पास मिल जायें। इन पासों से भगत सिंह, आज़ाद और दूसरे कई साथी भी असेम्वली में हो आये थे। सव परिस्थितियाँ और स्थान देख आये थे कि कहाँ से वम फेंका जाये और कहाँ जा कर वह गिरे, नक़्शा अव पूरी तरह तैयार था।

अव तीन प्रश्न विचारणीय थे : पहला यह कि वम फेंकने असेम्बली में कौन जाये; दूसरा यह कि बम फेंकने के वाद गिरफ़्तार हुआ जाये या भाग आया जाये; और तीसरा यह कि बम कव फेंका जाये?

व्यूह-रचना के महापण्डित श्री चन्द्रशेखर आज़ाद इस वात पर दृढ़ थे कि बम फेंक कर भाग आया जाये। असेम्वली में जा कर और सब रास्तों को देख कर वे मानते थे कि बम फेंक कर सुरक्षित लौटा जा सकता है। उन की योजना थी कि वे वाहर मोटर में रहेंगे और बम फेंकने वालों

को उड़ा ले जायेंगे। मोटर की व्यवस्था भी सम्भव थी, पर भगत सिंह के मन में तो वेलाँ का नक़्शा था। वे तो गुप्त आन्दोलन को जनता का आन्दोलन बनाने की बात पर दृढ़ थे। इस लिए उन का कहना था कि भागना ठीक नहीं। वहीं गिरफ़्तार हो कर मुक़दमे को दल के विचारों के प्रचार का मोरचा बनाया जाये, क्यों कि जो बातें वैसे नहीं कही जा सकतीं वे अदालत में खुले-आम कही जा सकती हैं, जो ख़बरें बन कर पत्रों में छप कर जनता तक पहुँच सकती हैं। असेम्बली में बम फेंकने की योजना भगत सिंह की थी और यह भी सब जानते थे कि बम फेंकने भी वही जायेंगे, इस लिए उन की बात को महत्त्व मिल रहा था। श्री विजय कुमार सिनहा के समर्थन से यह महत्त्व और भी बढ़ गया। बाद में दो आदमियों के जाने की बात तय हुई और भगत सिंह के साथ जयदेव कपूर और राजगुरु के नाम पर चर्चा हुई।

यह छानबीन हो रही थी कि एक शानदार समाचार मिला—होली के दिन सेक्रेटेरियेट (सचिवालय) के सचिवों और असेम्बली के सरकार-परस्त सदस्यों की दावत में वायसराय ने आना स्वीकार कर लिया है। दल के सदस्य कुछ-न-कुछ करने को बेचैन थे, इस लिए खुली सड़क पर उन की मोटर को बम से उड़ाने की योजना बनायी गयी। यह योजना सफल न हुई, क्यों कि वायसराय उस रास्ते से आये ही नहीं। तब फिर पूरा ध्यान असेम्बली पर केन्द्रित हो गया।

संयोग की बात, अवसर भी अच्छा मिल गया। केन्द्रीय असेम्बली में दो बिल पेश थे। एक पब्लिक सेफ़्टी बिल (जन-सुरक्षा बिल) और दूसरा ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल (औद्योगिक विवाद बिल)। पहले का भीतरी मक़सद देश में उठते युवक आन्दोलन को कुचलना था और दूसरे का मज़दूरों को हड़ताल के अधिकार से वंचित रखना। भगत सिंह का बेहद चौकन्ना और राजनैतिक प्रश्नों पर सदा जागरूक ध्यान इस बात पर गया था कि केन्द्रीय असेम्बली के काँग्रेसी सदस्य कुछ दूसरे प्रगतिशील सदस्यों के साथ मिल कर इन क़ानूनों को पास नहीं होने देंगे। उस हालत में अँगरेज़ी सरकार उन्हें अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेगी और वायसराय इन्हें अपने विशेषाधिकार (वीटो पावर) से पास कर देंगे।

उन्हों ने पार्टी की मीटिंग में प्रस्ताव किया कि जब वायसराय की इन बिलों को पास करने की घोषणा असेम्बली में हो, उसी समय बम फेंका जाये और अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने वाले पर्चे भी। बम कौन फेंके ? इस प्रश्न पर मतभेद था। प्रस्ताव भगत सिंह का था। वे मुक़दमे को सर्वोत्तम ढंग से लड़ सकते थे और पार्टी के नाम और लक्ष्य को जनता तक पहुँचा सकते थे, पर दल के कई सदस्यों की राय में दल की उन्नति और संगठन के लिए उन का और आज़ाद का बचे रहना बहुत आवश्यक था। इस लिए वे भगत सिंह की आहुति देने को तैयार न थे। अब यह मान ही लिया गया था कि जो जायेगा लौटेगा नहीं, वहीं गिरफ़्तार होगा। इस लिए दल की केन्द्रीय समिति में भगत सिंह की जगह श्री बटुकेश्वरदत्त और श्री विजय कुमार सिनहा का

नाम निश्चित हुआ।

श्री सुखदेव को यह खबर मिली, तो वे बौखलाये हुए भगत सिंह के पास आये और उन्हें बहुत देर तक जाने क्या-क्या कहते रहे, जब भगत सिंह ने अनुशासन के कारण साथियों का निर्णय मानने की बात कही तो ग़ुस्से में भर कर सुखदेव ने कहा—"इस निर्णय के लिए इतिहास तुम्हें कायर कहेगा।" उस समय भगत सिंह ने उन्हें झिड़क दिया पर दूसरे ही दिन केन्द्रीय समिति की बैठक फिर बुलवायी और ज़िद कर के असेम्बली में बम फेंकने के लिए अपना और बटुकेश्वरदत्त का नाम निश्चित कराया। इस के बाद उन दोनों ने एक दिन दिल्ली में ही अपना फ़ोटो खिचवाया। संगठन की खूबी यह थी कि बम-काण्ड के बाद यही चित्र बहुत से पत्रों में छपे। उसी समय का एक कोमल शब्द-चित्र श्री शिव वर्मा के शब्दों में—"दिल्ली में जब निश्चित रूप से यह फ़ैसला हो गया कि भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त ही असेम्बली में बम फेंकने जायेंगे, तो मुझे और जयदेव को छोड़ कर सब साथियों को आदेश दिया गया कि वे दिल्ली से बाहर चले जायें। आज़ाद को झाँसी जाना था। जब वे चलने लगे तो मैं स्टेशन तक उन के साथ हो लिया। रास्ते में बोले—"प्रभात (श्री शिव वर्मा का पार्टी नाम), अब कुछ ही दिनों में ये दोनों (उन का मतलब भगत सिंह और दत्त से था) देश की सम्पत्ति हो जायेंगे, तब हमारे पास इन की याद रह जायेगी। तब तक के लिए मेहमान समझ कर इन की आराम-तक़लीफ़ का ध्यान रखना।" उस दिन रात-भर वे भगत सिंह और दत्त की बातें करते रहे। वे भगत सिंह को इस काम के लिए भेजने के पक्ष में नहीं थे। भगत सिंह और सुखदेव की ज़िद के सामने सिर झुका कर ही उन्हों ने वह फ़ैसला स्वीकार किया था, लेकिन अन्दर से भगत सिंह को खोने के विचार से वे दुःखी थे।

असेम्बली ने दोनों बिलों को फ़ेल कर दिया था और वायसराय ने उन दोनों को अपने विशेषाधिकार से पास कर दिया। ८ अप्रैल १९२९ को वायसराय की घोषणा असेम्बली में सुनाई जाने वाली थी। निर्णय हुआ कि उसी दिन बम फेंका जाये। जयदेव कपूर ने भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त को असेम्बली में ले जा कर उस जगह बैठा दिया, जहाँ से बिना किसी सदस्य को नुक़सान पहुँचाये बम फेंका जा सकता था। भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त खाकी कमीज़ और नेकर पहने हुए थे। ज्यों ही विशेषाधिकार से बिलों को वायसराय-द्वारा पास करने की घोषणा होने को हुई, भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त अपने स्थान पर खड़े हो गये। फ़ुर्ती के साथ अखबार में लिपटा हुआ बम भगत सिंह ने अपने हाथ में लिया और सरकारी बेंचों के पीछे वाली खाली जगह पर लकड़ी की दीवार के पास फेंक दिया। धड़ाका इतने ज़ोर से हुआ कि कानों के परदे हिल गये और दिल की धड़कनें बढ़ने लगीं। लोग सँभल भी न पाये थे, एक सपाटे के साथ भगत सिंह ने दूसरा बम फेंका। उस के धड़ाके ने लोगों के रहे-सहे होश भी गुम कर दिये। तभी उन्हों ने छत की ओर हाथ उठा कर पिस्तौल से दो

गोलियाँ छोड़ीं। साइमन साहब भी वायसराय की गैलरीमें बैठे असेम्वली देख रहे थे। सब से पहले वे भागे, सर जॉर्ज शुस्टर अपने डेस्क के नीचे छिप गये। कुछ सदस्य भाग कर बाहर आ गये, कुछ गैलरी में चले गये और कुछ बाथ-रूमों में जा छिपे। बमों के फटने से जो नीला धुआँ पूरे हाउस में भर गया था, जब वह साफ़ हुआ तो हाऊस खाली था। सदस्यों में पण्डित मोतीलाल नेहरू, श्री मुहम्मद अली जिन्ना, पण्डित मदनमोहन मालवीय अपनी जगह पर ज्यों के त्यों बैठे थे। दर्शक गैलरियाँ भी बिलकुल ख़ाली थीं। उन में अपनी जगह सन्नद्ध भाव से खड़े थे भगत सिंह और दत्त। उन्हों ने पूरे ज़ोर से नारा लगाया—'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद,' साथ ही दूसरा नारा गूंजा—'साम्राज्यवाद का नाश हो।' उसी समय बटुकेश्वरदत्त ने कुछ परचे हाउस में फेंके। उन में अँगरेज़ी में लिखा था—

हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र सेना

बहरों को सुनाने के लिए ऊँची आवाज़ की ज़रूरत होती है। फ़्रान्स के अराजकतावादी शहीद वेलाँ के ऐसे ही अवसर पर कहे गये इन अमर शब्दों से क्या हम अपने काम का औचित्य सिद्ध कर सकते हैं ?

शासन सुधारों के नाम पर ब्रिटिश हुकूमत-द्वारा पिछले दस वर्षोंमें हमारे देश का जो अपमान किया गया है, उस निन्दनीय कहानी को हम दोहराना नहीं चाहते। हम भारतीय राष्ट्र के नेताओं के साथ किये गये अपमानों का भी उल्लेख नहीं करना चाहते, जो इस असेम्बली-द्वारा किये गये हैं, जिसे भारत की पार्लियामेण्ट कहा जाता है।

हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि कुछ लोग साइमन कॅमीशन के द्वारा सुधारों के नाम से जो जूठे टुकड़े मिलने की सम्भावना है, उस की आशा लगाये हुए हैं और मिलने वाली ताज़ी हड्डियों के बँटवारे के लिए झगड़ा तक कर रहे हैं। इसी समय सरकार भी भारतीय जनता पर दमनकारी क़ानून लादती जा रही है, जैसे कि 'पब्लिक सेफ़्टी बिल, ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल' इन्हीं के साथ उस ने 'प्रेस-सिडीशन' बिल को असेम्बली के अगले अधिवेशन के लिए सुरक्षित रख लिया है। मज़दूर नेता जो खुले रूप में अपना कार्य कर रहे थे, उन की अन्धाधुन्ध गिरफ़्तारियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार का रुख़ क्या है ?

इन बेहद उत्तेजक परिस्थितियों में 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ' ने पूर्ण गम्भीरता के साथ अपना उत्तरदायित्व अनुभव करते हुए अपनी सेना को यह कार्य करने का आदेश दिया है, जिस से क़ानून का यह अपमानजनक मज़ाक़ बन्द हो। विदेशी सरकार की शोषक नौकरशाही चाहे जो करें, परन्तु उस का नग्न रूप तो जनता के सामने लाना बहुत आवश्यक है।

जनता के चुने हुए प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्रों में लौट जायें और जनता को आने वाली क्रान्ति के लिए तैयार करें। सरकार को यह जान लेना चाहिए कि

सेफ़्टी बिल और ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल और लाला जी की नृशंस हत्या का असहाय भारतीय जनता की ओर से विरोध करते हुए हम इस पाठ पर ज़ोर देना चाहते हैं, जिसे कि बहुत बार इतिहास ने दोहराया है कि व्यक्तियों की हत्या कर डालना आसान है, लेकिन तुम विचारों की हत्या नहीं कर सकते। बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट हो गये, जब कि विचार जीवित रहे। (फ़्रान्स के) बूर्बों और (रूस के) ज़ार समाप्त हो गये, जब कि क्रान्तिकारी विजय की सफलता के साथ आगे बढ़ गये।

हम मनुष्य के जीवन को पवित्र समझते हैं। हम ऐसे उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रखते हैं जिस में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण शान्ति और स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा। हम मानव रक्त बहाने के लिए अपनी विवशता पर दुःखी हैं, परन्तु क्रान्ति-द्वारा सब को समान स्वतन्त्रता देने और मनुष्य-द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त कर देने के लिए क्रान्ति में कुछ व्यक्तियों का बलिदान अनिवार्य है।

इन्क़लाब ज़िन्दाबाद।

ह० बलराज

कमाण्डर-इन-चीफ़

इस समय का एक और अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्द-चित्र भी श्री शिव वर्मा के शब्दों में—"असेम्बली बम काण्ड के कुछ दिनों बाद मैं आज़ाद से झाँसी में फिर मिला। उस समय हमारे सामने दो योजनाएँ थीं : पहली, जब देहरादून में वायसराय शिकार खेलने आयें तो उस पर बम फेंकने की; और दूसरी, दिल्ली से लाहौर ले जाते समय रास्ते में भगत सिंह और दत्त को छुड़ाने की। इन्हीं योजनाओं पर आज़ाद से बात करनी थी। इस समय हमारा केन्द्रीय हेड क्वार्टर सहारनपुर में था और वहाँ से इन दोनों योजनाओं का संचालन आसानी से किया जा सकता था।

झाँसी केन्द्र पर उस दिन काफ़ी भीड़ थी। सभी लोग दिल्ली के बारे में अधिक से अधिक जानने के लिए उत्सुक थे, ख़ास कर दत्त और भगत सिंह के बारे में। भगत सिंह और दत्त के चित्र देख कर सभी साथियों की आँखों में आँसू आ गये, लेकिन आज़ाद अपने ऊपर क़ाबू किये बैठे रहे। इसी बीच एक साथी किसी काम से उठ कर कमरे के बाहर जाने लगा, तो उस का पैर सामने पड़े अख़बार पर पड़ गया, जिसे मैं अपने साथ ले गया था। उस में हमारे दोनों साथियों के चित्र छपे थे। हम लोग बात में काफ़ी भूले हुए थे, पर आज़ाद ने चित्रों पर पैर पड़ते देख लिया। वे गरज उठे। शीघ्र ही अपने पर क़ाबू पा कर उन्हों ने उस साथी का हाथ पकड़ कर अपने पास बिठा लिया। उन की आँखों में आँसू छलछला आये थे। बोले—'ये लोग अब देश की सम्पत्ति हैं, शहीद हैं, देश इन को पूजेगा। अब इन का दरजा हम लोगों से बहुत ऊँचा है। इन के चित्रों पर पैर रखना देश की आत्मा को रौंदने के बराबर है।' कहते-कहते उन का गला भर आया।

स्वर्गीय बैरिस्टर और काँग्रेस नेता श्री आसफ़अली ने असेम्बली में बम फेंकने

का आँखों-देखा हाल इस प्रकार वर्णन किया है—"जब मैं असेम्बली भवन में पहुँचा, तो मुझे बैठने का स्थान न मिल सका। मैं आगे बढ़ता गया और दर्शकों की गैलरी में उस स्थान पर खड़ा हो गया, जहाँ मेरे ठीक सामने भगत सिंह बैठे थे। मैं ने देखा कि श्री वृजलाल नेहरू भी वहीं खड़े हैं और हम दोनों खड़े-खड़े ही असेम्बली की कार्यवाही देखने लगे। ज्यों ही प्रेसीडेण्ट श्री वी० जे० पटेल, ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल पर अपनी रूलिंग देने के लिए उठने वाले थे, त्यों ही पं० वृजलाल नेहरू ने मुझ से कहा कि अब श्री पटेल अपना बम फेंकने वाले हैं।

उन की बात पूरी हुई ही थी कि मैं ने पहली और दूसरी सरकारी बेंचों के बीच एक चमक देखी। क्षण-भर के लिए मैं ने सोचा क्या हमारा ध्यान बँटाने के लिए सरकार ने आतिशबाज़ी शुरू की है। तभी दूसरा बम फेंका गया। वह बड़ी आवाज़ के साथ फटा और सारा भवन धुएँ से भर गया। इस के बाद कुछ गोलियाँ छोड़ी गयीं। सदन में चीख-पुकार मच गयी और लोग बाहर जाने लगे। प्रेसीडेण्ट पटेल ने दो बार 'ऑर्डर-ऑर्डर' कह कर सदन को शान्त करने की चेष्टा की और वे अपनी कुरसी छोड़ कर चले गये। दर्शक-गैलरी कुछ ही क्षणों में खाली हो गयी और लोग दरवाज़ों के शीशे तोड़-तोड़ कर भागे। मैं, वृजलाल नेहरू तथा एक और सज्जन वहाँ रह गये, क्यों कि हमारी पत्नियाँ महिला गैलरी में थीं और हम उन्हें साथ लेना चाहते थे।

अपनी पत्नी को खोज कर मैं फिर पुरुषों की गैलरी में आ गया। भगत सिंह के चेहरे पर गहरा तनाव था और वे इन्स्पेक्टर मिस्टर जॉनसन से कह रहे थे—'चिन्ता मत करो, हम सारे संसार को बता देंगे कि यह हम ने किया है'।"

श्री आसफ़अली वटुकेश्वरदत्त के वकील थे। उन्हों ने इस रहस्य पर से भी परदा उठा दिया है कि इन दोनों ने एक-एक बम फेंका या दोनों बम भगत सिंह ने ही फेंके। उन्हीं के शब्दों में—"बहुत कम लोग इस तथ्य से परिचित हैं कि बी० के० दत्त ने बम नहीं फेंका था। जब अदालत में वक्तव्य देने का समय आया, तो उन्हों ने यह स्वीकार करने का आग्रह किया कि एक बम उन्हों ने भी फेंका था।" जब मैं ने इस झूठी स्वीकारोक्ति से रोकना चाहा, तो वे बहुत गम्भीर मुद्रा में मुझ से बोले—"मैं और भगत सिंह लम्बे समय से साथ रहे हैं। मुझे विश्वास है कि आप के द्वारा पैरवी किये जाने के बावजूद उन्हें लम्बी क़ैद की सज़ा दी जायेगी। मान लीजिए कि मुझे छोड़ दिया गया, तो मैं भगत सिंह के बिना क्या करूँगा, कैसे रहूँगा। मुझे उन के साथ ही रहना चाहिए।" मैं उन के निश्चय में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता था, उन्हों ने मेरी एक नहीं सुनी। अपनी प्रथम भेंट में ही भगत सिंह ने मेरे सामने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि वे अपने काम से इनकार नहीं करेंगे और न अपने बचाव के लिए अपने को निर-पराध सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।"

असेम्बली भवन में अपनी जगह काफ़ी देर खड़े रहने के बाद सार्जण्ट टेरी उन के पास आये और बाद में इन्स्पेक्टर मि० जॉनसन। दोनों घबराहट में थे, भगत सिंह

ने पिस्तौल, जिस में उस समय भी कई गोलियाँ थीं, सामने के डेस्क पर रख दिया। उन के इस व्यवहार से वे शान्त हुए। सार्जेण्ट टेरी के शब्दों में—"भगत सिंह बच्चों की तरह अपनी उँगलियों के सहारे पिस्तौल से खेल रहे थे।" जो परचे इन लोगों ने फेंके थे, वे उन के उद्देश्य को एक जोशीली घटना से हटा कर एक महान् राष्ट्रीय कार्यक्रम का रूप देते थे। इस लिए वे सब बटोर लिये गये और पूरा प्रयत्न हुआ कि उन की गन्ध भी बाहर न जाये, पर दिल्ली के अँगरेज़ी दैनिक 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के संवाददाता ने अपनी होशियारी और फ़ुर्ती से एक परचा उड़ा लिया और वह शाम के संस्करण में छप भी गया।

सरकार ने तार-फ़ोन द्वारा असेम्बली बम-काण्ड की खबर बाहर भेजने पर रोक लगा दी थी—सब साधन उस के लिए सुरक्षित ही थे, पर उस समय दिल्ली में 'स्टेट्समैन' के संवाददाता लाला दुर्गादास थे। उन्हों ने उसी समय असेम्बली बम-काण्ड का समाचार फ़ोन या तार-द्वारा कलकत्ता भेजना चाहा, परन्तु समाचार भेजने के सभी साधन सरकारी काम के लिए रिज़र्व थे। लाला दुर्गादास ने इस समय पत्रकार की विशेष सूझ दिखायी। उन्हों ने यह समाचार, 'स्टेट्समैन' के लन्दन दफ़्तर को भेज दिया। लन्दन से यह समाचार वायरलैस-द्वारा कलकत्ता को भेज दिया गया। जिस समय एसोशियेटेड प्रेस ऑव इण्डिया-द्वारा इस घटना का समाचार कलकत्ता के दूसरे पत्रों को मिला, 'स्टेट्समैन' का विशेषांक भी बाज़ार में पहुँच चुका था।[1]

भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त को जब पुलिस कोतवाली ले चली तो उन्हों ने फिर नारा लगाया : 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद'। यह नारा सॉण्डर्स-वध के बाद लाहौर में जो पोस्टर दीवारों पर लगाया गया था, उस में भी था, पर वास्तव में समूचे देश ने असेम्बली बम-काण्ड के समय ही यह सुना। यह नारा सशस्त्र क्रान्ति के इतिहास को भगत सिंह का विशेष उपहार है। सुविज्ञ क्रान्तिकारी श्री विजयकुमार सिनहा के शब्दों में—"भगत सिंह को एक महान् देशभक्त मात्र समझना भूल होगी, क्यों कि वे हमारे राष्ट्रीय संघर्ष में एक नवीन युग के (जिस ने हमारे राजनैतिक आन्दोलन में नवीन आदर्शों तथा विचारों का समावेश किया) आदर्श प्रतिनिधि के रूप में महानतर थे। उन का शानदार क्रान्तिकारी जीवन संघर्षरत भारतीय जनता की उद्दाम भावना का प्रतीक था। इस का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण यह है कि सरदार भगत सिंह-द्वारा राष्ट्र को दिया हुआ 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' का नारा जनता ने आश्चर्यजनक तेज़ी से स्वीकार कर लिया। १९०५ से असेम्बली बम-काण्ड तक 'वन्दे मातरम्' ही हमारा प्रिय राष्ट्रीय नारा था। भगत सिंह के इस नारे ने जनता का ध्यान आकृष्ट कर लिया, क्यों कि इस में बिना समझौता किये लड़ते रहने के दृढ़ संकल्प तथा दरिद्रता एवं कष्ट को सदा के लिए दूर करने वाली एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने की आशा इस के द्वारा समुचित व्यक्त होती थी।"

१ 'सिंहावलोकन' भाग १, पृष्ठ १८८।

कोतवाली में जब पुलिस ने उन से अपना बयान देने को कहा तो उन्हों ने जवाब दिया कि हमें पुलिस के सामने कोई बयान नहीं देना है। जो कुछ भी हमें कहना है हम अदालत के सामने ही कहेंगे। पुलिस ने उन्हें दिल्ली जेल भेज दिया। वहाँ से उन्हों ने अपने पिता को यह पत्र लिखा—

पूज्य पिताजी महाराज　　　　　　　　　　दिल्ली जेल

वन्दे मातरम्　　　　　　　　　२६-४-२९

अर्ज़ है कि हम लोग २२ अप्रैल को पुलिस की हवालात से दिल्ली जेल में मुन्तकिल (तब्दील) कर दिये गये थे और इस वक़्त दिल्ली जेल में ही हैं। मुक़दमा ७ मई को जेल के अन्दर ही शुरू होगा। ग़ालिबन (सम्भवतः) एक माह में सारा ड्रामा खत्म हो जायेगा। ज़्यादा फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं है। मुझे मालूम हुआ कि आप यहाँ तशरीफ़ लाये थे और किसी वकील वग़ैरह से बातचीत की थी और मुझ से मिलने की कोशिश भी की थी, मगर तब सब इन्तज़ाम न हो सका। कपड़े मुझे परसों मिले। मुलाक़ात आप जिस दिन तशरीफ़ लायें, हो सकेगी। वकील वग़ैरह की कोई खास ज़रूरत नहीं है। दो-एक आमूद पर थोड़ा-सा मशवरा लेना चाहता हूँ मगर वह कोई खास अहमियत नहीं रखते। आप ख्वामख़ाँह ज़्यादा तक़लीफ़ न कीजिएगा। अगर आप मिलने के लिए आयें तो अकेले ही आइयेगा। वाल्दा साहिबा (माता जी) को साथ न लाइयेगा। ख्वामख़ाँह वोह रो देंगी और मुझे भी कुछ तकलीफ़ ज़रूर होगी। घर के सब हालात आप से मिलने पर ही मालूम हो सकेंगे।

हाँ, अगर हो सके तो गीता रहस्य, नैपोलियन की मोटी सुआने-उमरी (जीवन चरित्र) जो आप को मेरी कुतुब में मिल जायेगी, अँगरेज़ी के कुछ आला नावेल लेते आइएगा। द्वारकादास लायब्रेरी वालों से शायद कुछ नॉवेल मिल सकें। ख़ैर, देख लीजिएगा। वाल्दा साहिबा, भाभी साहिबा, माताजी (दादी जी) और चाची साहिबा के चरणों में नमस्कार। रणवीर सिंह और कुलतार सिंह को नमस्ते। बापू जी (दादा जी) के चरणों में नमस्ते अर्ज़ कर दीजिएगा। इस वक़्त पुलिस हवालात और जेल में हमारे साथ निहायत अच्छा सलूक हो रहा है। आप किसी क़िस्म की फ़िक्र न कीजिएगा। मुझे आप का एड्रेस मालूम नहीं है, इस लिए इस पते (काँग्रेस दफ़्तर) पर लिख रहा हूँ।

आप का तावेदार

भगत सिंह

३ मई १९२९ को सरदार किशन सिंह दिल्ली जेल में भगत सिंह से मिले। बैरिस्टर आसफ़अली भी उन के साथ थे। बातचीत का जो विवरण हमारे परिवार में प्राप्त है, उस के अनुसार सरदार किशन सिंह पूरी ताक़त और ढंग से मुक़दमा लड़ने के पक्ष में थे पर भगत सिंह बचाव की दृष्टि से मुक़दमा लड़ने के विरुद्ध थे। उन के लिए तो वह सिद्धान्तों के प्रचार का एक मोरचा था। श्री आसफ़अली से उन्हों ने कुछ क़ानूनी प्वाइण्ट पूछे और बातचीत समाप्त हो गयी।

७ मई १९२९ को एडीशनल मैजिस्ट्रेट मिस्टर पूल की अदालत में जेल में ही सुनवाई आरम्भ हुई। चुने हुए पत्र-प्रतिनिधि और अभियुक्तों के निकट सम्बन्धियों और वकीलों के अतिरिक्त और किसी को अदालत में आने नहीं दिया गया। सरकार ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया, पर भगत सिंह ने कहा— "हम लोग अपना वयान सेशन जज की अदालत में ही देंगे।" इस लिए केस भारतीय दण्ड विधान की धारा ३ के अधीन सेशन जज मिस्टर मिडलटन की अदालत में भेज दिया गया। दिल्ली जेल में ४ जून १९२९ को मुक़दमें की सुनवाई शुरू हुई। सरकारी गवाहों के वयान के वाद भगत सिंह ने अपने और बटुकेश्वरदत्त की ओर से ६ जून १९२९ को यह ऐतिहासिक वयान दिया :

वयान—

"हमारे विरुद्ध गम्भीर अपराधों के आरोप लगाये गये हैं, हम इस समय अपने आचरण का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं।

इस सम्वन्ध में निम्न प्रश्न उठते हैं—

१. क्या सदन में वम फेंके गये थे ? यदि ऐसा हुआ तो इस का क्या कारण था ?

२. निम्न न्यायालय ने जिस प्रकार आरोप लगाया है, वह सही है अथवा नहीं ?

प्रथम प्रश्न के पूर्वार्द्ध के लिए हमारा उत्तर स्वीकारात्मक है, परन्तु कुछ साक्षियों ने घटना का असत्य विवरण प्रस्तुत किया है। हम बम फेंकने का दायित्व स्वीकार करते हैं अतः हम यह अपेक्षा करते हैं कि हमारे इस वक्तव्य का सही मूल्यांकन किया जा सकेगा। उदाहरणार्थ हम इस बात की ओर संकेत करना चाहते हैं कि सार्जेण्ट टैरी का यह कथन कि उन्हों ने हम में से एक के हाथ से पिस्तौल छीन ली, जान-बूझ कर बोला गया असत्य है। वस्तुतः जिस समय हम ने आत्म-समर्पण किया, उस समय हम दोनों में से किसी के पास पिस्तौल नहीं थी। जिन साक्षियों ने यह कहा कि उन्हों ने हमें बम फेंकते हुए देखा, उन्हें भी वे-सिर-पैर का झूठ बोलने में कोई झिझक नहीं आयी। हमें आशा है कि जिन लोगों का ध्येय न्यायिक शुद्धता तथा

निष्पक्षता की रक्षा करना है वे इन तथ्यों से स्वयं निष्कर्ष निकालेंगे। साथ ही हम स्वीकार करते हैं कि अभी तक सरकारी पक्ष ने औचित्य की रक्षा की है तथा न्यायालय ने न्यायपूर्ण रवैया अपनाये रखा है।

प्रथम प्रश्न के उत्तरार्द्ध का उत्तर कुछ विस्तार से देना होगा, जिस से कि हम उन प्रयोजनों और परिस्थितियों को एक पूर्ण और खुले रूप में स्पष्ट कर सकें, जिन के परिणामस्वरूप वह घटना हुई है, जिस ने अव ऐतिहासिक स्वरूप ले लिया है। जेल में हमारे साथ पुलिस-अधिकारियों ने भेंट की, उन में से कुछ ने जव हमें यह वताया कि विचाराधीन घटना के पश्चात् दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन को सम्वोधित करते हुए लॉर्ड इरविन ने यह कहा कि हम लोगों ने वम फेंक कर किसी व्यक्ति पर नहीं, वरन् स्वयं एक संविधान पर आक्रमण किया है, उस समय हमें तुरन्त यह आभास हुआ कि उस घटना के वास्तविक महत्त्व का सही मूल्यांकन नहीं किया गया है।

मानव-मात्र के प्रति हमारा प्रेम किसी से भी कम नहीं है अतः किसी व्यक्ति के प्रति विद्वेष रखने का प्रश्न ही नहीं उठता, इस के विपरीत हमारी दृष्टि में मानव-जीवन इतना अधिक पवित्र है कि उस पवित्रता का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। छद्म समाजवादी दीवान चमनलाल ने हमें जघन्य आक्रमणकारी और देश के लिए अपमानकारक वताया है, साथ ही लाहौर के समाचार-पत्र 'ट्रिब्यून' ने तथा कुछ अन्य लोगों की यह धारणा भी असत्य है कि हम उन्मत्त हैं।

हम नम्रतापूर्वक यह दावा करते हैं कि हम ने इतिहास, अपने देश की परिस्थिति तथा मानवीय आकांक्षाओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है एवं हम पाखण्ड से घृणा करते हैं।

हमारा ध्येय उस संस्था के विरुद्ध अपना व्यावहारिक प्रतिरोध प्रकट करना था, जिस ने अपने आरम्भ से केवल अपनी निरुपयोगिता का ही नहीं, वरन् हानि पहुँचाने की दूरगामी शक्ति का भी नग्न प्रदर्शन किया है। हम ने जितना अधिक चिन्तन किया, हम उतने ही अधिक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस संस्था—(विधान मण्डल) के अस्तित्व का प्रयोजन संसार के समक्ष भारतीय दीनता और असहायता का प्रदर्शन करना है तथा यह एक अनुत्तरदायी एवं स्वेच्छाचारी शासन की दमनकारी सत्ता की प्रतीक वन गयी है।

जनता के प्रतिनिधियों की राष्ट्रीय माँग को वार-वार रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जा रहा है। सदन-द्वारा पारित पवित्र प्रस्तावों को तथाकथित भारतीय संसद के फ़र्श पर निरादरपूर्वक पावों तले कुचला जाता रहा है। दमनकारी एवं स्वेच्छाचारी क़ानूनों के निवारण से सम्वन्धित प्रस्तावों की सव से अधिक अपमानपूर्वक उपेक्षा की गयी तथा निर्वाचित प्रतिनिधियों ने जिन सरकारी क़ानूनों और प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया, उन को भी सरकार-द्वारा स्वेच्छाचारितापूर्वक स्वीकृति प्रदान की जा रही है।

संक्षेप में, ईमानदारी के साथ प्रयत्न करने पर भी हमारी समझ में यह नहीं आ रहा है कि एक ऐसी संस्था का अस्तित्व किस प्रकार न्यायसंगत माना जा सकता है, जिस की शान-शौक़त बनाये रखने के लिए भारत के करोड़ों लोगों के गाढ़े पसीने की कमाई व्यय की जाती है तथापि जो सारहीन अभिनय और शैतानी से भरा षड्यन्त्र-मात्र बन कर रह गयी है।

इसी प्रकार हम उन नेताओं की मनोवृत्ति के औचित्य को समझ नहीं पा रहे हैं जो भारत की इस असहाय-पराधीनता के पूर्व-नियोजित प्रदर्शन पर सार्वजनिक समय और धन नष्ट कर रहे हैं। हम इस विषय में तथा ट्रेड डिस्प्यूट विधेयक प्रस्तुत किये जाने के समय श्रमिक आन्दोलन के नेताओं की व्यापक गिरफ़्तारियों पर गम्भीरता से चिन्तन करते रहे हैं और जब इस विषय पर होने वाले विवाद की आँखों-देखी जानकारी प्राप्त करने के लिए हम असेम्बली में आये तो हमारी यह धारणा और भी पुष्ट हो गयी कि भारत के करोड़ों मेहनतकशों को एक ऐसी संस्था से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता जो शोषकों की दम घोंटने वाली सत्ता और असहाय श्रमिकों की पराधीनता का एक ख़तरनाक स्मारक-मात्र बन कर रह गयी है।

अन्ततः समूचे देश के प्रतिनिधियों को इस प्रकार अपमानित किया गया है, जिसे हम अमानवीय और बर्बर कहते हैं। साथ ही देश के करोड़ों भूखे तथा दरिद्र लोगों को उन के मौलिक अधिकारों तथा आर्थिक हित के एकमात्र साधन से वंचित कर दिया है।

कोई भी ऐसा व्यक्ति जिस के हृदय में मूक और पराधीन श्रमिकों की दुर्दशा के प्रति हमारे-जैसी सहानुभूति है, इस दृश्य को शान्ति-पूर्वक नहीं देख सकता तथा जिस के हृदय में उन श्रमिकों के लिए करुणा है, जिन्हों ने उन शोषकों के आर्थिक ढाँचे के निर्माण के लिए मौन रह कर अपना जीवन-रक्त गिराया है, जिन की यह सरकार अधिक समर्थक है, निर्दय, निर्दलन के फलस्वरूप उठने वाले आत्मा के क्रन्दन को दबा नहीं सकता। परिणामतया हम ने गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद् के भूतपूर्व विधि-सदस्य स्वर्गीय श्री सी० आर० दास के उन शब्दों से प्रेरणा ग्रहण की, जो उन्हों ने अपने पुत्र के नाम एक पत्र में लिखे थे और जिन का तात्पर्य यह था कि इंग्लैण्ड को उन के दुःस्वप्न से जगाने के लिए बम आवश्यक है और हम ने उन लोगों की ओर से प्रतिरोध प्रकट करने के लिए असेम्बली के फ़र्श पर बम फेंका, जिन के पास अपनी हृदय-विदारक व्यथा की अभिव्यक्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया है। हमारा एकमात्र उद्देश्य यह था कि हम बहरों को अपनी आवाज़ सुनायें और समय की चेतावनी उन लोगों तक पहुँचायें जो उस की उपेक्षा कर रहे हैं। दूसरे लोग भी हमारी ही तरह सोच रहे हैं और यद्यपि भारतीय जाति ऊपर से एक शान्त समुद्र की भाँति दिखाई दे रही है तथापि भीतर-ही-भीतर एक भयंकर तूफ़ान उफन रहा है। हम ने उन लोगों को खतरे की चेतावनी दी है जो सामने आने वाली गम्भीर परिस्थितियों की चिन्ता किये बिना सरपट दौड़े जा रहे हैं। हम ने उस काल्पनिक अहिंसा की समाप्ति की घोषणा की है

जिस की निरुपयोगिता के बारे में नयी पीढ़ी के मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं बचा है। हम ने ईमानदारी, पूर्ण सद्भावना तथा मानव-जाति के प्रति अपने प्रेम के कारण उन भयंकर खतरों के विरुद्ध चेतावनी देने के लिए यह मार्ग चुना है जिन का पूर्वाभास हमें भी देश के करोड़ों लोगों की भाँति स्पष्ट रूप से हुआ है।

हम ने पिछले पैरों में काल्पनिक अहिंसा शब्द का प्रयोग किया है, हम उस की व्याख्या करना चाहते हैं। हमारी दृष्टि से बलप्रयोग उस समय अन्यायपूर्ण होता है, जब वह आक्रामक रीति से किया जाये और यह हमारी दृष्टि में हिंसा है, परन्तु जब शक्ति का उपयोग किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाये तो वह नैतिक दृष्टि से न्यायसंगत हो जाता है। बलप्रयोग का पूर्ण बहिष्कार कोरी काल्पनिक भ्रान्ति है। इस देश में एक नया आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है, जिस की पूर्व सूचना हम दे चुके हैं। यह आन्दोलन गुरु गोविन्द सिंह और शिवाजी, कमालपाशा और रिजाखाँ, वाशिंगटन और गैरी बाल्डी तथा लाफ़ायेते और लेनिन के कार्यों से प्रेरणा ग्रहण करता है।

हमें ऐसा लगा कि विदेशी सरकार और भारत के सार्वजनिक नेताओं ने इस आन्दोलन की ओर से आँखें मूँद ली हैं तथा उन के कानों में इस की आवाज़ नहीं पड़ी है। अतः हमें यह कर्त्तव्य प्रतीत हुआ है कि हम ऐसे स्थानों पर चेतावनी दें जहाँ हमारी आवाज़ अनसुनी न रह सके।

हम ने अभी तक विचाराधीन घटना के पीछे निहित प्रयोजनों की चर्चा की है, अब हम अपने प्रयोजनों की मर्यादा के बारे में भी कुछ कहना चाहते हैं।

हमारे मन में उन लोगों के प्रति कोई व्यक्तिगत द्वेष अथवा वैर नहीं था, जिन को इस घटना के दौरान मामूली चोटें आयी हैं। इतना ही नहीं, असेम्बली में उपस्थित किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध हमें कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं था हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि हम मानवीय जीवन को शब्दातीत रूप में पवित्र मानते हैं तथा किसी को चोट पहुँचाने के बजाय मानव-जाति की सेवा के लिए हम अपने प्राण देने को तत्पर हैं। हम साम्राज्यवादी सेनाओं के उन भड़ैत सैनिकों की भाँति नहीं हैं जो हत्या करने में रस लेते हैं। इस के विपरीत हम मानव-जीवन की रक्षा का प्रयत्न करेंगे। इस के बावजूद भी हम यह स्वीकार करते हैं कि हम ने जान-बूझ कर असेम्बली भवन में बम फेंके। तथ्य स्वयं मुखर हैं तथा हमारा अनुरोध है कि हमारे प्रयोजनों को हमारे कार्य के परिणाम से आँका जाना चाहिए, न कि काल्पनिक परिस्थितियों तथा पूर्व मान्यताओं के आधार पर। सरकारी विशेषज्ञ द्वारा किये गये प्रमाणों के बावजूद सत्य यह है कि हम ने असेम्बली भवन में जो बम फेंके, उन से एक खाली बेंच को मामूली क्षति पहुँची और आधा दरजन से भी कम लोगों को मामूली खरोंचें आयीं। सरकार के वैज्ञानिकों ने इसे एक चमत्कार कहा है परन्तु हमारी दृष्टि में यह पूर्णतया एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। पहली बात तो यह कि दो बम डेस्कों और बेंचों के बीच खाली जगह में फटे, दूसरी यह कि जो लोग विस्फोट से केवल दो फ़ुट दूर पर थे—जैसे श्री राऊ, श्री शंकर राव तथा श्री जार्ज

शुस्टर, उन लोगों को या तो बिलकुल चोट नहीं आयी या केवल कुछ खरोंचें आयीं। यदि बमों के भीतर पोटैशियम क्लोरेट और पिकरेट के प्रभावशाली तत्त्व भरे होते तो उन्हों ने अवरोधों को खण्डित कर दिया होता तथा विस्फोट-स्थल से कई गज़ की दूरी पर बैठे बहुत से लोग आहत हो गये होते, एवं यदि उन के भीतर उस से भी अधिक प्रभावशाली विस्फोटक तथा विनाशकारी तत्त्व भरे होते तो वे विधान-सभा के अधिकांश सदस्यों की जीवन-लीला को समाप्त कर सकते थे। हम यह भी कर सकते थे कि हम उन्हें सरकारी बॉक्स में फेंकते, जहाँ महत्त्वपूर्ण लोग बैठे थे और आखिरकार हम यह भी कर सकते थे कि उस समय अध्यक्ष-दीर्घा में बैठे हुए सर जॉन साइमन पर चोट करते, जिस के दुर्भाग्यपूर्ण कमीशन को देश के सभी विवेकवान् लोग घृणा करते हैं, परन्तु हमारा प्रयोजन यह सब नहीं था और बमों का जिस प्रयोजन के लिए निर्माण किया गया था, उन्हों ने उस से अधिक काम नहीं किया। इस में कोई चमत्कार नहीं था, हम ने जान-बूझ कर यह ध्येय निश्चित किया था कि सभी लोगों का जीवन सुरक्षित रहे।

इस के पश्चात् हम ने अपने कार्य के परिणामस्वरूप दण्ड प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से अपने-आप को प्रस्तुत कर दिया और साम्राज्यवादी शोषकों को यह बता दिया कि वे व्यक्तियों को कुचल सकते हैं, विचारों की हत्या नहीं कर सकते। दो महत्त्वहीन इकाइयों को कुचल देने से राष्ट्र नहीं कुचला जा सकता। हम इस ऐतिहासिक निष्कर्ष पर बल देना चाहते हैं कि फ़्रान्स में लैटर्स डे कैटचैट तथा बैस्टाइल्स की घटनाओं से क्रान्तिकारी आन्दोलन को कुचला नहीं जा सका। फ़ाँसी की रस्सी और साइबेरिया में बिछायी गयी माइन् रूसी क्रान्ति की ज्वाला को नहीं बुझा सकी। इसी प्रकार यह भी असम्भव है कि अध्यादेश और सुरक्षा विधेयक भारतीय स्वाधीनता की लपटों को बुझा सकें। षड्यन्त्रों का भेद खोजने, उन की ज़ोरदार शब्दों में निन्दा करने तथा महत्तर आदर्शों का स्वप्न देखने वाले सभी नौजवानों को फ़ाँसी के तख्ते पर चढ़ा देने से क्रान्ति की गति अवरुद्ध नहीं की जा सकती। यदि हमारी इस चेतावनी की उपेक्षा नहीं की गयी तो यह जीवन की हानि और व्यापक उत्पीड़न को रोकने में सहायक सिद्ध हो सकती है। यह चेतावनी देने का भार हम ने स्वयं अपने कन्धों पर लिया और कर्त्तव्य का पालन किया।"

निम्न न्यायालय में भगत सिंह से पूछा गया था कि क्रान्ति से वे क्या समझते हैं? प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था कि—"क्रान्ति में घातक संघर्षों का अनिवार्य स्थान नहीं है, न उस में व्यक्तिगत रूप से प्रतिशोध लेने की ही गुंजायश है। क्रान्ति बम और पिस्तौल की संस्कृति नहीं है। क्रान्ति से हमारा प्रयोजन यह है कि अन्याय पर आधारित वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन होना चाहिए। उत्पादक अथवा श्रमिक समाज के अत्यन्त आवश्यक तत्त्व हैं तथापि शोषक लोग उन्हें श्रम के फलों और मौलिक अधिकारों से वंचित कर देते हैं। एक ओर सब के लिए अन्न उगाने वाले कृषक सपरिवार

भूखों मर रहे हैं, सारी दुनिया के बाज़ारों में कपड़े की पूर्ति करने वाले बुनकर अपने और अपने बच्चों के शरीर को ढाँपने के लिए पूरे वस्त्र प्राप्त नहीं कर पाते, भवन-निर्माण, लोहारी और बढ़ईगिरी के कामों में लगे लोग शानदार महलों का निर्माण कर के भी गन्दी बस्तियों में रहते और मर जाते हैं, दूसरी ओर पूँजीपति, शोषक और समाज पर घुन की तरह जीने वाले लोग अपनी सनक पूरी करने के लिए करोड़ों रुपया पानी की तरह बहा रहे हैं। यह भयंकर विषमताएँ और विकास के अवसरों की कृत्रिम समानताएँ समाज को अराजकता की ओर ले जा रही हैं। यह परिस्थिति सदा तक नहीं रह सकती तथा यह स्पष्ट है कि वर्तमान समाज-व्यवस्था एक ज्वालामुखी के मुख पर बैठी हुई आनन्द मना रही है और शोषकों के अबोध बच्चों की भाँति हम एक खतरनाक दरार के कगार पर खड़े हैं। यदि सभ्यता के ढाँचे को समय रहते नहीं बचाया गया तो वह नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा, अतः क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है और जो लोग इस आवश्यकता को अनुभव करते हैं, उन का यह कर्त्तव्य है कि वे समाज को समाजवादी आधारों पर पुनर्गठित करें। जब तक यह नहीं होगा और एक मनुष्य के द्वारा दूसरे मनुष्य का तथा एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण होता रहेगा, जिसे साम्राज्यवाद कहा जा सकता है तब तक उस से उत्पन्न होने वाली पीड़ाओं और अपमानों से मानव-जाति को नहीं बचाया जा सकता एवं युद्ध मिटाने तथा सार्वभौमिक शान्ति के युग का सूत्रपात करने के बारे में की जाने वाली समस्त चर्चाएँ कोरा पाखण्ड है। क्रान्ति से हमारा प्रयोजन अन्ततः एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिस को इस प्रकार के घातक खतरा का सामना न करना पड़े और जिस में सर्वहारा वर्ग की प्रभुता को मान्यता दी जाये। इस का परिणाम यह होगा कि विश्वसंघ मानव-जाति को पूँजीवाद के बन्धन तथा युद्ध से उत्पन्न होने वाली बरबादी और मुसीबतों से बचा सकेगा।

हमारा आदर्श यह है और इस आदर्श से प्रेरणा ग्रहण कर के हम ने एक समुचित और काफ़ी ज़ोरदार चेतावनी दी है। यदि इस की भी उपेक्षा कर दी जाती है तथा वर्तमान शासन-व्यवस्था नवोदित प्राकृतिक शक्तियों के मार्ग को अवरुद्ध करने का क्रम जारी रखती है तो एक भीषण संघर्ष उत्पन्न होना निश्चित है जिस के परिणामस्वरूप समस्त बाधक तत्त्वों को उठा कर फेंक दिया जायेगा तथा सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य होगा, जिस से क्रान्ति के लक्ष्य की उपलब्धि की जा सके। क्रान्ति मानव-जाति का जन्मजात अधिकार है। स्वतन्त्रता सभी मनुष्यों का एक ऐसा जन्म-सिद्ध अधिकार है जिसे किसी भी स्थिति में छीना नहीं जा सकता। श्रमिक वर्ग समाज का वास्तविक आधार है। लोकप्रभुता की स्थापना श्रमिकों का अन्तिम ध्येय है। इन आदर्शों तथा इस आस्था के लिए हम उन सब कष्टों का स्वागत करेंगे जो हमें न्यायालय द्वारा दिये जायेंगे। क्रान्ति की इस वेदी पर हम अपना यौवन धूपबत्ती की भाँति जलाने के लिए सन्नद्ध हुए हैं। इतने महान् ध्येय के लिए कोई भी बलिदान बड़ा नहीं माना जा

सकता। हम क्रान्ति के उत्कर्ष की सन्तोषपूर्वक प्रतीक्षा करेंगे। इन्क़लाव ज़िन्दावाद !"

इस वक्तव्य का ऐतिहासिक महत्त्व है। इस महत्त्व को समझने के लिए विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है। उस के लिए यहाँ अवसर नहीं है, इस लिए कुछ संकेत ही प्रस्तुत कर रही हूँ। इस शताब्दी के आरम्भ में स्वामी विवेकानन्द ने भारत की गुलामी और पीड़ित मानव-आकांक्षा को अमेरिका के साथ जोड़ा था। अमेरिका उस समय संसार में प्रगति का सर्वोत्तम प्रतीक था और भारत के जीवन में अगति का अँधेरा भरा हुआ था। स्वामी विवेकानन्द भारत के लिए ऐतिहासिक उपहार हैं कि इस स्थिति में भी उन्होंने भारत को एक दीन भिखारी के रूप में परिचित नहीं कराया। वरावरी के स्तर पर ही रखा। उन्हों ने कहा—अमेरिका वैभव और विज्ञान में भारत को वहुत-कुछ दे सकता हैं, पर भारत भी अपने अध्यात्म और दर्शन के रूप में अमेरिका को वहुत-कुछ देने की स्थिति में है। इस प्रकार भारत की आकांक्षा का दृष्टि-बिन्दु अमेरिकी समाज वना।

इस के वाद आयरलैण्ड स्वतन्त्रता का आन्दोलन उस के लिए प्रेरक हुआ, पर १९१७ की रूसी क्रान्ति का सारे संसार के साथ भारत पर भी प्रभाव पड़ा। उस क्रान्ति को भारत ने पूरी तरह तुरन्त ही नहीं समझ लिया, पर यह सूत्र हमारे जागरण का मूलसूत्र ज़रूर वन गया कि रूस में शहनशाहियत ख़त्म कर दी गयी है और उस शहनशाहियत को अपने कन्धों पर ढोने वाले ज़मींदार-जैसे वर्ग भी समाप्त कर दिये गये हैं। अमेरिका की प्रेरणा प्रजातन्त्र की थी, रूस की प्रेरणा समानता की थी, नये जीवन की ओर वढ़ते भारत ने इन दोनों को ही ग्रहण किया।

सशस्त्र क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में इस प्रभाव का पहला स्पर्श हमें श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल के विचारों में मिलता है। उन्हों ने उत्तर भारत के अपने क्रान्तिकारी दल का नाम असहयोग आन्दोलन की असफलता के वाद ही बदला 'द हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोशियेशन' और उस के उद्देश्य में कहा—"सार्वजनिक मताधिकार की नींव पर इस प्रजातन्त्र का संगठन होगा और इस में उन सब व्यवस्थाओं का अन्त कर दिया जायेगा, जिन से एक मनुष्य के द्वारा दूसरे के शोषण का अवसर मिल सकता है।" यह सब सामग्री जनता तो दूर दल के सदस्यों तक भी नहीं पहुँच सकी और पुलिस के हाथ पड़ गयी।

सरदार सन्तोख सिंह और सरदार गुरुमुख सिंह ने जो संगठन बनाया, उस का आधार शुद्ध रूप में कम्युनिज़्म था, पर यह संगठन शुद्ध सिख संगठन था। इस प्रकार अमेरिका और रूस की प्रगति की किरणें इस देश में आयीं, पर वह किरणें धूप-छाँहीं थीं। भगत सिंह के इस वक्तव्य ने प्रगति की इन किरणों को साफ़-साफ़ एक नयी समाज-व्यवस्था के संकल्प के रूप में देश के सामने रखा और इसी कारण वे इस देश में समाजवाद के उद्घोषक माने गये। यह वक्तव्य जब पत्रों में छपा और यह छपना खुद अपने में भगत

सिंह और उन के साथियों के प्रचार-कौशल का एक वड़ा प्रमाण था, तो देश के विचारों में एक नयी चमक पैदा हुई और विचारकों को लगा कि उन्हें आज एक नया मानसिक भोजन मिला है।

इस घटना के ढाई साल वाद कराची काँग्रेस ने मानव-अधिकारों का प्रस्ताव पास किया और काँग्रेस में समाजवाद ग्रुप की स्थापना तो १९३५ के वाद ही हुई।

इस वक्तव्य के वाद देशवासियों का ध्यान और भी गहरे रूप में भगत सिंह पर केन्द्रित हो गया। उन की ओजस्वी भाषा और नवीन विचारपद्धति ने सब का ध्यान आकृष्ट किया। एक और भी वात थी जिस पर सब का ध्यान गया। वह थी भगत सिंह की मस्ती और बचाव के प्रति निर्लिप्तता। १० जून १९२९ को केस की सुनवाई समाप्त हो गयी और १२ जून को अपने ४१ पृष्ठ के फ़ैसले में सेशन जज ने दोनों अभियुक्तों को आजन्म कारावास का दण्ड सुना दिया। इस के तुरन्त वाद भगत सिंह को मियाँवली जेल में और बटुकेश्वरदत्त को लाहौर सेण्ट्रल जेल में भेज दिया गया।

■ ■

हाईकोर्ट के कटघरे में

असेम्वली वम-काण्ड में वचाव का प्रयत्न विलकुल नहीं किया गया था, फिर भी हाईकोर्ट में सेशन जज के फ़ैसले की अपील कर दी गयी। यह सब-कुछ योजनापूर्वक हो रहा था। उस योजना का सार था—गुप्त सशस्त्र प्रयत्नों को सार्वजनिक क्रान्ति आन्दोलन का रूप देना और इस प्रकार उसे जनता के मानस से जोड़ना।

जस्टिस फ़ोर्ड और जस्टिस एडीसन के सामने हाईकोर्ट (लाहौर) में अपील पेश हुई। भगत सिंह ने दिल्ली की अदालत में वयान देने में जिस तेजस्विता का परिचय दिया था यहाँ उस में चार-चाँद लग गये। वहस, प्रश्न-उत्तर और व्यवहार सब में अद्भुत सजीवता थी। नीचे की अदालत में उन्हों ने अपने उद्देश्य को कार्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया था, पर सेशन जज ने उद्देश्य को महत्त्व न दे कर कार्य को ही महत्त्व दिया था। इस का स्पष्टीकरण करते हुए जिस तेजस्विता के साथ भगत सिंह ने अपना दूसरा वयान दिया, उस पर कोई भी क़ानून-विशारद गर्व कर सकता है। वह वयान इस प्रकार है—

"माई लॉर्ड,

हम न वकील हैं, न अँगरेज़ी के विशेषज्ञ और न हमारे पास डिग्रियाँ ही हैं, इस लिए हम से शानदार भाषणों की आशा न की जाये। हमारी प्रार्थना है कि हमारे वयान की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों पर ध्यान न देते हुए उस के वास्तविक अर्थ को समझने का प्रयत्न किया जाये। दूसरे तमाम मुद्दों (प्वाइण्ट्स) को अपने वकीलों पर छोड़ते हुए मैं स्वयं एक मुद्दे पर अपने विचार प्रकट करूँगा। यह मुद्दा इस मुक़दमे में बहुत महत्त्व-पूर्ण है। मुद्दा यह है कि हमारी नीयत क्या थी और हम किस हद तक अपराधी हैं।

यह वड़ा पेंचीदा मामला है, इसलिए कोई व्यक्ति भी आप की सेवा में विचारों के विकास की वह ऊँचाई प्रस्तुत नहीं कर सकता, जिस के प्रभाव में हम एक ख़ास ढंग से सोचने और व्यवहार करने लगे थे। हम चाहते हैं कि इसे दृष्टि में रखते हुए ही हमारी नीयत और अपराध का अनुमान लगाया जाये। प्रसिद्ध क़ानून-विशारद सालोमन के अनुसार किसी

भी व्यक्ति को, उस के अपराधी उद्देश्यों को जाने विना उस समय तक सज़ा नहीं मिलनी चाहिए, जब तक वे क़ानून-विरोधी आचरण सिद्ध न हों।

सेशन जज की अदालत में हम ने जो लिखित वयान दिया था, वह हमारे उद्देश्य को व्याख्या करता था और इस रूप में हमारी नीयत की व्याख्या करता था, लेकिन सेशन जज महोदय ने क़लम की एक ही नोंक से यह कह कर कि 'आम तौर पर अपराध को व्यवहार में लाने वाली वात क़ानून के कार्य को प्रभावित नहीं करती और इस देश में क़ानूनी व्याख्याओं में कभी-कभार उद्देश्य और नीयत की चर्चा होती है'—हमारी सब कोशिशें वेकार कर दीं।

माई लॉर्ड, इन परिस्थितियों में सुयोग्य सेशन जज के लिए उचित था कि या तो अपराध का अनुमान परिणाम से लगाते या हमारे वयान की मदद से मनोवैज्ञानिक पहलू का फ़ैसला करते, पर उन्हों ने इन दोनों में से एक भी काम न किया।

पहली वात यह है कि असेम्वली में हम ने जो दो वम फेंके, उन से किसी भी व्यक्ति की शारीरिक या आर्थिक हानि नहीं हुई। इस दृष्टिकोण से जो हमें सजा दी गयी है, वह कठोरतम ही नहीं है, वदला लेने की भावना वाली भी है। यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाये, तो जव तक अभियुक्त की मनोभावना का पता न लगाया जाये, उस के असली उद्देश्य का पता ही नहीं चल सकता। यदि उद्देश्य को पूरी तरह भुला दिया जाये, तो किसी भी व्यक्ति के साथ न्याय नहीं हो सकता, क्यों कि उद्देश्य को नज़रों में न रखने पर संसार के वड़े-वड़े सेनापति साधारण हत्यारे नज़र आयेंगे, सरकारी कर वसूल करने वाले अधिकारी चोर-जालसाज़ दिखाई देंगे और न्यायाधीशों पर भी क़त्ल करने का अभियोग लगेगा। इस तरह तो समाज-व्यवस्था और सभ्यता, खून-खरावा, चोरी और जालसाज़ी वन कर रह जायेगी। यदि उद्देश्य की उपेक्षा की जाये, तो किसी हुकूमत को क्या अधिकार है, कि समाज के व्यक्तियों से न्याय करने को कहे? उद्देश्य की उपेक्षा की जाये, तो हर धर्म-प्रचारक झूठ का प्रचारक दिखाई देगा और हरेक पैग़म्वर पर अभियोग लगेगा कि उस ने करोड़ों भोले और अनजान लोगों को गुमराह किया। यदि उद्देश्य को भुला दिया जाये, तो हज़रत ईसामसीह गड़वड़ कराने वाले, शान्ति भंग कराने वाले, शान्ति भंग करने वाले और विद्रोह का प्रचार करने वाले दिखाई देंगे और क़ानून के शब्दों में : 'खतरनाक व्यक्तित्व' माने जायेंगे।

लेकिन हम उन की पूजा करते हैं, उन का हमारे दिलों में वेहद आदर है, उन की मूर्त्ति हमारे दिलों में आध्यात्मिकता का स्पन्दन पैदा करती है। यह क्यों? यह इस लिए कि उन के प्रयत्नों का प्रेरक एक ऊँचे दर्जे का उद्देश्य था। उस युग के शासकों ने उन के उद्देश्य को नहीं पहचाना, उन्हों ने उन के वाहरी व्यवहार को ही देखा, लेकिन उस समय से ले कर इस समय तक उन्नीस शताब्दियाँ वीत चुकी हैं। क्या हम ने तव से ले कर अव तक कोई तरक़्क़ी नहीं की? क्या हम ऐसी ग़लतियाँ दोहरायेंगे। अगर ऐसा हो, तो इनसानियत की क़ुर्वानियाँ, महान् शहीदों के प्रयत्न

बेकार रहे और आज भी हम उसी स्थान पर हैं, जहाँ आज से वीस शताब्दियाँ पहले थे।

क़ानूनी दृष्टि से उद्देश्य का प्रश्न ख़ास महत्व रखता है। जनरल डायर का उदाहरण लीजिए, उन्हों ने गोली चलायी और सैकड़ों निरपराध और शस्त्रहीन व्यक्तियों को मार डाला, लेकिन फ़ौजी अदालत ने उन्हें गोली का निशाना बनाने का हुक्म की जगह लाखों रुपये इनाम दिये। एक और उदाहरण पर ध्यान दीजिए—श्री खड्गवहादुर सिंह ने, जो एक नौजवान गोरखा है, कलकत्ता में एक अमीर मारवाड़ी को छुरे से मार डाला। यदि उद्देश्य को एक तरफ़ रख दिया जाये, तो खड्ग सिंह को मौत की सज़ा मिलनी चाहिए थी, लेकिन उन्हें कुछ वर्षों की सज़ा दी गयी और अवधि से बहुत पहले ही मुक्त कर दिया गया। क्या क़ानून में कोई दरार रखनी थी, जो उसे मौत की सज़ा न दी गयी? या उस के विरुद्ध हत्या का अभियोग सिद्ध न हुआ? उस ने हमारी ही तरह अपना अपराध स्वीकार किया था, लेकिन उस का जीवन बच गया और वह स्वतन्त्र है। मैं पूछता हूँ उसे फाँसी की सज़ा क्यों न दी गयी? उस का कार्य नपा-तुला था। उस ने पेचीदा ढंग की तैयारी की थी। उद्देश्य की दृष्टि से उस का कार्य (ऐक्शन) हमारे कार्य की अपेक्षा ज्यादा घातक और संगीन था। उसे इस लिए बहुत ही नर्म सज़ा मिली, क्यों कि उस का मक़सद नेक था। उस ने समाज को एक ऐसी जोंक से छुटकारा दिलाया, जिस ने कई एक सुन्दर लड़कियों का ख़ून चूस लिया था। श्री खड्ग सिंह को महज़ क़ानून की प्रतिष्ठा बचाये रखने के लिए कुछ वर्षों की सज़ा दी गयी। यह सिद्धान्तों का विरोध है, जो कि यह है—'क़ानून आदमियों के लिए है, आदमी क़ानून के लिए नहीं है।' इन दशाओं में क्या कारण है कि हमें भी वे रियायतें न दी जायें, जो श्री खड्गवहादुर को मिली थीं, क्यों कि उसे नर्म सज़ा देते समय उस का उद्देश्य दृष्टि में रखा गया था, अन्यथा कोई भी व्यक्ति जो किसी दूसरे को क़त्ल करता है, फाँसी की सज़ा से नहीं बच सकता। क्या इस लिए हमें आम क़ानूनी अधिकार नहीं मिल रहा कि हमारा कार्य हुकूमत के विरुद्ध था या इस लिए कि इस कार्य का राजनीतिक महत्त्व है।

माई लॉर्ड, इन दशाओं में मुझे यह कहने की आज्ञा दी जाये कि जो हुकूमत इन कमीनी हरक़तों में आश्रय खोजती है, जो हुकूमत व्यक्ति के क़ुदरती अधिकार छीनती है, तो उसे जीवित रहने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं। अगर यह क़ायम है तो आराजी तौर पर और हज़ारों बेगुनाहों का ख़ून इस की गरदन पर है। यदि क़ानून उद्देश्य नहीं देखता, तो न्याय नहीं हो सकता और न ही स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती है।

आटे में संखिया (ज़हर) मिलाना जुर्म नहीं, बशर्ते कि इस का उद्देश्य चूहों को मारना हो, लेकिन यदि इस से किसी आदमी को मार दिया जाये, तो यह क़त्ल का अपराध बन जाता है। लिहाज़ा ऐसे क़ानूनों पर, जो युक्ति (दलील) पर आधारित नहीं और न्याय के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं, उन्हें समाप्त कर देना चाहिए। ऐसे ही

न्याय-विरोधी क़ानूनों के बड़े-बड़े श्रेष्ठ बौद्धिक लोगों ने बग़ावत के कार्य किये हैं।

हमारे मुक़दमे के तथ्य बिलकुल सादा हैं। ८ अप्रैल १९२९ को हम ने सेण्ट्रल असेम्बली में दो बम फेंके। उन के धमाके से चन्द लोगों को खरोंचें आयीं। चैम्बर में हंगामा हुआ, सैकड़ों दर्शक और सदस्य बाहर निकल गये। कुछ देर बाद ख़ामोशी छा गयी। मैं और साथी बी० के० दत्त ख़ामोशी के साथ दर्शक-गैलरी में बैठे रहे और हम ने स्वयं अपने को प्रस्तुत किया कि हमें गिरफ़्तार कर लिया जाये। हमें गिरफ़्तार कर लिया गया। अभियोग लगाये और हत्या करने के अपराध में सज़ा दी गयी, लेकिन बमों से चार-पाँच आदमियों को मामूली-सा नुक़सान पहुँचा और जिन्हों ने यह अपराध किया, उन्हों ने बिना किसी क़िस्म के हस्तक्षेप के अपने-आपको गिरफ़्तारी के लिए पेश कर दिया। सेशन जज ने स्वीकार किया कि यदि हम भागना चाहते तो हम भागने में सफल हो सकते थे। हम ने अपना अपराध स्वीकार किया और अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए बयान दिया। हमें सज़ा का भय नहीं है, लेकिन हम यह नहीं चाहते कि हमें ग़लत तौर पर समझा जाये। हमारे बयान से कुछ पैराग्राफ़ काट दिये गये हैं। यह वास्तविक स्थिति की दृष्टि से हानिकारक है।

समग्र रूप से हमारे वक्तव्य के अध्ययन से साफ़ प्रकट होता है कि हमारे दृष्टिकोण से हमारा देश एक नाज़ुक दौर से गुज़र रहा है। इस दशा में काफ़ी ऊँची आवाज़ में चेतावनी देने की ज़रूरत थी और हम ने अपने विचार के अनुसार चेतावनी दी है। सम्भव है कि हम ग़लती पर हों, हमारा सोचने का ढंग जज महोदय के सोचने के ढंग से भिन्न हो, लेकिन इस का अर्थ यह नहीं कि हमें अपने विचार प्रकट करने को स्वीकृति न दी जाये और ग़लत बातें हमारे साथ जोड़ी जायें।

'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' और 'साम्राज्यवाद मुरदाबाद' के सम्बन्ध में हम ने जो व्याख्या अपने बयान में दी है, उसे उड़ा दिया गया है, हालाँ कि यह हमारे उद्देश्य का ख़ास भाग है। 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' से हमारा वह उद्देश्य नहीं था जो आम तौर पर ग़लत अर्थ में समझा जाता है, पिस्तौल और बम इन्क़लाब नहीं लाते, बल्कि इन्क़लाब की तलवार विचारों की सान पर तेज़ होती है; और यही चीज़ थी जिसे हम प्रकट करना चाहते थे। हमारे इन्क़लाब का अर्थ पूँजीवाद और पूँजीवादी युद्धों की मुसीबतों का अन्त करना है। मुख्य उद्देश्य और उसे प्राप्त करने की प्रक्रिया को समझे बिना किसी के सम्बन्ध में निर्णय देना उचित नहीं है। ग़लत बातें हमारे साथ जोड़ना साफ़-साफ़ अन्याय है।

इस की चेतावनी देना बहुत आवश्यक था। बेचैनी रोज़-रोज़ बढ़ रही है। यदि उचित इलाज न किया गया, तो रोग ख़तरनाक रूप ले लेगा। कोई भी मानवीय शक्ति इस की रोकथाम न कर सकेगी। अब हम ने इस तूफ़ान का रुख़ बदलने के लिए यह कार्यवाही की। हम इतिहास के गम्भीर अध्येता हैं। हमारा विश्वास है कि यदि सत्ताधारी शक्तियाँ ठीक समय पर सही कार्यवाही करतीं, तो फ़्रान्स और रूस की ख़ूनी

क्रान्तियाँ न वरस पड़तीं। दुनिया की कई वड़ी-वड़ी हुकूमतें विचारों के तूफ़ान को रोकते हुए खून-खरावी के वातावरण में डूब गयीं, सत्ताधारी लोग परिस्थितियों के प्रवाह को वदल सकते हैं। हम पहली चेतावनी देना चाहते थे और यदि हम कुछ व्यक्तियों की हत्या करने के इच्छुक होते, तो हम अपने मुख्य उद्देश्य में असफल हो जाते।

माई लार्ड, इस नीयत (भावना) और उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए हम ने कार्यवाही की और इस कार्यवाही के परिणाम हमारे बयान का समर्थन करते हैं। एक और नुक़्ता (प्वाइण्ट) स्पष्ट करना आवश्यक है, यदि हमें वमों की ताक़त के सम्बन्ध में कोई ज्ञान न होता, तो हम पण्डित मोतीलाल नेहरू, श्री केसकर, श्री जयकर, श्री जिन्ना-जैसे सम्माननीय राष्ट्रीय व्यक्तित्वों की उपस्थिति में क्यों वम फेंकते? हम नेताओं के जीवन को किस तरह खतरे में डाल सकते थे? हम पागल तो नहीं हैं और अगर पागल होते, तो जेल में वन्द करने के वजाय हमें पागलखाने में वन्द किया जाता। वमों के सम्बन्ध में हमें निश्चित जानकारी थी। उसी के कारण ऐसा साहस किया। जिन वेंचों पर लोग वैठे थे, उन पर वम फेंकना कहीं आसान काम था, लेकिन खाली जगहों पर वम फेंकना निहायत मुश्किल काम था। अगर वम फेंकने वाले सही दिमाग़ के न होते, या वे परेशान (असन्तुलित) होते, तो वम खाली जगह की वजाय वेचों पर गिरते, मैं तो कहूँगा कि कि खाली जगह के चुनाव के लिए जो हिम्मत हम ने दिखाई, उस के लिए हमें इनाम मिलना चाहिए। इन हालतों में माई लॉर्ड, हम सोचते हैं हमें ठीक तरह समझा नहीं गया। आप की सेवा में हम सज़ाओं की कमी कराने नहीं आये, वल्कि अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए आये हैं। हम तो चाहते हैं कि न तो हम से अनुचित व्यवहार किया जाये और नहीं हमारे सम्बन्ध में अनुचित राय दी जाये। सज़ा का सवाल हमारे लिये गौण है।

संसार के इतिहास की वात मैं नहीं जानती, हमारे देश के विशिष्ट मुक़दमों के इतिहास में यह वयान अपनी जगह अद्भुत है, अनुपम है। हमारे नये युग के राजनैतिक इतिहास में पहला वयान १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति के वाद वादशाह वहादुरशाह जफ़र ने दिया था। उस में अपने निर्दोष होने की वात नम्र शब्दावली में कही गयी थी। जीवन की थकान और निराशा से भरा था यह वयान। इस के वाद लोकमान्य तिलक का वयान आता है। इस में विद्वत्ता है, व्यक्तित्व है, राजनैतिक प्रौढ़ता है, और वकालत है। इस के वाद मौलाना अवुलक़लाम आज़ाद का बयान है, इस में विद्वत्ता है, व्यक्तित्व है, राजनैतिक चैतन्य है और आस्था है। इस के वाद महात्मा गान्धी का वयान है—जिस में सन्तुलन है, शालीनता है, स्वीकृति है। इस के वाद भगत सिंह का यह वयान है। सेशन जज की अदालत में और हाईकोर्ट में उन्हों ने जो बयान दिये हैं, मैं उन्हें एक ही वयान के दो भाग मानती हूँ। हम यह भी कह सकते हैं कि हाईकोर्ट का वयान सेशन जज के सामने दिये वयान का स्पष्टीकरण या व्याख्या है। यह बयान भगत सिंह के विराट् व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं और उन के जीवन की

विविधताओं, अध्ययनशीलता, लेखक-वृत्ति, बहस-वृत्ति, तर्क-शक्ति, ओजस्विता, निर्भयता, मृत्यु के प्रति निर्लिप्तता, क्रान्ति दार्शनिकता, स्पष्ट दृष्टि आदि का ऐसा समग्र चित्र प्रस्तुत करता है कि हम उन्हें एक ही स्थान में पूर्णतया पा लेते हैं। असल में यह नयी पीढ़ियों के नाम उन की वसीयत है और इस रूप में राष्ट्र की क़ीमती धरोहर है।

बयान महत्त्वपूर्ण था, महत्त्वपूर्ण आदमी का था पर यह महत्त्वपूर्ण आदमी एक ग़ुलाम देश का निवासी था और उस की बात एक ग़ुलाम बात थी। इस लिए सत्ता के मद में अन्धे लोगों ने उसे स्वीकार नहीं किया और सेशन जज के फ़ैसले को बहाल रखते हुए १३ जनवरी १९३० को भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त को आजन्म कारावास दण्ड सुना दिया।

भगत सिंह तो मृत्यु की साधना में लगे हुए थे, उन पर सज़ा बहाल होने का क्या प्रभाव पड़ता। उन्हों ने 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' के रूप में न्यायधीशों को धन्यवाद दिया। फ़ैसले में जस्टिस एफ़० फ़ोर्ड ने लिखा—। "यह बयान कोई ग़लती न होगी कि ये लोग दिल की गहराई और पूरे आवेग के साथ वर्तमान समाज के ढाँचे को बदलने की इच्छा से प्रेरित थे। भगत सिंह एक ईमानदार और सच्चे क्रान्तिकारी हैं। मुझे यह कहने में कोई झिझक नहीं है कि वे इस स्वप्न को ले कर पूरी सचाई से खड़े हैं कि दुनिया का सुधार वर्तमान सामाजिक ढाँचे को तोड़ कर ही हो सकता है। वे क़ानून के ढाँचे की जगह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा को स्थापित करना चाहते हैं। अराजकता-वादियों की सदा यही मान्यता रही है, परन्तु जो अपराध इन के और इन के साथी पर लगा है, उस की यह कोई सफ़ाई नहीं है।"

यह प्रशंसा क्या है? जिसे हम क़लम की एक फाँक से अपराध घोषित करते हैं, क़लम की दूसरी फाँक से उस की प्रशंसा करते हैं। एक हाथ से जिन्हें हम मिटाते हैं, मिटा देते हैं, दूसरे हाथ से उन की मूर्ति उसे माला पहनाते हैं। यह सब क्या है? यह वीरता की पूजा है, यह सत्य की पूजा है, यह हुतात्माओं की नैतिक विजय की घोषणा है। जस्टिस फ़ोर्ड की प्रशंसा उस परम्परा की माला का एक मनका है, जिस का एक मनका था यह कि बादशाह अकबर ने ही साथ लड़ते-लड़ते शहीद हुए वीरवर जयमल फत्ता का स्मारक स्वयं स्थापित किया था, सेनापति ह्यूरोज़ ने अपने साथ लड़ते-लड़ते शहीद हुई महारानी झाँसी की प्रशंसा में अनमोल बोल कहे थे और अपने साथ लड़ते-लड़ते शहीद जनरल थापा का स्मारक अँगरेज़ सेनापति जिलेपी ने स्थापित किया था। एक विचारक के शब्दों में—'वीरता की कसौटी ही यह है कि अपने विरोधी को भी वह प्रशंसा के लिए विवश कर दें।" भगत सिंह ऐसे ही वीर थे।

■ ■

भूख-हड़ताल की अग्नि-शय्या पर

असेम्बली बम-काण्ड का जो मुक़दमा दिल्ली में चला, उस में भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त को युरोपियन क्लास में रखा गया था और उन के साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया गया था। एक तो यह घटना ही निराली थी। दूसरे उस घटना से भगत सिंह का नाम अन्तर्राष्ट्रीय हो गया था, पर क्या भगत सिंह कोई व्यक्ति थे जो व्यक्तिगत दृष्टिकोण से जीवन के प्रश्नों पर विचार करते। व्यक्ति की सब से बड़ी आकांक्षा जीवित रहने की है, पर भगत सिंह तो मृत्यु की साधना कर रहे थे। व्यक्ति की दूसरी सब से बड़ी आकांक्षा है आराम से रहने की, पर भगत सिंह ने तो अपनी जीवन-सेज पर अपने हाथों काँटे बिछाये थे। वे व्यक्ति कहाँ थे। वे तो समाज-जीवी, समाज-दर्शी, समाज-निर्माता महापुरुष थे, जो समाजमय हो कर जिया करते हैं। इस लिए युरोपियन क्लास में आराम से रहते हुए भी उन्हों ने इस मुक़दमे के तुरन्त बाद भूख-हड़ताल की अग्नि-शय्या पर सोने का, प्रह्लाद की तरह अग्नि के स्तम्भ से लिपटने का निश्चय किया तो क्या आश्चर्य।

भूख-हड़ताल के निर्णय की पृष्ठभूमि क्या थी? यह गम्भीर प्रश्न है कि उन के मन में इस भयंकर निश्चय का जन्म कैसे हुआ? कहीं कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में मन से ही मन में उतरना पड़ता है। स्थूल प्रमाण जहाँ काम नहीं करते, वहाँ सूक्ष्म अनुमान ही इतिहास-लेखक और जीवन-चिन्तक की गति है। वे अपनी मृत्यु को महँगी और भारी बनाने की योजना को ले कर चल रहे थे, यह स्पष्ट है। इस भारी-महँगी मृत्यु से वे अँगरेज़ी हुकूमत को, भारत की ग़ुलामी को खील-खील करना चाहते थे, यह भी स्पष्ट है। अँगरेज़ी हुकूमत की और भारत की ग़ुलामी का सब से कड़वा और कुरूप प्रदर्शन जेलों में होता है, यह वे १९१९ जलियाँवाला काण्ड के मुक़दमों में पढ़ चुके थे। लाला लालचन्द फलक, डॉ॰ सत्यपाल चौधरी, रामभजदत्त, डॉ॰ सैफ़ुद दीन किचलू, दीवान मंगलसेन, लाला हरकिशन लाल और अच्युत राव कोल्हटकर—जैसे लोगों के जेल की नरक यातनाओं के सम्बन्ध में संस्मरण पढ़ चुके थे।

फिर वे स्वयं भुक्त-भोगी भी तो थे। दशहरा बम-काण्ड के नाम

पर जब १९२७ में भगत सिंह को गिरफ़्तार कर पन्द्रह दिन तक नाज़ी कैम्पों की तरह बदनाम लाहौर क़िले में रखा गया, तो कौन-सा अत्याचार है, जो उन पर नहीं हुआ, कौन-सी मुसीबत है जो उन पर नहीं टूटी। लगातार जिरह और प्रश्न, नींद न लेने देना, घण्टों खड़े रखना और इन सब से भी भयंकर यह कि तारकोल का तोबरा मुँह पर बाँध देना, नीचे से उसे सेकना, जिस से उस की गरम झौ साँस में भर जाये और शरीर के तार-तार को परेशान कर दे। क्या नहीं सहा था उन्हों ने। और क्रान्तिकारी की तो भावना नम्बर एक ही यह होती है कि अगली पीढ़ी को वह सब न सहना पड़े, जो हम ने सहा है, यह भावना ही तो नयी समाज-व्यवस्था को जन्म देती है।

अण्डमान के क़िले में भारत के क्रान्तिकारियों के साथ जो राक्षसी अत्याचार हुए थे उन की कहानियाँ भी भगत सिंह पढ़ चुके थे और नेशनल कॉलेज की क्लासों में अपने प्रोफ़ेसर भाई परमानन्द जी से दिल थाम कर सुन चुके थे। फिर वे यह भी जानते थे कि जेलें ही वे कारखाने हैं जो क्रान्तिकारी मुक़दमों को खराब करने के लिए मुखबिर—(सरकारी गवाह) तैयार करती हैं। भगत सिंह यह कैसे सह सकते थे कि इन कारखानों की चिमनियाँ घमण्ड के साथ धुआँ फेंककर साफ़ आकाश को गन्दा करती रहें और वे उस घमण्ड की गरदन न मरोड़ें। सोचती हूँ इन्हीं सब पृष्ठभूमियों में दिल्ली जेल छोड़ने से पहले ही भगत सिंह ने भूख-हड़ताल का निश्चय कर लिया था और बटुकेश्वर-दत्त एक समर्पित मित्र की तरह उन के साथ थे। निश्चय ही ६३ दिन जेल में अनशन कर शहीद होने वाले मैक्स्विनी की वीरगाथा भी इन के लिए प्रेरक थी और अन्दमान में यज्ञोपवीत के लिए भूख-हड़ताल कर शहीद होने वाले पण्डित रामरखा की मार्मिक कहानी भी।

क्या इस भूख-हड़ताल का उद्देश्य कुछ दिन भूखे रह कर सरकार पर एक सस्ते क़िस्म का दबाव डालना था। नहीं, इस का उद्देश्य था अपनी आहुति दे कर जेलों की दशा को बदलना। भूख-हड़ताल करने के बाद भी जीवन बच सकता है या सरकार उसे नष्ट होने से बचा सकती है। भूख-हड़ताल आरम्भ करते समय भगत सिंह को इस का ज्ञान ही नहीं था। श्री सुखदेव के नाम लिखे अपने पत्र में उन्हों ने लिखा था—"बन्दी होने के पश्चात् हमारी संस्था के राजनैतिक बन्दियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। हम ने प्रयास आरम्भ कर दिया। मैं आप को पूरी गम्भीरता से बताता हूँ कि हमें यह विश्वास था कि हम बहुत कम समय के भीतर ही मर जायेंगे। हमें उपवास के दिनों में कृत्रिम रीति से भोजन (फ़ोर्सफ़ुल फीडींग) दिये जाने का न तो कोई अनुभव ही था, न यह विचार ही हमें सूझा था। हम तो मृत्यु के लिए तैयार थे।"

८ सितम्बर को जब श्री बटुकेश्वर दत्त पहली बार हमारे घर आये, तो उन्हों ने कहा था—"१२ जून १९२९ को हम दोनों को—असेम्बली बम-काण्ड में आजीवन कारावास का दण्ड सुनाया गया। हम दोनों को दिल्ली से एक ही ट्रेन के अलग-अलग डिब्बों में ले जाया गया। मुझे लाहौर जेल में और भगत सिंह को मियाँवली जेल में

रखा गया। रास्ते में पुलिस का अँगरेज़ सार्जेण्ट हम से बहुत प्रसन्न रहा और लाहौर पहुँचने से कुछ स्टेशन पहले ही वह सरदार को मेरे डिब्बे में ले आया। मुझे इस की आशा तनिक भी न थी। हम दोनों मिले तो भगत सिंह ने मुझे फिर यह बात याद दिलायी कि हमें जेल पहुँचते ही भूख-हड़ताल आरम्भ कर देनी है। इस प्रकार १४ जून १९२९ से हमारी भूख-हड़ताल आरम्भ हो गयी जो अक्तूबर १९२९ के प्रथम सप्ताह तक चली।"

मैं ने उन से पूछा था—अलग-अलग जेलों में रहते हुए आप के मन में यह आशंका नहीं आयी कि शायद आप के साथी ने भूख-हड़ताल समाप्त कर दी हो या जेल में पहुँच कर आरम्भ ही न की हो।

उन का उत्तर था—"हमें एक-दूसरे पर अटूट विश्वास था। अविश्वास की भावना कभी मन में नहीं आयी। जब मेरे सामने भोजन लाया जाता, तो मुझे ध्यान आता कि भगत सिंह भूखा है और मैं भोजन की ओर आँख उठा कर भी न देखता। बस यही हाल उन का भी था।"

हमारे परिवार में एक और संस्मरण भी सुरक्षित है। जिस ट्रेन के दो डिब्बों में बैठे भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त दिल्ली से लाहौर जा रहे थे, उसी ट्रेन के एक डिब्बे में सरदार किशन सिंह भी यात्रा कर रहे थे। वे बीच-बीच में स्टेशनों पर उतर कर भगत सिंह से मिल लेते थे। जब-जब मैं ने यह बात सुनी है या मुझे याद आयी है, मेरे मन में प्रश्न उठा है—कैसे पिता थे सरदार किशन सिंह। उन्हों ने अपने को अपने महान् पुत्र का रक्षा-कवच बना लिया था। वे छाया की तरह हर समय उन के साथ थे। पुत्र का जीवन ही उन का जीवन था, पुत्र का सुख-दुःख ही उन का सुख-दुःख था। वे पुत्रमय हो कर जी रहे थे। भारत के क्रान्तिकारियों में ऐसा प्रेमी-सहयोगी पिता क्या किसी और भी क्रान्तिकारी को मिला? मेरी स्मृतियाँ और अलमारियाँ इस प्रश्न पर मौन हैं और यह मौन मेरे मस्तक को बार-बार उस महान् ममतालु पिता के प्रति झुका देता है।

जब वे घर लौटे, तो उन से पूछा गया—"आप ने भगत सिंह को कुछ खिला-पिला भी दिया था।" उन का उत्तर था—"भूख-हड़ताल आरम्भ कर देने की वज़ह से उन्हों ने रास्ते में कुछ नहीं खाया।" इस का अर्थ है कि जिस ऐतिहासिक भूख-हड़ताल की घोषणा १५ जून १९२९ को समाचार पत्रों में छपी, वह दिल्ली से चलते समय ही आरम्भ हो चुकी थी। यह बात तो है ही कि भगत सिंह के दिल्ली जेल में रहते-रहते ही उन की माँगों की चर्चा पत्रों में आ गयी थी। प्रहार और प्रचार के दोनों पक्ष भगत सिंह में कितने पुष्ट और कितने परिपूर्ण थे।

१७ जून १९२९ को भगत सिंह ने मियाँवली जेल से यह पत्र लिखा—

सेवा में,

इन्सपेक्टर जनरल जेल,

पंजाब जेल्स, लाहौर

प्रिय महोदय,

इस सचाई के बावजूद कि साण्डर्स शूटिंग केस में गिरफ़्तार दूसरे नौजवानों के साथ ही मुझ पर भी मुक़दमा चलेगा, मुझे दिल्ली से मियाँवली बदल दिया गया है। उस केस की सुनवाई २६ जून १९२९ से शुरू होने वाली है। मैं यह समझने में सर्वथा असमर्थ रहा हूँ कि मुझे यहाँ तबदील करने के पीछे क्या भावना काम कर रही है ?

जो भी हो, न्याय की माँग है कि हरेक अभियुक्त—(अण्डर ट्रायल) को वे सब सुविधाएँ मिलनी चाहिए, जिन से वह अपने मुक़दमे की तैयारी कर सके और मुक़दमा लड़ सके। लेकिन मैं यहाँ रहते कैसे अपना वक़ील नियुक्त कर सकता हूँ, क्यों कि यहाँ रहते हुए मुझे अपने पिता या दूसरे रिश्तेदारों से सम्पर्क रखना कठिन है। यह स्थान काफ़ी अलग-थलग है, रास्ता कठिन है और लाहौर से काफ़ी दूर है।

मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे तुरन्त लाहौर सेण्ट्रल जेल में बदलने का आदेश दें, जिस से कि मुझे अपना केस लड़ने की तैयारी करने का उचित अवसर मिले। आशा है शीघ्र ध्यान दिया जायेगा।

आप का इत्यादि

भगत सिंह

आजन्म क़ैदी, मियाँवली जेल

१७–६–१९२९

बात में बल था, क़ानून उन की माँग का समर्थक था, इस लिए जून के अन्तिम सप्ताह में उन्हें लाहौर सेण्ट्रल जेल में बदल दिया गया। हालत यह थी कि उन्हें कोठरी तक पहुँचाने के लिए स्ट्रेचर का उपयोग करना पड़ा। १० जुलाई १९२९ को लाहौर के मैजिस्ट्रेट श्री श्रीकृष्ण की अदालत में साण्डर्स-हत्या केस आरम्भिक कार्यवाही के लिए शुरू हो गया।

जब भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त को स्ट्रेचर पर अदालत में लाया गया तो दर्शकों में हाहाकार मच गया। देश-भर के समाचार पत्र भूख-हड़ताल के समाचारों से भर गये—'रंग लायेगी हमारी फ़ाक़ामस्ती एक दिन।' सचमुच फ़ाक़ामस्ती रंग लाने लगी। उसी दिन बोर्स्टल जेल के उन के साथी अभियुक्तों ने भी उन की सहानुभूति में अनशन आरम्भ करने की घोषणा मैजिस्ट्रेट की अदालत में ही कर दी। यतीन्द्रनाथ दास चार दिन बाद भूख-हड़ताल में शामिल हुए।

१४ जुलाई १९२९ को भगत सिंह ने भारत सरकार के होम मैम्बर—(गृह सदस्य) को जो पत्र भेजा, उस में निम्नलिखित माँगें थीं—

१. राजनैतिक क़ैदी होने के नाते हमें अच्छा खाना दिया जाना चाहिए, इस लिए हमारे भोजन का स्तर युरॅपियन क़ैदियों-जैसा होना चाहिए। हम उसी तरह की ख़ुराक की माँग नहीं करते वल्कि ख़ुराक का स्तर वैसा चाहते हैं।

२. हमें मुशक्कत के नाम पर जेलों में सम्मानहीन काम करने के लिए वाध्य नहीं किया जाना चाहिए।[1]

३. विना किसी रोक-टोक के पूर्व स्वीकृत (जिन्हें जेल अधिकारी स्वीकृत कर लें) पुस्तकें और लिखने का सामान लेने की सुविधा मिलनी चाहिए।

४. कम से कम एक दैनिक पत्र हरेक राजनैतिक क़ैदी को मिलना चाहिए।

५. हरेक जेल में राजनैतिक क़ैदियों का एक विशेष वार्ड होना चाहिए, जिस में उन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की सुविधा होनी चाहिए, जो युरॅपियनों के लिए होती है। और एक जेल में रहने वाले सभी राजनैतिक क़ैदी उस वार्ड में इकट्ठे रहने चाहिए।

६. स्नान के लिए सुविधाएँ मिलनी चाहिए।

७. अच्छे कपड़े मिलने चाहिए।

८. यू० पी० जेल-सुधार कॅमिटी में श्री जगतनारायण और ख़ान वहादुर हाफ़िज हिदायत हुसैन की इस सिफ़ारिश को कि राजनैतिक क़ैदियों के साथ अच्छी क्लास के क़ैदियों-जैसा व्यवहार होना चाहिए, हम पर भी लागू किया जाये।

यह प्रार्थना-पत्र भेजने के दूसरे ही दिन पंजाव सरकार ने (भूख-हड़ताल शुरू होने के एक महीने वाद) स्वास्थ्य के आधार पर भोजन में कुछ सुधार किये, पर वे इतने मामूली थे कि भगत सिंह ने उन पर विचार भी नहीं किया। उन की माँग का उन से या स्वास्थ्य से क्या सम्वन्ध था? अगले ही दिन सुधारों का यह आदेश सरकार ने पत्रों में छपाया तो उस में से मेडिकल ग्राउण्ड शब्द हटा दिये और वहुत अच्छा खाना पेश किया। भगत सिंह ने कहा—"ये सुधार सरकारी गज़ट में छपें और सव राजनैतिक क़ैदियों के लिए स्थायी रूप से हों तो हम इन पर विचार करेंगे।"

सरकार के लिए यह भूख-हड़ताल प्रतिष्ठा का प्रश्न वन गयी। भगत सिंह का वज़न ३० जुलाई १९२९ तक लगभग ५ पौण्ड प्रति सप्ताह के हिसाव से घटता रहा। वाद में वज़न ठहर गया था। भूख-हड़ताल आरम्भ करते समय उन का वज़न १३३ पौण्ड था। यतीन्द्रनाथ दास को जव पहली वार वलपूर्वक नली से दूध दिया गया, तो वह साँस की नली में पहुँच गया और वे वेहोश हो गये। असल में उन्हों ने मरण के लिए ही अनशन किया था। वे एक भावुकतावादी तरुण थे, जव कि भगत सिंह यथार्थवादी। भगत सिंह संघर्ष कर रहे थे, यतीन्द्रनाथ दास जीवन का हवन कर रहे

---

१. दो तरह की क़ैद होती है: एक सादी, दूसरी सख़्त। सख़्त क़ैद में क़ैदी को काम करना पड़ता है, सादी में नहीं। मंज काटना, वान वँटना, चक्की चलाना और कोल्हू में वैल की तरह जुड़ कर तेल निकालना आदि काम होते हैं।

थे। देश-भर के समाचार पत्र भूख-हड़ताल की खबरों से युद्ध की खबरों की तरह भर रहे थे। नगर-नगर में जुलूसों-जलसोंका ताँता बँध गया था। भगत सिंह अपने लक्ष्य में सफलता पा रहे थे, जनता जाग उठी थी। मानसिक रूप से सशस्त्र आन्दोलन के साथ आ खड़ी हुई थी, उस की चेतना रोष का रूप ले रही थी। देश-भर की दूसरी जेलों के अनेक राजनैतिक क़ैदियों ने भी उन की सहानुभूति में अनशन आरम्भ कर दिया था।

ये लोग अपनी जान से खेल रहे थे और सरकार इन से खेल रही थी। भूख-हड़ताल में भोजन का त्याग होता है, पर पानी लिया जाता है। सचाई यह है कि पानी लेना भूख-हड़ताल का आवश्यक अंग है। ये लोग भी पानी लेते थे, पर जेल-अधिकारियों ने पानी के घड़ों में दूध भर कर रख दिया, जिस से ये लोग प्यास से विवश हो कर पानी की जगह दूध पी लें। इन लोगों ने इस का प्रतिवाद किया, लेकिन कोई सुनवाई नहीं हुई। तब इन्हों ने घड़े फोड़ने आरम्भ कर दिये। दूध का जो घड़ा जेल-अधिकारी रखते, ये लोग उसे ही फोड़ डालते। यह बड़ी कड़ी परीक्षा थी; पर इस में सफल हुए भूख-हड़ताल करने वाले युवक ही। जेल-अधिकारियों को हार माननी पड़ी और फिर कोठरियों में पानी रखवाया गया।

तब उन्हों ने दूसरा दाँव चला कि वे क़ैदियों के आस-पास फल-मिठाई आदि खाने की चीज़ें रख देते थे और स्वयं हट जाते थे। पहरे पर एक मामूली आदमी रहता था। उद्देश्य यह था कि यदि इन में से किसी एक में भी कमज़ोरी आ जाये तो ये लोग इन सभी को बदनाम करें और भूख-हड़ताल के समाप्त होने की घोषणा भी कर दें।

बलपूर्वक दूध देने का एक खुला उद्देश्य तो यह था ही कि भूख-हड़ताल करने वाले मृत्यु से बचे रहें, पर दूसरा कूटनीतिक रूप यह भी था कि चार-पाँच दिन बाद बलपूर्वक पेट में दूध पड़ने से भूख बहुत ज़ोर से उभरती थी। अब भूख-हड़ताल करने वाला दो खुले हुए मुखों के बीच आ जाता था। एक तरफ़ भूख की ज्वाला, दूसरी तरफ़ खाने की चीज़ें। कितना कठिन है ऐसे में स्थिर रहना, सन्तुलित रहना, अडिग रहना। पुराणों में तपस्वियों का तप भंग करने के लिए इन्द्र के प्रलोभनों का वर्णन मिलता है। सोचती हूँ क्या अँगरेज़ी सरकार के प्रलोभन इन्द्र के प्रलोभनों से कम आकर्षक थे?

ये कौन थे जो इन चुम्बकीय आकर्षणों के बीच सहज भाव से खड़े थे। श्री अजय घोष लिखते हैं कि किशोरीलाल ने तेज़ गरम पानी से अपना गला जला कर लाल मिर्चें खा ली थीं। इस से गला इतना खराब हो गया था कि नली अन्दर डालते ही उन्हें तेज़ खाँसी उठ जाती थी और डॉक्टर नली तुरन्त न निकाले, तो मृत्यु हो सकती थी। और ये अजय घोष साहब।—उन्हों ने ऐसा आविष्कार किया कि दुनिया के आविष्कारक मात खा गये। डॉक्टर और दूसरे लोग दूध पिला कर हटे कि इन्हों ने पकड़ कर दो मक्खियाँ निगल लीं—सब दूध बाहर आ पड़ा। इस तरह ये वीर मौत से खेल रहे थे और अँगरेज़ी सरकार इन से खेल रही थी।

२८ जुलाई १९२९ को यतीन्द्रनाथ दास की हालत विगड़ी तो भगत सिंह ने वोर्स्टल जेल सन्देशा भेजा कि वहाँ के सव अभियुक्त भूख-हड़ताल छोड़ दें, यह लड़ाई मैं और बटुकेश्वरदत्त ही लड़ेंगे, पर मरण के दीवाने ऐसी वातें कहाँ सुनते हैं ? यतीन्द्रनाथ दास की हालत और विगड़ी तो जेल-अधिकारियों ने प्रयत्न किये कि वे एनिमा लें पर वे किसी तरह तैयार नहीं हुए। तव गवर्नर से स्वीकृति ले कर वे लाहौर सेण्ट्रल जेल से भगत सिंह को वोर्स्टल जेल में ले आये। भगत सिंह के कहने पर यतीन्द्रनाथ ने विना आग्रह एनिमा लेना स्वीकार कर लिया। भगत सिंह की जीवनी के लेखक श्री जतीन्द्रनाथ सान्याल के शब्दों में—"वोर्स्टल जेल के डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट खान साहव खैरदीन ने हैरान हो कर यतीन्द्रनाथ से कहा—"आप ने भगत सिंह की वात विना ज़िद मान ली।" यतीन्द्रनाथ ने कहा—'खान साहव, आप नहीं जानते भगत सिंह एक वीर पुरुष हैं। मैं उन के शब्दों का असम्मान नहीं कर सकता।'

२ सितम्बर १९२९ को, जब भूख-हड़ताल के सम्बन्ध में देश की जनता का मन पूरे उफान पर था, सरकार ने जेल इन्क्वायरी कॅमिटी की स्थापना की। कॅमिटी के कुछ सदस्य जेल में आये, भगत सिंह भी वातचीत में शरीक हुए। उन के सामने इस इस समय मुख्य वात यतीन्द्रनाथ दास को वचाना था। कॅमिटी के सदस्य इस वात पर आ गये कि सव लोग भूख-हड़ताल तोड़ दें, तो सरकार यतीन्द्रनाथ दास को छोड़ देगी। भगत सिंह लक्ष्यदर्शी मानव थे। वे चट्टान की तरह अड़ना जानते थे तो पानी की तरह वहना भी। उन के परामर्श पर सब ने भूख-हड़ताल तोड़ दी। यह भगत सिंह के क्रान्तिकारी का नहीं, उन के मानव का निर्णय था। इस समय सव-कुछ एक पलड़े पर था और यतीन्द्रनाथ दास का जीवन दूसरे पर। इस समय वे एक मनुष्य थे, एक मित्र थे। कितना कोमल है उन का यह रूप! कितना भावपूर्ण! और कितना सहृदय-सलोना, जैसे सिंह पलक झपकते ही मृग-छौना वन गया!

यतीन्द्रनाथ दास ने भूख-हड़ताल जारी रखी और सरकार अपनी वात से हट गयी, तो दो दिन वाद ही ४ सितम्वर से फिर भूख-हड़ताल आरम्भ हो गयी। २ सितम्बर को भगत सिंह-वटुकेश्वर दत्त की भूख-हड़ताल का ८१वाँ दिन था और दूसरे साथियों का ५३ वाँ। भूख-हड़ताल चल रही थी, पर मुक़दमे का क्या हुआ?

१० जुलाई १९२९ को मुक़दमा आरम्भ हुआ था। भूख-हड़ताल की स्थिति में भी अभियुक्तों को हथकड़ी लगा कर अदालत में लाया जाता था। १७ जुलाई १९२९ को भगत सिंह ने हथकड़ी लगाने का विरोध किया। हथकड़ी लगाने का तरीक़ा यह था कि एक हाथ पुलिस कान्स्टेबिल का होता, एक क्रान्तिकारी अभियुक्त का। मैजिस्ट्रेट श्री कृष्ण ने अवज्ञा-उपेक्षा का भाव प्रकट किया, उन की वात पर ध्यान नहीं दिया। भगत सिंह स्ट्रेचर पर थे। उन का थका-सा चेहरा स्फूर्ति से भर उठा। वे सहसा खड़े हो गये और उन में नया जीवन आ गया था। उन्हों ने मैजिस्ट्रेट को ललकारा—"यह हमारे सम्मान के विरुद्ध है कि हमें मामूली पुलिस सिपाही के साथ बाँधा जाये और यह

न्याय के भी विरुद्ध हैं, क्यों कि हम अदालत में आवश्यक बातें नोट नहीं कर पाते। आप पुलिस के हाथों में खेल रहे हैं, यह बहुत अनुचित बात है। मैं पूछता हूँ, मैजिस्ट्रेट आप हैं या पुलिस अधिकारी मिस्टर अब्दुल अजीज़! ऐसा ही है तो न्याय का तमाशा क्यों कर रहे हैं। इसे बन्द कर दीजिए और पुलिस को अपना काम करने दीजिए।"

पूरे भगत सिंह-काण्ड में सब से घृणित चेहरा इसी मैजिस्ट्रेट श्रीकृष्ण का है। यह तन, मन और आत्मा तक से ग़ुलाम था। उस ने भगत सिंह की बात का कोई उत्तर नहीं दिया और जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट के नाम आदेश दिया कि ये लोग अदालत में ठीक व्यवहार नहीं करते इन के विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही की जाये। सुन कर सब लोग इतने ज़ोर से हँसे कि मैजिस्ट्रेट स्वयं ही झेंप गया। मुक़दमा स्थगित हो गया, भूख-हड़ताल जारी रही। असल में भूख-हड़ताल उन दिनों स्वयं एक देशव्यापी मुक़दमा बन गयी थी और भगत सिंह की रणनीति का रंग दिखा रही थी। इस बार की भूख-हड़ताल में यतीन्द्रनाथ दास के अतिरिक्त भगत सिंह, बटुकेश्वरदत्त, अजय घोष, विजय कुमार सिनहा, शिव वर्मा और जितेन्द्र नाथ सान्याल थे।

१३ सितम्बर १९२९ को देश का वातावरण एक साथ आँसुओं और चिनगारियों से भर उठा—यतीन्द्रनाथ दास शहीद हो गये।

भगत सिंह और उन के साथियों की भूख-हड़ताल जारी थी। डॉक्टर चन्द्रा जब भगत सिंह के पास पहुँचे, तो भगत सिंह बहुत कमज़ोर थे और मूँज के सख़्त पट्टे पर लेटे हुए थे। डॉक्टर से उन्हों ने दरी लाने के लिए कहा और डॉक्टर उन सब को 'मेडिकल ग्राउण्ड' पर दरी दिलाने में सफल हो गये।

उन्हीं दिनों एक घटना और हो गयी। भगत सिंह ने एक प्रार्थना-पत्र सरकार को भेजने के लिए जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट मिस्टर ब्रिग्स को दिया। ब्रिग्स ने कहा—"इस में कुछ लाइनें आपत्तिजनक हैं, इन्हें आप निकाल दें तो मैं इसे ऊपर भेज दूँगा।" भगत सिंह तैयार नहीं हुए और उन्हों ने आग्रह किया कि इसे ज्यों-का-त्यों भेज दिया जाये, पर इस के लिए मिस्टर ब्रिग्स तैयार नहीं हुए। दूसरे दिन सुबह-ही-सुबह दैनिक 'ट्रिब्यून' का जो अंक प्रकाशित हो कर आया, उस में यह सब छपा था। यह भगत सिंह के प्रचारतन्त्र का ही एक चमत्कार था।

पत्रों में भूख-हड़ताल का तूफ़ान उमड़ रहा था। यतीन्द्रनाथ की शहादत ने अँगरेज़ी सरकार को परेशान कर दिया था, तो जनता को उत्तेजित। इस प्रकार सरकार भी भूख-हड़ताल की समाप्ति चाहती थी और देश के नेता भी। दोनों अपने-अपने ढंग पर भगत सिंह को प्रभावित करने के प्रयत्न कर रहे थे। तभी सरकार-द्वारा नियुक्त जेल कॅमिटी ने अपनी सिफ़ारिशें सरकार के पास भेज दीं। वे अब नेताओं के भी सामने थीं और भगत सिंह के भी। भगत सिंह भावना के समुद्र में तैरते हुए भी यथार्थ के तट को झट पहचान लेते थे। उन का दृष्टिकोण और चिन्तन-पद्धति कवि की नहीं, वैज्ञानिक की थी। उन्हों ने अपने साथियों को कहा—"बस इस बार इतना ही काफ़ी है। अब

हमें देखना चाहिए कि सरकार इन सिफ़ारिशों के बारे में क्या करती है।" और वे भूख-हड़ताल छोड़ने को तैयार हो गये।

जेल-अधिकारियों के लिए यह वरदान था, उन के भयंकर सिर-दर्द की दवा थी। वे खुश हुए, पर भगत सिंह ने इस खुशी की क़ीमत माँग ली—"हम इस शर्त पर भूख-हड़ताल तोड़ने को तैयार हैं कि हम सब को एक साथ ऐसा करने का अवसर दिया जाये।" बात मान ली गयी। फलों के रस के गिलास तैयार किये गये, पर भगत सिंह ने अपने लिए दाल-फुलका चाहा। डॉक्टर की राय में इतनी लम्बी भूख-हड़ताल के बाद एकदम ऐसी खुराक लेना स्वास्थ्य-नियमों के विरुद्ध था, पर भगत सिंह अपनी बात पर अड़े रहे, तब दाल, फुलका और चावल मँगाया गया।

अब भगत सिंह का आग्रह था कि पहले साथी आरम्भ करें और साथियों का आग्रह था कि पहले भगत सिंह, क्यों कि वे नेता हैं। जेल-अधिकारी इस दृश्य से स्तब्ध थे कि किसी को भी भूख-हड़ताल तोड़ने की जल्दी नहीं है। बन्धुत्व और मनुष्यता का एक अनुपम प्रदर्शन था। डॉ० चन्द्रा ने सुझाव दिया कि भगत सिंह नेता होने के नाते प्रतीक रूप में थोड़ा-सा कुछ चख लें, बाद में दूसरे भी उन का अनुसरण करें।

यह बात मान ली गयी और भगत सिंह ने एक सौ चौदहवें दिन ५ अक्तूबर १९२९ को आनन्दपूर्वक दाल-फुलके का भोजन किया। पत्रों में यह समाचार छपा तो जनता के मन को शान्ति और सान्त्वना मिली। हम एक समय खाना नहीं खाते, तो अजीब-सा लगता है और दूसरे समय तो बेचैन हो जाते हैं। पुराणों की कथा है कि भूख से परेशान हो कर महर्षि विश्वामित्र ने कुत्ते का मांस खा लिया था, पर भगत सिंह और उन के साथी किस धातु के बने थे कि उन्हों ने इतने लम्बे समय भूख के साथ मल्लयुद्ध किया और विजयी हुए। सचाई यह है कि उन में शक्ति और देश-भक्ति का इतना बड़ा अक्षय भण्डार न होता, तो वे इतिहास का नया अध्याय कैसे लिखते?

■ ■

स्पेशल मैजिस्ट्रेट की अदालत में

स्पेशल मैजिस्ट्रेट की अदालत में लाहौर षड्यन्त्र केस के अभियुक्त आ कर खड़े हुए, तो महान् भारत की एकता का गुलदस्ता ही बन गयी वह अदालत। अनेक प्रान्तों के फूल थे इस गुलदस्ते में। भगत सिंह थे, बटुकेश्वर दत्त थे, सुखदेव थे, राजगुरु थे, विजय कुमार सिनहा थे, जितेन्द्र सान्याल थे, जयदेव कपूर थे, आज्ञाराम थे, महावीर सिंह थे, कमलनाथ तिवारी थे, किशोरीलाल थे, शिव वर्मा थे, गया प्रसाद थे, सुरेन्द्र पाण्डे थे, अजय घोष थे, कुन्दन लाल थे, देशराज थे और प्रेमदत्त थे।

साण्डर्स-हत्याकाण्ड यदि चन्द्रशेखर आज़ाद की सैनिक व्यूह-रचना का एक महान् प्रदर्शन था, तो लाहौर षड्यन्त्र केस भगत सिंह की बौद्धिक व्यूह-रचना का एक अनुपम प्रदर्शन था। एक तरफ़ संसार की सब से बड़ी शक्ति अँगरेज़ी हुकूमत थी, उस के विशेषज्ञ थे, उस की पुलिस थी, उस के साधन थे, दूसरी तरफ़ इक्कीस-बाईस साल का एक युवक था, जिस का नाम कुछ दिन पहले ही एक नये सूर्य की तरह भारत के आकाश में उगा था और ऐसे ही उस के कुछ साथी थे। आश्चर्य है कि दोनों में बाहर से कोई जोड़ नहीं था। सरकार उसे मसल सकती थी, पर वह मस्त था और सरकार परेशान थी। हर दाँव पर वह पिट रही थी और वह पीट रहा था।....

भगत सिंह की प्रतिभा और संगठन-शक्ति अपने पूरे उभार पर थी, इस समय हर क्षण इतिहास का था और इतिहास के हर क्षण पर उन का नियन्त्रण था। ये क्षण उन के सामने इसी तरह फैले हुए थे, जैसे जौहरी के सामने हीरे-मोती फैले रहते हैं और अपनी योजना के अनुसार वह जिसे जहाँ चाहता है उठा कर जड़ देता है। लाहौर षड्यन्त्र केस भगत सिंह की प्रतिभा का एक जड़ाऊ अलंकार ही तो है। मुक़दमा बचाव के लिए लड़ा जाता है, पर यहाँ तो मृत्यु का चाव युद्धनीति का दाँव बन कर खेल रहा था। भगत सिंह ने मुक़दमे का पूरा उपयोग करने के लिए एक अपना ट्रिब्यूनल बनाया था, जिस में वे थे, सुखदेव थे, विजय कुमार सिनहा थे और योजनापूर्वक अपने उद्देश्यों का जन-जीवन में प्रचार करने का प्रयत्न किया था।

पहला मोर्चा भूख-हड़ताल का था और वह जीता जा चुका था। उस से देश के इतिहास में पहली वार राजनैतिक क़ैदी का व्यक्तित्व स्वीकार किया गया था। अब उन लोगों के पास आराम-कुरसियाँ थीं, खाना खाने के ट्रेण्ट थे, दूसरे सामान थे, सुविधाएँ थीं और सब से वड़ी वात यह कि यह मान लिया गया था कि वे देश-भक्त हैं और उन का उद्देश्य एक नयी समाज-व्यवस्था के लिए पुराने ढाँचे को तोड़ना है।

अब दूसरा मोरचा आया, जो यह था कि अदालत में मुक़दमे को कार्यवाही देखने और सुनने के लिए अधिक से अधिक दर्शक आयें, जिस से जनता की चर्चाओं में मुक़दमा समाये, प्रचार हो और क्रान्ति का वातारण वने। सरकार इस में वाधा डालती थी, क्यों कि वह तो कुल्हिया में गुड़ फोड़ना चाहती थी, इन लोगों का नाम भी जनता के कानों से दूर रखना चाहती थी, पर वह देख रही थी कि ये तो उस के हृदयों में देव-प्रतिमाओं की तरह प्रतिष्ठित होते जा रहे हैं, हीरो वन रहे हैं। इस के वाद भी वह मजबूर थी। सब-कुछ उस के हाथ में था, पर हो वह रहा था, जो भगत सिंह चाहते थे। अब अदालत में दर्शकों की भारी भीड़ जमने लगी थी और वह एक राजनैतिक महफ़िल बनती जा रही थी।

फ़्री स्टाइल कुश्ती के अखाड़े में जैसे झूमते हुए पहलवान आते हैं, ऐसे ही देश के दीवाने और मृत्यु-दीप के परवाने लोग आते। विलकुल उन पहलवानों की तरह गर्व-भरी मुद्राओं और मस्तानी निगाहों से एक बार चारों ओर देखते। इस के वाद नारे लगाते—इन्क़लाव ज़िन्दाबाद। ऐसे शब्द और स्वर भी होते हैं, जो जीभ से उठते हैं और ऐसे भी जो कण्ठ से आते हैं या फेफड़ों से, पर ऐसे भी शब्द और स्वर होते हैं जो देह, मन और आत्मा के कण-कण का मन्थन कर उठते हैं। इन नारों के शब्द भी, स्वर भी ऐसे ही होते। अदालत क्या गूंजती, भारत का आकाश ही गूंज उठता—इन्क़लाव-ज़िन्दावाद! तव राष्ट्रीय गान आरम्भ होता—वन्दे मातरम्.... ! और फिर वन्दना के इन पावन और मांगलिक स्वरों में बलिदान की कामना ही साकार हो उठती—

"सर-फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है !
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए क़ातिल में है !!
वक्त आने दे बता देंगे तुझे ऐ आसमाँ,
हम अभी से क्या बतायें क्या हमारे दिल में है।
ऐ शहीदे मुल्कों मिल्लत, मैं तेरे ऊपर निसार,
अब तेरी हिम्मत की चर्चा ग़ैर की महफ़िल में है,
सर-फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है !!"

फिर नारा गूंज उठता—इन्क़लाव ज़िन्दावाद! वन्दे मातरम् देश-भक्ति का भाव पैदा करता, तो 'सर-फ़रोशी की तमन्ना' तथा इसी तरह के वहुत से दूसरे गीत देश के लिए सर्वस्व की भावना पैदा करते और 'इन्क़लाव ज़िन्दाबाद' नयी समाज-व्यवस्था के

निर्माण का चाव जगाता। सर्व-सत्ता-सम्पन्न सरकार का प्रतिनिधि आप-ही-आप अपनी आँखों में छोटा हो जाता और क़ैदी महान् हो जाते। उस दृश्य की कल्पना करती हूँ, तो मुझे याद हो जाती है वह अदालत, जिस में बाकूनिन को ज़िन्दा जलाया गया था। वह अदालत जिस में ईसा को क्रॉस पर टाँगने का दण्ड दिया गया था, वह अदालत जिस ने प्रह्लाद को जलते खम्भे से लिपटने का निर्णय दिया था। ऐसी ही तो थी यह अदालत भी और उन अदालतों की तरह, नहीं जानती थी कि इतिहास की अदालत में वह युग-युगों तक फाँसी पाती रहेगी। अब न भगत सिंह हैं, न मैजिस्ट्रेट श्रीकृष्ण, पर भगत सिंह के चेहरे की चमक प्रतिदिन बढ़ रही है, तो पुण्यात्मा श्रीकृष्ण का नाम अपने चेहरे की कालिमा ही रोज़ बढ़ा रहा है। हम आज में इतने खो जाते हैं कि इतिहास के कल का ध्यान नहीं कर पाते और अतीत के कल से पाठ नहीं पढ़ते, इसी से हमारा आने वाला कल काला हो जाता है।

'मॉडर्न रिव्यू' के सम्पादक श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' के शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी। इस में इस नारे को अराजकता और खून-खराबी का प्रतीक बताया और निरर्थक भी। भगत सिंह मुक़दमे में व्यस्त रहते भी इस पर चुप कहाँ रह सकते थे? उन्हों ने अपनी और दत्त की ओर से एक पत्र में "आप सरीखे परिपक्व विचारक, अनुभवी, यशस्वी सम्पादक, जिन का सारा देश सम्मान करता है—की रचना का प्रतिवाद करना धृष्टता" मानते हुए लिखा—"इस नारे की रचना हम ने नहीं की। यही नारा रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन में प्रयोग किया गया है और प्रसिद्ध समाजवादी लेखक ऑप्टन सिंकलेयर ने अपने उपन्यासों 'बोस्टन' और 'आइल' में यही नारा कुछ अराजकतावादी क्रान्तिकारी पात्रों के मुख से कहलाया है।"

हिंसा और विप्लव को क्रान्ति का पर्याय मानने से इनकार करते हुए भगत सिंह ने आगे लिखा—"हम यतीन्द्रनाथ ज़िन्दाबाद का नारा लगाते हैं। इस से हमारा अभिप्राय यह होता है कि उन के जीवन के महान् आदर्शों तथा उस अथक उत्साह को सदा-सदा के लिए बनाये रखें, जिस ने इस महानतम बलिदानी को उस आदर्श के लिए अकथनीय कष्ट झेलने एवं असीम बलिदान कर ने की प्रेरणा दी। यह नारा लगाने से हमारी यह लालसा प्रकट होती है कि हम भी अपने आदर्शों के लिए ऐसे ही अचूक उत्साह को अपनायें और यही वह भावना है, जिस की हम प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार हमें 'इन्क़लाब' शब्द का अर्थ भी कोरे शाब्दिक रूप में नहीं लगाना चाहिए।" इस के बाद इन्क़लाब-क्रान्ति की व्याख्या करते हुए लिखा—"क्रान्ति शब्द का अर्थ प्रगति के लिए परिवर्तन की भावना एवं आकांक्षा है। लोग साधारणतया जीवन की परम्परागत दशाओं के साथ चिपक जाते हैं और परिवर्तन के विचार-मात्र ही से काँपने लगते हैं। यही वह अकर्मण्यता की भावना है, जिस के स्थान पर क्रान्तिकारी भावना जाग्रत करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अकर्मण्यता का वातावरण निर्माण हो जाता है और रूढ़िवादी शक्तियाँ मानव-समाज को कुमार्ग पर ले जाती

हैं। ये परिस्थितियाँ मानव-समाज की उन्नति में गतिरोध का कारण बन जाती हैं। क्रान्ति की इस भावना से मनुष्य-जाति की आत्मा स्थायी तौर पर ओत-प्रोत रहनी चाहिए, जिस से कि रूढ़िवादी शक्तियाँ मानव-समाज की प्रगति की दौड़ में बाधा डालने को संगठित न हो सकें। यह आवश्यक है कि पुरानी व्यवस्था सदैव बदलती रहे और वह नयी व्यवस्था के लिए स्थान रिक्त करती रहे, जिस से कि यह आदर्श व्यवस्था संसार को बिगड़ने से रोक सके। यह है हमारा वह अभिप्राय जिस को हृदय में रख कर हम 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' का नारा ऊँचा करते हैं।"

अपनी कमज़ोरी और सरकारी अत्याचारों की शहज़ोरी से इस केश में सरकारी गवाहों की एक पूरी टोली तैयार हो गयी थी। उन से जिरह करना और इस प्रकार उन की बातों का प्रचार कर क्रान्तिकारी वातावरण तैयार करना भगत सिंह की प्रचार-योजना का ही एक अंग था। इस योजना का चमत्कार सिद्ध हुए सरकारी गवाहों के बयान। पुलिस के बड़े अफ़सरों ने अपनी पूरी कारीगरी से उन्हें इस तरह तैयार कराया था कि सरकार जनता से यह कह सके कि इन ख़ूनी और सिर-फिरे लोगों ने उपद्रव मचाने की जो कोशिश की थी, उसी से सरकार को दमन करना पड़ा। भगत सिंह ने इन बयानों का एक उपयोग तो यह किया कि नये क्रान्तिकारी इन से काम करना सीखें और दूसरा यह कि जनता यह जाने कि हमारे क्रान्तिकारी कितने साहसी हैं। यही नहीं कि समय पर वे किसी अँगरेज़ को गोली मार देते हैं, बल्कि उन के पास एक विशाल योजना और गम्भीर उद्देश्य है।

जब सरकारी गवाह फणीन्द्रनाथ घोष कटघरे में आये और दल के रहस्य खोलने लगे, तो शिव वर्मा ने उन पर जिरह करने में कमाल कर दिया। उन्हों ने इस तरह प्रश्न पूछे कि फणीन्द्र घोष धीरे-धीरे यह बताने के लिए विवश हो गये कि बम कैसे बनता है। अदालत की कार्यवाही तब तक प्रति दिन पत्रों में छपा करती थी। इस प्रकार नयी पीढ़ी के क्रान्तिकारियों को शिव वर्मा की कारीगरी से बम बनाने की तरकीब प्राप्त हो गयी।

इस प्रकार योजना का एक बहुत ही कूटनीतिक, पर बहुत ही सूक्ष्म पहलू था अदालत में काकोरी-दिवस, लेनिन डे, पहली मई, लाजपत राय-दिवस आदि मनाना। पुराने क्रान्तिकारी श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा की जर्मनी में मृत्यु हो जाने पर भी अदालत में शोक-सभा हुई और हिन्दुस्तान एसोसियेशन ऑव सेण्ट्रल युरॅप, बर्लिन के नाम ५ अप्रैल १९३० को निम्नलिखित समवेदना तार भेजा—

प्लीज़ कन्वे प्रॉपर क्वार्टर्स ऑवर सिंसियर सारोज ऐट सैड डिमाइस ऑव कॉमरेड श्यामजी कृष्ण वर्मा वन ऑव द पायनियर्स सोशलिस्ट-रेवोल्यूशनरीज़ मूवमेण्ट इन इण्डिया। हिज़ लाइफ़ लांग फ़ाइट इन काज़ ऑव इण्डियाज़ इमेंसिपेशन इज़ ए नेशनल एसैट दैट वुड एवर इन्स्पायर वर्कर्स इन बैटल फॉर फ़ीडम।

लाहौर कॉन्स्पीरेसी केस
अण्डर ट्रायल्स"

इसी प्रकार हंगरी में एक राजनैतिक क़ैदी के भूख-हड़ताल में मरने पर भी शोक-दिवस मनाया और इस प्रकार अपने राष्ट्रीय प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों से जोड़ दिया। इन अवसरों पर भगत सिंह और उन के साथी सन्देश देते थे और दिन मनाने का ऐसा ढंग अपनाते थे कि अदालत की कार्यवाही में इन्हें रेकॅर्ड किया जाये। भगत सिंह अपनी चतुरता से सरकार को वेवक़ूफ़ बनाते जा रहे थे और सरकार अपनी चतुरता के नशे में बेवक़ूफ़ बनती जा रही थी। सरकार सोचती थी कि इन सन्देशों से इन लोगों का राजद्रोह सिद्ध होता है और फाँसी देने की राह साफ़ हो रही है, पर भगत सिंह सोचते थे—इन से हमारा रूप जनता के सामने आता है कि हम उस के हैं, उस के लिए ही जीवन दे रहे हैं। इन बयानों से सरकार मुक़दमे को मज़बूत करने का जो काम ले रही थी, उस की चिन्ता न भगत सिंह को थी, न अधिकांश दूसरे साथियों को, क्यों कि वे तो फाँसी पर झूलने के लिए ही घर से निकले थे।

श्रीमती सुभद्रा जोशी के इन शब्दों में इन वीरों के मानस का भी रेखा-चित्र है और उस अदालत का भी—"अदालत में दोपहर के खाने के समय सम्बन्धियों को अभियुक्तों के साथ मिलने की अनुमति होती थी। निकट के एक कमरे में मिलने वालों को बैठा दिया जाता था। हम लोग मिल-मिला कर कुछ ऐसा ढंग निकाल लेते थे कि जिस दिन मुझे सरदार भगत सिंह से मिलना होता था, उस दिन उन के किसी सम्बन्धी को साथ ले लिया जाता था। उस समय खाने-पीने का सामान देने पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं था, परन्तु नियम यह था कि वह सामान वहीं खाना होता था। मैं प्रतिदिन एक-दो ऐसी चीज़ें ले जाती थी, जो जेल में नहीं मिलती थीं और जिन्हें सरदार और उन के साथी बहुत पसन्द करते थे। अनेक बार तो वे स्वयं ही बता दिया करते थे कि कल यह चीज़ लाना। दही-बड़े तो सब बड़े चाव से खाते थे। सरदार भगत सिंह को केक बहुत पसन्द था। सरदार को अपने हाथ से दूसरों को खिलाने का बहुत चाव था। एक दिन उन्हों ने मुझे केक का टुकड़ा खिलाने की बहुत कोशिश की, पर उस में अण्डा था, इस लिए मैं न खा सकी। दोपहर के खाने के समय का यह डेढ़-दो घण्टा अच्छी-खासी दिल्लगी में बीत जाता था।

मृत्यु जिन के सिर पर अपने भयानक रूप में मँडरा रही थी, कालेपानी का दण्ड जिन के भाग्य में लिखा जा चुका था, उन की यह हँसी और अट्टहास-भरी गूँज बस देखते ही बनती थी। भारतमाता के इन लाड़लों को अदालत के कटघरे में अपनी मृत्यु के साथ खिलवाड़ करते देख कर प्रत्येक व्यक्ति दाँतों-तले उँगली दबाने के लिए विवश हो जाता था। अदालत की ओर से उन की उपेक्षा और मुक़दमे की ओर से उन की तटस्थता कुछ ऐसी थी मानो उन के लिए कुछ हो ही न रहा हो। केवल व्यंग्य के रूप में सरदार भगत सिंह कोई ऐसी फुलझड़ी छोड़ दिया करते थे या कोई ऐसा बढ़िया उलझन-भरा प्रश्न उठा देते थे कि मैजिस्ट्रेट भी चकरा जाता था।"

पढ़ कर आश्चर्य होता है कि यह मौत का फन्दा जकड़ने को बेचैन किसी अदालत

के लंच का वर्णन है या किसी शानदार फ़िल्म के इण्टरवल का ? सच यह है कि विश्व के मुक़दमों के इतिहास में भगत सिंह के कामों ने लाहौर षड्यन्त्र केस को ऐसी ऊँचाई पर बैठा दिया है कि जहाँ तक दूसरा मुक़दमा नहीं पहुँचता, न अपनी सरसता की दृष्टि से, न सजीवता की दृष्टि से, न सफलता की दृष्टि से। १९२४ से १९२९ तक खूनी साम्प्रदायिक दंगों का जाल रच कर राष्ट्रीयता के वातावरण को धुँधला करने के लिए अँगरेज़ी हुकूमत ने योजना-पूर्वक जो कीचड़ उछाली थी, साण्डर्स-वध, असेम्बली बम-काण्ड के द्वारा भगत सिंह ने उसे समेटा और इस मुक़दमे के द्वारा धो कर फेंक दिया। राजनीति के सूर्य को जो पूर्ण ग्रहण लग गया था, वह उस से उभर आया और पूर्ण प्रकाश से चमक उठा। भगत सिंह क्रान्तिवीर तो हैं ही, पर विश्व की अदालतों के इतिहास के भी हीरो हैं।

अदालत का कर्णधार न्यायाधीश होता है, पर इस अदालत के कर्णधार तो भगत सिंह थे। श्रीमती सुभद्रा जोशी के ही शब्दों में—"न्यायालय के कमरे में न्यायाधीश ज्यों ही कुरसी पर आ कर बैठते, वह राष्ट्रीय गीतों और नारों से गूँज उठता। चारों ओर सन्नाटा छा जाता, न्यायाधीश सिर झुकाये कुरसी पर मौन बैठे रहते, वकील एक-दम मौन हो, अपने स्थान से हिलते तक न थे। अर्दली, सिपाही और दूसरे सरकारी कर्मचारी भी सिर झुकाये खड़े या बैठे रहते थे। अभियुक्तों के सम्बन्धियों पर एक विचित्र-सी गम्भीरता छा जाती थी। सरदार और उन के साथी अदालत पर पूरी तरह छा जाते थे। सारा कमरा ही बलिदान के रंग में रँगे होने का दृश्य उपस्थित करता था।"

यह अदालत उन दिनों लाहौर की सब से दिलचस्प जगह थी। अदालत का मुख्य द्वार बिलकुल सड़क पर था। कॉलेजों-स्कूलों के विद्यार्थी छुट्टी होते ही दौड़ कर वहाँ आ जाते थे और इस तरह अदालत के बाहर भी अच्छी-खासी भीड़ जुड़ जाती थी। भगत सिंह खूब ज़ोर से बोलते थे कि आवाज़ बाहर तक पहुँचे। जब अभियुक्त भीतर कमरे में गाते थे, तो बाहर खड़े लोग भी गाने लगते थे। शहीदों के शहीद कवि श्री ओमप्रकाश की ये पंक्तियाँ उन दिनों घर-घर गायी जाती थीं—

> कभी वो दिन भी आयेगा कि जब आज़ाद हम होंगे,
> ये अपनी हाँ ज़मीं होगी, यह अपना आस्माँ होगा !
> शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले,
> वतन पर मरने वालों का यही बाक़ी निशाँ होगा !!

यों ही मुक़दमे का मज़ाक़ चल रहा था कि एक दिन अचानक सीन बदल गया। सरकारी गवाह कटघरे में आया, तो उस ने अभियुक्तों की तरफ़ देख कर मूँछें ऐंठीं और व्यंग्य किया। अभियुक्त दहाड़ उठे—"शेम ! शेम !!"

प्रेमदत्त अभियुक्तों में सब से छोटी उम्र के थे। उन्हों ने अपना जूता जयगोपाल पर फेंक मारा। मैजिस्ट्रेट ने अभियुक्तों के हाथों में हथकड़ी लगाने का हुक्म दिया।

इस पर हंगामा मच गया और अदालत मुलतवी हो गयी। दूसरे दिन अभियुक्तों ने अदालत में आने से इनकार कर दिया। पुलिस पूरी ताक़त से उन पर टूट पड़ी कि ज़वरदस्ती उन्हें लॉरी में लाद ले, पर ये लोग भी चून के वने न थे। पुलिस पूरी जद्दोज़हद करने के वाद कुल पाँच अभियुक्तों को लॉरी में लाद सकी। लॉरी वोर्स्टल जेल से सेण्ट्रल जेल के द्वार पर पहुँच गयी, पर पुलिस सव-कुछ कर के भी उन्हें लॉरी से नीचे न उतार सकी। वे आपस में इस तरह गुँथ गये कि पहाड़ की चट्टान हो गये। इतनी वड़ी चट्टान उस छोटे दरवाजे से कैसे पार होती ? अदालत उस दिन भी मुलतवी हो गयी।

दूसरे दिन पुलिस अफ़सरों ने वादा किया कि अदालत में पहुँचने पर हथकड़ियाँ खोल दी जायेंगी। सव अदालत में आ गये, पर वादा पूरा न हुआ। लंच के समय भगत सिंह ने हँस कर कहा—"यारो, खाना तो खा लेने दो।" हथकड़ियाँ खोल दी गयीं, पर लंच के वाद अभियुक्तों ने हथकड़ी लगवाने से इनकार कर दिया। मैजिस्ट्रेट इस के लिए तैयार ही था। उस ने पहले से तैयार पठानों को शिकारी कुत्तों की तरह अभियुक्तों पर छोड़ दिया। भयंकर और क्रूरतम पिटाई हुई। भगत सिंह को आठ पठान लिपट गये। अदालतों के इतिहास का यह घृणित दृश्य था। जो कुछ हुआ था, राक्षसी कार्य था, पर इसे काफ़ी नहीं समझा गया। पुलिस और पठान जेल पहुँचे और वहाँ पर भी अभियुक्त पीटे गये। यहाँ भी मुख्य निशाना भगत सिंह पर ही था। पुलिस ने पूरी ज़ोर आज़मायश के वाद रिपोर्ट की—"इन्हें मार डाला जा सकता है, पर किसी तरह भी अदालत में नहीं लाया जा सकता।"

अदालत में पिटाई के समय वहुत से स्त्री-पुरुष दर्शक थे। वात की वात में वात शहर-भर में फैल गयी और शाम को एक वहुत ज़ोरदार जलसा हुआ। दूसरे दिन देश-भर के अखवार इस खूनी खवर से भर गये और सम्पादकीयों में इस काण्ड की घोर निन्दा की गयी। विदेशी अखवारों में भी यह 'न्यूज़' उछली। पोलैण्ड की एक महिला ने इस केस की पूरी कार्यवाही भेजने के लिए डिफ़ेन्स कॅमिटी को लिखा। यह कॅमिटी इसी केस के लिए वनायी गयी थी। देश-भर से डिफ़ेन्स कॅमिटी के पास धन आने लगा। ख़ास वात यह थी कि ग़रीव से ग़रीव आदमी ने अपनी हैसियत के अनुसार धन दिया। कोई तीस हज़ार आदमियोंने छोटी-छोटी रक़में दी थीं। सारे देश का मानस इस केस के साथ जुड़ गया और वह विश्व की चर्चा का विषय वन गया। जापान, कनाडा और साउथ अमेरिका से भी आर्थिक सहायता प्राप्त हुई।

सरकार झुकी और एक लम्वे अवरोध के वाद फिर मुक़दमा चला। इस के वीच सर्वश्री सुभाषचन्द्र वोस, वावा गुरदित्ता सिंह, के० एफ० नरीमन, राजा कालाकाँकर, रफ़ीअहमद किदवई, मोहनलाल सक्सेना अदालत में आये। पण्डित मोतीलाल नेहरू दो वार आये और एक वार तो वे अभियुक्तों के वीच वैठ वहुत ही महत्त्वपूर्ण वातचीत कर गये। अभियुक्तों को उलझाने के लिए मुक़दमा चलाया गया था, पर उलझ

गयी थी सरकार ही। देश के युवकों का मन क्रान्तिकारी दल से जुड़ता जा रहा था, जनता जाग उठी थी, वातावरण में राजनैतिक गरमी आ चली थी और महात्मा गान्धी काँग्रेस के मंच से उस गरमी का उपयोग करने के लिए नये आन्दोलन का ताना-वाना वुनने लगे थे। सरकार की परेशानी का रहस्य यह था कि अभी तो मुक़दमा मैजिस्ट्रेट की अदालत में अपनी आरम्भिक कार्यवाही ही पूरी कर रहा है। इस के वाद उसे सेसन जज की अदालत में जाना था, वहाँ से हाईकोर्ट में और जव मैजिस्ट्रेट की अदालत ने ही देश-भर में आग लगा दी है, तो हाईकोर्ट तक पहुँचते तो यहाँ ज्वालामुखियाँ फूट पड़ेंगी। इन ज्वालामुखियों की कल्पना से ही सरकार काँप उठी थी, हड़वड़ा उठी थी और नाक कटा कर भी जान वचाने की फ़िक्र में थी। यह भगत सिंह के वुद्धि-कौशल और रणनीति का एक महान् ऐतिहासिक चमत्कार था कि असहाय अभियुक्त जीत रहे थे और सर्वशक्तिमान् सरकार हार रही थी।

उन्हीं दिनों भगत सिंह ने एक और धड़ाका कर दिया। जेल-सुधार-कॅमिटी ने जेलों में व्यवहार के सम्बन्ध में जो सिफ़ारिशें की थीं, उन्हें लागू करने के लिए पहले सरकार ने नवम्बर १९२९ का समय घोषित किया, फिर इसे दिसम्बर के लिए स्थगित किया, पर जनवरी १९३० वीत जाने पर भी कोई कार्यवाही नहीं हुई। इस पर भगत सिंह ने ४ फ़रवरी १९३० को एक सप्ताह की नोटिस देने के वाद फिर भूख-हड़ताल कर दी। सरकार ने घवरा कर एक पत्र प्रकाशित कर नया आश्वासन दिया। भगत सिंह सहृदय और सन्तुलित थे, उन्होंने भूख-हड़ताल तोड़ दी। इस के वाद भी उन्हें कुछ शिकायतें थीं। भगत सिंह ने फिर अदालत में जाना वन्द कर दिया। इस पर 'सिविल मिलिट्री गज़ट' नामक पत्र में एक वक्तव्य छपा कि अभियुक्तों ने अदालत का वहिष्कार कर दिया है। यह सफ़ेद झूठ था। इस पर ११ फ़रवरी १९३० को भगत सिंह ने एक पत्र में अपनी और वी० के० दत्त की तरफ़ से स्पेशल मैजिस्ट्रेट को लिखा—

"हमारे साथी अभियुक्त हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न और दूर-दूर के प्रान्तों के रहने वाले हैं, इस लिए उन को अपने वन्धुओं से मुलाक़ात की सुविधाएँ मिलनी चाहिए। श्री वी० के० दत्त और कमलनाथ तिवारी ने कुमारी लज्जावती से मुलाक़ात करने की इच्छा प्रकट की थी, लेकिन उन को इस आधार पर मुलाक़ात करने की स्वीकृति नहीं दी गयी कि वे न तो इन दोनों की रिश्तेदार हैं और न वकील ही। वाद में इन लोगों का मुख्तारनामा (प्रतिनिधित्व करने का अधिकार-पत्र) प्राप्त कर लेने पर भी उन्हें मुलाक़ात की स्वीकृति नहीं दी गयी। इस से साफ़ प्रकट है कि अभियुक्तों को अपनी सफ़ाई पेश करने की पूरी सुविधाएँ नहीं दी जा रही हैं। साथ ही क्रान्तिकुमार, जो हमारी डिफ़ेन्स कॅमिटी के लिए वहुत उपयोगी काम कर रहे थे और हमारे लिए प्रति-दिन काम आने वाली चीज़ें भी ला कर दे रहे थे, उन को एक झूठा मुक़दमा (चटनी में रख कर पिस्तौल की गोली लाने का) वना कर जेल में डाल दिया गया है। यही

नहीं जब वह झूठा मुक़दमा उन के विरुद्ध सिद्ध नहीं हो सका, तो गुरदासपुर में उन के विरुद्ध धारा १२४ ए में एक नया मुक़दमा खड़ा कर दिया गया है।

मैं स्वयं पूरे समय के लिए वकील नहीं रख सकता, इस लिए मैं चाहता था कि मेरे आदमी अदालत में रहें, लेकिन विना कोई कारण वताये उन्हें स्वीकृति न दे कर लाला अमरदास एडवोकेट को जगह दे दी गयी हैं। इन्साफ़ के नाम पर खेले जाने वाले इस नाटक को हम हरगिज़ पसन्द नहीं करते, क्यों कि इस से हमें अपनी सफ़ाई पेश करने में कोई सुविधा या लाभ नहीं पहुँचता।

एक और बड़ी शिकायत हमें अखवार न मिलने की है। हवालाती (अण्डर-ट्रायल) क़ैदियों से दण्ड प्राप्त क़ैदियों-जैसा व्यवहार नहीं किया जा सकता। इन को रोज़ाना कम से कम एक अखबार ज़रूर मिलना चाहिए। अँगरेज़ी न जानने वालों के लिए भी हम एक दैनिक चाहते हैं, इस लिए विरोध के तौर पर हम 'ट्रिव्यून' भी वापस कर रहे हैं। इन्हीं कारणों से हम ने २९ जनवरी १९३० को अदालत में न जाने की घोषणा कर दी थी। इन असुविधाओं के दूर होते ही हमें अदालत में आने में कोई आपत्ति न होगी।" उन्हीं दिनों का एक सजीव दृश्य, क्रान्तिकारी काशीराम के शब्दों में—

"ठण्ड के दिन थे, दिसम्वर का महीना। लाहौर षड्यन्त्र-केस की कार्यवाही सेण्ट्रल जेल के अन्दर चहारदीवारी के दक्षिण कोने की सीमा में, एक वैरक में हुआ करती थी। वैरक वहुत लम्बी-चौड़ी थी। दीवार में एक वड़ा-सा फाटक था, उसी में एक छोटी खिड़की-द्वारा दर्शकों के अन्दर आने-जाने का रास्ता था।

यथा समय मैं अदालत में दर्शकों के वीच जा कर खड़ा हो गया। भगत सिंह के सन्देश भेजने पर मैं यहाँ आया था। मेरे पहुँचते ही अभियुक्तों के कटघरे में हलचल-सी मच गयी। आँखों ने आँखों से ही नमस्ते की और कुशल-समाचार पूछा। सब साथी खिल उठे। भगत सिंह उस दिन मौज में थे, जामे-शहादत की मस्ती में, दूर से ही चोंच दिखानी शुरू की। कटघरे में ज़ोर का एक क़हक़हा लगा, मैजिस्ट्रेट और पुलिस अधिकारी चौंके। पूछा—"क्या मामला है?" सब अपनी धुन में, जवाव कौन देता? पुलिस चौकन्नी हो कर इस का कारण खोजने लगी, इधर मेरा भी खुशी और हँसी से वुरा हाल था, पर मैं न तो हँस सकता था और न उन लोगों के मज़ाक़ में हिस्सा ले सकता था, बल्कि पुलिस की तेज़ निगाहों से वचने के लिए दर्शकों की भीड़ में छिपने की कोशिश कर रहा था।

क़ैदियों के द्वारा इस प्रकार लगातार गड़वड़ करने के कारण अदालत की कार्यवाही का चलना असम्भव हो गया। थोड़ी देर के लिए अदालत स्थगित करनी पड़ी। वैरक के पीछे कैम्प लगे थे। वहीं पर बन्दियों से मिलने का भी प्रबन्ध था। मैं उधर ही जा पहुँचा। अजव दृश्य था। सब साथी परेड की मुद्रा में खड़े थे, मानो फ़ौजी जवान मैदान में किसी निरीक्षण की तैयारी में हों।

मैं सीधा भगत सिंह के पास पहुँचा। मेरे कुछ भी कहने से पहले ही भगत सिंह फ़ौजी तरीक़े से एक क़दम आगे बढ़े, फ़ौजी सैल्यूट मारा और हम बग़लगीर हुए। भगत सिंह के हाथ में एक रसगुल्ला था, वह उस ने मेरे मुँह में दे दिया। मैं रसगुल्ला खाने को हुआ, तो वह बोला—'अबे, सब नहीं, आधा।' मैं बोल तो सकता नहीं था और रसगुल्ला छोड़ना भी नहीं चाहता था, पर वह बार-बार कह रहा था—'अबे आधा ही।' उस की उँगलियाँ मेरे दाँतों के बीच कटी जा रही थीं, पर हम दोनों ही अपनी-अपनी ज़िद पर अड़े थे। आख़िर हार कर मैं ने उस की उँगलियाँ छोड़ीं और आधे रसगुल्ले पर ही सन्तोष किया। आधा वह ख़ुद खा गया। इस के बाद उसी फ़ौजी तरीक़े से एक क़दम पीछे हट कर लाइन में खड़ा हो गया।

इसी प्रकार एक के बाद एक सभी साथी आगे बढ़े। सभी के हाथ में खाने की कोई-न-कोई चीज़ थी। सैल्यूट, बग़लगीर होना, फिर उसी तरह खाना। राजगुरु ने मुझे घेर लिया, लिपट गया। मुझे ऐसा लगा कि कुश्ती लड़ने पर उतारू है। बहुत ख़फ़ा हो कर बोला—'तुम जो कुछ लाते हो जयदेव कपूर के वास्ते ही लाते हो। उसे शाल दिया, पेन दिया' और पता नहीं क्या-क्या बकता रहा। उस दिन वह बड़े धड़ल्ले से अँगरेज़ी बोल रहा था। हम लोग साल-डेढ़ साल बाद मिले थे, ख़ुशी में सब-कुछ भूले हुए। रसगुल्ला (मिस्टर नियाज़ अहमद, पंजाब ख़ुफ़िया पुलिस के मुख्य अधिकारी) कब से हमारे पास आ कर हमारी बातें सुन रहे थे, इस का हमें पता ही न लगा। मुझे पता लगा तब, जब रसगुल्ला महाशय मुझ से कहने लगे—'मालूम होता है आप राज-गुरु को बाहर से ही जानते हैं।' मैं ने कहा—'हो सकता है, जयदेव मेरा भाई है, यह उस से मिलने आते होंगे। मैं तो पहचान न सका, इन्हों ने ही पहचान लिया।'

नियाज़ अहमद ने जोश के साथ कहा—"आई विल पुट यू बिफोर द कोर्ट ऐज़ विटनेस ऐण्ड यू विल हैव टू टेल दैट राजगुरु नोज़ इंगलिश ऐण्ड हिन्दी—मैं तुम्हें कचहरी में गवाह के तौर पर पेश करूँगा, यह बतलाने के लिए कि राजगुरु अँगरेज़ी और हिन्दी दोनों जानता है।" क्रोध से मेरी आँखें लाल हो उठीं, यह देख कर नियाज़ अहमद सकपका गया। मैं ने ज़रा तेज़ी में ही कहा—'तुम किस से बातें कर रहे हो, दिमाग़ ख़राब हो गया है क्या? यू प्लीज़ गो अवे फ़्रॉम हियर—तुम मेहरबानी कर के यहाँ से चले जाओ।' वह बेचारा चुपचाप वहाँ से चला गया।

■ ■

और अब ट्रिब्यूनल के सामने

मरता क्या न करता जैसी हालत हो गयी थी पिछले छह महीनों में सरकार की। भूख-हड़ताल और यतीन्द्र नाथ के बलिदान ने उस के मुँह पर तार-कोल पोत दिया था और मैजिस्ट्रेट की अदालत में भगत सिंह की सूझ-वूझ ने उसे कहीं का न छोड़ा था। खाज वाला कुत्ता जैसे मक्खियों से वचता फिरता है, वैसी ही हालत सरकार की थी। वह किसी भी तरह अव इस मुक़दमे से पीछा छुड़ाना चाहती थी।

१२ सितम्वर १९२९ को अँगरेज़ी सरकार ने उसी केन्द्रीय असेम्वली में एक विल पेश किया, जिस में भगत सिंह ने ८ अप्रैल १९२९ को वम फेंके थे। विल का भाव यह था कि यदि अभियुक्त अपने को अदालत में आने के अयोग्य वना लें, तो न्यायाधीशों को अधिकार होगा कि वे उन की अनुपस्थिति में भी अदालत का काम जारी रखेंगे। सरकार की चाल यह थी कि अदालत में दुर्व्यवहार करने पर अभियुक्त अदालत में आना वन्द कर देंगे और इस प्रकार मुक़दमा जल्दी समाप्त हो जायेगा।

इस विल पर असेम्वली क्षेत्रों में जो चर्चा हुई वह वहुत गरम थी। उस समय असेम्वलो में विरोधी दल के नेता पण्डित मोतीलाल नेहरू थे। उन के साथियों में भी अनेक तेजस्वी वक्ता थे। जो सदस्य मुलायम थे, वे भी इस विल पर सरकार का साथ नहीं दे सकते थे, क्यों कि भगत सिंह ने इस मुक़दमे को देशव्यापी ख्याति दे दी थी। जनता पूरी तरह क्रान्तिकारियों के पक्ष में थी। इस लिए सरकार के पक्ष में जाने वाला कोई भी सदस्य अलोकप्रिय हुए विना न रह सकता था। असेम्वली का वातावरण इतना विरोधी था कि सरकार ने चार दिन वाद ही १६ सितम्वर १९२९ को अपना विल लोकमत के लिए प्रसारित करना स्वीकार कर लिया। साथ ही सरकार ने यह भी कह दिया कि आवश्यकता हुई, तो वह अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करेगी।

१ मई १९३० को गवर्नर जनरल लॉर्ड इरविन ने 'लाहौर षड्-यन्त्र केस आर्डीनेन्स' के नाम से एक विशेष आदेश जारी किया। इस के अनुसार तीन जजों का स्पेशल ट्रिब्यूनल नियुक्त किया गया। इस ट्रिब्यूनल को अधिकार दिया गया कि अभियुक्तों की अनुपस्थिति में, सफ़ाई के वकीलों

और सफ़ाई के गवाहों के उपस्थित हुए विना और सरकारी गवाहों पर जिरह के अभाव में भी वह मुक़दमे का फ़ैसला एक-तरफ़ा कर सकता है। साफ़-साफ़ वात यह कि मई १९२९ में श्री हैरीसन की अध्यक्षता में जलियाँवाला काण्ड के अभियुक्तों का फ़ैसला करने के लिए जो फ़ौजी ट्रिव्यूनल वनाया गया था, इसे उस से भी अधिक नादिरशाही अधिकार प्राप्त थे। हाँ, दो वातों में दोनों ट्रिव्यूनल समान थे। पहली यह कि उस में भी दो अँगरेज़ और एक मुसलमान जज थे और इस में भी और वह भो मई महीने में घोषित हुआ था और यह भी।

नया ट्रिव्यूनल पंजाव हाईकोर्ट ने वनाया था और उस में निम्नलिखित सदस्य थे —जस्टिस जे० कोल्डस्ट्रीम, प्रेसीडेण्ट; जस्टिस आग़ा हैदर, सदस्य; जस्टिस जी० सी० हिल्टन, सदस्य।

सर टेकचन्द वख़्शी उन दिनों हाईकोर्ट के जस्टिस थे। उन्हों ने ट्रिव्यूनल की नियुक्ति के दूसरे ही दिन भगत सिंह के पिता सरदार किशन सिंह से कहा था—"हम ने सरकार की जाढ़ में आग़ा हैदर का जम्बूड़ अड़ा दिया है। निश्चिन्त रहो, अव बेटे को फाँसी नहीं हो सकती।" ५ मई १९३० को ट्रिव्यूनल की पहलो वैठक हुई। मिस्टर एम० सी० एच० कार्डननोड सरकारी वकील थे।

भगत सिंह पर उस ट्रिव्यूनल की नियुक्ति का वहुत अच्छा असर पड़ा, जो उन की मृत्यु को जल्दी पास लाने के लिए वनाया गया था। उन्हों नें अपने साथियों से कहा कि हम ने मुक़दमे में जो रुख़ अख़्त्यार किया और राजनैतिक दाँव चला, आर्डीनेन्स इस वात का सवूत है कि सरकार उस से परेशान हुई। इस प्रकार यह हमारी नैतिक विजय है। उन की ख़ुशी का दूसरा आधार यह था कि इस आर्डीनेन्स से अँगरेज़ी सरकार के क़ानून का खोखलापन सिद्ध होता था। भगत सिंह की दृष्टि कितनी लक्ष्यवेधी थी, यह उन के इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है, पर उन का क्रान्तिकारी नेतृत्व यहीं नहीं रुका, इस से भी आगे वढ़ गया। उन्हों ने साफ़-साफ़ कहा कि अव हमें शुद्ध और पूर्ण क्रान्तिकारी व्यवहार का परिचय देना चाहिए और अव अदालत से अपना सम्वन्ध विच्छेद कर लेना चाहिए। उन की दृष्टि थी कि अदालत से असहयोग कर के हम अँगरेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ एक तरह से अविश्वास का प्रस्ताव पास करेंगे। उन की दृष्टि की गहराई इस वात को समझने-परखने में थी। पहली जनवरी १९३० को काँग्रेस अपने लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास कर चुकी थी, २६ जनवरी १९३० को भारत के नगर-नगर और गाँव-गाँव में आज़ादी की प्रतिज्ञा गम्भीरता और जोश के साथ दोहरायी जा चुकी थी, १२ मार्च १९३० को गान्धी जी अपने ८१ चुने हुए साथियों के साथ दाण्डी मार्च आरम्भ कर उसे पूरा कर चुके थे, देश के हर नगर क़स्वे और गाँव में नमक क़ानून तोड़ा जा चुका था, तोड़ा जा रहा था या तोड़े जाने की तैयारी हो रही थी और इस प्रकार भारत अपने इतिहास के सव से वड़े, व्यवस्थित और गहरे खुले आन्दोलन से उफन उठा था। इस समय ट्रिव्यूनल की अदालत का

बहिष्कार करना उस विराट् जन-आन्दोलन को वल देना भी था और उस से वल ग्रहण करना भी था।

सचाई यह कि इस समय भगत सिंह कोई व्यक्ति न रहे थे। वे जनता के मानस को समझने, परखने और वल देने वाले सहस्र बुद्धि, सहस्र चक्षु और सहस्र वाहु महापुरुष हो उठे थे। वे अव अपनी ही बुद्धि के वाहन न थे। वे तो इस समय युग की आकांक्षा और प्रवृत्ति के दैवी वाहन थे। धर्म के सन्त अनेक हुए, पर वे तो इस समय अपने समय की क्रान्ति के युगसन्त हो गये थे।

कुछ साथी भगत सिंह से सहमत थे, पर कुछ उन के मत से असहमत थे। उन का दृष्टिकोण यह था कि हमें अदालत की कार्यवाही में हिस्सा लेना चाहिए और ठीक समय पर वैसा ही एक वयान इस अदालत में भी देना चाहिए, जैसा कि भगत सिंह दिल्ली के सेशन जज की अदालत में हाईकोर्ट में दे चुके हैं। भगत सिंह के ये साथी वही कह रहे थे, जो असेम्वली में वम फेंकने की योजना को पास करते समय केन्द्रीय समिति में भगत सिंह ने कहा था। उस समय श्री चन्द्रशेखर आज़ाद तक ने भगत सिंह का विरोध किया था और इस समय स्वयं भगत सिंह वही वात कह रहे थे। क्या वात है यह ? वात यही है कि भगत सिंह ने जिन परिस्थितियों में वह वात कही थी, अपने प्रयत्नों से भगत सिंह उन परिस्थितियों को वहुत आगे खींच लाये थे और नयी परिस्थितियों में नये दृष्टिकोण से देख रहे थे। इस के विरुद्ध ये साथी अभी उन पुरानी परिस्थितियों के ही वातावरण में साँस ले रहे थे और नयी परिस्थितियों को समझ न पा रहे थे। भगत सिंह अपने में स्पष्ट थे, पर अधिनायकतावादी नहीं, पूर्ण प्रजातन्त्री मानव थे। इसी भावना के अधीन वे केन्द्रीय समिति में उस दिन चुप रह गये थे, जिस दिन उन की जगह दूसरे साथियों का नाम असेम्वली में वम फेंकने के लिए चुना गया था और इसी भावना के अधीन उन्हों ने अदालत की कार्यवाही में भाग लेने की वात मान ली।

एक वात और, भगत सिंह अपने से मतभेद रखने वाले साथियों की ईमानदारी में उतना ही विश्वास रखते थे, जितना उन के वे साथी इन की ईमानदारी में। मतभेद की रेखा वहुत सूक्ष्म थी। भगत सिंह राजनैतिक प्रभाव से, नैतिक प्रभाव को अधिक महत्त्व दे रहे थे। उन के साथियों की राय थी कि क्रान्तिकारी पार्टी के पास कोई मंच नहीं है, जहाँ वह अपना दृष्टिकोण जनता के सामने रखे। इस के विरुद्ध भगत सिंह का दृष्टिकोण यह था कि फाँसी और कालेपानी की भयंकर सज़ाओं के सामने क्रान्तिकारी युवकों की निर्लिप्तता एक व्यापक नैतिक प्रभाव डालेगी और नयी पीढ़ी को ऐसी निर्भीकता देगी, जो वेहद महत्त्वपूर्ण होगी। नम्रता के साथ सोचती हूँ, वाहर मैदान में गान्धी जी देश की जनता में जेलों और लाठियों के प्रति निडरता का जो भाव पैदा कर रहे थे, जेल के सीखचों में वैठे भगत सिंह कालेपानी की यातनाओं और फाँसियों के प्रति वही निडरता भावी पीढ़ियों के प्रति वो रहे थे, उगा रहे थे, पनपा रहे थे।

५ मई १९३० को लाहौर षड्यन्त्र केस की कार्यवाही ट्रिब्यूनल के सामने आरम्भ हुई। अभी तक मुक़दमा उस अदालत में होता था जो सेण्ट्रल जेल के साथ हो थी और जिस में जाने को जेल के भीतर से ही एक छोटा-सा द्वार था। भगत सिंह एवं दत्त तो वहाँ थे ही, बोर्स्टल जेल के अभियुक्त (अण्डर-ट्रायल हवालाती) वहीं ले आये जाते थे। अब अदालत मैजिस्ट्रेट की नहीं, माननीय जस्टिसों की थी और जेल में उन्हें बुलाना उन की शान के विरुद्ध था। इस लिए पुंच हाउस में अदालत बनायी गयी और वहीं अभियुक्तों को लॉरी से लाने की व्यवस्था हुई। मैं एक बार हरिद्वार गयी थी। तब कोई धार्मिक पर्व था। उस बस में गाँव की स्त्रियाँ थीं। वे सारे रास्ते गीत गाती और गंगा मैया की जय के नारे लगाती चली गयीं। मुझे उस दिन ध्यान आया था—इसी तरह भगत सिंह और उन के साथी भी जेल से कचहरी तक गीत गाते और नारे लगाते चले जाते रहे होंगे। रास्ते में लोग समय पर खड़े हो जाते थे और गीत सुन कर रोमांचित होते थे, बलिदान का नशा अनुभव करते थे और उत्साहित होते थे। उस लॉरी के आगे-पीछे पुलिस की लॉरियाँ और मोटर साइकिलें होती थीं, जैसे वायसराय कहीं जा रहे हों। बाहर नमक-सत्याग्रह का वातावरण पूरे ज़ोर में था। ग़ुलामी के विरुद्ध हिंसा और अहिंसा एक साथ, पर अपने-अपने ढंग से लड़ रही थीं, जैसे अँगरेज़ों से कह रही थीं चाहे इसे चुनो, चाहे उसे, पर तुम्हें इस देश से जाना पड़ेगा और तुम न चुनो तो एक दिन हम दोनों मिल कर तुम्हें ऐसा धक्का देंगी कि तुम जाओगे नहीं, भरभरा कर गिर पड़ोगे।

भगत सिंह और उन के साथी देश के वीर और क्रान्ति के हीरो की शान से झूमते हुए अदालत में आते, जैसे विश्वविद्यालय के सर्वोत्तम छात्र किसी भाषण-प्रतियोगिता के मंच पर आ रहे हों। आते ही वे नारा लगाते—'इन्क़लाब-ज़िन्दाबाद' और संगीत उभरता—'सुजलाम् सुफलाम्' या 'सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है'। दर्शक स्तब्ध रह जाते, मुग्ध हो जाते—क्या मस्ती है, क्या चुस्ती है, क्या ख़ुशी है और सब से बढ़ कर मृत्यु के प्रति बेफ़िक्री है! नीचे की अदालत में हिन्दुस्तानी मैजिस्ट्रेट नारों और गानों के बीच शान्त बैठा रहता था। ट्रिब्यूनल में पहले ही दिन अँगरेज़ न्यायाधीशों ने नारों पर नाक-मुँह बनाया और सरकारी वकील से ख़ुद अँगरेज़ी में अनुवाद कराया। इस वातावरण से वे काफ़ी भड़के, पर संयत रहे।

सरकार नीचे की अदालत से ही पाठ पढ़ चुकी थी कि कार्यवाही पत्रों में छाप कर और जल्सों में चर्चा का विषय बना कर उन लोगों को, जिन्हें वह हत्यारों और डाकुओं की तरह मार डालना चाहती है, शहीदों और राष्ट्रवीरों का रूप मिल रहा है, इस लिए अदालत की कार्यवाही के प्रकाशन पर उस ने पाबन्दी लगा दी थी, पर जनता के दिलों पर रावण, हिरण्यकशिपु और कंस पाबन्दी नहीं लगा सके, तो अँगरेज़ क्या लगाता?

अदालत में वही अठारह अभियुक्त उपस्थित थे, जो मैजिस्ट्रेट की अदालत में।

ट्रिव्यूनल ने एक-एक अभियुक्त से पूछा—"आप वकीलों के द्वारा अपना मामला पेश करना चाहें, तो सरकार के खर्चे पर वह दिया जायेगा।" सुखदेव, आज्ञाराम, जयदेव, शिव वर्मा और कमलनाथ तिवारी ने इनकार कर दिया। किशोरीलाल, अजय घोष, और प्रेमदत्त ने कहा—"सरदार किशन सिंह—डिफ़ेन्स कॅमिटी से सलाह कर के उत्तर देंगे।" गयाप्रसाद और जतीन्द्रनाथ सान्याल ने कोई जवाब नहीं दिया और बैठे रहे। बटुकेश्वरदत्त और कुन्दनलाल ने कहा—"मैं इस अदालत में किसी भी प्रश्न का जवाब देने से इनकार करता हूँ।" सुरेन्द्र पाण्डेय, विजयकुमार सिनहा और राजगुरु ने कहा—"मुझे कोई सहायता नहीं चाहिए।" महावीर सिंह का उत्तर था—"मैं इस अदालत की किसी कार्यवाही में हिस्सा नहीं लूँगा।"

जब अदालत में असहयोग की यह भावुक हवा वह रही थी, भगत सिंह ने सन्तुलित भाव से कहा—"मुझे एक वकील की ज़रूरत है, क़ानूनी सलाहकार के रूप में। न वे सरकारी गवाहों पर जिरह करेंगे, न अदालत में बहस करेंगे, सिर्फ़ अदालत की कार्यवाही की चौकसी करते रहेंगे।" उन्हों ने बैरिस्टर दुनीचन्द का नाम इस के लिए सुझाया। उन की बात ट्रिव्यूनल ने मान ली। राजगुरु ने नया अड़ंगा लगाया कि वह अदालत की भाषा नहीं समझता, इस लिए उसे मराठी का दुभाषिया मिलना चाहिए। सरकारी वकील ने नाक-भौं सिकोड़ी, पर अदालत ने तुरन्त दुभाषिये की बात मान ली।

यह सब था, पर यह साफ़ दीख रहा था कि ट्रिव्यूनल के अँगरेज़ जस्टिस खास कर प्रेसीडेण्ट श्री कोल्डस्ट्रीम अभियुक्तों के नारों और गानों से परेशान हैं। शायद उन के जस्टिस होने का गर्व उन्हें भड़काता था, शायद उन की अँगरेज़ियत भारतीय विद्रोह के प्रति क्रुद्ध होती थी। 'यह स्पेशल अदालत है या शालामार बाग़ ?' कुछ इस तरह का भाव था उन के चेहरे पर। फिर भी वे संयत रहे और प्रमुख मुखबिर जयगोपाल का बयान चलता रहा। यह मुक़दमा भारत के मुक़दमों में ऐतिहासिक प्रभाव और महत्त्व की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ, पर वास्तव में यह सब से गन्दा और लज्जाजनक केस था, क्यों कि पचीस अभियुक्तों में सात सरकारी गवाह बन गये थे—जयगोपाल, हंसराज बोहरा, ललित कुमार मुकर्जी, फणीन्द्रनाथ घोष, मनमोहन मुकर्जी, रामशरण दास और ब्रह्मदत्त। अन्त के दो बाद में बदल गये थे और उन्हों ने रहस्य नहीं खोले, थोड़ा-बहुत इधर-उधर बता कर ही रह गये। इस केस की दूसरी घटिया बात यह थी कि यह (चार दिन को छोड़ कर) अभियुक्तों और उन के वकीलों की ग़ैरहाज़िरी में ही सुना गया था।

हिटलर महान् ने अपने प्रमुख लेफ़्टीनेण्टों को एक सूत्र दिया था—"प्रथम श्रेणी की योजना घटिया तरह, घटिया हाथों-द्वारा लागू होने पर द्वितीय श्रेणी की रह जाती है, पर तृतीय श्रेणी की योजना बढ़िया हाथों के द्वारा लागू होने पर द्वितीय श्रेणी की हो जाती है।" भगत सिंह की प्रतिभा का यह चिरस्मरणीय चमत्कार था कि इस

गन्दे केस में उन्हों ने चमक और ख़ुशबू पैदा कर दी थी। चालू भाषा में मैं कहना चाहती हूँ—'वर्स्ट' को उन्हों ने 'वेस्ट' बना दिया था। सचाई यह कि अपनी दिग्विजयिनी क्रान्ति-प्रतिभा के कारण 'वर्स्ट' (सब से रद्दी) को 'वेस्ट' (सब से श्रेष्ठ) बना कर ही तो वे 'भगत सिंह' से 'भगत सिंह महान्' हो गये थे।

अदालत बैठी, तो भगत सिंह ने अपने मीठे और कूक-भरे स्वर में क्रान्ति-कवि ओमप्रकाश की ये पंक्तियाँ गायीं—

"वतन की आबरू का पास देखें कौन करता है,
सुना है आज मक़तल में हमारा इम्तहाँ होगा !
इलाही वह भी दिन होगा जब अपना राज देखेंगे,
जब अपनी ही ज़मीं होगी और अपना आस्माँ होगा !"

जब पहले छन्द का भाव प्रेसीडेण्ट कोल्डस्ट्रीम को पता चला, तो वे ग़ुस्से से 'हॉट-स्टीम' हो गये। उन्हों ने ऊपर के स्तर पर सलाह की और अदालत आरम्भ होने के चार दिन बाद वे समय से पहले ही कुरसी पर आ बैठे। ज्यों ही अभियुक्त आये और उन्हों ने नारे लगाये, उन्हों ने उन्हें बन्द करने का आदेश दे दिया। भगत सिंह और उन के साथी ऐसे आदेश मानते तो क्रान्तिकारी क्यों होते ? वे और भी जोश और ज़ोर से नारे लगाने और गाने लगे। क्रान्ति-कवि ओमप्रकाश की ये पंक्तियाँ, जैसे जस्टिस कोल्डस्ट्रीम को जवाब देने के लिए ही लिखी गयी थीं—

"अपनी क़िस्मत में अज़ल से ही सितम रखा था,
रंज रखा था, मुहिम रखी थी, ग़म रखा था,
किस को परवा थी और किस में ये दम रखा था,
हम ने जब वादि-ए-ग़ुरबत में क़दम रखा था,
दूर तक यादे वतन आयी थी समझाने को !"

जस्टिस कोल्डस्ट्रीम ने पुलिस को आदेश दिया कि वह इस गाने को बन्द करवाये। पुलिस अभियुक्तों के बीच कूद पड़ी और १२ मई १९३० को वही बात फिर दोहरायी गयी, जो स्पेशल मैजिस्ट्रेट की अदालत में हुई थी। लातों, घूँसों और डण्डों से अभियुक्तों की पिटाई आरम्भ हो गयी। इस घटना से अदालती इतिहास के संग्रहालयों में एक नया चेहरा स्थापित हो गया। यह जस्टिस आग़ा हैदर का चेहरा था। वे कुरसी से उठ कर बाहर जाने को तैयार हुए, जिस से न्यायालय में हो रहे इस अन्यायपूर्ण कार्य को न देख सकें। वे उठ जाते, तो ट्रिब्यूनल का मुँह काला हो जाता, इस लिए प्रेसीडेण्ट जस्टिस कोल्डस्ट्रीम ने उन से व्यक्तिगत प्रार्थना (पर्सनल रिक्वेस्ट) की कि वे बैठे रहें। तब जस्टिस आग़ा हैदर बैठे तो रहे, पर उन्हों ने अपना मुँह अख़बार से ढँक लिया—"कम से कम ख़ुदा से मैं यह तो कह सकूँगा कि हाँ अन्याय तो हुआ था, पर मैं ने उसे अपनी आँखों से नहीं देखा !"

जस्टिस कोल्डस्ट्रीम ने कार्यवाही में यह लिखा—"ओइंग टु डिस ऑर्डरली कण्डक्ट ऑव द एक्यूज़्ड द केस इज़ एडजॅर्ण्ड टु टुमारो। दि कोर्ट वाज़ क्लियर्ड ऐण्ड दि एक्यूज़ वर रिमूव्ड—अभियुक्तों के दुर्व्यवहार के कारण केस कल के लिए स्थगित कर दिया गया। अदालत खाली हो गयी और अभियुक्त हटा दिये गये।—जे० कोल्डस्ट्रीम, जी० सी० हिल्टन"

जस्टिस आग़ा हैदर ने इस आदेश पर हस्ताक्षर नहीं किये और अलग से अपना आदेश लिखा—"आई वाज़ नाट ए पार्टी टु द ऑर्डर ऑव द रिमूवल ऑव द एक्यूज़्ड फ़्रॉम द कोर्ट टु द जेल ऐण्ड आई वाज़ नॉट रिस्पॉन्सिविल फॉर इट इन एनी वे। आई डिस एसोशियेट माई सेल्फ़ फ़्रॉम ऑल दैट टुक प्लेस टुडे इन कॉन्सीक्वेंस ऑव दैट ऑर्डर—मैं अभियुक्तों को अदालत से जेल भेजने के आदेश का भागीदार नहीं था और न उस सव के लिए किसी तरह भी ज़िम्मेदार, मैं उस सब से, जो आज यहाँ हुआ, अपने को असम्वद्ध करता हूँ।—आग़ा हैदर"

इस वात का लाभ भगत सिंह को पहुँचा। जो साथी अदालत का वहिष्कार करने के लिए उन से सहमत नहीं थे, तुरन्त सहमत हो गये और १३ मई १९३० को अदालत में जाने के वाद फिर क्यों नहीं गये। इस प्रकार लाहौर षड्यन्त्र केस चार-पाँच दिन मुक़दमा रह कर फिर न्याय का एक प्रहसन रह गया, जिस में एक ही पक्ष था। क्या सचमुच एक ही पक्ष था ? हाँ, सच है कि अभियुक्त या उन का कोइ वकील वहाँ नहीं था, पर जस्टिस आग़ा हैदर सरकारी गवाहों से ज़िरह कर के उन का ही तो प्रतिनिधित्व करते थे ? वे इस मुक़दमे से पहले भी कई मुक़दमों में झूठे क्रान्तिकारी मुक़दमे वनाने के लिए अपने फ़ैसलों में पुलिस को लताड़ चुके थे और अपने राष्ट्र-प्रेम एवं स्वतन्त्र स्वभाव के लिए देश-भक्तों में ख्याति प्राप्त कर चुके थे।

कहा जाता है कि ट्रिब्यूनल के प्रेसीडेण्ट जे० कोल्डस्ट्रीम ने पंजाव के गवर्नर के द्वारा वायसराय को सन्देश भेजा कि जस्टिस आग़ा हैदर के रहते भगत सिंह और उन के साथियों को फाँसी नहीं दी जा सकती। एक दिन रात में सरकारी वकील मिस्टर कार्डननोड जस्टिस आग़ा हैदर की कोठी पर पहुँचे और उन से निवेदन किया कि वे इस मुक़दमे को पूरा हो जाने दें। वाद में वे चाहेंगे, तो वायसराय को कैबिनेट के मेम्वर (अव की भाषा में केन्द्रीय मन्त्री) वना दिये जायेंगे और वे चाहेंगे, तो प्रिवि कौन्सिल के जज। मि० कार्डननोड ने यह भी साफ़ कर दिया कि वे अपनी या जस्टिस कोल्ड-स्ट्रीम की नहीं, ऊपर के स्तर की वात दोहरा रहे हैं। उन की वात सुन कर जस्टिस आग़ा हैदर तमतमा उठे। उन्हों ने इसे अपना अपमान माना और अपने नौकर से गरज कर कहा—"इसे कान पकड़ कर वाहर निकाल दो, यह नहीं जानता कि जजों से किस तरह वात की जाती है।" और नौकर ने सचमुच आज्ञा का पालन किया। वात ऊपर तक पहुँची। जस्टिस आग़ा हैदर ने—चीफ़ जस्टिस सर शादीलाल से शिकायत की, तो श्री कार्डननोड ने गवर्नर के द्वारा वायसराय तक पहुँचायी। जाने कैसे वात अखवारों

तक भी जा पहुँची। अँगरेज़ी सरकार अजगर की कुण्डली में फँस गयी थी। वायसराय ने नये आर्डिनेन्स के द्वारा पुराने ट्रिब्यूनल को तोड़ कर दूसरा ट्रिब्यूनल वनाया: जस्टिस जी० सी० हिल्टन, अध्यक्ष; जस्टिस अब्दुलक़ादिर, सदस्य; जस्टिस जे० के० टैप, सदस्य।

वायसराय ने एक साथ दो शिकार किये कि जस्टिस आग़ा हैदर से पीछा छुड़ाया और उन के साथ ही कोल्डस्ट्रीम को भी हटा कर अभियुक्तों से कहा कि उन की बात मान ली गयी हैं, अव वे अदालत में आना आरम्भ करें, पर भगत सिंह राजनैतिक चैतन्य में अँगरेज़ राजनीतिज्ञों से पीछे नहीं थे। उन्हों ने कहा—"जो लोग हमारे अपमान के लिए ज़िम्मेदार हैं उन में जस्टिस हिल्टन भी हैं। वे क्षमा-याचना करें, तो हम अदालत में आयें।" अँगरेज़ी हुकूमत की नाक पहले ही काफ़ी कट चुकी थी, इस लिए वह और न झुकी और एक-तरफ़ा मुक़दमे की कार्यवाही आरम्भ हो गयी।

जिन दिनों भगत सिंह और उन के साथी जेल से अदालत में ले जाये जाते थे। यह योजना वनी कि भगत सिंह को पुलिस के हाथों से वलपूर्वक छीन लिया जाये। यह विशेष अदालत पुंच हाउस में वैठती थी और क्रान्तिकारियों का मुख्य कार्यालय वहावल-पुर रोड पर स्थित था, जो जेल और अदालत के वीच में पड़ता था। योजना वहुत विस्तृत थी, पर उस का मोटा रूप यह था कि वम फेंक कर पुलिस को अस्त-व्यस्त कर दिया जायेगा और भगत सिंह अपने साथियों में आ मिलेंगे। यह योजना सफल न हो सकी। इस विषय में क्रान्तिकारी क्षेत्रों में कुछ वेहद कड़वी किंवदन्तियाँ हैं, पर उन में जाना मेरी सीमा के वाहर है।

भगत सिंह को जव असेम्वली बम-काण्ड के वाद दिल्ली से पंजाव ले जाया जाना था, तव भी सहारनपुर के आस-पास श्री शिव वर्मा के नेतृत्व में उन्हें रेल से भगाने की योजना वनी थी, पर इस तरह की दूसरी योजनाओं की तरह वह भी असफल रही थी। सचाई शायद यह है कि ये योजनाएँ असाधारण उत्साह का फल थीं और इन्हें सफल करने के लिए जितने मनुष्यों और साधनों की आवश्यकता होती है, वे क्रान्तिकारी दल के पास न थे। यह कार्यवाही लगभग तीन महीने चलती रही। पुलिस ने चार सौ से अधिक गवाह पेश किये। २६ अगस्त १९३० को अदालत का काम पूरा हो गया, पर काग़ज़ी कार्यवाही तो उसे करनी ही थी। दूसरे दिन अभियुक्तों को सन्देश भेजा गया कि आप अपने वचाव के लिए स्वयं या वकील के द्वारा जो कहना चाहते हैं, कह सकते हैं, या अपने गवाह पेश कर सकते हैं। अभियुक्तों में से कोई भी इस के लिए तैयार नहीं था।

ज्यों ही अभियुक्तों ने सफ़ाई देने से इनकार किया, वे समझ गये थे कि ट्रिब्यूनल अव अपना फ़ैसला देने ही वाला है। भगत सिंह के इन दोनों पत्रों में उस समय की परिस्थितियाँ और मन:स्थितियाँ साफ़ झलकती हैं—

सेण्ट्रल जेल लाहौर १६ सितम्बर १९३०

ब्रादर अजीज कुलबीर जी, सतश्री अकाल

आप को मालूम ही होगा कि बमूजिब अहकाम अफ़सराना वाला (ऊँचे अफ़सरों के आदेश से) मेरी मुलाक़ातें बन्द कर दी गयी हैं। अन्दरीन हालात फिल-हाल मुलाक़ात न हो सकेगी और मेरा ख़्याल है अनक़रीब ही फ़ैसला सुना दिया जायेगा। इस के चन्द रोज़ बाद किसी दूसरी जेल को चालान हो जायेगा। इस लिए किसी दिन जेल में आ कर मेरी कुतुब (किताबें) व पारचात व दीग़र अशिया ले जाना मैं बरतन, कपड़े, कुतुब, दीग़र काग़ज़ात जेल के डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट के दफ़्तर में भेज दूँगा, आ कर ले जाना। नामालूम मुझे बार-बार यह ख़्याल क्यों आ रहा है कि इसी हफ़्ता के अन्दर-अन्दर या ज़्यादा से ज़्यादा इसी माह में फ़ैसला और चालान हो जायेगा। इन हालात में अब तो किसी दूसरी जेल में मुलाक़ात हो तो हो, यहाँ तो उम्मीद नहीं है।

वक़ील को भेज सको तो भेजना। मैं प्रिवी कौन्सिल के सिलसिले में एक ज़रूरी बात दरयाफ़्त करना चाहता हूँ। वालिदा साहिबा को तसल्ली देना, घबरायें नहीं।

आप का भाई

—भगत सिंह

सेण्ट्रल जेल, लाहौर

२५ सितम्बर १९३०

ब्रादर अजीज कुलबीर सिंहजी, सतश्री अकाल

मुझे यह मालूम कर के कि एक दिन आप वाल्दा को साथ ले कर आये और मुलाक़ात की इजाज़त न मिलने पर मायूस लौट गये। बड़ा अफ़सोस हुआ। आख़िर तुम्हें तो मालूम हो चुका था कि जेल वाले मुलाक़ात की इजाज़त नहीं देते। फिर वाल्दा को क्यों साथ लाये। मैं जानता हूँ वो इस वक़्त सख़्त घबरायी हुई हैं, मगर इस घबराहट और परेशानी का क्या फ़ायदा। नुक़सान ज़रूरी है; क्यों कि जब से मुझे मालूम हुआ कि वे बहुत रो रही हैं, मुझे ख़ुद भी बेचैनी हो रही है। घबराने की कोई बात नहीं और इस से कुछ हासिल भी नहीं। सब हौसला से हालात का मुक़ाबिला करें। आख़िर दुनिया में दूसरे लोग भी तो हज़ारों मुसीबतों में फँसे हुए हैं और फिर अगर लगातार एक साल मुलाक़ातें कर तबियत सैर (तृप्त) नहीं हुई, तो दो-चार मजीद-और मुलाक़ातों से भी तसल्ली न हो सकेगी। मेरा ख़्याल है कि फ़ैसला और चालान के बाद मुलाक़ातें खुल जायेंगी, लेकिन अगर फ़र्ज़ किया जाये कि फिर भी मुलाक़ात की इजाज़त न मिले, तो घबराने का क्या फ़ायदा ?

तुम्हारा-भगत सिंह

५ अक्तूबर १९३० की रात में जेल में अन्तिम डिनर हुआ। अभियुक्तों के साथ इस में जेल के कुछ अफ़सर भी शामिल हुए और सब ने एक-दूसरे से विदाई ली। अफ़सर भौंचक थे कि ये कैसे मौत के परवाने हैं, जो अपनी ज़िन्दगी के बारे में कुछ सोचते ही नहीं। यह डिनर एक आनन्दपूर्ण समारोह था। इस में हँसी थी, अट्टहास थे, छेड़-छाड़ थी, लतीफ़े-चुटकुले थे, दंगा-मस्ती थी, जैसे किसी कॉलिज का फ़ेयरवेल हो। अभियुक्त जेल के अफ़सरों के प्रति आत्मीय थे, तो अफ़सर भी अभियुक्तों के प्रति आदर और आत्मीयता से अनुरंजित थे। सचाई यह है कि भारत की जेलों ने ऐसे क़ैदी अपने जीवन में न इस से पहले देखे थे, न इस के बाद ही देखे। भगत सिंह क्रान्ति और अदालत के ही हीरो नहीं थे, जेलों के भी हीरो सिद्ध हुए। अफ़सरों के लिए वे सचमुच एक आश्चर्य थे।

दूसरे ही दिन पता चला कि जेल के चारों ओर सशस्त्र पुलिस का पहरा लगा दिया गया है और बहुत सावधानी बरती जा रही है। ७ अक्तूबर १९३० को सुबह ट्रिब्यूनल का एक विशेष सन्देशवाहक जेल में आया और उस ने अभियुक्तों को ट्रिब्यूनल का फ़ैसला सुनाया। यह व्यवस्था इस लिए की गयी, क्यों कि अभियुक्त जब मुक़दमे के लिए ही अदालत में नहीं जा रहे थे, तो फ़ैसला सुनने के लिए कैसे जाते?

फ़ैसला इस प्रकार था—भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी, कमलनाथ तिवारी, विजयकुमार सिनहा, जयदेव कपूर, शिव वर्मा, गया प्रसाद, किशोरी लाल और महावीर सिंह (बाद में कालेपानी में अनशन के नवें दिन शहीद) को आजन्म कालापानी। कुन्दनलाल को सात साल और प्रेमदत्त को तीन साल। मास्टर आशाराम, अजय घोष, सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय, देशराज और जितेन्द्रनाथ सान्याल को रिहा कर दिया गया। यह फ़ैसला ६८ पृष्ठों में लिखा गया था।

बहुत सावधानी रखी गयी थी कि फ़ैसले की खबर एकदम जनता में न फैले, पर वह हवा के झोंकों पर चढ़ कर घर-घर पहुँच गयी। भगत सिंह की कोठरी एक ट्रान्समीटर या तारघर की तरह थी, जो चारों ओर से खबरें ले सकती थी और चारों ओर खबरें भेज सकती थी। सरकार ने फ़ैसला होते ही लाहौर में धारा १४४ लगा कर जलसे-जुलूसों पर पाबन्दी लगा दी थी, पर बिना किसी डोंडी, पोस्टर या हैण्डबिल के म्युनिसिपल ग्राउण्ड में बड़ा भारी जलसा हुआ। उस में कड़ी सज़ा की, एक तरफ़ा मुक़दमा होने की और वायसराय के आर्डिनेन्स की खूब आलोचना हुई। प्रभावशाली पत्रों के विशेष अंक बात की बात में प्रकाशित हो गये। उन में भगत सिंह और उन के साथियों के फ़ोटो भी छपे थे। सरकार के गुप्तचर परेशान हो गये कि ये फ़ोटो कब, कहाँ, किस ने, कैसे लिये और पत्रों को ये कैसे मिले। वे बेचारे भगत सिंह और उन के साथियों के जादू से अब भी अपरिचित थे।

आठ अक्टूबर १९३० को लाहौर और देश की जनता जोश से उत्तेजित हो

उठी और युवक-युवतियाँ उवल पड़े। लाहौर में स्टूडेण्ट्स यूनियन के आह्वान पर हड़ताल हुई। अधिकांश स्कूल-कॉलिज आप-ही-आप वन्द हो गये और जो स्वयं वन्द न हुए, उन्हें धरना दे कर वन्द कराया गया। सत्रह महिलाएँ गिरफ़्तार हुईं और वहुत से विद्यार्थी भी। डी० ए० वी० कॉलेज के एक प्रोफ़ेसर और ८० विद्यार्थियों ने पुलिस पर धावा वोल दिया। कई जगह लाठी चार्ज हुए, पर उस शाम को एक वड़ा जुलूस निकला, नारे गूँजे और ब्रेडलाहाल में युवकों का जलसा हुआ। काँग्रेस के निमन्त्रण पर मोरी गेट के वाहर एक वड़ा जलसा अलग हुआ, जिस में १२ हज़ार से कम आदमी न थे। देश के दूसरे नगरों कलकत्ता, वम्वई, मद्रास, नागपुर, दिल्ली, पटना, लखनऊ आदि की प्रतिक्रिया भी हड़तालों और जुलूसों के रूप में काफ़ी उग्र रही। सभी के मन पर भगत सिंह को फाँसी की सज़ा दिये जाने का गहरा दुःख था और उन की वलिदान भावना का सभी ने अभिनन्दन किया।

ट्रिव्यूनल के अध्याय को समाप्त करते हुए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उल्लेख वस और। सितम्वर १९३० के आरम्भ में ही यह साफ़ दीखने लगा था कि ट्रिव्यूनल सरकार के इशारों पर नाच रहा है और वह और चाहे कुछ करे न करे, पर भगत सिंह को फाँसी अवश्य देगा। सरदार किशन सिंह ने स्पेशल ट्रिव्यूनल के द्वारा वायसराय के नाम एक प्रार्थना-पत्र दिया जो क़ानूनी दृष्टि से एक अद्भुत दाँव था। इस में कहा गया था कि जिस दिन साण्डर्स का वध हुआ, उस दिन भगत सिंह कलकत्ता में थे। उन्हों ने वहाँ से उसी दिन खद्दर भण्डार, परी महल लाहौर के मैनेजर श्री रामलाल को एक पत्र लिखा था, जो डाक विभाग-द्वारा वाक़ायदा उन्हें पहुँचा। मैं उन्हें गवाह के रूप में पेश कर सकता हूँ या अदालत गवाही क़ानून के अनुसार उन्हें बुला सकती है। सरकारी गवाहों से वे अधिक प्रतिष्ठित नागरिक हैं। इस स्थिति में यह उचित है कि भगत सिंह को सफ़ाई का अवसर दिया जाये।

भगत सिंह को जेल में यह समाचार मिला, तो वे तिलमिला उठे। वे अपने पिता की भावना को समझते थे। जानते थे कि सरदार किशन सिंह एक क्रान्तिकारी हैं, जिस का उद्देश्य अपने को बचा कर दुश्मन पर चोट करना होता है। फिर वे एक प्रेमी पिता हैं और कोई भी पिता किसी भी क़ीमत पर अपने पुत्र को मृत्यु का ग्रास होने से वचाना चाहे यह स्वाभाविक है। वात ठीक है, पर भगत सिंह बच कर चोट करने की नीति पर नहीं, जल कर जलाने की नीति पर चल रहे थे। इस लिए उन के लिए यह प्रार्थना-पत्र उन की पूरी नीति में पलीता लगाने वाला था। फिर उन के साथियों ने उन्हीं के आदेश और आदर्श पर मुक़दमे में बचाव की नीति का त्याग किया था। उन्हें फँसा कर अपने वचाव का प्रयत्न क्या अर्थ रखता?

उन्हों ने तुरन्त अपने पिता को, जो पत्र लिख भेजा, उस के कुछ मार्मिक अंश इस प्रकार हैं—

"मुझे यह जान कर आश्चर्य हुआ कि आप ने स्पेशल ट्रिब्यूनल को मेरे बचाव के लिए एक प्रार्थना-पत्र भेजा है। यह समाचार इतना दुःखदायी था कि मैं इसे शान्त हो कर सहन नहीं कर सकता।···

आप का बेटा होने के नाते मैं आप की पैतृक भावनाओं एवं इच्छाओं का पूरा सम्मान करता हूँ, परन्तु इस के साथ ही मैं समझता हूँ कि आप को मेरे साथ परामर्श किये विना मेरे विषय में कोई प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार न था।····

मुझे विश्वास है कि आप को यह बात स्मरण होगी कि आप आरम्भ से ही मुझे यह बात मना लेने के लिए प्रयत्न करते रहे हैं कि मैं अपना मुक़द्दमा समझदारी से लड़ूँ एवं अपना बचाव ठीक रूप से उपस्थित करूँ। यह बात भी आप की जानकारी में है, कि मैं सदैव इस का विरोध करता रहा हूँ।

मेरा यह दृष्टिकोण रहा है कि समस्त राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को ऐसी दशा में अदालत की अवहेलना एवं उपेक्षा दिखानी चाहिए और उन को जो कठोर से कठोर दण्ड दिया जाये, वह उन्हें हँसते-हँसते सहन करना चाहिए।

मेरा जीवन इतना मूल्यवान् नहीं है जितना आप समझते हैं। कम से कम मेरे लिए जीवन का इतना महत्त्व नहीं है कि इसे सिद्धान्तों की अमूल्य निधि बलिदान कर के बचाया जाये।

पिता जी, मैं बड़ी चिन्ता अनुभव कर रहा हूँ। मुझे डर है कि आप पर दोष लगाते हुए या इस से भी अधिक आप के इस कार्य की निन्दा करते हुए मैं कहीं सभ्यता की परिधि को न लाँघ जाऊँ और मेरे शब्द अधिक कठोर न हो जायें। फिर भी मैं स्पष्ट शब्दों में इतनी बात अवश्य कहूँगा कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति मेरे प्रति इस प्रकार का बरताव करता, तो मैं उसे देशद्रोही से कुछ कम न समझता, परन्तु आप की परिस्थिति में यह बात नहीं कह सकता।

बस इतना ही कहूँगा कि यह एक कमज़ोरी थी, निम्न कोटि की मानसिक दुर्बलता। यह एक ऐसा समय था, जब हम सब की परीक्षा हो रही थी। पिता जी, मैं यह कहना चाहता हूँ कि आप उस परीक्षा में असफल रहे हैं। मैं जानता हूँ कि आप उतने ही सच्चे देशभक्त रहे हैं जितना कोई भी व्यक्ति हो सकता है। मैं जानता हूँ कि आप ने अपना समस्त जीवन भारत की स्वतन्त्रता के लिए न्यौछावर कर दिया है, परन्तु इस महत्त्वपूर्ण घड़ी पर आप ने ऐसी दुर्बलता क्यों दिखाई, मैं यह बात समझ नहीं पाया।"

भगत सिंह की इच्छा के अनुसार यह पत्र सरदार किशन सिंह ने हिन्दी, उर्दू, अँगरेज़ी के अनेक पत्रों में तुरन्त छपा दिया और पत्र में उन की ज़िन्दगी का हर क्षण भगत सिंह के ध्यान, गुणगान और काम में लगा रहा। उन्हों ने जो पत्र ट्रिब्यूनल को भेजा था, उस में पहले कहे हुए कारण तो थे ही, पर शायद एक ग़लत-फ़हमी भी थी

जिस का उल्लेख स्वयं भगत सिंह ने इसी पत्र में किया है—"भूख हड़ताल के दिनों में मैं ने जो इण्टरव्यू दी थी, उस का अर्थ ग़लत समझा गया और समाचारपत्रों में प्रकाशित कर दिया गया कि मुक़दमे में मैं अपना स्पष्टीकरण देना चाहता हूँ।" जो भी हो, इस घटना में पिता का वात्सल्य, सहिष्णुता, और राजनैतिक चातुर्य सुरक्षित है, तो पुत्र का प्रचण्ड व्यक्तित्व भी। विश्व के साहित्य-भण्डार में कलेजे की आग से लिखे जो दस्तावेज़ सुरक्षित हैं, निश्चय ही उन में भगत सिंह का यह पत्र बहुत चमकदार है।

■ ■

काल-कोठरी या साधना-कक्ष?

लाहौर षड्यन्त्र केस की डिफ़ेन्स कॅमिटी सन्नद्धता और सुन्दरता के साथ अपना काम करती आ रही थी। यही नहीं कि उस ने मुक़दमे की क़ानूनी कार्यवाही पर हीं ध्यान दिया, अभियुक्तों की सुख-सुविधा का और लाहौर आने वाले उन के अभिभावकों के ठहरने आदि का भी प्रवन्ध किया। इस के साथ ही उस ने यह भी ध्यान रखा कि किसी अभियुक्त का परिवार यदि आर्थिक संकट में है, तो उस तक अपना हाथ पहुँचाया जाये।

डिफ़ेन्स कॅमिटी अव ट्रिब्यूनल के फ़ैसले के विरुद्ध प्रिवी कौन्सिल (लन्दन स्थित उस समय का सर्वोच्च भारतोय न्यायालय) में अपील करने की तैयारी कर रही थी, पर भगत सिंह अपील के विरुद्ध थे। इस केस में न तो अभियुक्त उपस्थित हुए थे, न उन के वकील, सरकारी गवाहों पर न ज़िरह हुई थी, न बहस में सरकारी आरोपों का उत्तर दिया गया था। इस दृष्टि से केस कमज़ोर था और संसार-भर में इस से ब्रिटिश न्याय का रंग फीका पड़ा था। भगत सिंह को डर था कि इस सव का यह असर हो सकता है कि प्रिवी कौन्सिल के न्यायाधीश यदि निष्पक्ष रहे, तो ट्रिब्यूनल का फ़ैसला खत्म हो जाये। यह न हो तो कम से कम उन की फाँसी ही रुक जाये, तो उन के सब किये-कराये पर पानी फिर जाये। उन की आत्मा की अन्तःकरण की माँग थी—मृत्यु, वलिदान, आहुति; और वे इस के विरुद्ध कुछ भी करने-सुनने को तैयार न थे। अपनी काल-कोठरी में इसी विषय पर सलाह के लिए आये अपने साथी विजयकुमार सिनहा से उन्हों ने कहा था—"भाई ऐसा न हो कि फाँसी रुक जाये। हम मर कर ही क्रान्ति की सेवा कर सकते हैं।"

अपनी शहादत के सम्बन्ध में उन का दृष्टिकोण उस पत्र से भी स्पष्ट है, जो उन्हों ने फाँसी का हुक्म सुनने के वाद नवम्बर १९३० में अपने प्रिय साथी श्री बटुकेश्वर दत्त को लिखा था, जो उस समय मुलतान जेल में थे और वहाँ से सलेम (मद्रास) जेल में भेजे जा रहे थे। उस पत्र की एक विशेषता यह है कि वह मरण को महत्त्व देते हुए भी जीवन के महत्त्व को बहुत ऊँचा उठा देता है। पत्र इस प्रकार है—

"मुझे दण्ड सुना दिया गया है और फाँसी का आदेश हुआ है। इन कोठरियों में मेरे अतिरिक्त फाँसी की प्रतीक्षा करने वाले बहुत से अपराधी हैं। ये लोग यही प्रार्थना कर रहे हैं कि किसी तरह फाँसी से बच जायें, परन्तु उन के बीच शायद मैं ही एक ऐसा आदमी हूँ जो बड़ी बेताबी से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब मुझे अपने आदर्श के लिए फाँसी के फन्दे पर झूलने का सौभाग्य प्राप्त होगा। मैं इस ख़ुशी के साथ फाँसी के तख़्ते पर चढ़ कर दुनिया को दिखा दूँगा कि क्रान्तिकारी अपने आदर्शों के लिए कितनी वीरता से बलिदान दे सकते हैं।

मुझे फाँसी का दण्ड मिला है, किन्तु तुम्हें आजीवन कारावास का दण्ड मिला है। तुम जीवित रहोगे और तुम्हें जीवित रह कर दुनिया को यह दिखाना है कि क्रान्तिकारी अपने आदर्शों के लिए केवल मर ही नहीं सकते बल्कि जीवित रह कर हर मुसीबत का मुक़ाबला भी कर सकते हैं। मृत्यु सांसारिक कठिनाइयों से मुक्ति प्राप्त करने का साधन नहीं बननी चाहिए, बल्कि जो क्रान्तिकारी संयोगवश फाँसी के फन्दे से बच गये हैं उन्हें जीवित रह कर दुनिया को यह दिखा देना चाहिए कि वे न केवल अपने आदर्शों के लिए फाँसी पर चढ़ सकते हैं, जेलों की अन्धकार-पूर्ण छोटी कोठरियों में घुल-घुल कर निकृष्टतम दरजे के अत्याचारों को सहन भी कर सकते हैं।"

यह सब होते हुए भी कुछ ऐसी बातें थीं जो उन्हें अपील के लिए आकर्षित कर रही थीं। डिफ़ेन्स कॅमिटी ने मुक़दमे में शानदार काम किया था और वह अपील करने को आतुर थी, आवश्यक समझती थी। पण्डित मोतीलाल नेहरू ने रोगशय्या पर पड़े-पड़े शिमला से अनुरोध किया था कि अपील अवश्य की जाये, जिस से सब क्रान्तिकारियों की रिहाई के लिए प्रयत्न करने का समय मिल सके। एडवोकेट श्री प्राणनाथ मेहता स्वयं जेल जा कर भगत सिंह को समझा-बुझा गये थे और अब भगत सिंह का मन तेज़ी से अपील करने के पक्ष में सोचने लगा था, पर यह सोच एक आत्मनिर्लिप्त महान् मानव की सोच थी।

वे सोचते थे—प्रिवी कौन्सिल में अपील करने में विश्व-भर में भारतीय क्रान्ति के उद्देश्यों को प्रचारित करने का अवसर मिलेगा, भारत में राजनैतिक क़ैदियों पर होने वाले अत्याचारों की गाथा सभ्य देशों में पहुँच कर मानवीय सहानुभूति प्राप्त करेंगी, यतीन्द्रनाथ दास का निःस्वार्थ और महान् बलिदान संसार के सामने आयेगा और दुनिया के विचारक जान सकेंगे कि भारत अपनी ग़ुलामी के विरुद्ध किस शान से जूझ रहा है। अपील का एक गहरा उद्देश्य यह भी सामने था कि इस से इंग्लैण्ड के दुश्मनों का ध्यान इस बात पर आकर्षित होगा कि भारत में समाजवादी क्रान्तिकारी पार्टी का क्या स्थान और क्या प्रभाव है।

भगत सिंह इस से भी गहरे उतर गये, इतने गहरे कि जितने गहरे तक सन्त या पैग़म्बर ही उतर सकते हैं। उन्हों ने अपने क़ानूनी सलाहकार (वकील) को समझाया—ब्रिटिश क़ानूनों की लचक का फ़ायदा उठा कर हमारी सज़ाओं में कमी कराने-

की कोशिश न की जाये और न बचाव के लिए यही कहा जाये कि हम क्रान्तिकारी नहीं हैं।

महात्मा गान्धी के नेतृत्व में उस समय काँग्रेस का अहिंसात्मक आन्दोलन पूरे वेग में चल रहा था। देश में वायसराय आर्डिनेन्सों के जरिये हुकूमत कर रहे थे और अपने कलकत्ता के भाषण में उन्हों ने पूरी ताक़त से आन्दोलन को कुचलने की बात कही थी। सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर के समझौता-प्रयत्नों को एक बार उन्हों ने उपेक्षा से ठुकरा दिया था। काँग्रेस का नेतृत्व भी आन्दोलन को और तेज़ करने की दिशा में अग्रसर था। इस पर भी दोनों में कहीं समझौते की बात न थी। इंग्लैण्ड में सर होर-जैसा भारत-विरोधी और रूखे स्वभाव का भारतमन्त्री बैठा हुआ था, जिस के मन में सहानुभूति या नरमी का एक कण भी न था। पहली गोलमेज़ कान्फ्रेन्स बिना काँग्रेस के सम्मिलित हुए ही धूमधाम से लन्दन में हो गयी थी। देश के लिए कुछ करने में वह असफल रही थी, पर उस से इतना लाभ अवश्य हुआ था कि भारत की ग़ुलामी के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड की जनता और विश्व का लोकमत पहले से अधिक जागरूक हो गया था। इन परिस्थितियों में भगत सिंह ने कहा था—"अपील का उद्देश्य यह हो कि अभी हमारी फाँसी रुकी रहे और वह तब हो, जब काँग्रेस का समझौता सरकार से हो और वह अपने परिणामों से शानदार सिद्ध न हो, युवक वर्ग में इस से असन्तोष फैल रहा हो, बस उन्हीं घड़ियों में हमें फाँसी लगे और इस प्रकार काँग्रेस की बागडोर उग्रतावादियों के हाथ में चली जाये।"

अपील के सम्बन्ध में साथियों के साथ बात करते समय एक अद्भुत वाक्य सामने आया था—"फाँसी तब हो, जब देश की जनता का जोश अपने पूरे उफान पर हो और उस का ध्यान पूरी तरह इस की (फाँसी की) ओर केन्द्रित हो।"

अपील के लिए उन्हों ने सूत्र दिया—अपील का आधार यह हो कि वायसराय का आर्डिनेन्स, जिस के द्वारा ट्रिब्यूनल की स्थापना हुई, ग़ैर-क़ानूनी है, इस लिए उस के द्वारा दी गयी सज़ाएँ भी ग़ैरक़ानूनी हैं। इस सूत्र का साफ़ मतलब यह था कि इस रूप में अपील शर्तिया खारिज हो जायेगी और फाँसी को भी उस के सर्वोत्तम समय के लिए टाला जा सकेगा। भगत सिंह की यह रण-नीति कितनी गहरी और सुदृढ़ थी, इस का प्रमाण आगे की घटनाओं ने दिया और वे इतिहास के महान् युगद्रष्टा सिद्ध हुए। ऐसा लगता है कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान, तीनों एक साथ उस के इशारों पर नाच रहे थे, जैसे सेना के सिपाही अपने सेनापति के संकेतों पर 'लेफ़्ट-राइट' कर रहे हों। निरन्तर एक ही दिशा में चिन्तन और लक्ष्य के लिए पूर्ण समर्पण भावना ने उन में आध्यात्मिक आवेश पैदा कर दिया था और उन्हें युग की प्रगति का वाहन बना दिया था।

प्रिवी कौन्सिल में अपील कर दी गयी थी, यह नवम्बर १९३० था, पर भगत सिंह मई १९३० से जेल में और अब फाँसी की कोठरी में बैठे क्या कर रहे थे? क्या वे जल्लाद की प्रतीक्षा कर रहे थे कि वह किसी दिन आयेगा और फाँसी का फन्दा गले

में डाल देगा ? यह कैसे सम्भव था ? रथ के भीतर बैठा मानव नींद में टूल सकता है और विचारों में भूल सकता है, पर जिस के हाथ में घोड़ों की रास है, वह पल-भर को भी अपने चौकन्नेपन से कैसे मुक्त हो सकता है ? भगत सिंह तो अपने क्रान्ति-रथ के सारथी थे। वे एक स्थान तक उस रथ को पहुँचा कर और दूसरों के हाथों में घोड़ों की रास सौंप कर चले जायेंगे, यह वे जानते थे, पर वे चाहते थे कि उन नये आदमियों के लिए अपने अनुभव और निर्देश तैयार कर दें। इस चाह की पूर्ति के लिए अपनी फाँसी की कोठरी को उन्हों ने विचारों की प्रयोगशाला का रूप दे दिया था।

जब वे चौथी क्लास में पढ़ते थे, उन्हों ने सरदार अजीत सिंह, लाला हरदयाल, और सूफ़ी अम्बाप्रसाद की किताबें पढ़ डाली थीं। अध्ययन का यह चाव नेशनल कॉलेज में आ कर एक गहरे और व्यवस्थित भाव में बदल गया था, यह हम देख चुके हैं। यह भाव अब किस रूप में था, इस का पता श्री जयदेव गुप्ता के नाम लिखे उन के इस पत्र से लगता है—

सेण्ट्रल जेल, लाहौर

२४–७–३०

मेरे प्यारे जयदेव,

कृपया मेरे नाम द्वारकादास लाइब्रेरी से ले कर निम्नलिखित पुस्तकें शनिवार को कुलबीर के साथ भेज देना—

मिलिटेरिज़्म : कार्ल लिबकेन्ट
ह्वाई मेन फाईट : बी० रसेल
सोवियट ऐट वर्क
कुलैप्स ऑव सेकेण्ड इण्टरनेशनल
म्यूचुअल एड : प्रिन्स क्रोपाटकिन
फील्डस, फैक्टरीज़ ऐण्ड वर्कशाप्स
सिविल वार इन फ्रान्स : मार्क्स
लैण्ड रिवॉल्यूशन इन रशिया
स्पाई : अप्टन सिंक्लेयर

कृपा कर एक और पुस्तक पंजाब पब्लिक लाइब्रेरी से ले कर भेजने का भी कष्ट करें—'हिस्टारिकल मैटीरलिज़्म : बुखारिन'—लाइब्रेरियन से यह भी पूछें कि बोर्स्टल जेल में कुछ पुस्तकें भेजी हैं या नहीं ? उन के पास पुस्तकों का भयानक अकाल है। उन्हों ने सुखदेव के भाई जयदेव के द्वारा पुस्तकों की एक लिस्ट भेजी थी, लेकिन अभी तक कोई पुस्तक नहीं मिली। अगर उनके पास लिस्ट न हो, तो कृपा कर लाला फ़िरोज़चन्द से कहो कि वे अपनी पसन्द की कुछ दिलचस्प पुस्तकें भेज दें। इस रविवार को जब मैं वहाँ जाऊँ, तो उन के पास किताबें पहुँच चुकी होनी चाहिए। कृपा कर यह ध्यान रखना कि यह काम हर हालत में हो जाये।

इस के साथ ही डालिंग्स की लिखित 'पीजेण्ट्स इन प्रोस्पैरिटि ऐण्ड डैट्ट' और इसी तरह की २-३ किताबें 'डॉक्टर आलम' के लिए भी। आशा है तुम इस कष्ट के लिए क्षमा करोगे। मैं भविष्य में और कष्ट नहीं दूँगा, यह मेरा आश्वासन है। कृपा कर मेरे सब मित्रों को मेरी याद दिलाना। लज्जावती जी को मेरा आदर भाव दें। मुझे आशा है कि अगर दत्त की बहन आयी, तो वे मुझ से मिलने के लिए आने का कष्ट करेंगी।

आदर भाव के साथ—आप का
भगत सिंह

जेल विभाग के द्वारा भेजे पत्रों के अतिरिक्त वे गुप्त रूप से भी पत्र भेजते रहते थे। उन में भी पुस्तक की माँग रहती थी। कौन पुस्तक किस पुस्तकालय से मिलेगी, या किस मित्र के पास से, यह तो वे लिखते ही थे, ज्यादातर पुस्तकों के नाम के साथ वे यह भी लिख देते थे कि पुस्तकालय के रजिस्टर में किस पुस्तक का क्या नम्बर है। चार्ल्स डिकेन्स उन का प्रिय लेखक था। 'रीड्स'-द्वारा लिखित 'टेन डेज़ दैट शुक द वर्ल्ड' रोपशिन लिखित 'रशियन डेमोक्रेसी' और मैक्सिविनो लिखित 'प्रिन्सिपल्स ऑव फ़्रीडम' उन्हों ने इन्हीं दिनों पढ़ीं। गोर्की, मार्क्स, उमर खैयाम, एंज़िल्स, ऑस्कर वाइल्ड, जार्ज बर्नाड शॉ उन को काल-कोठरी के साथी थे। लेनिन को उन्हों ने बहुत ध्यान से इन दिनों पढ़ा था और रूसी क्रान्ति, उस के तरीक़ों और परिणामों को समझने के लिए उन्हों ने रात-दिन अध्ययन किया। सोचती हूँ जब अँगरेज़ी सरकार उन को अन्तर्ध्यान करने के लिए बल लगा रही थी, वे राष्ट्र के लिए ज्ञान का अमरफल तैयार कर रहे थे।

अध्ययन की इस गम्भीरता और विशालता को देखते ही मेरा भौंचक ध्यान इस बात पर जाता है कि अँगरेज़ी में उन की शिक्षा पर्याप्त नहीं थी। ज्यादा दिन पहले नहीं, १९२४ में ही अँगरेज़ी का उन का ज्ञान बेहद अधूरा था। श्री यशपाल के शब्दों में—"अर्जुन में काम करते समय एक रोज़ अनुवाद करने के लिए उसे (भगत सिंह को) एक तार दिया गया। तार था—'चमनलाल एडीटर डिफंक्ट नेशन एराइव्ड ऐट लाहौर'। भगत सिंह ने उस का अनुवाद किया—'डिफंक्ट नेशन के सम्पादक मिस्टर चमनलाल लाहौर आ गये।' अनुवाद अर्जुन में छप भी गया। इन्द्र जी ने अनुवाद की ओर भगत सिंह का ध्यान दिलाया, परन्तु भगत सिंह को इस में कोई भूल दिखाई न दी। उस का खयाल था कि चमनलाल 'डिफंक्ट नेशन' नामक पत्र के सम्पादक हैं। इन्द्र जी ने जब उसे डिक्शनरी देखने को कहा तब भगतसिंह को मालूम हुआ कि डिफंक्ट का अर्थ 'बन्द हो चुका पत्र' है।"

ये हो भगत सिंह अपनी एकान्त कोठरी में राजनीति, अर्थशास्त्र, विश्व क्रान्ति और समाजशास्त्र का गम्भीरतम साहित्य पचा रहे थे। श्री यशपाल के ही शब्दों में—"अपने ही स्वाध्याय से भगत सिंह ने अँगरेज़ी पर इतना अधिकार कर लिया था कि

असेम्वली वमकाण्ड के समय उस ने जो परचे फेंके थे और अदालत के सामने जो अँगरेज़ी में लिखित वयान दिये थे, उन की भाषा की प्रशंसा प्रायः सभी लोगों ने की थी। कुछ लोगों ने कल्पना कर ली थी कि वे वयान भगत सिंह के नहीं, वकीलों के लिखे हुए हैं। इस कल्पना में कोई तथ्य नहीं है, अध्ययन भगत सिंह का स्वभाव वन गया था। जव भी देखो उस के लम्वे कोट की जेव में कोई-न-कोई पुस्तक रखी ही रहती थी। खाली सड़क पर चलता हो तो चलते-चलते भी वह पढ़ता रहता था।"

क्या यह पढ़ना कोई शौक़ था। क्या यह पढ़ना अपने को मृत्यु की चिन्ता से दूर रखने के लिए पुस्तकों में डुवाये रखने का वहाना था? कौन कहेगा इस पर हाँ और कैसे कहेगा? दिल और दिमाग़ की हालत तो यह थी कि पढ़ते-पढ़ते वे जाने किस मस्ती में झूम उठते और पुस्तक छोड़ कर अपनी काल-कोठरी में इधर से उधर घूमते हुए शहीद रामप्रसाद 'विस्मिल' की यह पंक्तियाँ गाने लगते—

"मेरा रँग दे वसन्ती चोला।
इसी रंग में रँग के शिवा ने माँ का वन्धन खोला॥
मेरा रँग दे वसन्ती चोला।
यही रंग हल्दीघाटी में खुल कर के था खेला।
नव वसन्त में भारत के हित वीरों का यह मेला
मेरा रँग दे वसन्ती चोला।"

जेल के वार्डर दूर से मिठास और ओज से भरा कण्ठ-स्वर सुन कर काल कोठरी के आस-पास आ जाते, सुनते, दूर से ही झाँक कर देखते, स्तब्ध रह जाते, मुग्ध होते और सोचते—किस धातु का वना है यह भगत सिंह। लोग पल-पल जीने के लिए तरसते हैं, पर यह मौत के लिए तड़प रहा है। उन्हों ने जीवन-भर ऐसे आदमी देखे थे जिन पर मौत आक्रमण करती है, पर इस वार वे ऐसा आदमी देख रहे थे, जो उलटे मौत पर आक्रमण कर रहा है और सचमुच मौत उस के सामने मरी जा रही है। इस विचार ने भगत सिंह को उन के लिए एक फ़रिश्ता वना दिया था और उन की वात मानना, उन का कोई काम कर सकना वे लोग अपने जीवन का सौभाग्य मानते थे।

विख्यात क्रान्तिचिन्तक और क्रान्तिकारी श्री शिव वर्मा के शब्दों में—"भगत सिंह और सुखदेव को छोड़ कर और किसी ने न तो समाजवाद पर अधिक पढ़ा ही था और न मनन ही किया था। भगत सिंह और सुखदेव (मैं नम्रतापूर्वक इन दोनों के साथ श्री भगवतीचरण जी का नाम जोड़ना भी उचित समझता हूँ) का ज्ञान भी हमारी तुलना में अधिक ही था। वैसे समाजवाद के हर पहलू को पूरे तौर पर वे भी नहीं समझ पाये थे। यह काम तो पकड़े जाने के वाद लाहौर जेल में सम्पन्न हुआ। भगत सिंह की महानता इस में थी कि वे अपने समय के दूसरे लोगों के मुक़ावले राज-नैतिक तथा सैद्धान्तिक सूझ-वूझ में काफ़ी आगे थे।"

गया में एक वृक्ष खड़ा है। कोई असाधारण वृक्ष नहीं मामूली वृक्ष है। वैसे वृक्ष हमारे देश में और भी अनेक हैं। पर वह वृक्ष संसार-भर के करोड़ों लोगों के लिए तीर्थ हो गया है। वह गया-विहार-का वोधि-वृक्ष है। वह वही वृक्ष है, जिस के नीचे बैठ कर भगवान् वुद्ध ने तप किया था और मानव-जीवन के दुःखों को दूर करने का उपाय खोजा था। भगत सिंह भी अपनी काल-कोठरी में मानव के दुःखों को दूर करने का उपाय खोज रहे थे। फिर वह काल-कोठरी कहाँ थी, वह तो साधना-कक्ष था, उस साधक को जो मृत्यु की साधना के द्वारा राष्ट्र को जीवन की सिद्धि देने में जुटा था।

यह जीवन की सिद्धि दो भागों में बँटी हुई थी, पहला भारत को जकड़ने वाली ग़ुलामी की ज़ंजीरें टूटें और दूसरा यह कि उस के वाद यहाँ ऐसी समाज-व्यवस्था स्थापित हो, जिस में समाज के कुछ लोग नहीं, सव लोग सुखी हों और समान रूप से सव गौरव का अनुभव करें। उन्हों ने काल-कोठरी में रहते-रहते इस गम्भीर अध्ययन के साथ जो पुस्तकें लिखीं वे ये हैं—१. आत्मकथा, २. दि डोर टू डेथ (मौत के दरवाज़े पर), ३. आइडियल ऑव सोशलिज़्म (समाजवाद का आदर्श), ४. स्वाधीनता की लड़ाई में पंजाव का पहला उभार।

पहली पुस्तक में उन का अपना जीवन-चरित्र इस ढंग पर लिखा गया था कि भारत के क्रान्तिकारी दल का पूरा संघर्ष सामने आ जाये। उद्देश्य यह था कि देश के युवक मानसिक रूप से क्रान्तिकारी दल से सम्वद्ध हो जायें। दूसरी पुस्तक में आयरलैण्ड, इटली, फ़ान्स, रूस और इसी तरह अनेक देशों के उन शहीदों और वीरों के जीवन-परिचय दिये गये थे, जिन्हों ने अपने-अपने देश की ग़ुलामी के विरुद्ध संघर्ष किया। उद्देश्य यह था कि देश के युवकों को क्रान्तिकारी कार्यों के लिए प्रेरणा मिले और वे जानें कि राजनैतिक संघर्ष किस प्रकार किया जाता है। तीसरी पुस्तक में समाजवाद का उद्देश्य और विधान मुख्य रूप से चित्रित किया गया था, जिस से देश के भावी नेता स्वतन्त्रता का संविधान वनाते समय कोहरे में भटक न जायें, साफ़ सूरज की रोशनी में देश के नवनिर्माण का रास्ता देख सकें। चौथी पुस्तक में पंजाव के सर्वप्रथम राजनैतिक आन्दोलन—भारतमाता सोसायटी का पूरा इतिहास दे कर १९१५-१६ के ग़दर-पार्टी आन्दोलन का सांकेतिक स्पर्श दे दिया था। इस का उद्देश्य पंजाव के पिछड़े क्रान्तिकारी जीवन को उभार कर खड़ा करना था।

प्रिवी कौन्सिल में भगत सिंह के जीवन-मरण की चर्चा हो रही थी और काल-कोठरी में वैठे भगत सिंह राष्ट्र के जीवन-मरण की चिन्ता में पल-पल लगे हुए थे। प्रिवी कौन्सिल की अपील खारिज हो गयी। भगत सिंह की मृत्यु-साधना अपनी सिद्धि के द्वार आ लगी। लहरों-भँवरों-तूफ़ानों और मगरमच्छों से टकराती और वचती उन की कामना की नाव लक्ष्य के किनारे के पास आ पहुँची थी।

उन्हीं दिनों का एक मार्मिक दृश्य और—दिसम्वर १९३० की वात है। रात के सन्नाटे में श्री शिव वर्मा की काल-कोठरी खुली और उन्हें वाहर लाया गया। हर क़ैदी

जानता है कि इस का अर्थ किसी दूसरी जेल में भेजा जाना है। जेलर इन लोगों के प्रति आदर रखते थे, इस लिए उन्हों ने शिव वर्मा को अपने साथियों से मिलने की सुविधा दे दी।

अब शिव वर्मा भगत सिंह की काल-कोठरी के द्वार पर थे। बेड़ी की झनझनाहट सुन भगत सिंह जाग उठे और कूद कर जँगले से आ लगे। उन्हों ने अपनी भुजाएँ जँगले से बाहर निकालीं और शिव वर्मा ने अपनी भुजाएँ जँगले के अन्दर डालीं। हृदयों के बीच में लोहे की सलाखें थीं, पर भुजाओं ने दोनों को एक जगह समेट दिया था। सोचती हूँ राम समुद्र के इस पार थे, सीता समुद्र के उस पार थीं। कितनी बड़ी दूरी थी दोनों की देहों के बीच, पर कितना सामीप्य था दोनों के हृदयों के बीच और जब समुद्र दो हृदयों को दूर नहीं कर सकता तो लोहे के सींखचे क्या कर सकते।

यह गहरे सुख की घड़ी थी। जीवन-मरण के दो साथी अचानक आ मिले थे। यह दारुण दुःख की घड़ी थी। जीवन-मरण के दो साथी सदा के लिए बिछुड़ रहे थे। आँखें आँखों को आखिरी बार देख रही थीं। कान बातों को आखिरी बार सुन रहे थे। देह देह का स्पर्श आखिरी बार अनुभव कर रही थी। दोनों एक-दूसरे में समाये खड़े थे। शिव वर्मा की आँखें बरस पड़ीं, भगत सिंह हँस कर बोले—"क्रान्तिकारी पार्टी में आते समय मैं ने सोचा था कि अगर मैं 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' का नारा देश के कोने-कोने तक पहुँचा सका तो समझूँगा मेरे जीवन का मूल्य मुझे मिल गया, पर आज तो मैं फाँसी की इस कोठरी में भी अपने उस नारे की गूँज सुन रहा हूँ।" उन्हों ने आलिंगन को ढीला कर शिव वर्मा के दोनों कन्धे पकड़ लिये और पूरे आत्म-विश्वास एवं पूरे आत्मगौरव की ज्योति में जगमगा कर कहा—"मैं समझता हूँ इस छोटी-सी ज़िन्दगी का इस से अधिक मूल्य और हो भी क्या सकता है।"

शिव वर्मा के हाथ भी ढीले पड़ गये और उन्हों ने भगत सिंह का हाथ अपने हाथ में ले लिया। भगत सिंह ने उन का हाथ लाड़ और उत्साह से दबाते हुए कहा—"मैं तो कुछ ही दिनों में सारे झंझटों से छुटकारा पा जाऊँगा, लेकिन तुम लोगों को लम्बा सफ़र पार करना पड़ेगा। मैं विश्वास करता हूँ, तुम इस लम्बे अभियान में थक कर रास्ते में नहीं बैठ जाओगे।" एक बार दोनों हाथ पूरी गरमी से मिले और अलग हो गये, फिर कभी न मिलने के लिए!

साधना-कक्ष या सचिवालय ?

जब भगत सिंह मरण की तूलिका से जीवन का चित्र बना रहे थे, देश की परिस्थितियाँ क्या थीं। साइमन कमीशन, जिस ने साण्डर्स-वध की भूमिका तैयार की थी, १४ अप्रैल १९२९ को अपना दौरा पूरा कर इंगलैण्ड लौट गया था। मई १९२९ के चुनाव में कंज़रवेटिव पार्टी हार गयी थी और इंगलैण्ड में मजदूर सरकार क़ायम हो गयी थी। लाहौर में पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में काँग्रेस का गरमागरम अधिवेशन हो चुका था। समझौते की फ़ालतू बातों के बाद काँग्रेस ने गान्धी जी को अपने आन्दोलन की बागडोर सौंप दी थी। अपना नमक सत्याग्रह उन्हों ने आरम्भ कर दिया था। सारे देश में नमक क़ानून खुले-आम तोड़ा जा रहा था। धरासना और वड़ाला के नमक-गोदामों पर सत्याग्रहियों का आक्रमण अहिंसात्मक होते हुए भी काफ़ी गरम था। जलसे-जुलूसों की बाढ़ आ गयी थी और गिरफ़्तारी मामूली बात हो गयी थी।

जगह-जगह गोलियाँ भी चली थीं, लोग मरे थे, पर उन से लोग डरे नहीं, उन का उत्साह बढ़ा ही था। गान्धी जी गिरफ़्तार कर लिये गये थे और काँग्रेस के दूसरे बड़े नेता भी। पेशावर में गढ़वाली फ़ौज ने अँगरेज़ अफ़सरों के आदेश के विरुद्ध सत्याग्रहियों पर गोली न चला कर अहिंसा का एक चमत्कार ही कर दिया था। बंगाल के क्रान्तिकारी दल के महान् वीर श्री सूर्यसेन के नेतृत्व में चटगाँव शस्त्रागार को लूट लेने के पश्चात् जो घटनाएँ हुईं, उन्हों ने हिंसा की शक्ति का भी शानदार प्रदर्शन कर दिया था। इस सब के आरम्भ में ही वायसराय की ट्रेन पर जिस वैज्ञानिक ढंग से श्री यशपाल ने बम मारा था, उस की किरणें भी वातावरण में छिटक रही थीं और हरिकृष्ण द्वारा पंजाब गवर्नर पर चलायी गोली की सनसनी भी हवा में तैर रही थी। साण्डर्स-वध, असेम्बली बम-काण्ड और मुक़दमे ने देश की नयी पीढ़ी को नयी राजनीतिक चेतना दी थी, वह और भी आगे बढ़ रही थी। पहली गोलमेज़ कॉन्फ़्रेन्स नवम्बर १९३० में जिस बुरी तरह असफल हुई थी, उस ने देश की जनता के असन्तोष को भड़काया ही था। काँग्रेस ने उस कॉन्फ़्रेन्स के निर्णय पर विचार कर के अपने आन्दोलन में कोई परिवर्तन न करने की घोषणा कर दी थी।

इस प्रकार जब देश की जनता मानसिक रूप में पूरी तरह आन्दोलित थी और वायसराय लॉर्ड इरविन धड़ाधड़ आर्डिनेन्स निकाल कर अपनी झुंझलाहट का परिचय दे रहे थे, प्रिवी कौन्सिल ने भगत सिंह और उन के साथियों को अपील ख़ारिज कर दी। भगत सिंह ने अपील का आधार ही ऐसा रखा था कि उसे ख़ारिज करने के सिवा कोई चारा न हो। अपील ख़ारिज होने का वही प्रभाव पड़ा जो भगत सिंह ने सोचा था, चाहा था। जनता भड़क उठी और पेशावर से मद्रास तक इस के विरोध में जुलूस निकले, जलसे हुए। जो जलसे काँग्रेस के द्वारा संगठित हुए, उन में भी भाषणों का मुख्य विषय भगत सिंह हो गये। लोग जोश के साथ उन की वीरता का बखान करते, उन की जय बोलते, और उन का नारा 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' गुँजाते।

जलसे-जुलूसों के साथ देश भर में हस्ताक्षर आन्दोलन शुरू हो गया और भगत सिंह की जीवन-रक्षा के लिए लाखों हस्ताक्षरों से भरे अनुरोध पत्र वायसराय को भेजे गये। इस से कौन असहमत होगा कि क़लम से किये इन लाखों हस्ताक्षरों के साथ करोड़ों अलिखित हस्ताक्षर भी थे। हज़ारों तार वायसराय को भेजे गये और सैकड़ों इंगलैण्ड में भारत-मन्त्री को। नगर-नगर में ऐसे परचे छपे, वँटे जिन में भगत सिंह के बचाव का अनुरोध था तो खून का बदला खून का प्रतिशोध भी था। यही नहीं बीकानेर और दूसरे कई राज्यों के नरेशों ने वायसराय से प्रार्थना की और इंगलैण्ड की पार्लामेण्ट के अनेक सदस्यों ने भी वायसराय को तार दिये कि वे भगत सिंह के जीवन की रक्षा करें। भगत सिंह भारत की हर माता के लाड़ले बेटे और हर बहन के लाड़ले भाई बन चुके थे, इस लिए हर माता और बहन उन के जीवन को बचाना चाह रही थी। सोचती हूँ यह इतिहास का कैसा मार्मिक क्षण था कि देश का हर नागरिक उस जीवन को बचाने के लिए उत्सुक और आकुल था जिस की योजना पूर्वक आहुति देने के लिए भगत सिंह उत्सुक और आकुल थे।

बाहर यह सब हो रहा था और भीतर अपनी काल-कोठरी में बैठे भगत सिंह अपने अध्ययन, चिन्तन और लेखन की गहराइयों में उतर रहे थे। गीता में अनासक्ति योग का वर्णन है, पर भगत सिंह तो मृत्यु और कष्ट के प्रति अनासक्ति के जीवित उदाहरण ही बन गये थे। जब देश का बच्चा-बच्चा उन की मृत्यु की सम्भावना से त्रस्त था, विह्वल था, वे कितने निर्लिप्त, कितने शान्त, और कितने सजीव थे, यह उन के उस पत्र से सिद्ध है, जो उन्हों ने अपने साथी सुखदेव को काल-कोठरी से लिख भेजा था। सुखदेव भी अपनी काल-कोठरी में बैठे फाँसी की प्रतीक्षा कर रहे थे, पर अपने विचारों की चंचलता से ग्रस्त थे। उस पत्र के कुछ उद्बोधक अंश इस प्रकार हैं —

"एक दिन मैं ने आत्महत्या के विषय पर आप को बताया था कि कई परिस्थितियों में आत्महत्या उचित हो सकती है, परन्तु आप ने विरोध किया था। अब आप उसे कुछ अवस्थाओं में न केवल उचित, वरन अनिवार्य एवं आवश्यक समझते हैं। मेरी इस विषय में अब वही राय है, जो आप की थी अर्थात् आत्महत्या एक

घृणित अपराध है और यह पूर्ण कायरता का कार्य है।....''

''आप कहते हैं कि आप यह नहीं समझ सके कि केवल कष्ट सहन करने से आप अपने देश की सेवा कैसे कर सकते हैं। मैं समझता हूँ कि आप ने अधिक से अधिक सम्भव सेवा की। अब वह समय है कि जो कुछ आप ने किया, उस के लिए कष्ट सहन करें। दूसरी बात यह है कि यही वह अवसर है जहाँ आप को सम्पूर्ण जनता का नेतृत्व करना है। क्या आप का यह विचार है कि यदि हम ने इस दया के लिए गिड़गिड़ाते हुए दण्ड से बचने का प्रयत्न किया होता, तो हमारा यह कार्य उचित होता। नहीं, इस का प्रभाव लोगों पर उलटा होता। अब हम अपने लक्ष्य में पूर्णतया सफल हुए हैं।

हमें धैर्यपूर्वक फाँसी की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यह मृत्यु सुन्दर होगी, परन्तु आत्महत्या करना केवल कुछ दुःखों से बचने के लिए अपने जीवन को समाप्त कर देना तो कायरता है। मैं आप को बताना चाहता हूँ कि आपत्तियाँ व्यक्ति को पूर्ण बनाने वाली होती हैं।

यदि आप यह अनुभव करते हैं कि जेल का जीवन वास्तव में अपमानपूर्ण है, तो आप उस के विरुद्ध आन्दोलन कर के उसे सुधारने का प्रयास क्यों नहीं करते। सम्भवतः आप यह कहेंगे कि यह संघर्ष सफल नहीं हो सकता, परन्तु यह तो वही तर्क है, जिस की आड़ ले कर साधारणतया निर्बल लोग प्रत्येक आन्दोलन से बचना चाहते हैं।

भगत सिंह की दृष्टि फाँसीघर की काल-कोठरी में स्फटिक की तरह साफ़ है और एक्सरे की तरह अन्तर्दर्शी है। समय का जो प्रवाह बह रहा है, वह उस के नेता भी हैं और कमाल है कि तट पर बैठे एक निर्लिप्त दर्शक भी हैं। इसी पत्र में उन के शब्द हैं —

''यदि हम इस क्षेत्र में न उतरे होते, तो क्या कोई भी क्रान्तिकारी कार्य कदापि न हुआ होता? यदि आप ऐसा सोचते हैं तो भूल है। यद्यपि यह ठीक है कि हम भी वातावरण को बदलने में बड़ी सीमा तक सहायक सिद्ध हुए हैं तथापि हम तो केवल अपने समय की आवश्यकता की उपज हैं। मैं तो यह भी कहूँगा कि साम्यवाद का जन्मदाता मार्क्स वास्तव में इस विचार को जन्म देने वाला नहीं था, वरन् युरॅप की औद्योगिक क्रान्ति ने ही एक विशेष विचार वाले व्यक्ति उत्पन्न किये थे, जिन में मार्क्स भी एक था। अपने स्थान पर मार्क्स भी निस्सन्देह कुछ सीमा तक समय के चक्र को एक विशेष प्रकार की गति देने में अवश्य सहायक सिद्ध हुआ था। मैं ने और आप ने इस देश में समाजवाद या साम्यवाद के विचारों को जन्म नहीं दिया है, वरन् यह तो हमारे ऊपर हमारे समय एवं परिस्थिति के प्रभाव का परिणाम है। निस्सन्देह हम ने इन विचारों का प्रचार करने के लिए कुछ साधारण एवं तुच्छ कार्य अवश्य किये हैं।''

मैं जब-जब इस पत्र को पढ़ती हूँ, मुग्ध भाव से सोचती हूँ, यह पत्र है या भगत सिंह के महान् व्यक्तित्व का फ़ोटो है ? और जब-जब उन परिस्थितियों को याद करती हूँ, जिन में यह लिखा गया है, तो स्तब्ध भाव से सोचती हूँ, क्या वे मानसिक रूप से उसी स्थिति में पहुँचे हुए मनुष्य नहीं थे जिसे गीता में मनुष्यता की सर्वश्रेष्ठ परिणति ब्राह्मी स्थिति कहा गया है और वह स्थिति प्राप्त करने वाले को स्थितप्रज्ञ ?

जब यह सब हो रहा था, २५ जनवरी १९३१ को वायसराय ने गान्धी जी, काँग्रेस वर्किंग कॅमिटी के सदस्य तथा कुछ अन्य प्रमुख काँग्रेस नेताओं को जेल से छोड़ दिया। अपनी विज्ञप्ति में उन्हों ने कहा कि—(प्रथम) गोलमेज़ कॉन्फ़्रेन्स के निर्णयों पर नेता लोग आपस में खुला विचार-विनिमय कर सकें, इस लिए जेल के द्वार खोल दिये गये हैं। इस घटना ने वातावरण में एक नयी चमक पैदा कर दी। इस चमक का एक रूप तो यह था कि जनता के मन में यह आशा जाग उठी कि काँग्रेस और सरकार में कोई फ़ैसला होने वाला है और दूसरी बात यह कि उस फ़ैसले के परिणाम-स्वरूप भगत सिंह और उन के साथियों का जीवन बच जायेंगा।

१७ फ़रवरी १९३१ को गान्धी जी वायसराय से पहली बार मिले और बातें चार घण्टे तक चलीं। गान्धी जी 'एक मनुष्य की हैसियत से' (उन्हीं के शब्द) मिले थे पर काँग्रेस कार्यसमिति ने उन्हें समझौते के पूर्ण अधिकार दे दिये थे, इस से वातावरण में समझौते की हवा अपने शीतल रूप में वह चली। भगत सिंह तो समझौते की बात तब कह और लिख चुके थे, जब कहीं दूर पास भी समझौते की गन्ध न थी, फिर इस समय वे कैसे तटस्थ रह सकते थे। उन्हों ने अपनी काल-कोठरी के सचिवालय से २ फ़रवरी १९३१ को गान्धी जी के छूटने के कुल आठवें दिन, देश में युवकों के नाम एक सन्देश लिख कर भेजा, उस के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—

"इस समय हमारा आन्दोलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों में से गुज़र रहा है। एक साल के कठोर संग्राम के बाद गोलमेज़ कॉन्फ़्रेन्स ने हमारे सामने शासन-विधान में परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ निश्चित बातें पेश की हैं और काँग्रेस के नेताओं को निमन्त्रण दिया है कि वे आ कर शासन-विधान तैयार करने के काम में मदद दें। काँग्रेस के नेता इस हालत में आन्दोलन को स्थगित कर देने के लिए उद्यत दिखाई देते हैं। वे लोग आन्दोलन स्थगित करने के हक़ में फ़ैसला करेंगे या उस के खिलाफ़ यह बात हमारे लिए महत्त्व नहीं रखती। यह बात निश्चित है कि वर्तमान आन्दोलन का अन्त किसी-न-किसी प्रकार के समझौते के रूप में होना लाज़मी है। यह दूसरी बात है कि समझौता जल्दी हो जाये या देर में हो।

वस्तुतः समझौता कोई ऐसी हेय और निन्दनीय वस्तु नहीं है जैसा कि साधारणतया हम लोग समझते हैं, बल्कि राजनैतिक संग्रामों का समझौता एक आवश्यक अंग है। कोई भी क़ौम जो किसी अत्याचारी शासन के विरुद्ध खड़ी होती है, यह ज़रूरी है कि वह प्रारम्भ में असफल हो, और अपनी लम्बी ज़द्दो-ज़हद के

मध्यकाल में इस प्रकार के समझौतों के ज़रिये कुछ राजनैतिक सुधार हासिल करती जाये, परन्तु वह अपनी चढ़ाई की आख़िरी मंज़िल तक पहुँचते-पहुँचते अपनी ताक़तों को इतना संगठित और दृढ़ कर देती है कि उस का दुश्मन पर आख़िरी हमला ऐसा ज़ोरदार होता है कि शासक लोगों की ताक़तें उन के उस वार के सामने चकनाचूर हो कर गिर पड़ती हैं। ऐसा भी होता है कि उस वक़्त उसे दुश्मन के साथ कोई समझौता कर लेना पड़े।

जिस बात को मैं बताना चाहता हूँ वह यह है कि समझौता भी ऐसा हथियार है जिसे राजनैतिक जद्दो-जहद के बीच में क़दम-क़दम पर इस्तेमाल करना आवश्यक हो जाता है। यह इस लिए कि एक कठिन लड़ाई से थकी हुई क़ौम को थोड़ी देर के लिए आराम मिल सके और वह अगले युद्ध के लिए अधिक ताक़त के साथ तैयार हो सके। इन सारे समझौतों के बावजूद जिस चीज़ को हमें नहीं भूलना चाहिए वह हमारा आदर्श है, जो हमेशा हमारे सामने रहना चाहिए।

भारत की वर्तमान लड़ाई ज़्यादातर मध्य श्रेणी के लोगों के बलबूते पर लड़ी जा रही है, जिस का लक्ष्य बहुत सीमित है। काँग्रेस दुकानदारों और पूँजीपतियों के ज़रिये इंग्लैण्ड पर अधिक दबाव डाल कर कुछ अधिकार लेना चाहती है, परन्तु जहाँ तक देश के करोड़ों मज़दूरों और किसानों का सम्बन्ध है, उन का उद्धार इतने से नहीं हो सकता। यदि देश को लड़ाई लड़नी हो तो मज़दूरों, किसानों, और सामान्य जनता को आगे लाना होगा, उन्हें लड़ाई के लिए संगठित करना होगा। नेता उन्हें आगे लाने के लिए अभी तक कुछ नहीं कर सके हैं। इन किसानों को विदेशी हुकूमत के जुए के साथ-साथ भूमिपतियों के जुए से भी उद्धार पाना है, परन्तु काँग्रेस का उद्देश्य यह नहीं है। इस लिए मैं कहता हूँ कि काँग्रेस के लोग पूर्ण क्रान्ति नहीं चाहते। मैं यह भी कहता हूँ कि काँग्रेस का आन्दोलन किसी-न-किसी समझौते या असफलता के रूप में ख़त्म हो जायेगा।"

इसी सन्देश में उन्हों ने नये शासन-विधान को परखने के लिए तीन कसौटियाँ दीं—१. शासन की ज़िम्मेदारियाँ कहाँ तक भारतवासियों को सौंपी जाती हैं, २. शासन-विधान को चलाने के लिए किस प्रकार की सरकार बनायी जाती है और उस में हिस्सा लेने का आम जनता को कहाँ तक मौक़ा मिलता है, ३. भविष्य में उस से क्या आशाएँ की जा सकती हैं और उस पर कहाँ तक प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं ?

समझौते के सम्बन्ध में गहरा विश्लेषण करते हुए उन्हों ने कहा—"इन सब अवस्थाओं पर विचार कर के मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि सब से पहले हमें सारी अवस्थाओं का चित्र साफ़ तौर पर अपने सामने अंकित कर लेना चाहिए। मैं यह मानता हूँ कि समझौते का अर्थ कभी आत्मसमर्पण या पराजय स्वीकार करना नहीं, किन्तु एक क़दम आगे बढ़ना और फिर कुछ आराम करना है। साथ ही यह भी समझ

लेना चाहिए कि समझौता इस से अधिक भी और कुछ नहीं है। वह अन्तिम लक्ष्य और हमारे लिए अन्तिम विश्राम का स्थान नहीं है।"

जनता को कैसे जाग्रत् किया जाये और कैसे संगठित इस का निर्देशन देने के बाद भगत सिंह कहते हैं—"यह बात प्रसिद्ध ही है कि मैं आतंकवादी (टेरेरिस्ट) रहा हूँ, परन्तु मैं आतंकवादी नहीं हूँ। मैं एक क्रान्तिकारी (रेव्यूलेशनरी) हूँ, जिस के कुछ निश्चित विचार, निश्चित आदर्श और एक लम्बा कार्यक्रम है। मुझे यह दोष दिया जायेगा (जैसा कि लोग रामप्रसाद बिस्मिल को भी देते थे) कि फाँसी की काल-कोठरी में पड़े रहने से मेरे विचारों में भी कोई परिवर्तन आ गया है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। मेरे विचार अब भी वही हैं और मेरा लक्ष्य अब भी वही है, जो जेल से बाहर था।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हम बम और पिस्तौल से कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। यह बात हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी के इतिहास से आसानी से मालूम हो जाती है। केवल बम फेंकना न सिर्फ़ व्यर्थ है, परन्तु बहुत बार हानिकारक भी है। उस की आवश्यकता किन्हीं ख़ास अवस्थाओं में ही पड़ा करती है। हमारा मुख्य लक्ष्य मज़दूरों और किसानों का संगठन होना चाहिए। सैनिक विभाग (दल का) युद्ध-सामग्री को किसी ख़ास मौक़े के लिए केवल संग्रह करता रहे। यदि युवक इसी प्रकार प्रयत्न करते जायेंगे तब एक साल में स्वराज्य तो नहीं होगा, किन्तु भारी क़ुरबानी और त्याग की कठिन परीक्षा में से गुज़रने के बाद वे अवश्य विजयी होगें। इनक़लाब ज़िन्दाबाद।"

यह सन्देश असल में राष्ट्र की नयी पीढ़ियों के नाम भगत सिंह की वसीयत है और यह प्रमाण-पत्र है उन के परिपुष्ट राजनैतिक व्यक्तित्व का। यह एक आश्चर्य ही है कि अपने क्रान्तिकारी जीवन के आरम्भ में ही (१९२३ में कानपुर रहते समय) उन की दृष्टि आतंकवाद के छूमन्तर से दूर क्रान्ति के लिए एक लम्बी जन-संगठनात्मक साधना पर टिकी थी, जब कि दूसरे साथी अजय घोष के शब्दों में—"क्रान्ति को आज-कल-परसों की बात समझते थे, भगत सिंह के लिए वह दूर की योजना थी। अपनी सात वर्षों की मृत्यु-साधना से वे आतंकवाद को क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन के जिस चौराहे पर ले आये थे, यह सन्देश उस का उद्घाटन-भाषण है। इस में उन का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से निखर कर सामने आ गया है, जिस के सम्बन्ध में उन के साथी श्री शिव वर्मा ने बातचीत में भाई जगमोहन सिंह से कहा था—"मैं भगत सिंह की राजनैतिक प्रौढ़ता (पोलिटिकल मैच्योरिटि) का बहुत क़ायल हूँ, सच बात तो यह है कि मैं ने आज तक ऐसी मैच्योर पर्सनैलिटी (प्रौढ़ व्यक्तित्व) नहीं देखी।"

श्री शिव वर्मा के ही एक दूसरे अवसर पर कहे हुए शब्द हैं—"अगर मैं ईश्वर को मानता होता, तो मैं भगत सिंह की पूजा करता। उन की भविष्य-वाणियाँ सच हो

रही हैं। नम्रता के साथ कहूँ, भारत में समाजवाद के प्रथम उद्घोषक भगत सिंह इस सन्देश में समाजवादी शासन के प्रथम विधाता महान् लेनिन के स्तर से बोले हैं और उन के बोलने की शैली भी लेनिन की विवेचनात्मक शैली का प्रतिरूप हो उठी है। मन इस कल्पना से मर्माहत और अभिभूत हो उठता है कि परिस्थितियाँ उन्हें जीने देतीं, तो वे भारत के लेनिन ही सिद्ध होते।''

■ ■

कोई दम का मेहमाँ हूँ—

भगत सिंह ने होश सँभालते-सँभालते जो याद रखने योग्य वात सुनी, वह थी अपने चाचा सरदार अजीत सिंह के निर्वासन की, देश से फ़रार हो कर विदेश जाने की और अँगरेज़ों के विरुद्ध उन की वग़ावत की। भगत सिंह ने अक्षरों का वोध होने पर जो कुछ सब से पहले पढ़ा, वह था सरदार अजीत सिंह का साहित्य। भगत सिंह ने अक़्ल सँवारते-सँवारते जो कुछ देखा, वह थी चाची हरनाम कौर—श्रीमती अजीत सिंह की आँखों से वहती अश्रुधारा। भगत सिंह ने अपने वचपन में जो कुछ वार-वार सुना, वह था चाची हरनाम कौर का प्रश्न—"भागों वाले, तुम्हारे चाचा जी का कोई पत्र आया ?"

इन सव वातों ने उन के मन पर सरदार अजीत सिंह की ऐसी तसवीर खींच दी जो कभी मैली नहीं हुई, पर जिस तसवीर में रंग भरने का उन के जीवन में कभी अवसर नहीं आया, क्यों कि भगत सिंह के गिरफ़्तार हो जाने तक यही पता न था कि सरदार अजीत सिंह ज़िन्दा भी हैं या नहीं। भगत सिंह ने दशहरा वम-काण्ड में अपनी गिरफ़्तारी के वाद अपने सहपाठी श्री अमरचन्द को जो पत्र अमेरिका लिख भेजा था, उस की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"भाई, हमारे मुमालिक ग़ैर (विदेशों) में जा कर तालीम (शिक्षा) हासिल करने की ख़्वाहिश ख़ूब पायमाल (वरवाद) हुई। अच्छा, तुम्हीं लोगों को सव मुवारक। कभी मौक़ा मिले तो अच्छी कितावें भेजने की तकलीफ़ उठाना। आख़िर अमेरिका में लिट्रेचर (साहित्य) तो वहुत है। सानफ़्रान्सिस्को वग़ैरह की तरफ़ से सरदार जी (चाचा जी) का शायद कुछ पता मिल सके। कोशिश करना। कम अज, कम ज़िन्दगी का यक़ीन तो हो जाये।"

जव भगत सिंह लाहौर जेल में भूख-हड़ताल कर रहे थे, पण्डित जवाहरलाल नेहरू उन से मिले थे। नेहरू जी के शब्दों में—"भगत सिंह की विशेष इच्छा अपने चाचा सरदार अजीत सिंह से, जो १९०९ में लाला लाजपत राय के साथ निर्वासित कर दिये गये थे, मिलना या कम से कम उन की ख़वर पाना मालूम हुई। वह कई वरसों तक देश-निकाले में रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि दक्षिण अमेरिका में वस गये

हैं, मगर मुझे खयाल नहीं है कि उन के बारे में निश्चित खबर हो। मुझे यह भी पता नहीं वे मर गये हैं या जीते हैं।"

इस के कुछ दिन बाद सरदार अजीत सिंह का पत्र किसी दूसरे व्यक्ति की मार्फ़त मिल गया था। वे ब्राजील में थे और यद्यपि उन्हें भगत सिंह के बारे में कुछ पता न था, फिर भी यह एक अद्भुत बात है कि जैसे भगत सिंह की उन में दिलचस्पी थी, उन की भी भगत सिंह में दिलचस्पी थी। पत्र में लिखा था—"अगर भगत सिंह की शिक्षा पूरी हो चुकी हो, वे उस से निमट चुके हों, तो उन्हें ब्राजील भेज दिया जाये।" भगत सिंह ने प्रयत्न किया था कि उन के छोटे भाई कुलवीर सिंह ब्राजील आ जायें, पर यह सम्भव न हो सका। बहरहाल काल-कोठरी में रहते और फाँसी की प्रतीक्षा करते समय भी उन्हें सरदार अजीत सिंह में बेहद दिलचस्पी थी। एक क्रान्तिकारी दूसरे क्रान्तिकारी के ध्यान में रसलीन था। ठीक भी है, क्रान्ति की जो वेदी भगत सिंह के द्वारा हवनकुण्ड का रूप ले रही थी, उस की पहली समिधाएँ तो सरदार अजीत सिंह ने ही रखी थीं।

लाला पिण्डीदास जी के शब्दों में—"मैं भगत सिंह से आख़िरी बार मिला तो पूछा—'कहो भगत, कोई आखिरी ख़्वाहिश, कोई आख़िरी पयाम?' भगत बोला—'चाचा जी, सिर्फ़ एक ख़्वाहिश है। काश, कोई मुझे मरने से पहले मेरे महबूब चाचा (सरदार अजीत सिंह) से मिला दे, जिन को बे-देखे मैं उन का आशिक बना, जिन के नक़्शे-क़दम (पद-चिह्न) पर चल कर मैं ने इस अश्क की वादी—(आँसुओं की भूमि) में क़दम रखा और जिन के प्यार ने मुझे मंज़िल तक पहुँचा दिया।' आँखों पर रूमाल रखे मैं लौट आया। मुनासिब मुक़ाम तक इस ख़्वाहिश को पहुँचाया गया, पर क़ामयाबी न हुई।"

३ मार्च १९३१ को भगत सिंह के साथ परिवार वाले अन्तिम बार मिले। मुलाक़ात—अपनों का अपनों से मिलना—हमेशा ही बड़ी बात होती है, फिर जेल में मुलाक़ात तो ज़िन्दगी की एक बरक़त है, क्यों कि वह अपनों को उन अपनों से मिलाती है जो बिछुड़ गये हैं और यह विश्वास दिलाती है कि बिछोह अस्थायी है, बाहरी है। वे अब भी भीतरी रूप में, मन से, एक हैं और देर-सवेर फिर एक हो कर रहेंगे, पर अन्तिम मुलाक़ात? इस का दर्द वही जान सकते हैं, जिन्हों ने कभी किसी अपने से अन्तिम मुलाक़ात की हो। सोच कर ही कलेजा फटने लगता है। दिल चाहता है कि अपने लाड़ले को अपने में समा लें, छिपा लें, ले भागें, किसी की नज़र न लगने दें, पर परिस्थितियाँ चाह का साथ नहीं देतीं। मन में हज़ारों बातें उमड़ती रहती हैं, पर बाहर एक नहीं आती। बाहर आते हैं आँसू। हाय, कम्बख़्त आँसू, जो आँखों को देखने भी नहीं देते, आखिरी बार अपने लाड़ले को और उन्हें डुबा लेते हैं अपने में।

उस दिन की मुलाक़ात में माता-पिता थे, दादा जी थे, चाची थीं और भाई थे। सब से अधिक अधीर थे दादा सरदार अर्जुन सिंह, जिन्हों ने इस वंश में क्रान्ति का

पौधा रोपा था और जिस का फल उन के सामने था। वह ऐसा फल था जिसे पा कर ऐसा गौरव मिले, जो देवताओं के लिए भी ईर्ष्या की वस्तु हो, पर जिस के साथ इतने तेज़ काँटे हों कि रोम-रोम में विच्छू के डंक की तरह ज़हर भर दें।

वे भगत सिंह के पास एक बार आये और उन्हों ने उन के सिर पर इस तरह हाथ फेरा, जैसे भगत सिंह एक छोटे से वालक हों। उन्हों ने वहुत-कुछ चाहा कि वे कुछ कहें, पर उच्छ्वास इतना प्रवल था कि वोल कण्ठ को पार कर जीभ तक आये जरूर, पर अधरों की कातर कँपकँपी ने उन्हें शब्दों का रूप न लेने दिया और न एक भींगी फुसफुसाहट वन कर रह गये। उद्वेग इतना प्रवल था कि पास खड़े रहना असम्भव हो गया और वे दूर जा खड़े हुए—उन के भाव आँसू वन कर वरावर वहते रहे।

जिस माँ ने जन्म दिया, जिन चाचियों ने गोद खिलाया, वे भी कहने-भर को पास थीं, पर हज़ारों-लाखों मील दूर। सच भी तो है, जो अपने में खुद ही खोया हुआ हो, वह किसी के पास क्या होगा। जो अपने ही दुःख में डूवा हुआ है, वह किसी से क्या कहेगा? भाइयों के मनों में कितनी स्मृतियाँ थीं, मीठी-मीठी, पर वे इस क्षण कितनी कड़वी लग रही थीं। बुखार के वीमार को धनिये-पोदीने की चटनी भी नीम लगती है। जिन क्षणों में हम स्वयं कड़वे हों, उन में हमें कौन मीठा कर सकता है?

और जिस के छिनने के दुःख में सब विह्वल थे, उस की क्या दशा थी। वे थे भगत सिंह और वे सदैव की भाँति पूर्ण शान्त और पूर्ण प्रसन्न थे और परिवार वालों को अपना वज़न वढ़ जाने का समाचार खुशी-खुशी सुना रहे थे। उन के भीतर की ज्योति पूरी तरह जागृत थी। सव का विश्वास था—अभी और भी मुलाक़ातें होंगी, पर भगत सिंह का विश्वास था यह अन्तिम मुलाक़ात है। उन्हों ने अपनी माता जी से कहा—"वेवे जी, दादा जी अव ज़्यादा दिन नहीं जियेंगे। आप बंगा जा कर इन के पास ही रहना।" सब से उन्हों ने अलग-अलग वात की, सब को धीरज दिया, सान्त्वना दी। अन्त में वेवे जी को पास बुला कर हँसते-हँसते पूरी मस्ती से भरे स्वर में कहा—"लाश लेने आप मत आना। कुलवीर को भेज देना। कहीं आप रो पड़ीं तो लोग कहेंगे कि भगत सिंह की माँ रो रही है। इतना कह कर वे इतने ज़ोर से हँसे कि जेल-अधिकारी उन्हें फटी आँखों से देखते रह गये। सोचती हूँ, यह हँसी, उन के पारिवारिक जीवन-यज्ञ का स्वस्ति-वाचन थी, अखण्ड पाठ की अरदास थी, जीवन-काव्य का उपसंहार थी। उन्हों ने जीवन में क्षण-क्षण समाज पर हँसी विखेरी और राष्ट्र के आँसुओं को हँसी में वदलने के लिए अपने खून की एक-एक बूँद लगा दी। अव समाज और राष्ट्र उन की स्मृतियों पर अपने महकते फूल बरसा रहा है।

सव मिल कर लौट आये। भगत सिंह ने उसी दिन अपने छोटे भाई कुलवीर सिंह को पत्र लिखा और तव उन से छोटे भाई (उस समय उम्र १२ वर्ष) कुलतार सिंह को यह पत्र लिखा—

सेण्ट्रल जेल, लाहौर
३ मार्च १९३१

अजीज कुलतार,

आज तुम्हारी आँखों में आँसू देख कर बहुत दुःख हुआ। आज तुम्हारी बातों में बहुत दर्द था, तुम्हारे आँसू मुझ से सहन नहीं होते। बर्खुरदार हिम्मत से शिक्षा प्राप्त करना और सेहत का ख़याल रखना। हौसला रखना और क्या कहूँ—

उसे फ़िक्र है हरदम नया तर्ज़े ज़फ़ा क्या है,
हमें यह शौक़ देखें सितम की इन्तहा क्या है।
दहर से क्यों ख़फ़ा रहें, चर्ख़ का क्यों गिला करें,
सारा जहाँ अदू सही आओ मुक़ाबला करें॥
कोई दम का मेहमाँ हूँ, ए अहले महफ़िल
चराग़े सहर हूँ, बुझा चाहता हूँ।
मेरी हवा में रहेगी ख़्याल की बिजली
यह मुश्ते ख़ाक है फ़ानी रहे, न रहे॥

अच्छा रुख़सत। ख़ुश रहो अहले वतन, हम तो सफ़र करते हैं।
हौसला से रहना। नमस्ते।

तुम्हारा भाई—भगत सिंह

भगत सिंह के जीवन का यही निजी अन्तिम पत्र था, जो उन की वीरता का भी प्रतीक है और इन्सानियत का भी। इस के द्वारा वे अपने राष्ट्र की जनता को अपना सन्देश भी दे गये और शुभकामना भी। सन्देश था—'सारा जहाँ अदू सही, आओ मुक़ाबला करें और शुभकामना थी—'ख़ुश रहो अहले वतन, हम तो सफ़र करते हैं।"

■ ■

समझौता और समझौता, गान्धी-इरविन समझौता पत्रों की हेड लाइनों पर छा गया था और पत्रों के पहले पृष्ठों पर अब उसी के समाचार छाये रहते थे। कभी खबर आती थी कि गान्धी जी और वायसराय समझौते के एकदम पास पहुँच गये हैं और कभी यह कि बात में गाँठ पड़ गयी है। आशा और निराशा की आँधियाँ चल रही थीं, पर सब समझौते के लिए उत्सुक थे। ३ मार्च १९३१ को, जब भगत सिंह अपने परिवार वालों से अन्तिम बार मिले, तो गान्धी जी रात में ढाई बजे तक वायसराय लॉर्ड इरविन और गृह-सचिव श्री इमर्सन से बातें करते रहे। बातें उलझती रहीं, बातें सुलझती रहीं; और ४ मार्च १९३१ को रात के अन्त में, यानी ५ मार्च १९३१ की ब्रह्मवेला में काँग्रेस और अँगरेज़ी सरकार में समझौता हो गया। इतिहास में इसे कहा गया गान्धी-इरविन समझौता।

इस समझौते में १६ धाराएँ थीं। ९ वीं धारा इस प्रकार थी—"वे क़ैदी छोड़ दिये जायेंगे, जो सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सिलसिले में ऐसे अपराधों के लिए क़ैद भोग रहे होंगे जिन में नाम मात्र की हिंसा को छोड़ कर और किसी प्रकार की हिंसा या हिंसा के लिए उत्तेजना का समावेश न हो।"

इस का साफ़ अर्थ था कि भगत सिंह और उन के साथियों की फाँसी रोकने का इस से कोई दूर पार भी वास्ता न था। जनता में इस से गहरी निराशा छा गयी, पर गान्धी जी ने ५ मार्च १९३१ की शाम को ही पत्रकार सम्मेलन में, जिस में अमेरिकी, बरतानवी और भारतीय पत्रकार थे, अपने वक्तव्य में कहा—"व्यक्तिगत रूप से उन लोगों के, जो हिंसा करने के दोषी हैं, जेल में भेजे जाने की प्रणाली पर मेरा विश्वास नहीं है। मेरा विश्वास है कि वे लोग महसूस करेंगे कि न्यायपूर्वक उन की रिहाई के लिए नहीं कह सकता था लेकिन इस का यह मतलब नहीं कि मुझे अथवा कार्यकारिणी के सदस्यों को उन का ख्याल नहीं है।"

यह बात जनता में चर्चा का और क्रान्तिकारियों में रोष का विषय रही है कि गान्धी जी सरकार के साथ समझौते की स्थिति होते भी भगत सिंह और उन के साथियों की फाँसी क्यों नहीं रुकवा सके ? बात को

उस की जगह तक पहुँचाने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि समझौते से पहले और समझौते के बाद भी गान्धी जी ने भगत सिंह और उन के साथियों की जीवन-रक्षा के लिए निजी तौर पर प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सके। जो हो, गान्धी जी फाँसी रुकवाने के लिए अपने ढंग पर प्रयत्न कर रहे थे और समझौते के कारण देश में उन का जो प्रभाव बढ़ गया था, उस के कारण इस सम्बन्ध में एक मात्र वे ही जनता की आशा के केन्द्र-बिन्दु थे।

जिस ट्रिब्यूनल ने भगत सिंह और उन के साथियों को फाँसी की सज़ा दी थी, अपना काम पूरा कर वह समाप्त हो गया था। साण्डर्स-वध और असेम्बली बम-काण्ड ने अँगरेज़ सरकार के मन पर क्रान्तिकारियों की धाक बैठा दी थी। इस लिए ट्रिब्यूनल के सदस्य भारत से बाहर चले गये थे, या फिर इधर-उधर हो गये थे। भगत सिंह के पिता सरदार किशन सिंह सूझ के बादशाह थे। उन्हों ने इस अवसर का तुरन्त लाभ उठाया और ऐसा क़ानूनी निशाना लगाया कि एक बार तो सरकार भौंचक रह गयी। उन्हों ने हाईकोर्ट में यह प्रश्न उठाया कि जो अदालत फाँसी का आदेश देती है, वही फाँसी की तारीख़ निश्चित कर सकती है। अब चूँकि फाँसी देने वाली अदालत बिना फाँसी की तारीख़ निश्चित किये भंग हो गयी है, इस लिए कोई दूसरी अदालत फाँसी की तारीख़ निश्चित नहीं कर सकती। इस का अर्थ यह है कि फाँसी अब लग ही नहीं सकती।

प्रश्न इतना उलझाने वाला था कि हाईकोर्ट के जस्टिस भी इस पर एकदम 'हाँ' या 'ना' न कर सके और उन्हों ने उसे विचाराधीन विषयों में रख लिया। इस से जनता के मन में खिंचाव भी आया और आशा का भाव भी, पर क़ानून के ऊँचे स्तर पर यह सलाह हुई कि समझौते का अवसर है, हाईकोर्ट के सामने उलझनें हैं और देश-भर में फाँसी रोकने की गरमा-गरम माँग है, इस लिए यदि इस समय वायसराय को फाँसी रोकने का आदेश देने के लिए एक अच्छा बहाना दिया जाये तो सफलता निश्चित है। यह बहाना मर्सी पिटीशन—दया की प्रार्थना—ही हो सकता है, पर प्रश्न यह था—क्या भगत सिंह, जो अपील के लिए ही तैयार नहीं थे इस के लिए तैयार होंगे। सब का ध्यान फिर श्री प्राणनाथ मेहता की ओर गया। वे इस केश में वकील भी थे और भगत सिंह के मन में उन के लिए एक कोमल कोना भी सुरक्षित था। दोनों की बातचीत भी श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के शब्दों में—

"प्राणनाथ ने कहा—'गान्धी जी आप लोगों के लिए बहुत प्रयत्न कर रहे हैं और उन के प्रयत्न सफल हो सकते हैं, यदि उन्हें आप लोगों का सहयोग मिले'।

राजगुरु ने गम्भीर हो कर पूछा—'हम लोगों का सहयोग कैसा।'

प्राणनाथ ने कहा—'इतने सीरीयस न बनो राजगुरु, तुम्हारा यह रूप देख कर मुझे डर लगता है।'

वातावरण फिर से हलका हो गया। प्राणनाथ ने कहा—'दोस्तो, तुम इस बात

को तो मानते हो कि हिन्दुस्तान की आज़ादी वहुत दूर नहीं है।'

भगत सिंह ने कहा—'ज़रूर, यही विश्वास तो हमारी प्रेरक-शक्ति वना हुआ है।'

प्राणनाथ वोले—'तो फिर आज़ाद भारत को तुम लोगों की ज़रूरत सव से अधिक होगी। नये भारत का निर्माण तुम लोगों से भी अधिक अच्छा और कौन कर सकेगा।'

सुखदेव ने कहा—'क्या शेखचिल्ली वाली वातें कर रहे हो प्राणनाथ। हम लोग तो भारत की आज़ादी के नींव के पत्थर हैं ऊपर की इमारत तो वाद के लोग वनायेंगे। उस की चिन्ता करना हमारा काम नहीं है।'

प्राणनाथ ने कहा—'मेरे वहादुर दोस्तो, इस इमारत की नींव तुम्हीं ने रखी है। इंजीनियर नींव रखता है, वही इमारत की मज़वूती का ठीक अन्दाज़ा लगा सकता है। ऊपर की इमारत भी तुम्हें ही वनानी होगी।'

भगत सिंह कुछ कहने ही जा रहे थे, कि उन्हें रोक कर प्राणनाथ ने कहा—अच्छा भाइयो, पहले मेरी एक वात का जवाव दो। यह वहस वाद में होगी।'

'किस वात का?'

'तुम तीनों का अपने जीवन पर व्यक्तिगत अधिकार है या अपने जीवन को तुम लोग देश की धरोहर मानते हो?' प्राणनाथ ने पूरी गम्भीरता से प्रश्न किया।

भगत सिंह मुसकरा कर वोले—'यार वकीलों वाली वात छोड़, सीधे तौर से वता—तू कहना क्या चाहता है?'

'यही कि तुम लोगों का जीवन देश की धरोहर है और देश की जनता चाहती है कि तुम गान्धी जी के हाथ मज़वूत करने के लिए वायसराय के नाम एक दया-प्रार्थनापत्र भेज दो।'

तीनों के मुँह एकाएक गम्भीर हो गये। सुखदेव और राजगुरु नाराज़गी के साथ कुछ कहना चाहते थे, पर भगत सिंह ने आँख के इशारे से उन्हें चुप कर दिया और शान्त स्वर में पूछा—'किस तरह की दया-प्रार्थना तुम चाहते हो?'

उत्साहित हो कर प्राणनाथ ने कहा—'मुझे ग़लत मत समझो मेरे दोस्त, हम लोग ऐसी कोई वात नहीं चाहते, जिस से तुम्हारी वहादुरी को वट्टा लगे। आज रात हमारी कॅमिटी की वैठक में एक ड्राफ़्ट वनाया जायेगा जो मैं कल सुवह तुम लोगों के पास ले कर आऊँगा।'

राजगुरु और सुखदेव ग़ुस्से से तमतमा रहे थे, पर भगत सिंह ने उन्हें वोलने नहीं दिया और मुसकराते हुए कहा—'दया की प्रार्थना तो हम भी तैयार कर सकते हैं, मगर हमारे मुक़दमे ने तुम्हें एक कामयाव वकील ज़रूर वना दिया है। याद रखना, दोस्तों का यह एहसान भूलना नहीं।''

यह १९ मार्च १९३१ की वात है। दूसरे दिन जव श्री प्राणनाथ अपना ड्राफ़्ट ले कर पहुँचे—जिसे पाँच आदमियों ने रात-भर जाग कर तैयार किया था—तो उन्हें

देख कर भगत सिंह ज़ोरों से हँस पड़े। बोले—"यार रहने भी दो अपना ड्राफ़्ट, हम लोगों ने तो दया की प्रार्थना भेज भी दी है। वात यह है कि देर करना ठीक नहीं था।" कुछ देर यूँ ही छेड़छाड़ रही और तव भगत सिंह ने अपना वह ड्राफ़्ट उन्हें दिखाया जो सचमुच उन्हों ने उन के आने से पहले ही पंजाव के गर्वनर को भेज दिया था।

उस महत्त्वपूर्ण दया-प्रार्थना के कुछ मार्मिक अंश इस प्रकार हैं—

"हमारे विरुद्ध सब से वड़ा दोष यह लगाया गया है कि हम ने सम्राट् जार्ज पंचम के विरुद्ध संघर्ष किया है। न्यायालय के इस निर्णय से दो वातें स्पष्ट हो जाती हैं—प्रथम यह कि अँगरेज़ जाति और भारतीय जनता के मध्य एक संघर्ष चल रहा है, दूसरी यह कि हम ने निश्चित रूप से उस युद्ध में भाग लिया है। अतः हम युद्धवन्दी हैं।

हम यह कहना चाहते हैं कि युद्ध छिड़ा हुआ है और यह लड़ाई तव तक चलती रहेगी जव तक कि शक्तिशाली व्यक्तियों ने भारतीय जनता और श्रमिकों की आय के साधनों पर अपना एकाधिकार रखा है। चाहे ऐसे व्यक्ति अँगरेज़ पूँजीपति हों या अँगरेज़ी शासक या सर्वथा भारतीय ही हों, उन्हों ने आपस में मिल कर एक लूट जारी रखी हुई है। चाहे शुद्ध भारतीय पूँजीपतियों के द्वारा ही निर्धनों का ख़ून चूसा जा रहा हो तो भी इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

वहुत सम्भव है कि युद्ध भयंकर रूप ग्रहण कर ले। यह उस समय तक समाप्त नहीं होगा जब तक कि समाज का वर्त्तमान ढाँचा समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन या क्रान्ति नहीं हो जाती। मानवी सृष्टि में एक नवीन युग का सूत्रपात नहीं हो जाता।

जहाँ तक हमारे भाग्य का सम्बन्ध है, हम वड़े वलपूर्वक आप से यह कहना चाहते हैं कि आप ने हमें फाँसी पर लटकाने का निर्णय कर लिया है, आप ऐसा करेंगे ही, आप के हाथों में शक्ति है और आप को अधिकार भी प्राप्त हैं। परन्तु इस प्रकार आप जिस की लाठी उस की भैंस वाला सिद्धान्त ही अपना रहे हैं और आप उस पर कटिवद्ध हैं। हमारे अभियोग की सुनवाई इस वक्तव्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, कि हम ने कभी कोई प्रार्थना नहीं की और अव भी हम आप से किसी प्रकार की दया की प्रार्थना नहीं करते। हम केवल आप से यह प्रार्थना करना चाहते हैं कि आप की सरकार के ही एक न्यायालय के निर्णय के अनुसार हमारे विरुद्ध युद्ध जारी रखने का अभियोग है, इस स्थिति में हम युद्ध-बन्दी हैं, अतः इस आधार पर हम आप से माँग करते हैं कि हमारे प्रति युद्ध-वन्दियों-जैसा ही बरताव किया जाये और हमें फाँसी देने के वदले गोली से उड़ा दिया जाये।"

यह दया-प्रार्थना क्या है। यह आकाश में टूटता हुआ मरण का धूमकेतु है। यह पृथ्वी में उगता हुआ जीवन का कल्पवृक्ष है। इतिहास में राणा प्रताप ने मरण की

साधना की थी। एक तरफ़ थी दिल्ली के महाप्रतापी सम्राट् अकबर की महाशक्ति, जिस के साथ वे भी थे जिन्हें उन के साथ होना था और वे भी जिन्हें प्रताप के साथ होना था। बुद्धि कहती थी, टक्कर असम्भव है। गणित कहता था विजय असम्भव है। समझदार कहते थे—रुक जाओ। रिश्तेदार कहते थे—झुक जाओ। राणा प्रताप न बुद्धि की बात को ग़लत मानते थे, न गणित के विरोधी थे, न समझदारों का प्रतिवाद करते थे, न रिश्तेदारों को इनकार, पर कहते क्या थे राणा प्रताप। कहते थे—"जब मनुष्य की तरह सम्मान के साथ जीना असम्भव हो, तब हम मनुष्य की तरह सम्मान के साथ मर तो सकते हैं।" बिना कहे ही शायद उन के मन में था कि मनुष्य की तरह सम्मान से मर कर हम आने वाली पीढ़ियों के लिए जीवन का द्वार खुला छोड़ें, कुत्तों की तरह दुम हिला कर जीते हुए उसे बन्द न कर जायें।

भगत सिंह यही तो कर रहे थे। फाँसी के फन्दे की जगह गोली का धड़ाका माँग कर वे एक नागरिक की मृत्यु को 'राष्ट्रवीर' की मृत्यु का रूप दे रहे थे। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से सहयोग लिये बिना जीवन नहीं चलता, हमें दोस्तों से बहुत-कुछ माँगना पड़ता ही है, दुश्मनों से भी माँगना पड़ता है। भगत सिंह भी अपने दुश्मनों से माँग रहे थे। माँग मनुष्य को दीन बनाती है। पर भगत सिंह की माँग से दुश्मन ही दीन हो उठे थे।

बहुत दिन हुए मैं ने अपने कॉलेज में एक जादूगर का तमाशा देखा था। उस ने एक डरावना जानवर, शायद बिच्छू था— सब को दिखा कर सब के सामने एक बरतन में डाल दिया। तब सब से बोला—"बरतन में हाथ डाल कर इसे बाहर निकलो।" बिच्छू को निकालने के लिए कोई हाथ डालने को तैयार न हुआ। तब उस ने स्वयं हाथ डाल कर निकाला, पर उस के हाथ में बिच्छू नहीं, ताज़ा खिला हुआ फूल था। जादूगर ने वह फूल सब को दिखाया, सब ने उस की महक अनुभव की। सब जादूगर के जादू का सिक्का मान गये। क्या भगत सिंह की यह दया-प्रार्थना भी एक ऐसा जादू न था, जिस ने फाँसी के फन्दे को विजय-माला में बदल दिया। दूसरे दिन ज्यों ही यह पत्र देश के पत्रों में मुखपृष्ठों पर छपा तो देश की जनता के मन पर भगत सिंह का जादू छा गया और वे जनता के लिए वैसे ही आकर्षक हो उठे जैसे गोपियों के लिए कृष्ण थे।

भगत सिंह की मनोवैज्ञानिक सूझ देख कर आश्चर्य होता है। उन्हों ने असेम्बली में जो दो बम फेंके, उन की तरफ़ हमारा ध्यान हमेशा जाता है, पर उस के बाद उन्हों-ने एक के बाद एक सूझ-बूझ के जो बम फेंके, उन के धड़ाके हम सही-सही कहाँ सुन पाये हैं। भगत सिंह ने कहा था—"हमें फाँसी तब हो, जब देश की जनता पूरे उफान पर हो और उस का ध्यान पूरी तरह फाँसी पर केन्द्रित हो।"

५ मार्च १९३१ को गान्धी-इरविन समझौते के फलस्वरूप जेलों से सत्याग्रही छोड़े गये। जनता ने उन्हें युद्ध-विजेताओं की तरह सिर-आँखों पर लिया। फूल बरसे,

जुलूस निकले, जलसे हुए, दावतों की धूम मच गयी और समाचारपत्रों के कॉलम उन के समाचारों से भर गये। साफ़ है कि फाँसी की चर्चा इस सब से धीमी पड़ गयी, कुछ इन समाचारों की चकाचौंध से और कुछ इस आशा से कि भगत सिंह की फाँसी तो अब टल ही जायेगी, पर २० मार्च १९३१ को इस पत्र ने उन सब समाचारों और विचारों को इस तरह दबा दिया, जैसे बरसात का पहला दौंगड़ा उड़ती हुई धूल को दबा देता है। जनता समझौते के कारण जो उन्मुक्तता और उमंग अनुभव कर रही थी, उस का लक्ष्य फिर अब भगत सिंह हो गये और जनता का उन्मुक्त उत्साह फिर भगत सिंह पर केन्द्रित हो गया। भगत सिंह जब जनता की उत्तेजना के चरम शिखर पर आ खड़े हुए थे, तब व्यक्तिगत रूप में कहाँ थे। उन के चरित्र का यह एक बहुत ही कोमल पहलू है। लाहौर सेण्ट्रल जेल में ग़दर-पार्टी के १९१५-१६ के आन्दोलन में जेल काटने वाले बाबे लोग (बुज़ुर्ग सिख) भी अपनी सज़ाएँ भुगत रहे थे। उन्हें न पढ़ने को समाचारपत्र मिलते थे न राजनैतिक अध्ययन के दूसरे साधन ही। बरसों से जेल का जड़ जीवन बिताते हुए राजनैतिक और मानसिक दृष्टि से वे भी एक तरह जड़ता में ग्रस्त हो गये थे। ये बाबे लोग कभी-कभी जेल-अधिकारियों की उदारता का लाभ उठा कर भगत सिंह तक पहुँच जाया करते थे। भगत सिंह खड़े हो कर उन का स्वागत करते थे, उनका पैर छूते थे और बाबे जो कुछ कहते थे, उस से उन के लाख मतभेद हों किन्तु वे कभी प्रतिवाद न करते थे। हमेशा 'हाँ जी', 'हाँ जी' करते रहते थे और अपनी शालीनता से उन्हें पूरी तरह सन्तुष्ट-प्रसन्न कर के ही विदा करते थे। एक बार मुलाक़ात के समय अपने भाई सरदार कुलतार सिंह को भगत सिंह ने सब बता कर कहा था—"बाबे बेचारे वहीं हैं, जहाँ बरसों पहले थे।" भगत सिंह कितने शिष्ट थे, कितने विशिष्ट थे कि उन्हों ने कभी उन की कमियों को महत्त्व नहीं दिया, बल्कि उन की देशभक्ति और क़ुरबानी का सदैव सम्मान करते थे।

मृत्यु उन के गले लगने को बेचैन थी, तेज़ी से उन की ओर दौड़ी आ रही थी, हाईकोर्ट के सामने प्रस्तुत जिस अरज़ी से फाँसी रुकी हुई थी, उस पर विचार होने की चर्चा आरम्भ हो गयी थी, ऐसे मौक़े पर सरकार परिवार के लोगों को आख़िरी मुलाक़ात के लिए बुला लेती है पर भगत सिंह से मिलने कोई न आया था। इस से दूसरे क़ैदियों के मन में एक हलकी-सी किरण जगती थी—क्या गान्धी जी के प्रयत्न सफल हो रहे हैं। इसी पृष्ठभूमि में भारतीय ग़दर आन्दोलन के नेता और अमेरिका में बनी ग़दर पार्टी के प्रथम अध्यक्ष बाबा सोहन सिंह भकना ने एक दिन भगत सिंह से पूछा—"भगत सिंह, तुम्हारे कोई रिश्तेदार मिलने नहीं आये ?"

हमारे देश में मनुष्य आमतौर पर परिवार में जीता है। इस से आगे वह नाते-रिश्तेदारों में जीता है। इस से भी आगे वह अपनी जाति-बिरादरी और व्यापार-रोज़गार में जीता है, पर भगत सिंह उन में कहाँ थे, जो इन में जीते हैं। उन का अपना जीवन था, अपने रिश्तेदार थे, अपनी जाति-बिरादरी थी, अपना व्यापार-रोज़गार था। बोले—

'बाबा जी, मेरा खून का रिश्ता तो शहीदों के साथ है जैसे खुदीराम बोस, और करतार सिंह सराबा। हम एक ही खून के हैं। हमारा खून एक ही जगह से आया है और एक ही जगह जा रहा है। दूसरा रिश्ता आप लोगों से है, जिन्हों ने हमें प्रेरणा दी और जिन के साथ काल-कोठरियों में हम ने पसीना बहाया है। तीसरे रिश्तेदार वे होंगे, जो इस खून-पसीने से तैयार की हुई ज़मीन में नयी पीढ़ी के रूप में पैदा होंगे और इस मिशन को आगे बढ़ायेंगे। इन के सिवा कौन रिश्तेदार है अपना बाबा जी!"

इस उत्तर को पढ़ती हूँ, तो सोचने लगती हूँ, वे उस अँधेरी, एकान्त, सूनी काल-कोठरी में भी अकेले कहाँ थे? वे तो शहीदों को तीन-तीन पीढ़ियों की सजी बारात के दुल्हा राजा थे! सचमुच, न जाने किन धातुओं से, उपकरणों से बना था भगत सिंह का मन!............

■ ■

ईसा और सुकरात के साथ

"कावर्डस डाईं मैनी टाइम्स बिफोर देयर डेथ,
दि वेलिएण्ट नैवर टेस्ट ऑव डेथ बट वन्स,
ऑव ऑल द वण्डर्स दैट आइ यट हैव हर्ड,
इट सीम्स टू मी मोर स्ट्रेंज दैट मैन शुड फीयर
सीइंग दैट डेथ ए नेसेसरी एण्ड,
विल कम, इट विल कम।"

अर्थात्—

"कायर लोग अपनी स्वाभाविक मृत्यु से पहले ही
कई वार मर जाते हैं, पर वीर लोग जीवन में
केवल एक वार ही मृत्यु का रसास्वादन करते हैं,
मुझे सब से अधिक इसी बात का आश्चर्य है
कि मनुष्य मृत्यु से डरते हैं,
जब कि प्रत्येक को यह निश्चित पता है
कि वह आयेगी और अवश्य आयेगी।"

—शेक्सपियर

उस दिन २३ मार्च १९३१ का प्रभात था और भगत सिंह की जिन्दगी के २३ वर्ष, ५ महीने और २६ दिन वीत चुके थे, सत्ताईसवाँ दिन आरम्भ हो रहा था। भगत सिंह हमेशा की तरह सुबह-ही-सुबह दैनिक ट्रिब्यून पढ़ रहे थे। उन का ध्यान पुस्तक-परिचय स्तम्भ पर अटक गया। उस में लेनिन के जीवन-चरित्र की आलोचना छपी थी। 'ट्रिब्यून' अब भी भगत सिंह के हाथ में था, उन की आँखें खुली हुई थीं, वे अखबार देख रहे थे, पर उन्हें उस का एक भी अक्षर दिखाई न दे रहा था। क्यों? इस लिए कि उन का ध्यान अखबार की खबरों में नहीं, लेनिन के जीवन-चरित्र में था। वह पढ़ने को कैसे मिले। वे उसे पढ़ने को बेचैन हो उठे। स्वाध्याय उन की मानसिक खुराक थी। फिर लेनिन का जीवन-चरित्र। लेनिन ने रूस में समाजवादी समाज-व्यवस्था का शिलान्यास किया था। भगत सिंह ने भारत में समाजवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना का पहला दिवा-स्वप्न देखा था, असेम्बली बम-काण्ड के बयान में उस की पहली सार्वजनिक उद्घोषणा की थी और

काल-कोठरी में बैठे-बैठे अपने देश की जनता के लिए उस की रूप-रेखा तैयार की थी। लेनिन का जीवन-चरित्र पढ़ना तो उन के लिए लेनिन से मुलाक़ात करना था।

मृत्यु घुमड़ती आँधी की तरह उन की ओर बढ़ी चली आ रही थी। उन्हें ठीक पता था कि वह उन की काल-कोठरी के आस-पास आ पहुँची है। ऐसे में हर आदमी अपनों से मुलाक़ात करना चाहता है। लेनिन से बढ़ कर भगत सिंह का अपना कौन था। वे उन के जीवन-चरित्र के द्वारा उन से मुलाक़ात करना चाहते थे। उन्हों ने अपनी काल-कोठरी के सचिवालय का वायरलेस काम में लिया, यानी एक जेल के वार्डर-द्वारा अपने मित्र और वकील श्री प्राणनाथ मेहता के पास गुप्त पत्र भेजा। "अन्तिम वसीयत के बहाने तुरन्त मुझ से मिलो, पर लेनिन का जीवन-चरित्र लाना न भूलना।"

जब श्री प्राणनाथ लेनिन का जीवन-चरित्र खोज रहे थे, हाईकोर्ट ने सरदार किशन सिंह का वह प्रार्थना पत्र खारिज कर दिया और सरकारी वकील कार्डन नोड ने हाईकोर्ट से फाँसी देने का परवाना भी हाथो-हाथ ले लिया। बात को पूरी तरह गुप्त रखा गया था, पर सरदार किशन सिंह की अपनी सी० आई० डी० हर जगह थी। बात खुल गयी और यह साफ़ दीखने लगा कि कल भगत सिंह और उन के साथियों को फाँसी लग जायेगी। जनता जेल की ओर उमड़ पड़ी, पर आख़िरी मुलाक़ात की जुस्तजू में सरदार किशन सिंह और परिवार के दूसरे लोग भी जेल के बाहर उपस्थित थे। सरदार जी ने जिस दूरदर्शिता का परिचय दिया, उस का वर्णन सरदार किशन सिंह के अध्याय में हो चुका है।

कैसी थी भगत सिंह की ज़िन्दगी? कैसे थे भगत सिंह? जब माता-पिता आखिरी मुलाक़ात के लिए जेल के बाहर सरकारी अधिकारियों से जूझ रहे थे, भगत सिंह लेनिन से आखिरी मुलाक़ात के लिए उत्सुक थे। श्री प्राणनाथ इन्हीं घड़ियों में भगत सिंह की काल-कोठरी में पहुँचे। दोनों की मुलाक़ात उन्हीं के शब्दों में —

"उस दिन मैं लगभग एक घण्टा भगत सिंह की कोठरी में उन के पास रहा। मैं बहुत बार उसी स्थान पर उन से मिल चुका था। उन की भूख-हड़तालों, पुलिस के साथ और अदालत के भीतर साहसिक संघर्ष को अपनी आँखों से देख चुका था, परन्तु मैं ने यह कभी अनुभव नहीं किया था कि वे इतने बहादुर, साहसी और महान् हैं। मैं जानता था और वे भी जानते थे कि मृत्यु के क्षण निकट आ रहे हैं, घड़ी की सुइयाँ फाँसी के समय की ओर तेज़ी से बढ़ रही हैं, पर इस के बावजूद मैं ने उन्हें प्रसन्न मुद्रा में पाया। उन के चेहरे पर रौनक़ ज्यों की त्यों थी और जब मैं उन के पास पहुँचा, वे पिंजरे में बन्द शेर की तरह टहल रहे थे।

मेरे कोठरी में पैर रखते ही उन्हों ने अपने ख़ास लहज़े में कहा—आप वह पुस्तक ले आये? मैं ने क्रान्तिकारी लेनिन चुपके से उन्हें थमा दी, उसे देख कर वे बहुत प्रसन्न हुए।

मैं ने कहा—'देश के लिए अपना सन्देश दीजिए।'

विना सोचे तुरन्त बोले—'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद, इन्कलाब ज़िन्दाबाद।'

मैं ने भगत सिंह की मनोभावनाओं को जानने के लिए पूछा—'आज आप कैसा महसूस कर रहे हैं ?'

उनका संक्षिप्त उत्तर था—'मैं विलकुल प्रसन्न हूँ।' मैं ने पूछा—'आप की अन्तिम इच्छा क्या है ?' उन का उत्तर था—'बस यही कि फिर जन्म लूँ और मातृ-भूमि की और अधिक सेवा करूँ।' उन्हों ने मुक़द्दमे में दिलचस्पी लेने वाले नेताओं को अपनी कृतज्ञता और अपने मित्रों—ख़ास कर फ़रार साथियों के लिए शुभकामनाएँ दीं। अजीब बात यह थी कि मृत्यु के वातावरण से मेरी आवाज़ में कँपकँपी थी, पर भगत सिंह तन-मन से पूर्ण स्वस्थ थे। वे इतने निश्चिन्त थे कि मृत्यु के प्रति उन की निर्भीकता और निर्लिप्तता को देख कर उन के मनुष्य नहीं, देवता होने का सन्देह होता था।"

एक दूसरे एडवोकेट श्री बलजीत सिंह के शब्दों में—"जब मैं अन्तिम बार जेल में भगत सिंह से मिलने गया, तो मेरा मन परेशान था। जेल के असिस्टेण्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कहा—'फाँसी भगत सिंह को लगने वाली है, पर घबराये हुए आप हैं।' मेरा गला भर्राया हुआ था। मैं खड़ा-खड़ा भगत सिंह को ताकता रहा, परन्तु भगत सिंह का आत्मसंयम तो देखिए कि उन्हों ने मेरे कर्त्तव्य का मुझे स्मरण कराया। बोले—'फाँसी तो हमारे काम का एक स्वाभाविक परिणाम है। मैं प्रसन्न हूँ, शान्त हूँ, मेरा कर्त्तव्य समाप्त हो गया है। अब सरदार बलजीत सिंह का कर्त्तव्य आरम्भ होता है।' मैं आश्चर्य से उन की ओर देखता रह गया। भगत सिंह के कारण लाहौर की सेण्ट्रल जेल एक तीर्थ हो गयी थी, जहाँ झुण्ड के झुण्ड लोग उन के दर्शनों के लिए आते थे।"

भगत सिंह जब सब कुछ जानते हुए भी इतने निश्चिन्त थे, लाहौर सेण्ट्रल जेल में एक आदमी बहुत बेचैन था। उस का दिल उमड़ा आ रहा था। उस के शब्द थे "आप नहीं जानते कि भगत सिंह मेरे लिए क्या हैं।" विह्वलता की चरम विभोरता में उस के मुँह से यह भी निकली —"कौन जान सकता है कि मुझ पर इस समय क्या बीत रही है।" ये लाहौर सेण्ट्रल जेल के बड़े जेलर खान बहादुर मोहम्मद अकबर थे। इन की चर्चा रोक कर हम एक घटना पर आयें :

"सरदार, आप एक सच्चे इन्क़लाबी (क्रान्तिकारी) की हैसियत से बतायें कि क्या आप चाहते हैं कि आप को बचा लिया जाये। इस आख़िरी वक़्त में भी शायद कुछ हो सकता है।" चौदह नम्बर के साथियों ने यह परचा भगत सिंह को भेजा। भगत सिंह के रोम-रोम में एक चुलबुली उत्सुकता छा गयी, पर क्षण-भर में ही वे गम्भीर हो गये। उन्हों ने अपने साथियों को एक पत्र लिख भेजा —

"ज़िन्दा रहने की ख़्वाहिश कुदरती तौर पर मुझ में भी होनी चाहिए। मैं इसे छिपाना नहीं चाहता, लेकिन मेरा ज़िन्दा रहना मशरूत (एक शर्त पर) है। मैं

क़ैद हो कर या पाबन्द हो कर ज़िन्दा रहना नहीं चाहता।

मेरा नाम हिन्दुस्तानी इन्क़लाब पार्टी (भारतीय क्रान्ति) का निशान (मध्य-बिन्दु) बन चुका है और इन्क़लाब पसन्द पार्टी (भारतीय क्रान्तिदल) के आदर्शों और बलिदानों ने मुझे बहुत ऊँचा कर दिया है। इतना ऊँचा कि ज़िन्दा रहने की सूरत में इस से ऊँचा मैं हरगिज़ नहीं हो सकता।

आज मेरी क़मज़ोरियाँ लोगों के सामने नहीं हैं। अगर मैं फाँसी से बच गया तो वह ज़ाहिर हो जायेंगी और इन्क़लाब का निशान मद्धिम पड़ जायेगा या शायद मिट ही जाये, लेकिन मेरे दिलेराना ढंग से हँसते-हँसते फाँसी पाने की सूरत में हिन्दुस्तानी माताएँ अपने बच्चों के भगत सिंह बनने की आरज़ू किया करेंगी। और देश की आज़ादी के लिए बलिदान होने वालों की तादाद इतनी बढ़ जायेगी कि इन्क़लाब को रोकना इम्पीरियलिज़्म (साम्राज्यवाद) की तमामतर (सम्पूर्ण) शैतानी क़ूवतों (राक्षसी शक्तियों) के बस की बात न रहेगी।

हाँ, एक ख़्याल आज भी चुटकी लेता है। देश और इन्सानियत के लिए जो कुछ करने की हसरतें मेरे दिल में थीं उन का हज़ारवाँ हिस्सा भी पूरा न कर पाया। अगर ज़िन्दा रह सकता, तो शायद इन को पूरा करने का मौक़ा मिलता और मैं अपनी हसरतें पूरी कर सकता।

इस के सिवा कोई लालच मेरे दिल में फाँसी से बच रहने के लिए कभी नहीं आया। मुझ से ज़्यादा ख़ुश-क़िस्मत कौन होगा? मुझे आज-कल अपने-आप पर बहुत नाज़ है। मुझ में अब कोई ख़्वाहिश बाक़ी नहीं है। अब तो बड़ी बेताबी से आख़िरी इम्तहाँ का इन्तज़ार है। आरज़ू है कि यह और क़रीब हो जाये।

—आप का साथी भगत सिंह"

भगत सिंह ने बहुत-कुछ लिखा है, बहुत-कुछ कहा है और बहुत-कुछ किया है, पर यह पत्र इस दृष्टि से अनुपम है कि इस में भगत सिंह के कारनामों, उन की काम-याबियों और उन के इरादों का पूरा रेखाचित्र एक ही जगह हमें मिल जाता है और वे अपनी पूरी ऊँचाइयों में हमारे सामने आ जाते हैं।

ईसा को सलीब पर टाँग दिया गया था और इस तरह सत्ताधारियों ने अपनी शक्ति की हुंकार की थी। तब सलीब पर टँगे-टँगे उन्होंने कहा था—"हे प्रभु, इन्हें क्षमा कर, क्यों कि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" इस एक वाक्य ने सत्ता-धारियों को अपराधियों के कटघरे में खड़ा कर दयनीय बना दिया था और अपराधियों की सूची में लिखे ईसा को महान्।

सत्ताधारियों ने सुकरात को गिरफ़्तार कर विषपान का दण्ड घोषित किया था। जब वह बन्दी गृह में जल्लाद की प्रतीक्षा कर रहे थे, उन के शिष्यों ने उन्हें भगा ले जाने की योजना बनायी थी, पर जब सुकरात से भाग चलने को कहा गया तो उन्हों ने कहा—"क्या तुम चाहते हो कि मैं जीवन बचाने के लिए यहाँ से भाग कर यह सिद्ध

करूँ कि मेरे द्वारा प्रचारित सिद्धान्त झूठे हैं।" इसी एक वाक्य ने मौत को ही नहीं, उन्हें भी जिन के हाथ में सुकरात की मौत थी, एकदम हीन और सुकरात को महान् बना दिया था।

क्या भगत सिंह का यह अन्तिम परचा, अन्तिम लेखन और अन्तिम चिन्तन उन्हें भी ईसा और सुकरात की पंक्ति में खड़ा नहीं कर देता और ये जीवन-मरण के एक महान् खिलाड़ी के रूप में हमारे सामने नहीं आ जाते?

जो आदमी साथियों का परचा लाया था, वही भगत सिंह का परचा ले कर चल पड़ा। उसे बुला कर भगत सिंह ने कहा—"उन से कहना, यारो, बातें तो बहुत हो लीं, अब रसगुल्ले तो खिला दो!" थोड़ी ही देर में रसगुल्ले आ गये। भगत सिंह मस्ती से उन्हें खाने लगे। यही उन का अन्तिम भोजन था। सूरज आकाश के बीचो-बीच अपनी पूरी ऊँचाई पर जा पहुँचा था और भगत सिंह भी अपने प्रताप की पूरी ऊँचाई पर जा पहुँचे थे।

सब क़ैदी इस समय बाहर थे। असिस्टेण्ट जेलर ने सब से अपनी-अपनी जगह बन्द हो जाने को कहा, पर यह बन्द होने का तो समय नहीं था। अभी तो पूरी तरह दोपहरी भी न ढली थी! वे चौंके—क्या बात है? हमें बन्द होना चाहिए या नहीं?

तभी बड़े जेलर मुहम्मद अकबर अकेले चौदह नम्बर की बैरक के पास आ कर खड़े हो गये। बेहद तनाव था उन में। उन के भीतर जाने कैसा अन्तर्द्वन्द्व मचा हुआ था। उन के मुँह से आप-ही-आप निकला—"हाँ, बन्द न हों, जो होगा मैं देख लूँगा।" इसी स्थिति में वे लौट गये। इतिहास मौन है कि साथियों के इस प्रश्न की कि 'सरदार क्या तुम बचना चाहते हो?' पृष्ठभूमि क्या थी, पर एक प्रश्न ही और खड़ा हो जाता है—क्या इस पृष्ठभूमि में कहीं दूर पार मुहम्मद अकबर का कोई संकेत था?

सब क़ैदी अपनी-अपनी जगह बन्द हो गये। जो कभी नहीं हुआ था, यह वह हो रहा था कि सन्ध्या के समय बन्द होने वाली जेल दोपहर को ही बन्द हो गयी। सूरज आकाश के मध्य में था, पर यह दोपहर कहाँ थी? यह इतिहास की सन्ध्या थी, यह भगत सिंह के जीवन की सन्ध्या थी। इस सन्ध्या में एक सितारा दिखाई दिया। यह विश्वास का सितारा था—एक जेल वार्डर के विश्वास का सितारा, एक क्रान्तिकारी के विश्वास का सितारा।

श्री वीरेन्द्र, (सम्पादक 'प्रताप') के शब्दों में—"जिस दिन भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु को फाँसी के तख़्ते पर लटकाया गया, मैं भी लाहौर की सेन्ट्रल जेल में बन्द था। फाँसी से पहले एक ऐसी घटना हुई, जो मेरे दिल और दिमाग़ पर हमेशा के लिए अपना प्रभाव छोड़ गयी कि सरदार भगत सिंह किस मजबूत इरादे के इनसान थे?

लाहौर सेण्ट्रल जेल में उन दिनों चीफ़ वार्डर एक रिटायर्ड फ़ौजी हवलदार सरदार चतर सिंह था। तीन बजे के लगभग उसे यह सूचना दी गयी कि आज शाम

को इन तीनों को फाँसी दे दी जायेगी, इस लिए वह अपने हिस्से की व्यवस्था पूरी कर ले। चतर सिंह एक मधुर स्वभाव और ईश्वर-भक्त मनुष्य था। सुबह-शाम वह गुरु-वाणी का पाठ किया करता था। उसे जब मालूम हुआ कि भगत सिंह की ज़िन्दगी के कुछ घण्टे ही बाक़ी हैं, तो वह सरदार भगत सिंह के पास गया और कहने लगा—"बेटा, अब तो आखिरी वक़्त आ पहुँचा है, मैं तुम्हारे बाप के बराबर हूँ। मेरी एक बात मान लो।"

सरदार भगत सिंह ने हँस कर कहा, "कहिए, क्या हुक्म है ?" सरदार चतर सिंह ने जवाब दिया कि—"मेरी सिर्फ़ एक दरख्वास्त है कि अब आखिरी वक़्त में तो वाहे गुरू का नाम ले लो और गुरुवाणी का पाठ कर लो। यह लो गुटका तुम्हारे लिए लाया हूँ।"

सरदार भगत सिंह ज़ोर से हँस पड़े। तब कहा—"आप की इच्छा पूरी करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी, अगर कुछ समय पहले आप कहते। अब जब कि आखिरी वक़्त आ गया है, मैं परमात्मा को याद करूँ, तो वे कहेंगे कि यह बुज़दिल है। तमाम उम्र तो इस ने मुझे याद किया नहीं, अब मौत सामने नज़र आने लगी है, तो मुझे याद करने लगा है। इस लिए बेहतर यही होगा कि मैं ने जिस तरह पहले अपनी ज़िन्दगी गुज़ारी है, उसी तरह मुझे इस दुनिया से जाने दीजिए। मुझ पर यह इलज़ाम तो कई लोग लगायेंगे कि मैं नास्तिक था और मैं ने परमात्मा में विश्वास नहीं किया, लेकिन यह तो कोई न कहेगा कि भगत सिंह बुज़दिल और बेईमान भी था और आखिरी वक़्त मौत को सामने देख कर उस के पाँव लड़खड़ाने लगे।"

नहीं, उन के पैर नहीं लड़खड़ाये और वे उन में थे ही कहाँ, जिन के पैर लड़-खड़ा जाया करते हैं ? फिर उन्हें इस समय लड़खड़ाने की फ़ुरसत ही कहाँ थी ? वे तो अपने सब से बड़े दोस्त से मुलाक़ात कर रहे थे। श्री प्राणनाथ उन्हें लेनिन का जो जीवन-चरित्र दे गये थे, वे उसे पढ़ रहे थे। इस के उन्हों ने अभी कुछ पन्ने ही पढ़े थे कि उन की काल-कोठरी का ताला खुला। जेल के अधिकारी अपनी चमकदार युनि-फ़ॉर्म पहने खड़े थे—"सरदार जी, फाँसी लगाने का हुक्म आ गया है, आप तैयार हो जायें।"

भगत सिंह के दाहिने हाथ में पुस्तक थी। उन्हों ने पुस्तक पर से बिना आँख उठाये बायाँ हाथ उन लोगों की ओर उठा दिया—"ठहरो, एक क्रान्तिकारी दूसरे क्रान्तिकारी से मिल रहा है।" आवाज़ में कड़क तो थी ही, क्रान्तिकारी दोस्त से मिलने की ललक भी थी। भय और उदासी के भाव तो कहीं दूर पार भी न थे। जेल-अधि-कारियों के लिए ऐसे स्वर अनजाने थे। कुछ पैराग्राफ़ पढ़ कर भगत सिंह ने पुस्तक छत की ओर उछाल दी और उचक कर खड़े हो गये—"चलो !" काल-कोठरी में कई चेहरे थे। इन में जेल-अधिकारियों के चेहरे थे, जिन में किसी की जान लेने की शक्ति थी और एक क़ैदी का भी चेहरा था, जो मरने जा रहा था। सत्ताधारियों के चेहरे उदास

थे, सत्ताहीन का चेहरा खुशी से दमक रहा था।

"हमारे हाथों में हथकड़ियाँ न लगायी जायें और हमारे चेहरों पर कण्टोप न ढंके जायें।" भगत सिंह की यह वात मान ली गयी। भगत सिंह ने वहुत ही भाव-विभोर हो कर अपनी कोठरी को एक वार वहुत प्यार से निहारा। शायद बुद्ध ने घर छोड़ते समय अपनी सोयी हुई यशोधरा को भी ऐसे ही लाड़ से निहारा होगा! — और वे कोठरी से वाहर आ गये। सुखदेव और राजगुरु भी अपनी कोठरियों से आ गये थे। तीनों ने एक-दूसरे को देखा और गले लगाया।

अव भगत सिंह वीच में थे, सुखदेव उन के वायें और राजगुरु दायें। भगत सिंह ने अपनी दायीं भुजा राजगुरु की वायीं भुजा में डाल ली और वायीं भुजा सुखदेव की दायीं भुजा में। क्षण-भर तीनों रुके और तव भगत सिंह ने गाना आरम्भ किया—

"दिल से निकलेगी न मर कर भी वतन की उलफत,
मेरी मिट्टी से भी खुशवू-ए-वतन आयेगी!"

पलक झपकते तीनों स्वर एक हो गये। इस सम्मिलित स्वर में कण्ठों का माधुर्य था, हृदयों का सारस्य था, उल्लास की ऊँचाई थी, तीनों झूम कर गा रहे थे। वातावरण में चारों ओर अवसर की उदासी थी, पर इन के आसपास रोमांचित उल्लास था। ये तीनों इस तरह एकाकार और एकाग्र हो कर खड़े थे, जैसे किसी सुनसान में एक वड़ा दीप प्रज्वलित हो।

आगे-आगे कुछ वार्डर चले, अगल-वग़ल जेल-अधिकारी, पीछे कुछ और वार्डर और वीच में क्रान्ति के अमर पुत्र अपने गीत की लहर में डूवे हुए—

"दिल से निकलेगी न मर कर भी वतन की उलफत,
मेरी मिट्टी से भी खुशवू-ए-वतन आयेगी!"

वार्डर ने आगे वढ़ कर फाँसी का काला दरवाज़ा खोला। भीतर लाहौर का अँगरेज़ डिप्टी कॅमिश्नर नियमानुसार खड़ा था। वह इन तीनों को खुले देख कर ज़रा परेशान हुआ, पर मुहम्मद अकवर ने उन्हें आश्वस्त कर दिया। तभी भगत सिंह उन की ओर मुखातिव हुए। उन की आँखों में खुशी की शान्ति थी, होंठों पर मित्रता की मुसकराहट और आवाज़ में एक राष्ट्रपुरुष-जैसी गम्भीरता। वोले—"वेल मिस्टर मैजिस्ट्रेट, यू आर फार्चुनेट टु वि एवल टुडे टुसी हाऊ इण्डियन रेवोल्यूशनरीज़ कैन एम्ब्रेस डेथ विद प्लेज़र फॉर दि सेक ऑव देयर सुप्रीम आइडियल" अर्थात्—मैजिस्ट्रेट महोदय, आप भाग्यशाली हैं कि आज आप अपनी आँखों से यह देखने का अवसर पा रहे हैं कि भारत के क्रान्तिकारी किस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक अपने सर्वोच्च आदर्श के लिए मृत्यु का आलिंगन कर सकते हैं।"

डिप्टी कॅमिश्नर भगत सिंह के स्वर, शब्द और स्वरूप में व्याप्त सचाई से प्रभावित हो पानी-पानी हो गया। अब भगत सिंह और उन के साथी फाँसी मंच की सीढ़ियों पर चढ़ रहे थे। सचमुच इस मंच ने ऐसे पैर कभी न देखे थे, जिन में न

कँपकँपी थी, न लड़खड़ाहट और जो तरुणाई की सम्पूर्ण मचमचाहट के साथ वहाँ आ गये थे। तीन फन्दे लटक रहे थे, तीनों वीर उसी क्रम से उन के नीचे खड़े हो गये—बीच में भगत सिंह, बायें सुखदेव, दायें राजगुरु। तीनों एक साथ गरजे—"इन्क़लाब ज़िन्दाबाद, साम्राज्यवाद मुरदाबाद।"

तीनों ने अपना-अपना फन्दा पकड़ा और उसे चूम कर अपने ही हाथ से गले में डाल लिया। भगत सिंह ने पास खड़े जल्लाद से कहा—"कृपा कर अब इन फन्दों को आप ठीक कर लें।" जल्लाद ने ऐसे लोग कब देखे थे, ऐसे स्वर कब सुने थे! काँपते-हाथों और डबडबाती आँखों उस ने फन्दे ठीक किये, नीचे आ कर चरखी घुमायी, तख़्ता गिरा और तीनों वीर भारतमाता को अर्पित हो गये। यह सन्ध्या के ७ बजकर ३३ मिनिट का समय था!........

जेल का हर जँगला जेल में बन्द अन्य सब क़ैदियों के 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' और 'साम्राज्यवाद मुरदाबाद' के नारों से टकरा रहा था, पर इन नारों को जेल के बड़े दरवाज़े पर फहराते युनियन जैक ने नहीं सुना, जिसे आज से कुल सोलह वर्ष चार महीने और तेईस दिन इन्क़लाब के थपेड़ों से टकरा कर टूट गिरना था।

■ ■

हर हृदय अब हो गया मन्दिर तुम्हारा !......

अँगरेज़ी सरकार अपनी शैतानी ताक़त के सहारे जहाँ तक जा सकती थी जा चुकी थो और भगत सिंह का राष्ट्रीय अभिमान से उभरा सिर झुकाने के लिए जो कुछ कर सकती थी, कर चुकी थो, फिर भी वह सिर झुका न था, टूट कर इतना उभर गया था कि एक विशाल राष्ट्र का महान् सिर वन गया था। तव वह सरकार 'खिसियानी विल्ली खम्भा नोचे' की कहावत के अनुसार अपने-आप से ही लड़ने लगी थी। उस ने फाँसी दिये हुए भगत सिंह को फिर एक बार फाँसी देने का इरादा वाँधा और उन की तथा उन के साथियों को लाशों को काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। ये टुकड़े वोरियों में भरे गये, पर मरी हुई देहों के कटे हुए ये टुकड़े भी इतने ताक़तवर थे कि इन्हें जेल के मुख्य द्वार से वाहर लाने की हिम्मत अँगरेज़ी फ़ौजी अफ़सरों को न हुई। वे इन वोरियों को पीछे के छोटे दरवाज़े से अपने ट्रक तक ले गये और उन्हें ट्रक में लाद कर इस तरह भागे, जैसे कोई चोर हड़वड़ाया हुआ भाग रहा हो। यह वही दरवाज़ा था, जिस से भगत सिंह और उन के साथी सरफ़रोशी की तमन्ना का गीत गाते हुए अदालत में आया करते थे।

लाहौर सेण्ट्रल जेल में जव यह सव हो रहा था, मोरी गेट के वाहर हज़ारों आदमी एक जलसे में बैठे भगत सिंह के पिता सरदार किशन सिंह का भाषण सुन रहे थे। वहीं फाँसी हो जाने की खवर मिली, लोग भड़क उठे। सरदार जी ने उन्हें रोक कर स्वयं जेल की ओर क़दम वढ़ाये। रोकने पर भी काफ़ी लोग उन के पीछे गये, पर वहाँ अव क्या रखा था। ट्रक तेज़ी से क़सूर पहुँचा और पहले से की हुई व्यवस्था के अनुसार वहाँ से एक सिख ग्रन्थी और एक हिन्दू पण्डित को ले कर फ़िरोज़पुर के पास सतलुज के किनारे जा पहुँचा। ट्रक से लाशों के बोरे उतरे और मिट्टी के तेल के डिव्वे भी। लाशें जलने लगीं। वह ऊजड़ क्षेत्र रोशनी से चमक उठा। ग्रन्थी और पण्डित दूर खड़े स्तब्ध भाव से यह सव देख रहें थे।

तेज़ आँधी की तरह यह ख़बर लाहौर से फ़िरोज़पुर पहुँच गयी। यह भी कि लाशों का ट्रक फ़िरोज़पुर की ओर गया है। ख़बर आते ही

फ़िरोज़पुर के हज़ारों लोग मशालें लिये इधर-उधर चल पड़े। वे उस तेज़ रोशनी की ओर बढ़े। फ़ौजी लोग रोशनी को अपनी ओर आते देख घबराये। उन्हों ने बेलचों के सहारे लाशों के अधजले टुकड़े सतलुज में फेंक दिये और इधर-उधर के रेत से उस जगह को ढाँप कर वे अपना ट्रक ले भागे। दूसरे दिन प्रातःकाल लोगों ने ज़मीन की गरमी से उस जगह को खोज लिया और खून से सने पत्थर और लाशों के टुकड़े उठा लिये।

उसी दिन लोगों ने सुबह-ही-सुबह लाहौर में सरकारी पोस्टर चिपके हुए देखे कि "सिख ग्रन्थी और हिन्दू पण्डित के द्वारा भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु का अन्तिम संस्कार कर दिया गया।" इस तरह अँगरेज़ी सरकार ने अपने ही बनाये तमाम क़ानूनों का उल्लंघन करते हुए भगत सिंह का नामोनिशान मिटा दिया, पर हुआ यह कि देश के हर निवासी का हृदय एक मन्दिर बन गया और उन की प्रतिमा हमेशा-हमेशा के लिए उस में प्रतिष्ठित हो गयी।

देश का कोई नगर नहीं बचा, जिस में जुलूस नहीं निकले, जलसे नहीं हुए और देश का कोई गाँव ऐसा नहीं बचा, जहाँ भगत सिंह का नारा—'इन्क़लाब ज़िन्दा-बाद' नहीं गूँजा। अपने बाप का बेटा भगत सिंह मर गया था, पर अपने राष्ट्र का वीरपुत्र भगत सिंह जी उठा था। भगत सिंह की मरण-साधना सफल हो गयी थी, क्यों कि उन की शहादत पर देश की जनता शोक से विह्वल हो क्रोध से उफन उठी थी।

सरकार भगत सिंह के इस चमत्कारी और जादू-भरे प्रभाव से परेशान हो गयी थी। हर दिल में उन का नाम था, तो हर मकान और दुकान पर उन का चित्र विराजमान था। कैलेण्डरों पर उन की तसवीर थी, तो अखबारों के मुखपृष्ठ उन के चित्र से सुसज्जित थे। बिल्लों में उन का चेहरा था, तो पोस्टरों पर उन की छाप थी। यहाँ वे थे, वहाँ वे थे, वे ही वे थे! वे कहाँ-कहाँ थे यह उलझाने वाला प्रश्न है; सही प्रश्न है यह कि वे कहाँ न थे? उन की यह व्यापकता अँगरेज़ दिमाग़ को किस तरह झनझना रही थी? भगत सिंह के चित्र ज़ब्त कर लिये गये थे, चाहे वे कहीं भी छपे थे और वे परचे पोस्टर और पुस्तकें भी जिन में भगत सिंह की चर्चा थी। भगत सिंह क़ो लाहौर के फाँसीघर में फाँसी लग चुकी थी, पर अँगरेज़ सरकार उन्हें देश की ज़मीन के हर टुकड़े पर फाँसी देने में लगी हुई थी।

कितनी बेचैन थी वह? वह कितनी बौखलायी हुई थी! होशियारपुर का अँगरेज़ पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट घोड़े पर जा रहा था। दूर से उस ने एक पनवाड़ी की दूकान पर लगी भगत सिंह की तसवीर देखी। वह घोड़े से कूद कर दौड़ते हुए दुकान पर पहुँचा और उसे खींच कर उस ने नीचे पटक दिया। उछल कर वह उस पर खड़ा हो गया और बहुत देर तक तसवीर को पैरों से मलता रहा। लोग भौंचक हो देखते रहे। क्या वह किसी पागल से कम था?

मार्च १९३१ के अन्त में करांँची में काँग्रेस का जो अधिवेशन सरदार वल्लभ-भाई पटेल की अध्यक्षता में हुआ, उस में पहला प्रस्ताव भगत सिंह के सम्बन्ध में ही था। उस में 'प्रत्येक प्रकार की राजनैतिक हिंसा से अपने-आप को अलिप्त रखते हुए उस का विरोध करते हुए भगत सिंह और उन के साथियों की वीरता और आत्मत्याग की प्रशंसा की गयी थी।' उपरोक्त शब्दों का वहाँ घोर विरोध हुआ था, पर भगत सिंह के महान् पिता सरदार किशन सिंह मंच पर उपस्थित थे और इस प्रस्ताव पर बोले भी थे। युवक काँग्रेस में यह प्रस्ताव जब आया, तो उस में से वे शब्द निकाल दिये गये थे, पर भगत सिंह के बलिदान की सब से बड़ी उपलब्धि तो थी काँग्रेस में मनुष्य के मौलिक अधिकारों का प्रस्ताव, जिस में समाज की आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया था। भगत सिंह ने अपने वक्तव्यों में, नारे में और दूसरे पोस्टरों आदि में मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण करने वाली समाज-व्यवस्था पर जो हथौड़े मारे थे, इस प्रस्ताव में उन की निश्चित प्रतिध्वनि थी।

करांँची काँग्रेस में गान्धी जी अपनी लोकप्रियता के सर्वोच्च शिखर पर थे। वहाँ गान्धी जी के दर्शन के लिए चार आने का टिकिट खरीद कर एक विशेष समारोह में जो दर्शक आये थे, उन की संख्या चालीस हज़ार थी और उस से दस हज़ार रुपये प्राप्त हुए थे, पर काँग्रेस के इतिहास-लेखक और काँग्रेस के एक बड़े नेता श्री पट्टाभि-सीतारमैया ने लिखा है—"यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भगत सिंह का नाम भारत-भर में उतना ही लोकप्रिय था, जितना गान्धी जी का।" फिर यह बात भी स्पष्ट है कि तब से समय की आँधियों ने इतनी धूल उड़ायी है कि प्रतिष्ठा के अनेक स्तूप उस में दब गये हैं, पर भगत सिंह की लोकप्रियता आगे-आगे—और—आगे बढ़ती चली गयी थीं, बढ़ती चली जा रही है। इतिहास का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि उस प्रतिदिन पुष्ट होती हुई लोकप्रियता का रहस्य क्या है?

क्या इस का कारण यह है कि भगत सिंह शहीद हुए, हँसते-हँसते फाँसी चढ़े? यह कारण उचित है, पर भगत सिंह से पहले, उन के साथ और उन के बाद भी बहुत से देशभक्त हँसते-हँसते फाँसी चढ़े हैं, इस लिए हमें भगत सिंह की लोकप्रियता का रहस्य खोजने के लिए गहराई में उतरना पड़ेगा।

हर देश का एक सामूहिक स्वभाव होता है, रुचि होती है, रुझान होता है। हमारे देश के स्वभाव, रुचि और रुझान के अनुसार हमारे मन में पूजित होता है सन्त, आदर पाता है वीर और लोकप्रिय होता है नेता। सन्त की शक्ति उस का आचरण है, वीर की शक्ति उस का आक्रमण है और नेता की शक्ति उस का निर्देशन है। भगत सिंह मृत्यु के प्रति निर्लिप्तता में—जिस का गहरा अर्थ है समष्टि के लिए व्यष्टि का स्वेच्छया समर्पण—सन्त सिद्ध हुए, शत्रु पर आक्रमण करने में वीर सिद्ध हुए और शब्दों एवं कार्यों के द्वारा आक्रमण पर आक्रमण करने की योजना बनाने और उस से जनता को प्रबुद्ध एवं प्रशिक्षित करने में नेता सिद्ध हुए।

उन की असाधारण लोकप्रियता का यही रहस्य है। अपनी-अपनी मात्रा में, अपनी-अपनी जगह और अपने-अपने ढंग पर इस तरह की लोकप्रियता जागरण और संघर्ष की इस शताब्दी में लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और लालबहादुर शास्त्री को प्राप्त हुई।

भगत सिंह के व्यक्तित्व को हम एक और दृष्टि से भी देखें। बूढ़े आदमी शिष्ट को पसन्द करते हैं, युवक वीर को और युवतियाँ सजीव हँसमुख को। भगत सिंह शिष्ट थे, वीर थे, हँसमुख थे। इसलिए उन्हें व्यापक रूप में उस श्रेणी की लोकप्रियता मिली, जिस में एक प्रकार का देवत्व आ जाता है या जिसे हम चालू भाषा में 'हीरो' शब्द से प्रकट करते हैं।

श्री शिव वर्मा ने इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है—"समस्त वीरों में भगत सिंह को बलिदान का प्रतीक क्यों माना जाता है? महान् वीरों की पंक्ति में वे ही क्यों सब से अधिक सम्मान, सब से अधिक स्नेह और सब से अधिक प्रेम के पात्र समझे जाते हैं?"

भारत में समाजवादी आन्दोलन के महान् नेता स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्र देव ने इस का उत्तर इन शब्दों में दिया है—

"भगत सिंह और दूसरे क्रान्तिकारियों में यह एक बड़ा अन्तर है कि उन्हों ने असाधारण रीति से इस बात की घोषणा की कि भारत को गुलामी के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त है। उन का शौर्य एक विशेष वस्तु है, जो हमारे लिए सदा एक प्रेरक उदाहरण रहेगा। जो राष्ट्र दीर्घकाल से पराधीन था, जिस में राष्ट्रीय सत्त्व शेष नहीं रह गया था, जो यह सोचता था कि विदेशी सरकार का मुक़ाबला करने का साहस मुझ में नहीं है और जो राष्ट्र अँगरेज़ों का चेहरा देख कर भयभीत हो जाता था, उस राष्ट्र के लिए शूर-वीरता के ऐसे विरले उदाहरण प्रिय क्यों न हों? भगत सिंह का नाम सुनते ही हृदय में बिजली-सी कौंध जाती है। थोड़ी देर के लिए मानवीय दुर्बलताएँ दूर हो जाती हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप को भावुकता के एक नये संसार में पाता है।"

सचमुच देशवासियों का हर हृदय ऐसा मन्दिर हो गया है, जिस में भगत सिंह की मूर्त्ति प्रतिष्ठित है, क्यों कि वे एक वीर पुरुष थे और नयी समाज-व्यवस्था कें स्वप्न-द्रष्टा थे; दूसरे शब्दों में युगद्रष्टा थे।

■ ■

भगत सिंह

विराट् व्यक्तित्व : विविध कोण

भगत सिंह : जन्मजात क्रान्तिकारी

क्या भगत सिंह जन्मजात क्रान्तिकारी थे ? क्या वे पैदायशी नेता थे ?

यह जन्मजात क्या चीज़ है ? क्या सचमुच इस का कुछ अर्थ है ? या यह बोल-चाल का एक मुहावरा ही है ?

अमुक आदमी जन्मजात कवि है, अमुक आदमी जन्मजात लेखक है, अमुक आदमी जन्मजात वैज्ञानिक है, इस तरह के वाक्य वहुतों के साथ जोड़े गये हैं, पर इन का सार क्या है ?

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। इस महत्त्व को हम इस प्रश्न से साफ़-साफ़ अनुभव कर सकते हैं कि क्या कोई व्यक्ति अपने जन्म से पहले भी कुछ सीख सकता है ? किसी प्रकार की मनोवृत्ति अपने नन्हें-से मानस में ग्रहण कर सकता है ?

भारत के दर्शन ने इस का एक उत्तर दिया है—पुनर्जन्म। जब हम जन्म लेते हैं तो नया शरीर धारण करते हैं, पर हमारी आत्मा, हमारे जीवन की चैतन्य-शक्ति नयी नहीं होती। वह पहले भी अनेक बार शरीर धारण कर जीवन भोग चुकी होती है। उन जीवनों के कर्म-संस्कार उस के साथ होते हैं, जो इस जीवन में उसे प्रभावित-प्रेरित करते हैं।

यह दर्शन की बात है, विश्वास की बात है। जिन का विश्वास इस पर टिक जाये, उन के लिए सब-कुछ है, जिन का विश्वास न टिके उन के लिए कुछ नहीं है।

भारतीय साहित्य में इस का एक और भी समाधान है। वह है अभिमन्यु। अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु जब अपनी माता के गर्भ में था, तो अर्जुन ने एक दिन द्रौपदी को चक्रव्यूह तोड़ने की विधि सुनायी-समझायी। चक्रव्यूह को तोड़ कर उस में घुसने की बात द्रौपदी ने ध्यान से सुनी, पर जब उस से बाहर निकलने की बात वे सुना रहे थे, तो द्रौपदी सो गयी। इसी कारण महाभारत के युद्ध में अभिमन्यु कौरवों के बनाये चक्रव्यूह में घुस तो गया, पर निकल नहीं सका, वहीं मारा गया। महान् काव्य महाभारत की यह कथा कहती है कि जन्म से पहले भी मनुष्य वातावरण का प्रभाव ग्रहण करता है।

पाकिस्तान के संस्थापक और भारत के बँटवारे के विधाता श्री मुहम्मदअली जिन्ना की मनोवृत्तियों का एक चमत्कारी विश्लेषण हुआ था। जिन्ना काठियावाड़ की खोजा जाति में जन्मे थे। यह जाति हिन्दुओं की एक उपजाति थी। इस की श्रद्धा एक मुसलमान सन्त में हो गयी। हिन्दू इसे ग़ैर मानने लगे, पर इस जाति के लोगों का मानसिक स्तर हिन्दू ही रहा। हिन्दुओं-जैसा नाम, आपस में मिलने पर हिन्दुओं-जैसा ही अभिवादन, सलूनो के त्योहार पर घर के द्वारों पर 'राम-राम' लिखना, गोवर से घर लीपना और हिन्दू पण्डित को बुला कर विवाह कराना। गुरु मुसलमान, जीवन-आचार हिन्दू, यही रूप था—इन लोगों की सामाजिक ज़िन्दगी का।

उन्नीसवीं सदी में खोजा जाति में कुछ ऐसे वुज़ुर्ग थे, जिन्हों ने अपने सामाजिक जीवन के इस द्वैत को समझा और प्रयत्न किया कि पूरी तरह हिन्दू वन कर रहा जाये। उन्हों ने अपनी जाति में वात चलायी, तो उसे सभी तरफ़ से समर्थन मिला। तव हिन्दू समाज के कर्णधारों से कहा गया कि वे हमें ग्रहण करें, हम उन के ही हैं। वात शास्त्रों पर पहुँची। शास्त्रों के सर्वेसर्वा थे पण्डित लोग। पण्डितों की राजधानी थी काशी। काशी के पण्डितों से इस पर व्यवस्था माँगी गयी। उन्हों ने व्यवस्था दी खोजा लोग हिन्दुओं में स्वीकार नहीं किये जा सकते।

खोजा जाति में इस की वहुत उग्र प्रतिक्रिया हुई। हिन्दू-मत के जो चिह्न जाति में थे, उन्हें तेज़ी से हटाया गया। नाम वदले गये। दरवाज़ों से राम-नाम मिटाये गये, पण्डित की जगह मौलवी ने ली। जाति ने हिन्दुओं से पूर्ण विच्छेद की नीति अपना ली। जव यह प्रतिक्रिया अपने पूरे उग्र रूप में काम कर रही थी, तव जिन्ना का जन्म हुआ और इस प्रकार जिन्ना जन्मजात पृथक्तावादी, हिन्दू-विरोधी वने।

अभिमन्यु और जिन्ना के उदाहरण कहते हैं कि मनुष्य अपने जन्म से पहले भी मनोवृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ ग्रहण करता है। अनुभवों और लोककथाओं में इस के और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। यही पृष्ठभूमि है इन प्रश्नों की कि क्या भगत सिंह जन्मजात क्रान्तिकारी थे? क्या भगत सिंह पैदायशी नेता थे?

हाँ, भगत सिंह जन्मजात क्रान्तिकारी थे और पैदायशी नेता भी; उन्हें किसी ने क्रान्तिकारी वनाया नहीं, वे पैदा ही हुए थे क्रान्ति का नेतृत्व करने के लिए।

राजभक्ति की नरम राजनीति ने जव गरम राजद्रोह की ओर लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में पहली अँगड़ाई ली, तो सरदार किशन सिंह और सरदार अजीत सिंह उन के सीधे सम्पर्क में आये। महाराष्ट्र से लौट कर वे दोनों अपने छोटे भाई सरदार स्वर्ण सिंह से मिले और अन्य वहुत से मित्रों की एक गोष्ठी में तीनों ने देश-व्यापी क्रान्ति की योजना पर विचार-विमर्श किया। दो वातें सामने आयीं—क्रान्तिकारी संस्था का संगठन और ऐसे पुत्रों का जन्म, जो आगे चल कर क्रान्ति का नेतृत्व करें। सरदार अजीत सिंह का यह वाक्य हमारे वंश की धरोहर है—"संस्था का काम हम सब करेंगे, पर दूसरा काम हमारे खानदान में तो भाई साहव (सरदार किशन सिंह) ही कर सकते हैं।"—

क्या भगत सिंह के जन्म से बहुत पहले ही यह उन के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का शिला-न्यास न था ?

सरदार किशन सिंह के पिता (भगत सिंह के दादा) सरदार अर्जुन सिंह राष्ट्रीय आर्य-समाजी क्रान्ति (उस युग के वातावरण में हम देखें, वाद के नहीं) के उग्र नेता थे। वे हवन के बाद वीरपुत्रों के लिए भगवान् से नित्य प्रार्थना किया करते थे। कौन नहीं मानेगा कि इस से घर में विशेष वातावरण वनता था।

भारतमाता सोसायटी की स्थापना हुई। उस के जलते-दहकते कार्यक्रम चालू हो गये। अँगरेज़ सरकार काँपी और तीनों भाइयों पर खड्गहस्त हुई। सरदार अजीत सिंह माण्डले में जलावतन किये गये। सरदार किशन सिंह और सरदार स्वर्ण सिंह जेल भेजे गये। यह घर श्री सूफ़ी अम्बाप्रसाद, श्री लाला हरदयाल और श्री लाला लालचन्द फलक-जैसे प्रतिभा-पुत्रों और क्रान्तिवीरों के लिए चौपाल वन गया। जिन दिनों घर में हर समय क्रान्ति की चर्चा होती थी वलिदान के ही गीत गाये जाते थे, उन्हीं दिनों भगत सिंह अपनी माता के गर्भ में थे जो चिनगारियाँ चारों ओर बोयी जा रही थीं, क्या उन के अंकुर भगत सिंह के मानस-क्षेत्र में अंकुरित नहीं हुए होंगे ?

भाग्य का कैसा संकेत है, इतिहास का कैसा चमत्कार है कि जिस दिन भगत सिंह का जन्म हुआ ठीक उसी दिन, सरदार अजीत सिंह का निर्वासन समाप्त हुआ। सरदार किशन सिंह और सरदार स्वर्ण सिंह जेल से छूटे। क्या भाग्य की यह स्पष्ट घोषणा न थी कि आज विद्रोह प्रणेताओं के घर गुलामी का विजेता और क्रान्ति का महान् नेता जन्मा है ? इसी पृष्ठभूमि में हम कह सकते हैं कि भगत सिंह जन्मजात नेता थे।

■ ■

भगत सिंह : स्वभाव के शीशे में

किसी के व्यक्तित्व को सही-सही परखने के लिए स्वभाव भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। एक आदमी परिस्थितियों के प्रभाव से या आवेश में आ कर कोई अद्भुत काम कर सकता है, पर इस काम को हम उस का व्यक्तित्व नहीं कह सकते। मैं एक ऐसे आदमी को जानती हूँ, जो बेहद कंजूस था। एक बार उस का एकलौता बेटा बीमार पड़ा, पर उस ने डॉक्टर को नहीं बुलाया। धर्मार्थ औषधालयों से ला कर वह उसे दवा पिलाता रहा, पर एक बार उस ने प्रतिक्रिया का शिकार हो कर एक मन्दिर बनवाने में कई हज़ार रुपये ख़र्च कर दिये। बात साफ़ है कि यह मन्दिर उस के व्यक्तित्व को दानी नहीं बना सकता, क्यों कि उस का स्वभाव तो कंजूसी ही है।

भगत सिंह के साहसी क्रान्तिकारी व्यक्तित्व को एक तरफ़ रख कर हम उन के व्यक्तित्व को स्वभाव के शीशे में देखें तो वे एक सरस, सजीव, मसखरे, सहृदय, सन्तुलित और उदार मानव थे। स्वभाव को परखने के लिए प्रतिदिन के जीवन को परखना ही सब से अच्छा तरीक़ा है, क्यों कि वह बनावटीपन से बचा हुआ, अपने मूलरूप में हमारे सामने होता है।

पैत्रिक संस्कार, गम्भीर अध्ययन और निरन्तर चिन्तन ने उन्हें सुलझे हुए विचारों का राजकुमार बना दिया था। उन की निर्णय-शक्ति बहुत शानदार थी। वे बात की तह तक पहली नज़र में ही पहुँच जाते थे। आने वाली परिस्थितियों को इतने विस्तार से आँक लेते थे कि उठने वाले प्रश्नों का समाधान पहले से ही उन के पास रहता था। इस के होते हुए भी वे ज़िद्दी या कट्टर नहीं थे। किसी भी बात पर वे किसी के साथ भी बातचीत करने को, अपना दृष्टिकोण समझाने को और दूसरे का समझने को सदा तैयार रहते थे। उन की बात ही उन की दृष्टि में सही हो, पर बहुमत से उस के विरुद्ध निर्णय हो जाये, तो बहुमत के उस निर्णय को वे अपने ही निर्णय की तरह अमल में लाते थे। उस की सफलता के लिए भरपूर प्रयत्न करते थे। इस के बाद वह सफल हो जाये, तो अपनी भूल मान लेते थे। उन के इस स्वभाव ने उन्हें आतंकवादी गुप्तदल में भी

प्रजातान्त्रिक वातावरण बनाने में असाधारण सफलता दी थी। सफलता का बाहरी रूप यह था कि दल का हर आदमी अपने को समान महत्त्वपूर्ण समझते हुए भी उन के प्रति आदरपूर्ण प्यार रखता था। वे दूसरों की भावना को दबा कर ऊपर उठने में विश्वास नहीं रखते थे, दूसरों में सद्भाव जगा कर प्रभाव जमा लेते थे। इसी लिए उन का प्रभाव कृत्रिम नहीं, सहज था, हार्दिक था।

निश्चयों के प्रति उन में ऐसी ही अटलता थी, जैसी धार्मिक दृष्टि के मनुष्यों में धर्म के प्रति होती है। जो निश्चय हो गया, उस में न वे ढील करते थे, न ढील सहते थे। कोई ढील करे, तो उन्हें ग़ुस्सा आ जाता था। बहुत-कुछ कहते-सुनते थे। इस स्थिति में भी यह ध्यान रखते थे कि किसी के आत्माभिमान को ठेस न लगे, किसी के हृदय को दुःख न पहुँचे। यदि उन्हें यह महसूस होता कि उन की बात से किसी को चोट लगी है, तो वे हँसी-ख़ुशी का वातावरण बना कर उसे प्रसन्न करने की कोशिश करते थे। इस से काम न चले, तो गले में हाथ डाल कर माफ़ी माँग लेते थे और यह मानते हुए भी कि मेरी ही बात ठीक थी, उसे ख़ुश करना अपनी ज़िम्मेदारी समझते थे। इस का परिणाम यह होता था कि ग़ुस्से में जिसे वे डाँटते थे, बाद में वह उन का पहले से अधिक आदर करने लगता था। उन के स्वभाव में सचाई और सद्भावना का बहुत सलोना संगम था। यह संगम इतना गहरा था कि जो भी उन से मिलता था, उन का हो जाता था, उन्हें प्यार करने लगता था। मोटे तौर पर वे अँगरेज़ों के दुश्मन थे, पर साण्डर्स-वध और असेम्बली बम-काण्ड के सिलसिले में फाँसी का हुक्म होने के बाद भी बहुत से अँगरेज़ स्त्री-पुरुष उन की काल-कोठरी में उन से मिलने आते थे। भगत सिंह उन से दिल खोल कर मिलते थे, प्यार से बातें करते थे, ख़ूब हँसते थे और उन्हें हँसाते थे। आने वाले अँगरेज़ उन से बातें करते समय भूल जाते थे कि वे अपनी जाति के शत्रु से मिल रहे हैं। उन्हें लगता था, वे अपने किसी मित्र से मिल रहे हैं। उन के द्वारा किये गये मज़ाक़ इतने शिष्ट और मन को भाने वाले होते थे कि उन से मिलने वाले हर व्यक्ति की यह इच्छा होती थी कि भगत सिंह उस से मज़ाक़ करें।

जेल के जो अफ़सर उन की देख-रेख करते थे, उन्हें जेलों का अँगरेज़ इन्सपेक्टर जनरल हुक्म देता था कि वे भगत सिंह को ज़रा भी लिफ़्ट न दें, महत्त्व न दें, रियायत न दें। आरम्भ में वे उन से तने-तने से रहते थे, पर भगत सिंह के स्वभाव की गम्भीरता और सरलता उन्हें पहले सम्पर्क में ही ढीला, सहानुभूतिशील और सहायक बना देती थी। वे ख़तरा उठा कर भी उन्हें सुविधाएँ देते थे, उन का आदर करते थे, उन्हें अपना आदरणीय मित्र मानने लगते थे। लाहौर जेल के बड़े जेलर ख़ान बहादुर मुहम्मद अकबर कहा करते थे कि उन्हों ने अपने पूरे जीवन में भगत सिंह-जैसा श्रेष्ठ मनुष्य नहीं देखा। अँगरेज़ अफ़सरों की पत्नियाँ भी उन्हें देखने आती थीं। इस का साफ़ अर्थ यही है कि अँगरेज़ अफ़सर भी घर जा कर उन की विशिष्टता स्वीकार करते थे। उन के स्वभाव में शालीनता इतने ऊँचे दरज़े की थी, उन का बात करने का ढंग

इतना सन्तुलित था कि उन से नाराज़ हो कर या उन के बारे में बुरी छाप ले कर कोई जा ही नहीं सकता था।

उदासी के वे दुश्मन थे, उदासी उन के पास फटक ही न पाती थी। उन के सामने अच्छी या बुरी जैसी भी परिस्थितियाँ आयीं, उन्हें अपने अनुकूल बना लिया। वे मज़ाक़ की बात पर तो मज़ाक़ करते ही थे, पर वैसी बात न हो, तो वैसा वातावरण तैयार कर देते थे और फिर उसी वातावरण में डूब जाते थे, दूसरों को डुबा देते थे। लाहौर की बात है। भगत सिंह, विजय कुमार सिनहा और भगवानदास माहौर एक सभा से लौट रहे थे। एक सिनेमा हाल में अमेरिका के हब्शी गुलामों पर होने वाले अत्याचार पर लिखी प्रसिद्ध पुस्तक 'अंकल टॉमस् केविन' की फ़िल्म चल रही थी। अत्याचारों के संघर्ष पर यह बड़ी मार्मिक पुस्तक है। पोस्टर पर फ़िल्म के बारे में पढ़ कर भगत सिंह बोले—"यह फ़िल्म ज़रूर देखनी चाहिए।"

जैसे चारों दिशाएँ मुँह फाड़ कर एक साथ बोल उठीं—फ़िल्म तो देखनी चाहिए, पर पैसे कहाँ हैं? देश के राजनैतिक इतिहास की रोमांचकारी घटना साण्डर्स-वध की तैयारी हो रही थी, पर उस घटना के विधाता एक-एक पैसे को चुटकी में दबा कर जी रहे थे। दल के नेता चन्द्रशेखर आज़ाद सब को खाने के लिए चार आने रोज़ देते थे। दो आने में एक समय का भोजन मिल जाता था उन दिनों। दो दिन के खाने के एक रुपया आठ आने भगवानदास माहौर के पास थे और सिनेमा के तीन टिकिट बारह आने में मिल सकते थे, पर फिर तीनों के एक दिन के भोजन की क्या व्यवस्था होगी। फिर आज़ाद का यह आदेश कि ये पैसे खाने के सिवा और किसी काम में ख़र्च न हों। उन्हें क्या जवाब दिया जायेगा?

माहौर जी ने पैसे देने से साफ़ इनकार कर दिया, पर भगत सिंह को दुश्मन की हुँकार ही प्रभावित न करती थी, तो दोस्त की इनकार क्या करती? भगत सिंह ने कला पर एक सुन्दर प्रवचन किया और बताया कि एक क्रान्तिकारी के लिए गुलामों के मुक्ति-संघर्ष की फ़िल्म देखना क्यों आवश्यक है? भगत सिंह भगत सिंह थे, तो भगवानदास भी भगवानदास थे। उन्हों ने अनुशासन की पताका को और ऊँचा किया और पैसे देने से साफ़ इनकार कर दिया। भगत सिंह हार मानने वाले कहाँ थे? उन्हों ने कला के प्रवचन को अन्धे अनुशासन के विरुद्ध धुवाँधार भाषण में बदल दिया, पर भगवानदास माहौर के कान इतने मज़बूत निकले कि उन्हों ने भगत सिंह का भाषण दिल तक पहुँचाने से साफ़ इनकार कर दिया। सचमुच बड़े मज़बूत सन्दूक़ में बन्द थे पैसे! अब मामला गरमा-गरम बातों पर पहुँच गया, पर हाय रे दिल! बढ़ रहे थे तीनों उस सिनेमा की ही तरफ़।

भगत सिंह अब हाथापाई और चैलेंज के अभिनय पर पहुँच गये थे, पर भगवानदास की एक ही मुद्रा में अभिनय का क्लाइमेक्स आ गया—सड़क पर हाथापाई करना ठीक नहीं है। लो, नहीं मानते, तो पैसे ले लो, पर बात साफ़ है कि मैं पैसे

राज़ी से नहीं दे रहा हूँ, तुम मुझ से ज़बर्दस्ती छीन रहे हो।

भगवानदास की इस अदा पर भगत सिंह निहाल हो गये और हँस कर वोले—"ज़बर्दस्ती पैसे ही नहीं छीन रहा हूँ, यह भी समझ लो कि तुम्हें पीट कर चवन्नी वाली तीन टिकिट लाने भी भेज रहा हूँ।" भगवानदास जी की भलमनसाहत के क्या कहने, यह भी मान लिया उन्हों ने, पर सिनेमा की खिड़की पर जो लम्बे-चौड़े पंजाबी भाई जूझ रहे थे, उन पर इस भलमनसाहत का कोई असर नहीं पड़ा और वे वारह आने मुट्ठी में दवाये लौट आये। अव भगत सिंह का नम्बर था। उन्हों ने कोट उतारा, कमीज़ की आस्तीनें चढ़ायीं, एक रुपये का नोट और अठन्नी मुट्ठी में दवाये धक्का-मुक्की की उस भीड़ में घुस पड़े। लौटे, तो तीन टिकिट उन के हाथ में थे, पर पैसा एक नहीं। वात यह हुई कि चवन्नी के टिकिट खत्म हो जाने के कारण वे अठन्नी के टिकिट ले आये थे। अव तसवीर भी उन के सामने थी और दो दिन का उपवास भी।

सिनेमा से वाहर निकले, तो पेट के भीतर भूख उभरी, पर उस पर ध्यान देने का अर्थ ही कुछ न था, क्यों कि यह पैना यथार्थ सामने था कि भूखे तो कल भी रहना है, पर आज़ाद जी से अव क्या कहेंगे ?

भगत सिंह वार्त्तालाप की कला में पण्डित थे। उन की सजीवता और हँसमुख-पन वातों को ऐसी रसमलाई वना देते थे कि अनायास ही गले उतर जाये। निवास पर पहुँचते ही विना कोई और वात किये भगत सिंह ने फ़िल्म की कहानी आज़ाद को सुनानी आरम्भ की। गुलामों का संघर्ष और धनपतियों के अत्याचार दोनों ही मार्मिक थे, पर भगत सिंह की शैली ने तो उन में रोमांच के सितारे ही जड़ दिये। तव संक्षेप में उपसंहार आया—असल में इस कहानी की फ़िल्म हरेक क्रान्तिकारी को देखनी चाहिए। इसी लिए हम इसे देख कर आ रहे हैं।" आज़ाद मुसकराये। नाराज़गी का खतरा भी टला और खाने के पैसे भी दुवारा मिल गये।

सोचती हूँ, जव भगत सिंह अपने साथियों के साथ फ़िल्म देख रहे थे, तो उन्हें क्या मालूम था कि आगे चल कर उन पर भी कई फ़िल्में वनेंगी और भावी पीढ़ियाँ उन के कामों की चर्चा करते हुए इसी तरह उन्हें देखेंगी, जिस तरह वे आज टॉम काका की कुटिया देख रहे हैं ? और उन्हीं के कहे वाक्य को दोहरायेंगी—"असल में हरेक नागरिक को यह फ़िल्म देखनी चाहिए।" जो हो, इतना स्पष्ट है कि भगत सिंह में अद्‌भुत सजीवता थी, वे आनन्द-मूर्ति थे !

उन की वातचीत के प्रभावशाली होने का एक और भी कारण था। वे स्वयं वहुत अच्छे अभिनेता थे। अनेक नाटकों में उन्हों ने सफल भूमिकाएँ निभायी थीं। उन का प्रसिद्ध पगड़ी वाला चित्र नेशनल कॉलेज लाहौर के ड्रामा क्लव के मेम्बरों के ग्रुप-फ़ोटो में से लिया गया है। 'भारत दुर्दशा' नाटक में तो उन्हों ने अपने अभिनय से दर्शकों को मुग्ध ही कर लिया था। स्वर के उतार-चढ़ाव और साधारण अंग-विन्यास में भी उन की नाटकीयता झलकती थी। इन सव से वातचीत का प्रभाव वहुत बढ़

जाता था, पर उन के प्रभाव का सब से गहरा रहस्य था उन की हार्दिकता। वे जो महसूस करते थे, वही कहते थे। इसी लिए उन की बात उन के दिल की गहराइयों से उठती थी और दूसरे के दिल की गहराइयों में उतर जाती थी।

साहस उन के स्वभाव का अभिन्न साथी था। जब वे गाँव के स्कूल में पढ़ते थे, तब भी यदि लड़कों को आपस में लड़ता देखते, तो फ़ौरन बीच-बचाव कर के लड़ाई समाप्त करा देते। उन के बढ़ने के साथ-साथ उन का यह साहस भी बढ़ता गया। १९२५ में वे दिल्ली के 'वीर अर्जुन' में सम्पादन-विभाग का काम करते थे और श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार के साथ एक चौवारे में रहते थे। उन्हीं के शब्दों में—"वे मितभाषी और बड़े अध्ययनशील थे। खाली समय में और रात को प्रायः राजनैतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक पुस्तकें पढ़ते थे। सिनेमा, खेल-तमाशा देखने का शौक़ नहीं था। विवाद कभी नहीं करते थे। समाचार तैयार करने के काम में चुस्त थे। जीवन अत्यन्त सादा और संयमपूर्ण था। निजी आवश्यकताएँ बहुत साधारण थीं। साम्प्रदायिक दंगे के दिनों उन में मैं ने अद्भुत स्फूर्ति देखी। वे चाँदनी चौक की दोनों पटरियों पर आमने-सामने, मरने-मारने की उद्यत भीड़ को समझाने-बुझाने निर्भयता-पूर्वक चले जाते थे। मैं उन्हें रोकता, तो कहते—देशवासियों की सेवा में अगर मेरी जान भी चली जाये, तब भी चिन्ता की कोई बात नहीं। दंगे के दिनों में मैं कई बार कार्यालय जाने का साहस नहीं कर सका, पर वे पूरी निश्चिन्तता और निर्भयता के साथ चले जाते थे और अपने साथ मेरा काम भी कर आते थे।"

श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार के ही शब्दों में—"रात में वे अकसर चौवारे की छत पर अकेले बैठे रोते रहते थे। बहुत दिन मैं इसे इन की घरेलू परिस्थिति का फल समझता रहा। एक दिन रात में कोई बारह बजे मेरी आँख खुली, तो वे सिसकियाँ भर-भर कर रो रहे थे। मैं ने उन्हें धीरज बँधाया। तब रोने का कारण पूछा, तो बहुत देर तक चुप रहने के बाद बोले—मातृ-भूमि की इस दुर्दशा को देख कर मेरा दिल छलनी हो रहा है। एक ओर विदेशियों के अत्याचार हैं, दूसरी ओर भाई भाई का गला काटने को तैयार है। इस हालत में मातृ-भूमि के ये बन्धन कैसे कटेंगे?"

जो आदमी एकान्त में इस तरह घण्टों रोता था, वही दिन-भर हँसी के गुब्बारे उड़ाता था। सुना है स्वाति नक्षत्र में आकाश से गिरी बूँद साँप में मारक विष और सीप में मूल्यवान् मोती को जन्म देती है। शायद राष्ट्र का दर्द ही था, जो आँखों में आँसू बन कर बह पड़ता था और होठों पर हँसी बन कर बिखर जाता था। श्री भगवानदास माहौर का नाक और होठ ज़रा भारी हैं। आगरा में पहली बार जब भगत सिंह ने उन्हें देखा तो बोले—"यस, डारविन सीम्स टु बि करेक्ट। हि मे बी द मिसिंग लिंक, हाँ, डारविन का कहना ठीक मालूम होता है बन्दर और आदमी के बीच की खोयी हुई कड़ी की पूर्ति करने वाला यह हो सकता है।" सुन कर सब हँस पड़े, फिर उन्हों ने माहौर जी को पास बुला कर खूब प्यार से बातें कीं। माहौर जी के साथ इस

तरह की छेड़-छाड़ वे अकसर करते थे, पर इस हार्दिक छेड़-छाड़ का जो प्रभाव माहौर जी पर पड़ा, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"मेरी अनुभूति तो यही है कि जैसे-जैसे भगत सिंह मुझे चिढ़ाते, वैसे-ही-वैसे उन के प्रेम के पोते-से अनजाने में उन के समाजवाद का रंग मेरे हृदय पर चढ़ता जाता था।"

साफ़-सुथरे कपड़े पहनना और अच्छा खाना उन का स्वभाव था, पर जिन दिनों काकोरी केस के अभियुक्तों को जेल से छुड़ाने की योजना में दल के लोग आगरा में इकट्ठे हो रहे थे, पैसे की बेहद तंगी थी। बरतन की जगह मिट्टी के ठीकरे ही काम देते थे, तो खाना कैसा होगा? फिर खाने का स्वाद तो पकाने से आता है, पर वहाँ ऐसे पाकशास्त्री थे जिन्हें यह भी पता न था कि दाल में नमक के साथ हल्दी भी पड़ती है, दाल भी मिट्टी के एक बड़े ठीकरे में ही रहती थी, उसी में सब खाते थे।

भगत सिंह खाने बैठे, तो खाना उन के गले न उतरा। वे खाने को खराब बतायें, तो उन्हें बुरा लगे, जो उसे शौक़ से खा रहे हैं। फिर यह शान छौंकने-जैसी बात हो। समता और अभिन्नता का वातावरण बनाये रखना भगत सिंह का स्वभाव था, इसी लिए वे खाना छोड़ कर उठ भी न सकते थे। खाना बन्द कर चुप बैठे रहें, तब भी सब कारण पूछें। सूझ भगत सिंह के स्वभाव की सदा संगिनी थी। उन्हों ने पूर्ण प्रसन्नता की मुद्रा में पूछा—"आप लोग जानते हैं लखनऊ के नवाब किस तरह खाना खाते थे?" आप ही बोले—"लीजिए, मैं आप को दिखाता हूँ।" तीन उँगलियाँ खड़ी कर के उन्हों ने अँगूठे और पास की उँगली से मोटी रोटी का एक छोटा-सा टुकड़ा इस तरह नज़ाकत से तोड़ा, जैसे रोटी से उँगली का छूना गुनाह हो। फिर उस टुकड़े को इस नफ़ासत से मुँह में रखा, जैसे हीरे की अँगूठी को मखमली डिबिया में रख रहे हों। तब धीमे-धीमे मुँह चलाते रहे, आँखों के इशारे करते रहे और इसी तरह की दूसरी बहुत-सी बातें भी। नवाबी का यह नाटक तब तक चला, जब तक दूसरे लोगों ने पूरा खाना खाया। बाद में अदा के साथ उन्हों ने कुल्हड़ उठाया और पानी की घूँट से उस टुकड़े को पेट में पहुँचा दिया। तब भरे पेट की डकार-सी लेते हुए उठे और ठेठ लखनवी टोन में बोले—"वल्लाह, क्या लजीज़ खाना है।" सब लोग खूब हँसे। दूसरे ही दिन भगत सिंह ने कहीं से रुपयों का प्रबन्ध कर के भोजन की नयी व्यवस्था कर दी।

ग़रीबी का अनुभव भगत सिंह को पुराना था और ग़रीबों के साथ उन की हमदर्दी जन्मजात थी। उन के खेतों में जो (मज़दूर) काम करते थे, वे उन में इस तरह घुल-मिल जाते थे, जैसे वे उन में से ही एक हों। उन के लिए सब से बोझिल घड़ी वह होती थी, जब वे मजदूर खाना खाते थे। वे उठ कर उन का खाना देखते थे, उस के रूखेपन से दुःखी होते थे और उसे अपने खाने से चिकना और स्वादिष्ट भोजन बनाने की कोशिश करते थे। रुपये-पैसे से भी इन की मदद करते रहते थे। मंगल सिंह नामक एक मज़दूर पर धीरे-धीरे तीन हज़ार रुपये ऋण हो गया था। इस में से ज़्यादा हिस्सा उस ने शादियों में लिया था। भगत सिंह ने वह सब रुपया माफ़ कर दिया और

उस से कहा—"आइन्दा क़र्ज़ा ले कर शान दिखाने की कोशिश मत करना।" यही आदमी सब-कुछ होते हुए भी अब स्वयं घोर अभावों का जीवन जी रहा था, फिर भी कितना प्रसन्न था?

भगत सिंह के जीवन को हम जिस पहलू से देखें, जिस कोने से भी परखें, वह परख की हर कसौटी पर कुन्दन ही सिद्ध होते हैं। इस लिए तो डॉक्टर सत्यपाल के शब्द हैं—"मुझे कांग्रेस और नौजवान भारत सभा में प्रण के पक्के और अटल विश्वासी भगत सिंह के साथ काम करने का मौक़ा मिला है। अपने लम्बे सार्वजनिक जीवन में मुझे उन-जैसा उपयोगी, जोशीला, चतुर, साहसी और समझदार युवक शायद ही मिला हो। इश्तहार चिपकाने हों, तो वे तैयार; दरियाँ बिछवानी हों, तो वे तैयार; भाषण करवाना हो, तो आग बरसा दें। मतलब यह है कि प्रत्येक कार्य वे योग्यता और लगन से करते थे। जनता पर उन के असीम प्रभाव का कारण यह था कि वे स्वार्थ, ईर्ष्या या लोभ से सदा दूर रहते थे। उन के चरित्र में इतने गुण थे कि मैं ने उन में शालीन पुत्र, प्रिय साथी और आदरणीय नेता को एक साथ पाया।"

उन का काम करने का अपना ही तरीक़ा था। एक बार वे दीवारों पर इश्तहार चिपकाते फिर रहे थे। दीवार से लगा कर साइकिल खड़ी करते, सँभल कर उस पर चढ़ते और तब ऊँचाई पर इस्तहार चिपकाते। उन के छोटे भाई कुलतार सिंह भी साथ थे। उन्हों ने पूछा—"नीचे काफ़ी जगह है, फिर आप ऊपर क्यों चढ़ते हैं?" उत्तर मिला—"इस लिए कि एक भी इश्तहार ज़ाया न जाये और उस का पूरा फ़ायदा मिले। नीचे लगे इस्तहारों को अक्सर बच्चे फाड़ देते हैं।"

उन की सतर्कता बहुत गहरी थी। दूसरों का ध्यान वे पूरा-पूरा रखते थे। साथियों के प्रति उन की भावना इतनी गहरी थी कि छोटी-से-छोटी बात में भी साथी का पूरा ध्यान उन्हें रहता था। सेण्ट्रल जेल लाहौर से ३ जून १९३० को उन्हों ने अपने घर के पते पर श्री जयदेव गुप्ता को यह मार्मिक पत्र लिखा था—

सेण्ट्रल जेल, लाहौर
३–६–३०

मेरे प्यारे श्री जयदेव,

कृपा कर मेरा हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिए, कपड़े के उन जूतों और सफ़ेद पॉलिश की शीशी के लिए जो आप ने भेजे हैं। आप के शब्दों में, (जैसा कि श्री कुलबीर ने कहा) मैं आप को कुछ और चीज़ें लाने को यह पत्र लिख रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि आप इसे महसूस नहीं करेंगे। कृपया देख लें कि क्या आप श्री बी० के० दत्त के लिए कपड़े का एक और जूता भेजने की व्यवस्था कर सकते हैं, (साइज़ नम्बर सात) लेकिन दुकानदार से वापसी की शर्त पर लेना, यदि इन के पैर में फिट न आये। यह बात मैं ने अपने लिए लिखते समय ही लिखी होती पर श्री दत्त उस दिन सरल भाव (इज़ीमूड) में नहीं थे। लेकिन मेरे लिए इसे अकेले

पहनना बहुत मुश्किल है। इस लिए मैं आशा करता हूँ कि अगली मुलाक़ात के समय एक और जूता यहाँ होगा।

साथ ही कृपया एक ट्वैल शर्ट (कमीज़) जिस का साइज़ छाती ३४ हो और कमर २९, भेज दें। उस पर शेक्सपीरियन कॉलर हो और आधी आस्तीन हो। यह भी श्री दत्त के लिए चाहिए। क्या आप यह सोचेंगे कि हम जेल में भी अपने रहन-सहन के खर्चीले ढंग पर रोक नहीं लगा सके? अन्ततः यह आवश्यकताएँ हैं, विलासिताएँ नहीं। नहाने और व्यायाम करने के लिए किसी मुलायम कपड़े के बने दो लँगोट भी भेज दें और कपड़े धोने के साबुन की कुछ टिकियाएँ भी। साथ ही कुछ बादाम और स्वान इंक की एक शीशी भी।

सरदार जी के बारे में क्या खबर है? क्या वे लुधयाना से वापस आ गये हैं? इन दिनों में कचहरी बन्द रहेगी और मुक़दमा आगे नहीं बढ़ेगा। यदि वे नहीं आये, तो उन्हें लाने के लिए किसी को भेज दें। जो हो, उन के और मेरे मुक़दमे का अन्त क़रीब ही है। कह नहीं सकता कि हमें एक-दूसरे को मिलने का और अवसर मिलेगा या नहीं, इस लिए उन्हें तुरन्त बुला लें, ताकि वे इस सप्ताह में मुझ से दो बार मिल सकें। यदि वे जल्दी ही नहीं आ रहे हैं, तो कृपा कर कुलवीर और बहन जी को मुझ से मुलाक़ात के लिए कल या परसों भेज दें। मेरे मित्रों को मेरी याद दिलाना। क्या आप फ़ारसी का एक 'क़ायदा' उर्दू अनुवाद सहित भेजने की व्यवस्था कर सकेंगे? चार आने की सूजी भी भेज दें।

—तुम्हारा भगत सिंह

एक पोस्टकार्ड में कितने चित्र हैं, उन के व्यक्तित्व के? मानवीयता तो है ही, जो साथियों के साथ उन्हें एकात्म करती है, पर स्वभाव की सरसता और व्यक्तित्व की रंगीनी, जिसे मैं सजीवता कहना पसन्द करूँगी, भी है, पर इन सब से बढ़ कर भी है कि वे हर बात की गहराई में बहुत दूर तक जाते थे। आश्चर्य होता है कि जो आदमी स्वयं दौड़ कर मौत के द्वार पर जा बैठा है, वह फ़ारसी का क़ायदा (पहली पुस्तक) भी मँगा रहा है और चार आने की सूजी भी। सच तो यह है कि अपने स्वभाव की विशेषताओं से वे व्यक्तित्व की विभिन्न और विविध धाराओं के जीवित संग्रहालय थे।

इसी की पूर्ति करता है एक दूसरा संस्मरण। भगत सिंह और उन के साथियों को फाँसी का हुक्म होने पर बचाव कॅमिटी की अपील पर बहुत-सा धन एकत्र हुआ। भगत सिंह ने कॅमिटी की सेक्रेटरी कु० लज्जावती जी को लिखा कि—"फाँसी लगने वालों की चिन्ता छोड़ कर वह रुपया उन लोगों के नाम जमा कर दिया जाये, जिन्हें उम्र-क़ैद की सज़ा हुई है।" दुनिया से जाने वाला एक इनसान उन की सुख-सुविधा की चिन्ता कर रहा था, जिन्हें दुनिया में जीना है, तभी तो वह मर कर भी अमर हो गया और जीवन की कला का हमेशा-हमेशा के लिए एक महान् पाठ बन गया।

उन के जीवन का चाव था, जीवन का चार्म था, शौक़ थे। वे चाँदनी रातों में

छूत के एकान्त में ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि समय की सुध-बुध ही न रहती थी। चाँद से जाने क्या बातें करते थे, घण्टों उसे देखते रहते थे और जाने क्या सोचते रहते थे। गाने का तो उन में बेपनाह शौक़ था। खुद भी खूब गाते थे और गाना सुनते भी दिल लगा कर थे। श्री भगवान दास माहौर लिखते हैं—"अपने गाने के शौक़ के कारण मेरी भगत सिंह से अच्छी पटने लगी थी। यही तो एक बात थी, जिस में मैं अपने-आप को भगत सिंह से अधिक जानकार समझ सकता था और भगत सिंह बड़े आग्रह से मेरा गाना सुन कर मेरे इस अभिमान को काफ़ी गुदगुदाया करते थे। इसी में वे मुझे और मेरी मार्फ़त पण्डित जी को भी छेड़ने का अवसर निकाल लेते थे। पण्डित जी के डर के मारे मैं ग़ज़ल-जैसा गाना इच्छा होते हुए भी गा न पाता था। भगत सिंह चुपके से कहते—"हाँ भाई कैलाश (दल का नाम) वह ग़ज़ल तो सुना, जब क़फ़स से लाश निकली" और मैं भगत सिंह के अनुरोध का बल पा कर पहले धीरे-धीरे गुन-गुना कर, फिर बड़े मज़े में आ कर पूरी उमंग से गाने लगता—

"जब क़फ़स से लाश निकली बुलबुले नाशाद की
इस क़दर रोया कि हिचकी बँध गयी सैयाद की
....
कमसिनी में खेल खेले नाम ले-ले कर तेरे
हाथ से तुरबत बनायी पैर से बरबाद की।"

इस पर पण्डित जी माहौर को झिड़की देते, तो भगत सिंह व्यंग्य से कहते, "पण्डित जी, बेचारा भारतमाता पर बलिदान होने आया, तो क्या दिल घर रख आया है ? उस की कोई हो, तो उसे अपने साथ लाने की इजाज़त तो आप उसे देंगे नहीं ? ऐसी हालत में बेचारा उस का नाम ले कर हाथ से अपनी तुरबत बनाये और फिर पाँव से उसे मेट दे, ताकि आप उसे देख न सकें, यह न करे तो और क्या करे ?" और पण्डित जी भगत सिंह से उलझ पड़ते—"देखो रणजीत, तुम इस की कमज़ोरी नहीं समझते, मैं समझता हूँ, इस से ऐसी-वैसी बात मत किया करो।" मौक़ा देख कर मैं अपनी निर्दोषिता का भाव बना कर कहता—"पण्डित जी, इन्हों ने ही तो मुझ से इसी ग़ज़ल को गाने के लिए कहा था। पण्डित जी खिन्न हो कर कहते—यह अच्छी बात नहीं है। और भगत सिंह मुँह फेर कर मुसकराने लगते।"

आश्चर्य यह कि वे एक ही साथ दोनों बातों की पूर्ति करते थे, उन के शौक़ और विनोद साथ ही साथ चलते थे। यह शौक़ और यह छेड़-छाड़ एक दिन तो यहाँ तक बढ़ गया कि एक बार उन्हों ने माहौर जी से साथियों के बीच गाने को कहा। कहने का ढंग मज़ाक़िया था, माहौर जी बोले मूड नहीं है। इस पर भगत सिंह ने उन्हें बहुत चिढ़ाया तो उन्हों ने भगत सिंह को एक घूँसा जड़ दिया। भगत सिंह उन के मुक़ाबले भीम थे। उन्हों ने माहौर जी को धो दिया। सब साथियों ने बीच-बचाव किया। भगत सिंह ने कहा—"आक्रमण इन्हों ने किया है, मैं तो आत्मरक्षा में लड़ा हूँ।

मुझे सन्धि स्वीकार है, पर मेरी शर्त यह है कि ये महाशय गाना गायें। माहौर जो अपना प्रसिद्ध मराठी गीत 'कुठे गुन्तला' गाने बैठ गये और भगत सिंह लेटे-लेटे सुनने लगे।

क्रान्तिकारी दल में अपने गाने के लिए भी भगत सिंह प्रसिद्ध थे। यह गाना उन का एक शौक़ ही न था, मैं ने बहुत बार सोचा है और मुझे लगा है कि संगीत के द्वारा वे अपने से अपना साक्षात्कार करते थे। असेम्वली बम-काण्ड में भगत सिंह को आजीवन कारावास का दण्ड सुनाया जा चुका था। श्री आसफ़अली एक वकील के रूप में दिल्ली जेल की काल-कोठरी में उन से मिलने जा रहे थे। श्रीमती अरुणा आसफ़अली भी उन के साथ थीं। जब वे काल-कोठरी के पास पहुँचे, तो उन्हें गाने की आवाज़ सुनाई पड़ी। अरुणा जी ने कहा—"कितना सुरीला कण्ठ और मधुर स्वर है। कोई बहुत प्रसन्नता में गा रहा है।" वे दोनों आगे बढ़े, तो वह गायक उन्हें दिखाई दिया। यह गायक और कोई नहीं, स्वयं भगत सिंह थे, जो अपने गाने पर, अपनी ही बेड़ियों से ताल दे रहे थे। कितना दिव्य था वह दृश्य !

सिनेमा देखने का खूब शौक़ था उन्हें, यदि हाथ में कोई जिम्मेदारी का काम न हो। और जब सिनेमा न जाना हो, न जा सकते हों, तब जहाँ हों, जिन के साथ हों, वहीं महफ़िल जम जाती थी, और अट्टहासों, संवादों, सूक्तियों, शेरों और ग़ज़लों से भरी बातचीत की फ़िल्म चल पड़ती थी। ऐसी ही एक फ़िल्म का रेखा-चित्र प्रस्तुत करते हैं श्री भगवान दास माहौर—

"आगरे के एक मकान में आज़ाद, भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु, वटुकेश्वर दत्त, शिव वर्मा, विजय कुमार सिनहा, जयदेव कपूर, डॉ० गयाप्रसाद, वैशम्पायन सदाशिव आदि दल के सक्रिय सदस्य बैठे हैं। विनोद चल रहा है। विनोद का विषय है कि कौन कैसे पकड़ा जायेगा और पकड़े जाने पर कौन क्या करेगा ?

ये हज़रत (राजगुरु) तो सोते हुए ही पकड़े जायेंगे। हद हो गयी, जनाब चलते-चलते भी सोते जाते हैं। इन की आँख पुलिस लॉक-अप में खुलेगी और तब ये पहरे वालों से पूछेंगे मैं सचमुच पकड़ा गया हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ।

मोहन (बटुकेश्वर दत्त) चाँदनी रात में पार्क में चाँद देखते हुए पकड़े जायेंगे। पकड़े जाने पर पुलिस वालों से आप कहेंगे—कोई बात नहीं, मगर चाँद है कितना सुन्दर !

बच्चू (विजय कुमार सिनहा) और रणजीत (भगत सिंह) किसी सिनेमा-हाल में पकड़े जायेंगे और तब पुलिस से कहेंगे—जी हाँ, पकड़ लिया, तो क्या ग़ज़ब हो गया। अब खेल तो पूरा देख लेने दो।

और पण्डित जी (चन्द्रशेखर आज़ाद) बुन्देलखण्ड की किसी पहाड़ी में शिकार खेलते हुए किसी मित्र बने सरकार-परस्त के विश्वासघात से घायल हो कर बेहोशी की अवस्था में पकड़े जायेंगे। आज़ाद ने झिड़की की हँसी हँसी। भगत सिंह ने विनोद करते

हुए कहा—पण्डित जी, आप के लिए दो रस्सों की ज़रूरत पड़ेगी। एक आप के गले के लिए और दूसरा इस भारी-भरकम पेट के लिए। आज़ाद तुरन्त हँस कर बोले—देख फाँसी जाने का शौक़ मुझे नहीं है, वह तुझे मुबारक़ हो। रस्सा-फस्सा तुम्हारे गले के लिए है। जब तक यह बमतुल बुखारा (पिस्तौल) मेरे पास है, किस ने माँ का दूध पिया है, जो मुझे जीवित पकड़ ले जाये।"

सोचती हूँ मृत्यु की ज्वालामुखी के द्वार पर खेलने वाले भगत सिंह और उन के साथी कितने सजीव थे ? जीवन के प्रति ये किस सन्त से कम निर्लिप्त थे ?

रसगुल्ला उन्हें बेहद प्रिय था। लाहौर षड्यन्त्र मुक़दमे के दिनों की बात है। ९ अप्रैल १९३० को जतीन्द्र सान्याल ने अदालत से दरख्वास्त की कि रसगुल्लों का एक पार्सल बंगाल से आया है, पर जेल-अधिकारियों ने हमें यह कह कर उसे नहीं लेने दिया कि यह लेने लायक़ चीज़ नहीं है।

रसगुल्ले का नाम सुनते ही भगत सिंह का रोम-रोम खिल उठा। वे न्यायाधीश की ओर मुख़ातिब हुए और बोले—"द रसगुल्लाज़ आर लाइंग आउट साइड, विल यू टेक द ट्रबल ऑव एक्ज़ामिनिंग दैम ? इट इज़ ए ब्यूटीफुल सीन। यू मे जस्ट लुक ऐट दैम। रसगुल्लाज़ आर मोर इम्पॉर्टेण्ट फॉर अस दैन दीज़ विटनसेज़।— यानी रसगुल्ले बाहर पड़े हैं। क्या आप उन का निरीक्षण करने का कष्ट उठायेंगे ? यह एक सुन्दर दृश्य है। आप उन्हें ज़रा देखें तो। इन गवाहियों की अपेक्षा रसगुल्ले हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।" रसगुल्लों की बात और भगत सिंह का बात कहने का अभिनय-पूर्ण सरस ढंग; सब इतने ज़ोर से हँसे कि फाँसी और क़ैद का भय सकुचा कर अपने में सिमट गया।

मुक़दमे के दिनों का ही एक और संस्मरण प्रस्तुत करते हैं श्री सत्यदेव विद्यालंकर—"अदालत की छुट्टी के समय मुलाक़ात के लिए सब को एक ही कमरे में बेंचों या ज़मीन पर बिठाया जाता था, जिस से एक-दूसरे से मिलने का अवसर बिना कठिनाई के मिल जाता था। एक दिन एक पुलिस इन्स्पेक्टर ने मुझे भगत सिंह से बातचीत करने से रोका, तो वह बड़े ही लहज़े में बोल उठे कि अरे भाई, कल तो फाँसी पर लटका दोगे और आज दो बात भी नहीं करने देते। वह इन्स्पेक्टर शरमा कर रह गया। अपने मुक़दमे के लम्बे दौर में कभी एक बार भी सरदार उदास नहीं देखे गये और वह इतने प्रसन्नचित रहते थे कि किसी दूसरे को भी उदास न होने देते थे। मुक़दमे की कार्यवाही में भी जब तब पुलिस, पुलिस के गवाहों, पुलिस के अधिकारियों और मैजिस्ट्रेट पर भी चुटकियाँ भरते रहते थे। कभी-कभी तो उन के व्यंग्य-भरे विनोद पर सारी अदालत हँसी से गूँज उठती थी। अपनी ज़िन्दादिली से अदालत के वातावरण को वह ज़िन्दा बनाये रखते थे।"

उदासी नामक कोई चीज़ उन के जीवन में थी ही नहीं। कैसी भी परिस्थितियाँ क्यों न हों, वे सदा-सदा प्रसन्नचित्त ही रहते थे।

भगवान दास माहौर को 'फ़िलॉसफ़ी' में सब से अधिक अंक प्राप्त करने पर पुरस्कार के रूप में एक पुस्तक मिली। भगत सिंह ने यह बात सुनी तो पूछा—"जनाव को यह इनाम डण्ड-बैठक मारने में मिला है या फ़िलसफ़ा में?" दल के एक नये सदस्य ने उन का मज़ाक़ न समझ कर गम्भीरता से कहा—"इन्होंने क्लास में इस विषय में सब से अधिक अंक प्राप्त किये हैं, इसी लिए इन्हें पुरस्कार मिला है।" उस की गम्भीरता पर भगत सिंह निराली अदा से मुसकराये। तब कहा—"ये कक्षा में नीचे से सर्वप्रथम होते, तो मैं अधिक प्रसन्न होता।"

उन्हीं दिनों कॉलेज के एक नाटक में खलनायक का अभिनय करने पर भी माहौर जी को प्रथम पुरस्कार मिला। भगत सिंह ने सुना, उन से वोले—"हनुमान् जी, धन्य हो, आप और अभिनय! अव यही सुनना वाक़ी है कि व्यूटी कॅम्पिटीशन में भी आप को प्रथम पुरस्कार मिला है।" वस इसी तरह वे हँसने-हँसाने के क्षणों का निर्माण करते रहते थे।

भगत सिंह पहली फ़रारी के बाद कानपुर से आये तो उन की बहन (बीबी अमर कौर) महीनों वाद उन्हें देख कर रोने लगीं। उन्हों ने परिवार के सव लोगों को जल्दी आओ कह कर बुलाया और वोले,—"देखो, अमरो मेरे आने की ख़ुशी में रो रही है।" सुन कर सव हँस पड़े, तो रोती हुई अमरो भी खिलखिला कर हँस पड़ी।

उन दिनों डेरी का काम चल रहा था। एक दिन वेवे जी ने कहा—"भगत, तू जाने कहाँ फिरता रहता है, घर नहीं रहता। नौकर दूध पी जाते हैं।" चुटकी बजा-वजा कर वे नाचते हुए गाने लगे—"वण्ड दे गरीवाँ नूँ, वेवे, वण्ड दे गरीवा नूँ, इह घर कम नहीं औणा।" वेवे जी ने वड़ी चिन्ता-भरी गम्भीर मुद्रा में वात आरम्भ की थी। पर भगत सिंह के इस अभिनय को देख कर वे खिलखिला पड़ीं।

दादी श्रीमती जय कौर ने जन्म के समय उन्हें भागों वाला कहा था। वे भगत सिंह को इसी सम्वोधन से पुकारती रहीं। मुक़दमे के दिनों उन्हें हथकड़ी पहने देख कर दादी ने दुःख से कहा—"हाय, भागों वाले ये गहने पहने हुए हैं।" वे ताल के साथ हथकड़ियाँ वजाते हुए हँस कर वोले—"ये सरकार के पहनाये हुए वहुत क़ीमती गहने हैं, हरेक को यह कहाँ मिलते हैं?"

वे दुःख के अँधेरे को दूर करने के लिए हँसी की रोशनी तो फेंकते ही थे, दूसरों के हृदय जीतने के लिए यह उन का जादुई अस्त्र भी था। श्री भगवानदास माहौर के शब्द हैं—"जब मैं उन की सोशलिस्ट फ़िलासफ़ी की तीखे ढंग से कही गयी वातों के विरोध में उन की भारतीय दर्शन या वेदान्त की दुहाई दे कर संस्कृत के श्लोक सुनाने लगता था, तव वे मेरे सामने हाथ जोड़ कर 'जय हनुमान ज्ञान गुणसागर' का पाठ करते हुए कुछ ऐसी मार्मिकता से हँसते थे कि उन के तर्क से नहीं, मैं उन की उस सद्‌भावना और हार्दिक अपनेपन से सरावोर हँसी से अपने-आप को परास्त हुआ ही नहीं, वशीभूत और मन्त्रमुग्ध हुआ-सा अनुभव करने लगता था।"

भगत सिंह के स्वभाव की एक अनुकरणीय बात यह थी कि उन के निर्णय पूर्वाग्रहों से मुक्त और समग्रता की दृष्टि से युक्त होते थे। मुक़दमे के दिनों में एक बार कुमारी लज्जावती जी ने उन से पूछा था—"लाला लाजपत राय की नीति से आप सहमत नहीं थे, उसे नरम कह कर आलोचना किया करते थे। फिर उन के ही अपमान का बदला लेने के लिए आप ने पार्टी के योग्यतम नेताओं के जीवन को और एक तरह से पार्टी के अस्तित्व को ही ख़तरे में क्यों डाल दिया?"

उन का उत्तर था—"उन से मतभेद तो ज़रूर था, पर थे तो वे हमारे बापू ही।" इस के बाद उन्हों ने अपने ओजस्वी स्वर में जो कुछ कहा था, उस का सार था—"जवान बेटों की मौजूदगी में बूढ़े बाप पर दुश्मन प्रहार करे, उस की चोट से बाप मर जाये, तब भी बेटों का ख़ून न उबले और वे बाप की मौत का बदला लेने का निश्चय न करें तो उन बेटों के लिए लानत के सिवा और कोई क्या कह सकता है?" सोचती हूँ, उन के क्रान्तिकारी नेतृत्व का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन यदि असेम्बली बम-काण्ड और उस के बाद की घटनाएँ हैं, तो उन के मानवीय व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन साण्डर्स-वध की इस भूमिका में है।

भावुक हो कर भी वे कितने यथार्थवादी थे, इस का पता वीर क्रान्तिकारिणी सुशीला दीदी की छोटी बहन श्रीमती शान्ता बलदेव के इस संस्मरण से चलता है—साण्डर्स-वध के बाद भगत सिंह कलकत्ता में सुशीला दीदी के पास ठहरे हुए थे, तभी की बात है—"एक दिन पार्क स्ट्रीट के अन्त में मुझे एक मकान दिखाया और पूछा—"अगर अकेली आओगी, तो यह मकान भूल तो न जाओगी? मैं ने दृढ़ता से कहा, कभी नहीं। दो दिन बाद डॉक्टरों-जैसा एक बैग मुझे दिया गया और समझाया कि सावधान, इसे खोलना नहीं। वहाँ जाओ, मधु दादा कह कर पूछना, इसे उन्हीं के हाथ में देना और किसी के नहीं। मैं सुबह सात बजे से लगभग सेण्ट्रल एवेन्यू से चली। मेडीकल कॉलेज का अहाता पार किया। कॉलेज स्ट्रीट से बस पकड़ी। बस पार्क स्ट्रीट की ओर भागने लगी, परन्तु जहाँ बस-स्टॉप होता, कण्डक्टर ऊँची आवाज़ देता—बाँध के! ड्राइवर पूरे धक्के के साथ ठहरा देता। मैं मनाती, अब और कोई बस-स्टॉप न आये तो अच्छा, परन्तु यह कैसे होता। वह अपना एक-एक स्टॉप पार करती पार्क स्ट्रीट पहुँची। मैं वहाँ उतरी और अपनी ड्यूटी पूरी कर लौट आयी। आती बार मुझे रह-रह कर सिहरन हो उठती। अपनी कल्पना से सोचती, अगर कोई बम बस के धक्के से बैग के अन्दर फट जाता, तो क्या होता? फिर कल्पना करती मेरी बोटी-बोटी उड़ जाती, बस का बित्ता-बित्ता हो जाता। न जाने कितने अभागे मुसाफ़िर बिना मौत मरते। चारों ओर ख़ून-माँस के लोथड़े सड़क पर बिखेरे होते और घिर जाते असंख्य दर्शक।"

घर आने के बाद—"भगत सिंह खाना खाने ही वाले थे। बहन जी टमाटर और मूली का सलाद बना कर रख रही थीं। मैं ने गिला के तरीक़े से कहा—"भैया, आप

लोगों ने क्या सोच कर मुझे यह काम सुपुर्द किया था ? कभी-कभी आप लोगों को ख़बर मिलती हैं कि अमुक साथी सरकारी गवाह वन गया। अगर कोई बम फट जाता, तो शायद मैं भी सरकारी गवाह वन जाती।

बहन जी, जो अभी पास ही खड़ी थीं, तमक पड़ीं पूरे ज़ोर से। मेरे सिर पर हाथ मार कर वोलीं, जानती हो शान्त, तव मेरा ही तंमचा तुम्हारा यह सिर उड़ाता। मैं भौंचक्की-सी रह गयी और वहाँ से हट बाहर टहलने लगी। भाई भगत सिंह ने खाना तो खाया, परन्तु कुछ सोचता रहा। कुछ देर वाद मुझे उन के ये शब्द सुनाई पड़े—दीदी, शान्त आप से छोटी है, क्या इसी लिए उस की वात की कोई क़ीमत नहीं ? आप ने उस की वात सुनी-भर जरूर है, परन्तु समझीं नहीं। जो व्यक्ति हमारी पार्टी का नहीं, केवल सहानुभूति-भर रखता है, उस से समय पर जैसे-तैसे काम निकालने की हठधर्मी करना ही हमें जोखिम में डालने का कारण वन जाता है। पार्टी का आदमी ही ऐसा काम करे, तो इस में पार्टी के लिए अधिक कल्याण है। इसे तो मैं ने वहुत गम्भीरता से समझा है और जहाँ तक मेरा वस चलेगा, इसे दृढ़ता से पालन करूँगा। दीदी पर उन की वात का असर पड़ा और रात में उन्हों ने आँखों में आँसू भर कर मुझ से वात की।"

सोचती हूँ भगत सिंह को जिन तत्त्वों ने लोकप्रिय वनाया, उन में उन के स्वभाव की ये विशेषताएँ प्रमुख थीं। उन के साथी श्री विजय कुमार सिनहा के शब्दों में—"सरदार भगत सिंह का जीवन ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है, जिन से उन की नैतिक ऊँचाई प्रकट होती हैं। वह एक स्वाभाविक योग्यता थी, जो क्रान्ति के रूप में परिवर्तित हो गयी। स्वभाव की दृष्टि से वे एक कलाकार थे।"

उन की इस कला का प्रदर्शन अपने चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) पर पहुँचा ४ अक्टूबर, १९३० को, जव सन्त रणधीर सिंह उन की काल-कोठरी में उन से मिले। सन्त जी अपनी सजा पूरी कर जेल से छूट रहे थे। उन के अनुरोध पर जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट ने भगत सिंह से मिलने की उन्हें इजाजत दे दी थी। सन्त जी बड़ी उम्र के आदमी थे। भगत सिंह बहुत आदर के साथ उन से मिले। पहले इधर-उधर की वातें हुईं, तव सन्त जी अपनी वात पर आये। सन्त जी स्वयं एक धर्मात्मा आदमी थे। ईश्वर-भक्ति ही उन के जीवन का वल थी। उन्हों ने सुना था कि भगत सिंह नास्तिक हो गये हैं। वे इस बात से दुःखी थे और चाहते थे कि भगत सिंह को इन घड़ियों में आस्तिक बनाने का श्रेय उन्हें प्राप्त हो। भगत सिंह की दृढ़ता के बारे में उन्हों ने सुन रखा था, इस लिए सीधे ईश्वर को वात न कर उन्हों ने आत्मा की अमरता पर बात-चीत आरम्भ की—आत्मा अमर है भगत सिंह, शरीर मर जाता है, यह नहीं मरती। देह के मिट्टी में मिलने पर आत्मा फिर जन्म लेती हैं और इस तरह बार-बार दुनिया में आती है। तुम यह समझ लो कि मरने के बाद भी तुम खत्म नहीं होगे।

सन्त जी की बात सुन कर भगत सिंह ने ऐसा भाव प्रदर्शित किया कि जैसे वे

उन के धार्मिक विचारों से एकदम प्रभावित हो गये हों। उन्हों ने सन्त जी से कहा कि मेरे मन का एक बहुत वड़ा अँधेरा आज दूर हो गया है। मैं अव तक यह सोचता था कि फाँसी लगने के बाद मैं खत्म हो जाऊँगा। इस वात से मेरा मन बहुत दुःखी रहता था, पर अब आप की वातों से मेरा मन खुशी से भर गया है कि मैं खत्म नहीं हूँगा।

इस के वाद तो वह नाटक आरम्भ हुआ कि आनन्द ही आ गया। सन्त जी एक के वाद एक धर्म का उपदेश करते गये और भगत सिंह हाथ जोड़ कर उसे मानते चले गये। नास्तिकता काफ़ूर हो गयी और आस्तिकता जम गयी। ईश्वर को भगत सिंह के दृश्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ और भगत सिंह पूरे रैदास भगत वन गये। ऐसा मालूम होने लगा कि स्वामी विवेकानन्द पर महात्मा रामकृष्ण का जैसा प्रभाव पड़ा था, सन्त रणधीर सिंह का भगत सिंह पर उस से भी ज्यादा प्रभाव पड़ा है और उन का एकदम काया-कल्प हो गया है। भगत सिंह के लिए यह सव एक मज़ाक़ था, जिस में एक भोले वुजुर्ग का मन रखने की शिष्टता भी समायी हुई थी, पर सन्त जी के लिए तो यह एक 'वैंक वैंलेन्स' हो गया। उसे उन्हों ने जेल से बाहर जा कर वड़ी मौज़ के साथ खर्च किया। यही नहीं कि अपनी सामर्थ्य का खूब बखान किया, वल्कि उसे छपा-छपा कर भी खूब वाँटा।

धर्मभीरु भाले, अशिक्षित और अवोध लोगों ने तो इसे सन्त जी का चमत्कार माना ही, पर यह देख कर मुझे वहुत दया आती है कि वहुत से विद्वान् लोग भी भगत सिंह के मज़ाक़िया स्वभाव को न पहचान कर इसे धर्म की पताका के रूप में फहराते फिरते हैं।

वातें और भी सौ हैं, पर लगता है कि उन के स्वभाव की सब विशेषताएँ उन की माता के इन शब्दों में समा गयी हैं—"उन का स्वभाव ऐसा था कि इनसान तो इनसान उन्हें तो जानवर भी वेहद प्यार करते थे। मैं भैंस का दूध निकाल कर आ जाती, तो वहुत वार ऐसा होता कि अपने आनन्द के मूड में वे भैंस के पास जा कर कहते, मौसी, दूध दे दे और थन पकड़ कर वैठ जाते। मैं देख कर भौंचक रह जाती कि दूध निकाल लेने पर भी भैंस और दूध उतार देती और वे वच्चों की तरह उस का थन मुँह में ले कर चूसने लगते।"

■ ■

भगत सिंह : एक मानव

"हम से बढ़ कर ज़िन्दगी को कौन कर सकता है प्यार।
और अगर मरने पे आ जायें तो मर जाते हैं हम।
जाग उठते हैं तो सूली पर भी नींद आती नहीं।
वक़्त पड़ जाये तो अंगारों पे सो जाते हैं हम।
मर के भी इस ख़ाक में हम दफ़न रह सकते नहीं।
लाला-ओ-गुल बन के वीरानों पे छा जाते हैं हम।"

— सरदार ज़ाफ़री

शहीद-शिरोमणि भगत सिंह जेल में थे। दिल्ली की अदालत से असेम्बली बम-काण्ड में उन्हें काले पानी की सज़ा हो चुकी थी। अब उन पर लाहौर षड्यन्त्र केस का मुक़दमा चल रहा था। सभी जानते थे कि उन्हें फाँसी होगी। तभी की बात है—एक बार उन से मुलाक़ात करने को परिवार के लोग गये तो चाची हरनाम कौर उन्हें देखते ही फफक पड़ीं। भगत सिंह को उन्हों ने अपने हाथों नहलाया, सुलाया, खिलाया था। उन्हें बेड़ियों में कसा और मौत के जाल में फँसा देखा तो कलेजा ही बह पड़ा आँखों से आँसुओं के बहाने।

भगत सिंह ने उन्हें रोते देखा। वे पानी-पानी हो गये। स्मृतियाँ उन के रोम-रोम में उभर आयीं। फिर अपने को सँभालते कुछ हलकी कड़क के स्वर में बोले—"चाची जी आप रोती हैं, रो सकती हैं, कोई बात नहीं। मैं भी एक इनसान हूँ और रो सकता हूँ, पर मेरी आँख से एक बूँद आँसू भी गिर पड़ा, तो जानती हैं, क्या होगा ?"

यह क्या कह दिया उन्हों ने ? सोचती हूँ, तो सोचती रह जाती हूँ। कुम्हार मिट्टी खोद कर लाता है। फिर उसे कूटता, छानता, भिगोता, सानता और तैयार करता है। तब बनती है मूर्त्ति, पर कच्ची होती है वह मूर्त्ति। पानी गिरे तो बह जाये, फिर ज्यों की त्यों मिट्टी बन जाये। कुम्हार आवाँ तैयार करता है, मूर्त्ति उस में रखता है, आग सुलगाता है। मूर्त्ति आग में तप कर पक्की हो जाती है, कुम्हार उसे समाज के सामने प्रस्तुत कर देता है। भगत सिंह ने भी साण्डर्स-वध और असेम्बली बम-काण्ड के रूप में एक मूर्त्ति बनायी थी। मुक़दमे के आवें में तपा कर वे उसे पक्की कर

रहे थे। आँसुओं का पानी उसे गला सकता था।

यह मूर्त्ति किस की थी? यह मूर्त्ति किस रूप में थी? यह मूर्त्ति क्रान्ति की थी और बनाते-बनाते अपनी निष्ठा और तल्लीनता में भगत सिंह ही क्रान्ति की मूर्त्ति बन गये थे। संसार के इतिहास में यह एक चमत्कार था। तुलसीदास ने महाकवि वाल्मीकि के महापुरुष राम को भक्ति के तल्लीन चिन्तन में डूब कर साक्षात् ईश्वर राम की मूर्त्ति में ढाल दिया था। कृष्ण आत्मा के अनश्वर चैतन्य का उद्बोधन देते-देते आत्म-लीनता में स्वयं चैतन्य-स्वरूप हो अपने विराट् का दर्शन दे व्यक्ति और समूह की एकता के ब्रह्म हो गये थे। दोनों ही महान् हैं, महान् से महान् हैं, पर इस बात का कोई दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करने में इतिहास बेबसी के साथ खामोश है कि कोई भगत सिंह की तरह अपने लक्ष्य का चिन्तन करते, अपने लक्ष्य का चित्र प्रस्तुत करते स्वयं लक्ष्य हो गया हो।

भगत सिंह क्रान्तिकारी से क्रान्ति का प्रतीक हो गये—स्वयं साक्षात् क्रान्ति-मूर्त्ति। विख्यात अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर ने रूस के विधाता स्टालिन की क्रूरताओं का एक यह महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किया था कि वे साम्यवाद को मूर्त्तरूप देने में इतनी तल्लीनता से डूबे कि मनुष्य होते हुए भी मनुष्य नहीं रहे, साम्यवाद का एक जड़यन्त्र हो गये।

क्या भगत सिंह साम्यवाद के उस जड़यन्त्र की तरह क्रान्ति का जड़ प्रतीक हो गये थे, जिस में मानवीय सहृदय अनुभूति के लिए स्थान नहीं होता? नहीं, अदालत के बीच बहे उन के आँसू इस का प्रतिवाद करते हैं।

अदालत के मंच पर न्यायाधीश बैठे थे। सामने सब अभियुक्त थे। सरकारी मुखबिर हंसराज वोहरा कटघरे में खड़े बयान दे रहे थे। बयान क्या था, अभियुक्तों के लिए मौत का फन्दा था। क्रान्तिकारी दल के रहस्य खुलते जा रहे थे, षड्यन्त्रों की कहानी कही जा रही थी। भगत सिंह टकटकी बाँधे हंसराज को देख रहे थे। यह देखना इतना तल्लीन था, इतना भावपूर्ण था कि लग रहा था, जैसे भगत सिंह देख तो रहे हैं पर सुन नहीं रहे हैं। उन का पूरा चेतनायन्त्र उन की आँखों में समा गया था। उन की ख़ूबसूरत आँखें इस तल्लीनदर्शन से और भी ख़ूबसूरत हो उठी थीं।

अचानक उन के चेहरे पर भावों का उतार-चढ़ाव एक तेज़ चक्कर की तरह घूम गया। पहले उस में तनाव आया। फिर ग़ुस्से की गरमी से तमतमाहट आयी। तब व्यथा की हलकी रेखा खिंची। फिर क्षण-भर में यह रेखा गहरी, गहरी और भी गहरी होती गयी। आँखें पहले झपझपायीं, फिर नम हुईं, फिर टपकीं और तब बरसने लगीं।

भगत सिंह क्यों रो पड़े? क्या इस लिए कि मुखबिर का बयान उन्हें फाँसी के तख़्ते की ओर बढ़ा रहा है? इस पर कौन हाँ कहेगा, क्यों कि दुनिया जानती है कि मृत्यु को एक वरदान के रूप में प्राप्त करने के लिए भगत सिंह ने स्वयं एक लम्बी योजना बनायी थी। मृत्यु के प्रति उन में भय कहाँ था, जो मुखबिर का बयान सुन कर

वे रो पड़ते ? फिर वे क्यों रोये ?

मानवीयता के इतिहास में, एक अद्भुत घटना घटी कि इस प्रश्न को ठीक-ठीक समझा मुखविर हंसराज ने और इस का ठीक-ठीक उत्तर भी दिया हंसराज ने—उस की भी आँखें, वरस पड़ीं, वह भी रो पड़ा। चार आँखें एक साथ रो रही थीं। दो आखें, करुणा से आप्लावित हो कर रो रही थीं, हाय, साथी हंसराज पर कितने अत्याचार हुए जो वह इस तरह टूट गया। मुखविर वनने को मजबूर हुआ। भगत सिंह लाहौर के क़िले में यह सव अत्याचार स्वयं सह चुके थे और इस समय उन्हें अपनी देह में अनुभव कर रहे थे। दो आँखें पश्चात्ताप से विह्वल हो कर रो रही थीं। उन के लिए भगत सिंह के आँसुओं में क्रोध एवं घृणा नहीं, वन्धुता का कोमल विश्वास ही सत्य था। मेरा प्यारा और आदरणीय साथी मेरे कारण दु:खी है और मेरे पतन के वाद भी मेरे प्रति क्रुद्ध नहीं करुण ही है। यह अहसास तो पत्थर को भी पिघला सकता है फिर हंसराज तो एक मनुष्य ही था। ये आँसू भगत सिंह के मानव रूप का जो भावचित्र खींचते हैं, वैसा चित्र क्या कोई रंगों का चित्रकार खींच सकता है ?

भगत सिंह हिमालय की ऐसी चट्टान थे, जिस पर हथौड़े की चोट काम नहीं करती, व्यर्थ होती है, हाँ भगत सिंह हिमालय की ऐसी चट्टान थे, जिस पर हथौड़े की चोट काम नहीं करती, पर जिस से निर्मल शीतल जल अवश्य वहता है, उन के जीवन का गहन विश्लेषण कर ऐसा लगता है, कि वे ज्वाला, आँसू और मुसकान के तीर्थराज प्रयाग थे। जो आदमी भरी अदालत में रो पड़ा, उस ने ही दिल्ली जेल से २६ अप्रैल १९२९ को अपने पिता के नाम यह पत्र लिखा था कि "अगर आप मिलने के लिए आयें, तो अकेले ही आ जायें। वालदा साहिबा (माता जी) को साथ न लाइएगा। ख्वामखाह वो रो देंगी और मुझे भी कुछ तकलीफ़ ज़रूर होगी।" जो आदमी मृत्यु के प्रति निर्लिप्त है और निर्लिप्त भी क्या, उस के आगमन की योजनापूर्वक व्यवस्था कर रहा है, वह माँ के आँसुओं के प्रति निर्लिप्त तो है ही नहीं, उन के प्रति आशंका से प्रभावित है। यह मृत्युंजय भगत सिंह का मानवीय रूप है। वे तरल प्रवाही भी हैं, गरलपायी भी हैं, अनल-दाही भी हैं। वे स्वयं आँसुओं की तरह कोमल हैं, गरल की तरह घातक हैं, अनल की तरह दाहक हैं। वे किसी श्रेष्ठ राष्ट्र के, श्रेष्ठ नागरिकों में श्रेष्ठ स्थान पर वैठने योग्य हैं, श्रेष्ठ मनुष्य हैं, तो विश्व के श्रेष्ठ क्रान्तिकारियों में श्रेष्ठ क्रान्तिकारी कहलाने योग्य भी हैं।

वे स्वयं हर क्षण हर कष्ट सहने को तैयार थे, पर दूसरे मनुष्य के मन को कोई हलकी-सी भी ठेस लगे, इसे वे सहन नहीं कर सकते थे। उस दिन कुछ क्रान्तिकारियों के वीच गम्भीर वात हो रही थी। सम्भवत: असेम्बली वम-काण्ड की योजना को अन्तिम रूप दिया जा रहा था। एक-एक बात की गहराई में उतर रहे थे नेता और सफलता के वीच में आने वाली बाधाओं का निराकरण सोच रहे थे। श्री भगवतीचरण बोहरा का नन्हा पुत्र शची इन बातों के वीच सन्तरा लेने की ज़िद कर रहा था। जीवन-मरण की

ऐसी बातों के बीच कौन उस की बात पर ध्यान देता। बच्चे का आग्रह आँसुओं तक पहुँचता ही है। भगत सिंह उस से दूर बैठे थे। शची रोया तो वे तुरन्त उठ कर उस के पास आये। शची को उठाया, उस से बात पूछी-समझी और सन्तरा तोड़ कर छील कर उस के हाथ में दिया और उसे गोद में लिये ही खड़े-खड़े बातों में भाग लेते रहे। जो ऐसी नाज़ुक घड़ियों में एक बच्चे के मन का ध्यान रख सकता है, वह बड़ों का मन कैसे तोड़ सकता है? घर में भी सभी के मन का वे ध्यान रखते थे, किसी को सान्त्वना दे कर, किसी को सहला कर, किसी को बहला कर और किसी को हँस-हँसा कर। वे मनुष्य थे, मनुष्य उन के लिए बड़ी चीज़ थी। मनुष्य में उन की आस्था सर्वोपरि थी। उन की मनुष्यता की ख़ास बात यह थी कि वे मनुष्य को मनुष्य के ही रूप में उस की ख़ूबियों और कमज़ोरियों के साथ प्यार करते थे। बनावटी नैतिकता, जिस से हमारा सारा राष्ट्रीय चरित्र दूषित और बनावटी हो गया है, उसे वे पसन्द नहीं करते थे। अपने साथी श्री सुखदेव के नाम लिखे पत्र का यह विस्तृत अंश मानवीय प्रश्नों पर उन के सन्तुलित दृष्टिकोण का कितना मार्गदर्शक चित्र प्रस्तुत करता है—

"किसी व्यक्ति के चरित्र के बारे में बातचीत करते हुए एक बात सोचनी चाहिए कि क्या प्यार कभी किसी मनुष्य के लिए सहायक सिद्ध हुआ है? मैं आज इस प्रश्न का उत्तर देता हूँ—हाँ, यह मेज़िनी था। तुम ने अवश्य ही पढ़ा होगा कि अपनी पहली विद्रोही असफलता, मन को कुचल डालने वाली हार, मरे हुए साथियों की याद वह बरदाश्त नहीं कर सकता था। वह पागल हो जाता या आत्म-हत्या कर लेता, लेकिन अपनी प्रेमिका के एक ही पत्र से वह यह नहीं कि किसी एक से मज़बूत हो गया, बल्कि सब से अधिक मज़बूत हो गया।

जहाँ तक प्यार के नैतिक स्तर का सम्बन्ध है, यह कह सकता हूँ कि यह अपने में कुछ नहीं है, सिवाय एक आवेग के, लेकिन पाशविक वृत्ति नहीं, एक मानवीय अत्यन्त सुन्दर भावना। प्यार अपने में कभी भी पाशविक वृत्ति नहीं है। प्यार तो हमेशा मनुष्य के चरित्र को ऊँचा उठाता है, यह कभी भी उसे नीचा नहीं करता। बशर्ते प्यार प्यार हो। तुम कभी भी इन लड़कियों को वैसी पागल नहीं कह सकते—जैसे कि फ़िल्मों में हम प्रेमियों को देखते हैं। वे सदा पाशविक वृत्तियों के हाथों में खेलती हैं। सच्चा प्यार कभी भी गढ़ा नहीं जा सकता। यह तो अपने ही मार्ग से आता है। कोई नहीं कह सकता कब? लेकिन यह प्राकृतिक है। हाँ, मैं यह कह सकता हूँ कि एक युवक एक युवती आपस में प्यार कर सकते हैं। और अपने प्यार के सहारे अपने आवेगों से ऊपर उठ सकते हैं। अपनी पवित्रता बनाये रख सकते हैं। मैं यहाँ एक बात साफ़ कर देना चाहता हूँ कि जब मैं ने कहा था कि प्यार इनसानी कमज़ोरी है, तो साधारण आदमी के लिए नहीं कहा था। जिस स्तर पर कि आम आदमी होते हैं वह एक अत्यन्त आदर्श स्थिति है, जहाँ मनुष्य प्यार-घृणा आदि के आवेगों पर विजय पा लेगा। जब मनुष्य अपने कार्यों का आधार आत्मा के निर्देश

को वना लेगा, लेकिन आधुनिक समय में यह कोई बुराई नहीं है। वल्कि मनुष्य के लिए अच्छा और लाभदायक है। मैं ने एक आदमी के एक आदमी से प्यार की निन्दा की है, पर वह भी एक आदर्श स्तर पर। इस के होते हुए भी मनुष्य में प्यार की गहरी से गहरी भावना होनी चाहिए। जिसे कि वह एक ही आदमी में सीमित न कर दे वल्कि विश्वमय रखे।"

असेम्वली में वम फेंकने का पार्टी में फ़ैसला हो चुका था। वम फेंक कर भगत सिंह भागेंगे नहीं, पकड़े जायेंगे, फाँसी चढ़ेंगे या आजीवन कारावास का दण्ड भोगेंगे, यह भी तय था। पाँच-छह दिन शेष थे उस महान् घटना के घटित होने में। भगत सिंह अपने साथी श्री विजय कुमार सिनहा के साथ दिल्ली के एक पार्क में खड़े थे। पास के लॉन पर लड़के-लड़कियाँ खेल रहे थे। भगत सिंह वहुत देर तक उन्हें देखते रहे। तव एक गहरी साँस ले कर वोले—"यह कितने दुःख की वात है कि जिन्हें ज़िन्दगी की क़ीमतें मालूम हैं, वे मरने पर मजवूर हैं, और जिन्हें वे मालूम नहीं, वे जीते हैं। हम युवक-जीवन की सुन्दरता से पूर्ण परिचित हैं, पर समाज की अन्यायपूर्ण प्रथाओं में रहने की अपेक्षा मृत्यु को चुनना पड़ेगा।"

एक जगह उन्हों ने लिखा था—"ज़िन्दगी वहुत ख़ूवसूरत है, पर उसे और भी ख़ूवसूरत वनाया जाना चाहिए।" वे स्वयं वहुत ख़ूवसूरत थे, और ख़ूवसूरती के प्रशंसक भी थे। उन के वैठने-उठने, पहनने-खाने और वातचीत में एक क़रीना था। वाहरी सुन्दरता-स्वच्छता ही नहीं, आन्तरिक सुन्दरता-स्वच्छता का भाव भी उन में वहुत गहरा था। वाहरी गन्दगी से ही उन्हें चिढ़ न थी, भीतरी गन्दगी भी उन के लिए असह्य थी। डकैती को, भले ही उस का उद्देश्य देश-सेवा हो, वे पसन्द नहीं करते थे, उस से परेशान होते थे। वे जीवन के हर क्षेत्र में कलाकार थे। कलाकार का कल्पनाशील होना स्वाभाविक ही है, अतः जिन के घर डाका पड़ता है, उन के निर्दोष मन की विह्वलता को वे अनुभव कर सकते थे। जव पहली वार श्री योगेशचन्द्र चटर्जी उन्हें अपने साथ डकैती में ले गये तो मन के अन्तर्द्वन्द्व ने इतना उद्वेलित किया कि उन्हें कै हो गयी।

उन्हें जब अदालत ने फाँसी का हुक्म दिया, तो 'प्रताप' के सम्पादक, राष्ट्र-कर्मी और भावुक कवि पण्डित वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने (जिन के साथ भगत सिंह ने कई महीने काम किया था) लिखा—"किसी भी देश का युवक जितना सच्चा, चरित्रवान्, और वीर, सन्तोषी, आदर्शवादी, उत्सुक, निखरा हुआ तप्त स्वर्ण हो सकता है वह भगत सिंह है। यदि भगत सिंह लॉर्ड इरविन का पुत्र होता, तो हमें विश्वास है कि वे उसे प्यार करते। वह बड़ा सुसंस्कृत, भोला-भाला पगला-सा नौजवान है। वह हमारी वत्सलता, स्नेह, आदर और प्यार का व्यक्त मूर्तरूप है।"

भगत सिंह और वटुकेश्वर दत्त ने भूख-हड़ताल की, तो दूसरे राजनैतिक क़ैदी भी भूख-हड़ताल करने को तैयार हो गये। ग़दर-पार्टी के अध्यक्ष वावा सोहन सिंह भकना भी उन दिनों उसी जेल में थे। वे १९१५-१६ से जेल काट रहे थे। अव उन की

क़ैद पूरी होने को थी। वे भी भूख-हड़ताल करने को तैयार हो गये। बड़ी उम्र थी उन की। फिर भूख-हड़ताल करने से जेल की मियाद का बढ़ जाना निश्चित था, क्यों कि महीने में जो चार दिन छूट के मिलते हैं, वे भूख-हड़ताल करने से काट लिये जाते हैं। भगत सिंह उन का निश्चय सुन कर विह्वल हो गये और स्वयं उन के पास आग्रह करने गये कि वे भूख-हड़ताल न करें। दोनों बहादुरों में खूब बातें हुईं। भगत सिंह बेहद गम्भीर थे और बाबा जी की खुशामद कर रहे थे कि वे मान जायें। यह क्रान्ति की दो पीढ़ियों का मिलन था। नयी पीढ़ी, पुरानी पीढ़ी से विश्राम करने को कह रही थी, पर पुरानी पीढ़ी मोरचे पर जूझने की घोषणा कर रही थी। बाबा जी न माने। भगत सिंह उन के पास से चले, तो उन की आँखों से टप्-टप् आँसू गिर रहे थे!....

यह चित्र सब से अधिक स्पष्ट होता है, भगत सिंह और उन के पिता सरदार किशन सिंह के मतभेद में। अपने समय में सरदार किशन सिंह उत्तर भारत में क्रान्ति के मुख्य संगठक थे। सरदार अजीत सिंह ने भारतमाता सोसायटी के रूप में जो ज्वाला भड़कायी, उस के ईंधन का प्रबन्ध सदा सरदार किशन सिंह ने किया। भगत सिंह में जो संगठन शक्ति दिखाई दी, वह उन के पिता की ही शिक्षा का फल थी। उन का घर सदा क्रान्तिकारियों की धर्मशाला बना रहा और उन के संरक्षण, पोषण और गोपन का काम वे प्रसन्नतापूर्वक करते रहे। उन का सारा जीवन घोर संघर्ष में ही बीता। पूरी सचाई के साथ कहा जा सकता है कि वे जन्म से मृत्यु तक संघर्ष में ही रहे। हर आदमी जीवन के ढलाव में शान्ति और सेवा चाहता है। कुटुम्ब बड़ा था। मुक़दमों ने घर की बखिया उधेड़ दी थी। एक छोटे भाई की जेल के कष्टों से मृत्यु हो चुकी थी दूसरे निर्वासित थे। बड़ा पुत्र मर गया था। भगत सिंह ही उन की आशा के केन्द्र थे, पर गुप्त आन्दोलन की नहीं, मृत्यु की योजना बना रहे थे। इस स्थिति में सरदार किशन सिंह का क्रुद्ध होना सहज था। एक बार सिर में भयंकर चोट लगने के कारण वे बेहद कमज़ोर हो गये थे। उन्हें बहुत ग़ुस्सा आने लगा था। ग़ुस्से में वे खूब गालियाँ देने और मारने भी लगते थे। भगत सिंह की इनसानियत का यह पहलू कितना मार्मिक है कि वे पिता-श्री की गालियों पर, ग़ुस्से पर ध्यान न देते थे, उस के कारणों पर, उन की शारीरिक-मानसिक दशा पर ही आँख रखते थे। वे सोचते थे—इस समय जो निश्चिन्तता उन्हें मिलनी चाहिए, वह नहीं मिल रही है। वे स्वयं अपने आदर्श के प्रति समर्पित थे। अपने संकल्प से बेबस थे। उन के आदर्श और संकल्प महान् थे, वे उन पर गर्व कर सकते थे, करते थे, पर पिता की बेबसी को भी समझते थे, महसूस करते थे और इस लिए मतभेद में भी उन के प्रति मधुर रहते थे, आदर से सिर झुकाते थे। सचमुच अटल चट्टान थे, सचमुच वे सहृदय ओस-बिन्दु थे।

भगत सिंह ने अपने बालसखा श्री जयदेव गुप्ता से कहा था—"मैं एक बड़े मकसद के लिए जा रहा हूँ, फिर भी कभी-कभी परिवार के लोगों का ध्यान आ जाता है।"

यह ध्यान क्या यों ही ऊपरी था या इस में हार्दिक गहराई थी ? इस मार्मिक प्रश्न का उत्तर ३ मार्च १९३१ को फाँसी-कोठरी से अपने छोटे भाई कुलवीर सिंह के नाम लिखा पत्र देता है। परिवार के लोगों से उस दिन उन की आखिरी मुलाक़ात हुई थी। मुलाक़ात के बाद ही यह पत्र उन्हों ने लिखा था। इस में उन के अन्तर का अत्यन्त कोमल चित्र है—

अज़ीज़म कुलबीर सिंह,

तुम ने मेरे लिए बहुत कुछ किया। मुलाक़ात के वक़्त अपने ख़त के जवाब में कुछ लिख देने के लिए कहा। कुछ अलफ़ाज़ लिख दूँ और बस—देखो मैं ने किसी के लिए कुछ न किया—तुम्हारे लिए भी कुछ नहीं। आजकल बिलकुल मुसीबत में छोड़ कर जा रहा हूँ। तुम्हारी ज़िन्दगी में क्या होगा, गुज़ारा कैसे करोगे ? यही सब सोच कर काँप जाता हूँ, मगर भाई, हौसला रखना, मुसीबत में भी कभी मत घबराना। इस के सिवा और क्या कह सकता हूँ। अमेरिका जा सकते तो बहुत अच्छा होता, मगर अब तो वह भी नामुमकिन मालूम होता है। आहिस्ता-आहिस्ता मेहनत से पढ़ते जाना। अगर कोई काम सीख सको तो बेहतर होगा, मगर सब-कुछ पिता जी के मशवरे से करना। जहाँ तक हो सके मुहब्बत से सब लोग गुज़ारा करना। .स के सिवाय क्या कहूँ ?

जानता हूँ आज तुम्हारे दिल के अन्दर ग़म का समुद्र ठाठे मार रहा है। भाई, तुम्हारी बात सोच कर मेरी आँखों में आँसू आ रहे हैं, मगर क्या किया जाये, हौसला करना। मेरे अज़ीज़, मेरे बहुत प्यारे भाई, ज़िन्दगी बड़ी सख़्त है और दुनिया बड़ी बे-मुरव्वत। सब लोग बड़े बेरहम हैं। सिर्फ़ मुहब्बत और हौसला से ही गुज़ारा हो सकेगा। कुलतार की तालीम की फ़िकर भी तुम ही करना। बड़ी शर्म आती है और अफ़सोस के सिवा मैं कर ही क्या सकता हूँ। साथ वाला ख़त हिन्दी में लिखा हुआ है। ख़त केकी बहन को दे देना। अच्छा प्यार। अज़ीज़ भाई अलविदा.......रुख़सत।

तुम्हारा ख़ैर अन्देश
भगत सिंह।

उसी दिन दूसरे छोटे भाई कुलतार सिंह को उन्हों ने दूसरा पत्र लिखा था। उस की एक पंक्ति है—"आज तुम्हारी आँखों में आँसू देख कर बहुत दुःख हुआ। आज तुम्हारी बातों में बहुत दर्द था। तुम्हारे आँसू मुझ से सहन नहीं होते।"

क्या उन की यह बहती करुणा परिवार के साथ सामान्य लगाव का ही एक रूप है ? नहीं, यह भगत सिंह की मानवीयता की व्यापक झाँकी है। जुलाई १९३० में जब उन के साथी श्री बटुकेश्वर दत्त को लाहौर से मुलतान जेल में बदल दिया गया तो उन्हों ने बटुकेश्वर दत्त की बहन श्रीमती प्रमिला देवी को एक पत्र में लिखा था—"हिज़ सपरेशन इज़ निबियरेबल फॉर मी टू। इट् इज़ ओनली टुडे दैट आई फ़ील

क्वाइट परप्लैक्सड ऐण्ड एवरी मिनिट हैज़ विकेम ए वर्डन। रियली इट इज़ वेरी हार्ड टु वि सेपरेटेड विद ए फ़्रेण्ड मोर डियर दैन माई ओन ब्रदर्स। एनी हाऊ वि मस्ट बियर ऑल पेशेण्टली। आई वुड रिक्वेस्ट यू टु कीप करेज।"

अर्थात्—"उन की जुदाई मेरे लिए भी असह्य है। आज यह पहला दिन है जब मैं अपने को पूरी तरह उद्विग्न पा रहा हूँ और मेरे लिए हर मिनिट एक बोझ बन गया है। सचमुच एक मित्र से जुदा होना, जो मुझे सगे भाइयों से भी अधिक प्रिय है बहुत दुःखद है। खैर, हमें यह सब शान्ति से सहना है। मैं आप से धीरज रखने की प्रार्थना करता हूँ।"

करुण, अश्रुप्लावित, ओस-विन्दु की तरह कम्पनयुक्त यह फ़ीलिंग, यह अनुभूति, यह एहसास, यह चेतना ही तो भगत सिंह है। मानवता के महान् चट्टानी साधक, पर एक सुकुमार मानव भगत सिंह, यही तो उन के व्यक्तित्व का पूर्ण चित्र है।

भगत सिंह सेण्ट्रल जेल लाहौर में १५ जून, १९२९ से अनशन कर रहे थे। वोर्स्टल जेल लाहौर में उन के दूसरे साथियों ने भी ९ जुलाई १९२९ से उन की सहानुभूति में अनशन आरम्भ कर दिया था। यतीन्द्रनाथ दास १३ जुलाई १९२९ को इस अनशन में शामिल हो गये थे। कुछ कारणों से यतीन्द्रनाथ को फ़ोर्सफ़ुल फ़ीडिंग (नाक-द्वारा बलपूर्वक दूध पिलाना) असम्भव हो गया था, इस लिए उन की हालत गिरती जा रही थी। अड़तीसवें दिन उन की हालत बहुत गिर गयी, वे बेहोश हो गये, तो वोर्स्टल जेल के अधिकारियों ने सेण्ट्रल जेल से भगत सिंह को बुलाया। भगत सिंह आ कर यतीन्द्रनाथ की चारपाई के पैताने (पाँव की तरफ़) खड़े हो गये। अनशन दोनों ही कर रहे थे, पर यतीन्द्रनाथ तो कंकाल हो गये थे। भगत सिंह ने उन्हें इस रूप में देखा तो उन की आँखें वरस पड़ीं। मानवता के हिमालय का एक शिखर चार-पाई पर शान्त था, दूसरा चारपाई के पास खड़ा झर रहा था, जैसे प्राकृतिक हिमा-लय की एक चट्टान से निकलते निर्झर के आनन्द की अनुभूति पास की दूसरी चट्टान कर रही हो।

४९वें दिन तो चट्टान ही निर्झर हो गयी। सरकार ने जेलों में सुधार का सुझाव देने के लिए एक कॅमिटी नियुक्त कर दी। यह अनशनकारियों की नैतिक विजय थी। कॅमिटी के भारतीय सदस्य वातचीत करने के लिए वोर्स्टल जेल आये तो भगत सिंह को भी सेण्ट्रल जेल से वहीं लाया गया। भगत सिंह व्यथित थे। क्यों? क्यों कि अनशन उन्हों ने आरम्भ किया था और उन के प्यारे साथी यतीन्द्रनाथ उस अनशन में आहुति दे रहे थे। वे इस बात पर सहमत हो गये कि यतीन्द्रनाथ को छोड़ दिया जाये तो वे अनशन छोड़ देंगे। यह तो स्पष्ट ही था कि उन के अनशन छोड़ने पर दूसरे सब अनशन छोड़ देंगे। वाद में सरकार अपने वचन से हट गयी और अनशन आगे वढ़ा, पर भगत सिंह जहाँ तक और जिस कारण से वढ़ आये थे, वह तो उन की मानवता का मील का पत्थर ही हो गया था।

मील के इस पत्थर की सब से अधिक ऊँचाई यह है कि भगत सिंह की इन्द्र-धनुपी कल्पनाओं और विराट् कामनाओं का आधार 'मनुष्य' इतने गहरे रूप में हो गया था कि उन के विश्वास-केन्द्र में ईश्वर की कोई आवश्यकता और कोई अनुभूति शेष ही न रही थी। वे ईश्वर से दूर और दूर होते चले गये थे और उसी मात्रा में मनुष्य के पास और पास आते चले गये थे।

मानवीय घटनाएँ उन्हें साक्षात् अनुभव के द्वारा ही सुख या दुःख न देती थीं, किसी मानवीय स्पर्श का साहित्य में चित्रण पढ़ कर भी वे भाव-विभोर हो जाते थे।

उन के कर्मसखा और प्रथम जीवनी लेखक श्री जतीन्द्रनाथ सान्याल के शब्दों में—"जब स्पेशल मैजिस्ट्रेट की अदालत में मुक़दमा चल रहा था, वे लीनियो आन्द्रियो के सुन्दर उपन्यास 'सात-जिन्हें फाँसी दी गयी' (सेविन, दैट वर हैंग्ड) को पढ़ कर हम लोगों को सुनाया करते थे। उस में एक पात्र है, जो फाँसी के विचार से घबराता रहता है और कहता रहता है—'मुझे फाँसी नहीं दी जायेगी।' वह इसी बात में विश्वास करने लगता है। उपन्यास के अन्तिम अध्याय में उसे फाँसी देने के लिए जब फाँसी घर ले जाया जाता है, तब भी वह कहता है कि मुझे फाँसी नहीं दी जायेगी। भगत सिंह जब यह प्रसंग सुना रहे थे, उन्हें हँसी आ गयी और आँखें आँसुओं से भर गयीं। हम सब श्रोता सहानुभूति के इन आँसुओं से प्रभावित हुए बिना न रह सके। ये उस वीर के आँसू थे, जो मृत्यु के विचार पर विजय पा चुका है और उस के लिए बह रहे थे, जो मृत्यु से भयभीत है।"

जाने कितने संस्मरण हैं, जिन में उन की मानवीयता के फूल महक रहे हैं। वे सदा महकते रहेंगे। क्यों कि वे इतिहास के फूल बन गये हैं।

■ ■

भगत सिंह :
क्रान्ति के दार्शनिक

भगत सिंह के जीवन का वास्तविक महत्त्व यह नहीं कि वे क्रान्तिकारी थे; उन्हों ने यहाँ यह किया था, वहाँ वह किया था, वे ऐसे थे, वे वैसे थे। यह सब-कुछ था, पर उन के जीवन का वास्तविक और ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि वे भारत की सशस्त्र क्रान्ति के दार्शनिक थे। उसे उन्हों ने परिपूर्ण जीवन-दर्शन दिया था।

साहित्य की भाषा में वे क्रान्तदर्शी थे, अँगरेज़ी के शब्दों में वे विज़नरी थे, राजनीति की भाषा में वे युगद्रष्टा थे, धर्म की भाषा में वे ऋषि थे और चालू लोक-भाषा में वे भारत में समाजवाद के प्रथम उद्‌बोधक थे।

मैं उन के कार्य को संक्षेप में कहना चाहूँ, तो कहूँगी—भावुकता में बँधी, ऊपर देखती आँखों को उन्हों ने यथार्थ की डोर में बाँध कर नीचे कर दिया था। दूसरे शब्दों में क्रान्तिकारियों की आकाश-उन्मुख दृष्टि को भूमि-अभिमुख कर दिया था। इस से भी आगे और इस से भी स्पष्ट यह कि उन के समय तक सशस्त्र क्रान्ति का जो लक्ष्य अँगरेज़ों को भगा कर भारत को स्वतन्त्र करने की बात तक सीमित था, उसे स्वतन्त्रता के बाद स्थापित होने वाली समाज-व्यवस्था तक फैला दिया था।

राजनीति की भाषा में, उन्हों ने राजनैतिक क्रान्ति को ही सब-कुछ न मान कर उस के साथ आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति को भी समन्वित कर दिया। विध्वंस और निर्माण की यह व्यापक दृष्टि १८५७ से १९४७ तक के नेताओं में अपनी दृष्टि और नीति के अनुसार केवल गान्धी जी को ही प्राप्त थी। इसी पृष्ठभूमि में मैं भगत सिंह को क्रान्ति का दार्शनिक कहती हूँ।

आश्चर्य है कि नयी समाज व्यवस्था की इस प्रवृत्ति के अंकुर उन में बचपन से ही थे, उन्हों ने सम्मिलित परिवारों में स्त्रियों को पुराने ग़ुलामों की तरह दबी-घुटी ज़िन्दगी जीते देखा था और पुरानी समाज-व्यवस्था की सड़ाँध को अनुभव किया था। उन की उम्र तब मुश्किल से ८-९ वर्ष की होगी। वे गाँव के प्राइमरी स्कूल में पढ़ते थे। एक दिन उन

की छोटी वहन अमर कौर कहीं से एक काग़ज़ ले आयो। यह किसी प्राचीन धर्म-पुस्तक का पन्ना था। वड़े चाव से उन्हों ने वह भगत सिंह को दिया। उन्हों ने उसे देखा, पढ़ा। वोले—"अमरो, अँगरेज़ों के साथ ही धर्म ने भी हमारे देश में वहुत गड़वड़ कर रखी है। मैं अँगरेज़ों के साथ ही इसे भी खत्म करूँगा। वीवी अमर कौर के शब्दों में—"उन्हों ने उस काग़ज़ को ज़मीन पर पटक दिया और दोनों पैर उस के ऊपर रख कर खड़े हो गये। उस समय उन का चेहरा ऐसा तमतमा गया, जैसे सचमुच वे अपने किसी दुश्मन को खत्म कर रहे हों।"

कुछ वर्षों के वाद वे लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में पढ़ने लगे थे। वहाँ प्रतिदिन हवन होता था, आँखें मूँद कर प्रार्थना होती थी और उस में मोक्ष की वात भी कही जातो थी। उन के वालसखा श्री जयदेव गुप्ता के शब्दों में—"भगत सिंह इस हवन-प्रार्थना से कभी प्रभावित नहीं हुए। उन में वहुत तीव्र जिज्ञासा थी। लगता था, वे कुछ खोज रहे हैं और उसे पाने को वेचैन हैं। उन की वुद्धि कहती थो, जो तुम चाहते हो, वह यह नहीं है। इस से उन की जिज्ञासा और भी छटपटाने लगती थी, एक दिन यह छटपटाहट मुझे साफ़-साफ़ दिखाई दो।

स्कूल के रास्ते में एक वूढ़ा लाहौरी गेट के पास मामूली मिठाई वेचा करता था, दूकान तो उस के पास क्या होती, एक वड़े-से थाल में मिठाई रखे वह वैंठा रहता था। उस के हाथ काँपते रहते थे, फिर भी जैसे-तैसे वह काम करता था। एक दिन भगत सिंह और मैं उधर से आ रहे थे। ठण्ड इतनी ज़्यादा थी कि कँपकँपी छूट रही थी। वूढ़े को देख कर वे ठहर गये। वुरा हाल था उस का। तराज़ू उस से सँभल न रही थी। भगत सिंह वहुत देर तक तरस-भरी निगाह से उसे देखते रहे।

तुम्हारा कोई नहीं है वावा? भगत सिंह ने उस वूढ़े से पूछा। उस का उत्तर था—नहीं। वे वेहद गम्भीर हो गये। मैं ने कहा—यह सव इस के कर्मों का फल है। उन्हों ने पूरे वल से कहा—यह सव वहकावा है। इस वूढ़े को रोटी और सहारा समाज से मिलना चाहिए, पर यह काम आँख मूँद कर मोक्ष की प्रार्थना करने से नहीं हो सकता।

इस घटना के कुछ ही साल वाद जब वे नेशनल कॉलेज में पढ़ते थे और क्रान्तिकारी जीवन में प्रवेश कर चुके थे, मैं ने ऐसे ही प्रश्नों पर वातें करते-करते उन से पूछा था—तुम क्या करोगे? कैसी व्यवस्था करोगे? इन मामलों को कैसे निमटाओगे? अपने गम्भीर राजनैतिक अध्ययन से अव उन की दृष्टि स्पष्ट हो चुकी थी। उन्हों ने पूरी दृढ़ता से उत्तर दिया था—यदि हमें सरकार वनाने का अवसर मिला, तो किसी के पास कोई प्राइवेट प्रापर्टी (व्यक्तिगत सम्पत्ति) नहीं होगी। सव पब्लिक प्रॉपर्टी (सामाजिक सम्पत्ति) होगी। हरेक को काम मिलेगा।

मैं ने पूछा—धर्म का क्या करोगे? क्या उसे ग़ैर-क़ानूनी करार दोगे? उन का उत्तर था—धर्म एक पर्सनल (व्यक्तिगत) विश्वास की चीज़ होगी, सामूहिक नहीं।

बाद में तो उन की यह राय बन गयी थी कि ईश्वर मनगढ़न्त चीज़ है। दुनिया के दिमाग़ को ग़ुलाम बनाने के लिए यह गढ़ा गया है। ईश्वर मनुष्य का सब से बड़ा दुश्मन है। बाद में साम्प्रदायिक दंगों ने धर्म और ईश्वर के प्रति उन के रुख को और भी कड़ा कर दिया था। वे कहा करते थे, यदि हम मनुष्य और मनुष्य के बीच से ईश्वर को निकाल दें, तो आदमी-आदमी के बीच की दीवार ही हट जाये।

एक दिन उन्हों ने बहुत ही भावुक हो कर कहा था—"मैं जिस संसार का स्वप्न देखता हूँ, उस में देशों के बीच की दीवारें हट जायेंगी, सारा संसार एक हो जायेगा और हर व्यक्ति यह सोच कर काम करेगा कि दूसरों के लिए क्या अच्छा है।" कहते-कहते उन की मुट्ठी बँध गयी थी और खुशी से झूम उठे थे वे—ऐसा समय ज़रूर आयेगा, ऐसा समय ज़रूर आयेगा।"

नेशनल कॉलेज में गहरे अध्ययन की प्यास उन में जागी। कॉलेज का पाठ्य-क्रम ही राजनैतिक पुस्तकों से भरा हुआ था। फ़्रान्स के प्रसिद्ध लेखक विक्टर ह्यूगो का उपन्यास 'इण्टरनल सिटी' पढ़ कर भगत सिंह उत्साहित हो उठे। इस में फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति का वर्णन है कि कैसे क्रान्तिकारियों ने सम्राट् सोलहवें लुई और उन की घमण्डी महारानी एन्तोनेत के साथ हज़ारों जागीरदारों, अमीरों और पादरियों का सिर भुट्टे की तरह काट कर रख दिया।

इस उपन्यास के बाद भगत सिंह ने फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति को पूरी तरह पढ़ा। उस क्रान्ति की पृष्ठ-भूमि में रूसो और वाल्तेयर के रूढ़िविरोधी विचार काम कर रहे थे। उन से भगत सिंह बहुत प्रभावित हुए। अपटन सिनक्लेयर की पुस्तक 'क्राई फॉर जस्टिस' ने तो उन्हें पागल ही बना दिया। लेखक ने इस पुस्तक को संसार-भर के सर्वहारा, शोषित और अत्याचार-पीड़ित वर्ग के हृदयों में नयी चेतना और नया जीवन संचार करने वाली नयी बाइबिल कहा था। भगत सिंह ने उसे इसी रूप में ग्रहण किया।

आयर्लैण्ड का स्वतन्त्रता-आन्दोलन भारतीय स्वतन्त्रता के साधकों के लिए प्रेरणास्रोत रहा है। डानब्रीन की पुस्तक 'माई फाईट फ़ॉर आयरिश फ़्रीडम' (आयरलैण्ड की स्वतन्त्रता के लिए मेरा संघर्ष) पढ़ कर भगत सिंह को नये संघर्ष की नयी प्रेरणा मिली। 'हीरोज़ ऐण्ड हीरोईन्स ऑव रशिया' नाम की पुस्तक ने भगत सिंह के मानस को रूसी क्रान्ति से जोड़ा और उन्हों ने गहराई से रूसी क्रान्ति का अध्ययन किया। इस प्रकार उन्हों ने फ़ान्स, आयरलैण्ड, रूस की क्रान्तियों का गहरा अध्ययन किया और साथ ही दूसरे राजनैतिक साहित्य का भी।

इस अध्ययन ने भगत सिंह की भावुकता को यथार्थ में बदल दिया। उन्हें आतंकवादी से क्रान्तिकारी और क्रान्तिकारी से क्रान्ति का दार्शनिक बना दिया। अब उन के लिए भारत की स्वतन्त्रता साधन थी, नयी समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिए। इस नयी समाज-व्यवस्था का आधार धर्म नहीं, जो धन-साधन की विषमता को

भाग्य और ईश्वर का चमत्कार कह देता है, मनुष्य-मनुष्य की समानता ही आधार-शिला थी। इस परिवर्तन को ठीक और पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें इतिहास की लम्बी झाँकी लेनी पड़ेगी। १८५७ का स्वतन्त्रता-संग्राम धर्म के सहारे संगठित किया गया था। उस की असफलता के बाद देश-व्यापी भयंकर दमन हुआ, पर दमन से कोई जीवित जाति हमेशा तो दबी नहीं रह सकती। १८७२ में गुरु राम सिंह के नेतृत्व में कूका विद्रोह हुआ। उस की पृष्ठभूमि भी धार्मिक थी। उन्नीसवीं सदी के अन्त में आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज आदि के जो जागरण-आन्दोलन हुए, वे सब के सब धर्म की ही पृष्ठभूमि में उगे-पनपे। स्वामी विवेकानन्द का कार्य क्रान्तिकारी होते भी धर्ममय था। श्री वंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने 'आनन्दमठ' उपन्यास में 'वन्दे मातरम्' का जो नारा दिया, उस का वातावरण भी धार्मिक था—'तोमार प्रतिमा गड़ी मन्दिरे-मन्दिरे।'

काँग्रेस का आन्दोलन उस समय माँग और प्रार्थना तक ही सीमित था। लोक-मान्य तिलक ने उस में राजनैतिक गरमी की चिनगारियाँ वोयीं और इस तरह गरम राजनीति का युग आरम्भ हुआ। महाराष्ट्र में श्री सावरकर और वंगाल में अरविन्द और रासविहारी वोस के नेतृत्व में गरमी ने जो सशस्त्र विद्रोह का रूप लिया, उस में भी धर्म का गहरा पुट था। क्रान्तिकारी दल में सदस्य को दीक्षा के समय एक हाथ में गीता और दूसरे में पिस्तौल देने की बात वड़ों से सुनी है और आम है। मृत्यु के प्रति क्रान्तिकारी को भयमुक्त होना चाहिए, इस का आधार यह दिया जाता था कि शरीर नश्वर है, क्षण भंगुर है, आत्मा अमर है। राजपूती काल की वीरगति पाने वाली परलोकवादी भावुकता का भाव भी उस में था ही। सशस्त्र क्रान्ति और धर्म के इस संगम की भावना का सर्वोत्तम रूप हमें काकोरी केस में मिलता है। अशफाकुल्ला खाँ जव १७ दिसम्बर १९२७ को फ़ैज़ावाद जेल में फाँसी पर चढ़े, तो उन की वग़ल में 'क़ुरान सरीफ़' की पुस्तक थी और १९ दिसम्बर १९२७ को श्री रामप्रसाद 'विस्मिल' गोरखपुर में जव फाँसी पर चढ़े, तो फन्दा गले में डालने से पहले उन्हों ने वेद-मन्त्रों का ज़ोर-ज़ोर से पाठ किया।

धर्म की इस भावुक कन्दरा में सव से पहला और सब से तेज दीपक जलाया भगत सिंह ने। इतिहास का यह भी एक चमत्कार ही है कि यह दीपक भारत की राजधानी दिल्ली में जला, पर जला खण्डहरों में और इस तरह भगत सिंह उस दीपक के और वे खण्डहर परम्परावादी विचारों के प्रतीक हो गये। यह वात सितम्बर १९२८ की है। दिल्ली के फ़िरोज़शाह क़िले के खण्डहरों में कुछ प्रगतिशील क्रान्तिकारियों की एक बैठक बुलायी गयी थी। इस में पंजाव, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और बिहार के प्रतिनिधि आये थे। उत्तर भारत के सशस्त्र क्रान्ति-आन्दोलन के इतिहास में इस बैठक का वहुत महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक स्थान है। उत्तर प्रदेश और पंजाव में संगठन निष्क्रिय हो गया था। बंगाल का संगठन अपना सर्वाधिकार तो चाहता था,

पर कोई चमत्कारी कार्यक्रम उस के पास नहीं था। ऐसी स्थिति में यह भगत सिंह और उन के कुछ साथियों के नेतृत्व का चमत्कार ही हैं कि उन्हों ने बड़े नेताओं की नाग-कुण्डली से बाहर नया संगठन खड़ा कर नया मार्ग खोज निकाला। ८–९ सितम्बर १९२८ की इस बैठक में चन्द्रशेखर आज़ाद भी नहीं आये थे और उन्हों ने कहला दिया था कि जो निर्णय साथी करेंगे, मुझे मान्य होगा। इस प्रकार इस बैठक का नेतृत्व भगत सिंह के ही हाथ में था।

उन्हों ने प्रस्ताव किया कि संगठन का नाम 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' की जगह 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' (हिन्दुस्तान समाजवादी जन तन्त्र) कर दिया जाये। इस का अर्थ है भारतीय स्वतन्त्रता का स्पष्ट लक्ष्यबोध, आन्दोलन का सब प्रकार के वहमों और काल्पनिक विचारों से बाहर अपने शुद्ध राजनैतिक रूप में प्रतिष्ठित होना। इसी पृष्ठभूमि में मैं कहती हूँ, धर्म की भावुक कन्दरा में सब से पहला और सब से तेज दीपक जलाया भगत सिंह ने।

भगत सिंह समाजवाद का प्रस्ताव पास कर के ही नहीं रुके, वे दल के सदस्यों को समाजवाद का प्रशिक्षण देने में भी जुटे रहे। १९२८ के अक्टूबर में जब दल के सदस्य काकोरी के क़ैदियों को जेल से छुड़ाने की जुस्तजू में लगे हुए थे, तब का एक संस्मरण श्री भगवान दास माहौर के शब्दों में—"हम सभी उस समय तक गीता पाठ कर के स्फूर्ति प्राप्त करते थे। अपने अन्य साथियों की क्रान्ति-भावना के सदृश मेरी भी क्रान्ति-भावना में धार्मिक सूत्र अनुस्यूत चला आता था। इस सूत्र को सर्वप्रथम सब से प्रबल झटका भगत सिंह के द्वारा ही उन के सर्वप्रथम साक्षात्कार में लगा जब उन्हों ने आगरे में एकत्र हुए दल के सभी साथियों से बातचीत की। मैं उस समय बी० ए० का विद्यार्थी था, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से भगत सिंह ने मुझे एकदम कोरा ही पाया और हैरानी प्रकट की। मेरे मन को झकझोर डालने के लिए भगत सिंह ने मुझे अराजकतावादी बाकूनिन की पुस्तक 'दि गॉड ऐण्ड द स्टेट' (ईश्वर और राज्य) बड़े आग्रह से पढ़ने को दी। इस के मुखपृष्ठ पर ही लिखा था—"इफ़ गॉड रियली एग्ज़िस्टेड, इट वुड बि नसेसरी टु अबॉलिश हिम (यदि ईश्वर का अस्तित्व वास्तव में होता, तो उसे मिटा देना आवश्यक होता)।" भगत सिंह की इन नास्तिकतावादी बातों से उस समय मेरे मन पर बहुत ठेस लगी। अपने मन में गाँठ-सी बाँध ली कि क्रान्तिकारी भले ही हूँ, परन्तु नास्तिक मैं कभी नहीं बनूँगा। इस के चार-पाँच साल बाद साबरमती सेण्ट्रल जेल की अँधेरी कोठरी में बहुत दिनों गीता-पाठ, प्राणायाम आदि करने के बाद राजनीति और अर्थशास्त्र की भी बहुत-सी पुस्तकें पढ़ने के बाद जब मार्क्स की 'कैपीटल' और ऐंगिल्स की भी कुछ पुस्तकें पढ़ीं, तभी वह बीज अंकुरित हुआ, जो उस समय भगत सिंह ने बोया था। अतएव व्यक्तिगत रूप में भगत सिंह की स्मृति में जो बात मेरे मन में सर्वोपरि है, वह यही है कि समाजवाद की ओर मुझे उन्मुख करने वाले वे मेरे सब से पहले गुरु थे।"

भगत सिंह को यह गुरुत्व प्राप्त करने के लिए घनघोर संघर्ष करना पड़ा था। ईश्वर के अस्तित्व से इनकार, इस संघर्ष का एक मोरचा था और क्रान्तिकारी दल में एक साथी की तरह स्त्रियों को काम करने की स्वीकृति, दूसरा। इन मोर्चों के लिए भगत सिंह स्वयं भी रात-दिन अध्ययन करते रहते थे। वे जागरण, उद्बोधन और क्रान्ति के लिए अध्ययन को, साहित्य को, विचार को, कितना महत्त्व देते थे, इस का पता उस युग के क्रान्तिकारी युवकों के तीर्थ द्वारकादास पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री राजाराम शास्त्री के इन शब्दों से लगता है—

"भगत सिंह को मेरे पास वहुत ज्यादा आना-जाना होता था। पुलिस को कहीं सन्देह न हो जाय, इसी लिए भगत सिंह को मैं ने पुस्तकालय का सदस्य बना लिया था, ताकि इन के माध्यम से क्रान्तिकारी साहित्य आसानी से बाहर भेजा जा सके। कितनी ही पुस्तकों के नाम मुझे आज भी याद है, जिन्हें वहुधा युवकों को पढ़ने के लिए दिया जाता था। एक बार बैरिस्टर सावरकर की लिखी हुई प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत का प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध' मुझे भगत सिंह ने ला कर दी। मुझ पर इस पुस्तक का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। अन्त में भगत सिंह की सलाह से यह निश्चित हुआ कि इसे गुप्त रूप से प्रकाशित किया जाये। भगत सिंह ने किसी प्रेस में इसे छापने का प्रवन्ध कर लिया था। वह इस के प्रूफ़ देखने के लिए मुझे दे जाते थे और मैं उन्हें रात्रि में देख कर दूसरे दिन लौटा दिया करता था। यह पुस्तक दो भागों में प्रकाशित की गयी थी।"

वे विचारों को पढ़ ही तेज़ी से नहीं रहे थे, जीवन में उस से भी तेज़ी से उतार रहे थे। विचित्र बात है कि वे अपने क्रान्तिकारी जीवन के आरम्भ से ही इस बात पर तुले हुए थे कि मुझे मरना है, पर इस तरह मरना है कि समाज हमारे मरने का उद्देश्य जान ले और अँगरेज़ों के विरुद्ध दल की बग़ावत एक ऐसी क्रान्ति का रूप ले ले, जिस के साथ जनता खड़ी हो। १७ दिसम्बर १९२८ को लाहौर में साण्डर्स का उन्हों ने वध किया और उसी रात में उन्हों ने लाल पोस्टर शहर की दीवारों पर चिपकाये। इन में कहा गया था—"हम सब विरोध और दमन के बावजूद क्रान्ति की पुकार को बुलन्द रखेंगे और फाँसी के तख़्तों से भी पुकारते रहेंगे—इन्क़लाब ज़िन्दाबाद। हमारा उद्देश्य ऐसी क्रान्ति है, जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त कर देगी।"

८ अप्रैल १९२९ को भगत सिंह ने असेम्बली में बम फेंका और अपने साथी बटुकेश्वर दत्त के साथ नारे लगाये—'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद, साम्राज्यवाद का नाश हो।' साथ ही कुछ छोटे-छोटे पोस्टर भी फेंके। इन के अन्त में कहा गया था—"हम ऐसे उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रखते हैं, जिस में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण शान्ति और स्वतन्त्रता का अवसर मिल सके। हम मानव रक्त बहाने के लिए अपनी विवशता पर दुःखी हैं, पर क्रान्ति द्वारा सब को समान स्वतन्त्रता देने और मनुष्य-द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त करने के लिए क्रान्ति में कुछ-न-कुछ रक्तपात अनिवार्य है।"

भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास में मैं इन नारों और दोनों पोस्टरों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानती हूँ, क्यों कि ये नारे और ये पोस्टर भारत में आतंकवाद के समाप्त होने और उस के क्रान्तिकारी आन्दोलन में बदल जाने की प्राथमिक सूचना देते हैं। इस दूसरे पोस्टर में एक वाक्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—"हम देश की जनता की ओर से यह क़दम उठा रहे हैं।" इस घटना से पहले तक जनता सशस्त्र विद्रोह की दर्शक-मात्र थी। इस घटना ने उसे विद्रोह का नेतृत्व ही सौंप दिया। विद्रोह अब कुछ जोशीले युवकों की टोली का काम नहीं रहा। वे युवक चुनाव न होने पर भी, जनता के प्रतिनिधि हो गये। इतिहास भगत सिंह की इस दूरदर्शिता के लिए सदा वन्दना करेगा कि उन्हों ने चोरों की तरह छिप कर काम करने वालों को पहली बार आन्दोलन के मंच पर बैठा दिया और क्रान्तिकारी दल को, जिस के पास डकैती के सिवा साधन जुटाने का और कोई मार्ग न था, जनता के साधनों से सम्पन्न कर दिया। ये नारे भारत की जनता को भगत सिंह का दिया उपहार भी है और एक वैचारिक आविष्कार भी है; क्यों कि ये बताते हैं कि उन के मन में १९२८ में ही भविष्य का स्वप्न साकार हो उठा था और वे उसे साफ़-साफ़ देख रहे थे।

भगत सिंह के मन में स्वतन्त्रता के बाद की समाज-व्यवस्था का रूप कितना स्पष्ट था, इस का पता असेम्बली बम-काण्ड के मुक़दमे में दिये बयान से चलता है, जो भगत सिंह ने ६ जून १९२९ को दिल्ली के सेशन जज की अदालत में दिया। उस लम्बे बयान में उन्हों ने क्रान्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध में कहा—"क्रान्ति में हिंसात्मक संघर्षों का अनिवार्य स्थान नहीं है, न उस में व्यक्तिगत रूप से प्रतिशोध लेने की ही गुंजायश है। क्रान्ति बम और पिस्तौल की संस्कृति नहीं है। क्रान्ति से हमारा प्रयोजन यह है कि अन्याय पर आधारित वर्तमान समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होना चाहिए। उत्पादक अथवा श्रमिक समाज के अत्यन्त आवश्यक तत्त्व हैं, तथापि शोषक लोग उन्हें उन के श्रम के फलों और मौलिक अधिकारों से वंचित कर देते हैं। एक ओर सब के लिए अन्न उगाने वाले कृषक सपरिवार भूखों मर रहे हैं, सारी दुनिया के बाज़ारों में कपड़े की पूर्ति करने वाले बुनकर अपने और अपने बच्चों के शरीर को ढाँपने के लिए पूरे वस्त्र प्राप्त नहीं कर पाते, भवन-निर्माण, लोहारी और बढ़ईगीरी के कामों में लगे लोग शानदार महलों का निर्माण कर के भी गन्दी बस्तिओं में रहते और मर जाते हैं। दूसरी ओर पूँजीपति, लोक और समाज पर घुन की तरह जीने वाले लोग अपनी सनक पूरी करने के लिए करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा रहे हैं। यह भयंकर विषमताएँ और विकास के अवसरों की कृत्रिम-समानताएँ समाज को अराजकता की ओर ले जा रही हैं। यह परिस्थिति सदा-सदा नहीं रह सकती। यह स्पष्ट है कि वर्तमान समाज-व्यवस्था एक ज्वालामुखी के मुख पर बैठी हुई आनन्द मना रही है और शोषकों के अबोध बच्चे भी करोड़ों शोषितों के बच्चों की भाँति एक खतरनाक दरार के कगार पर खड़े हैं। यदि सभ्यता के ढाँचे को समय रहते नहीं

बचाया गया, तो वह नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। इस लिए क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है और जो लोग इस आवश्यकता को अनुभव करते हैं, उन का यह कर्तव्य है कि वे समाज को समाजवादी आधारों पर पुनर्गठित करें।

जब तक यह नहीं होगा और एक मनुष्य के द्वारा दूसरे मनुष्य का, तथा एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण होता रहेगा, जिसे साम्राज्यवाद कहा जा सकता है, तब तक उस से उत्पन्न होने वाली पीड़ाओं और अपमानों से मानव-जाति को नहीं बचाया जा सकता एवं युद्ध को मिटाने तथा शान्ति के युग का सूत्रपात करने के बारे में की जाने वाली समस्त चर्चाएँ कोरा पाखण्ड हैं।

क्रान्ति से हमारा प्रयोजन अन्ततः एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिस को इस प्रकार के घातक खतरों का सामना न करना पड़े और जिस में सर्वहारा वर्ग की प्रभुता को मान्यता दी जाये।"

यह वक्तव्य भारत में समाजवाद का ऐतिहासिक घोषणा-पत्र है और मुझे लगता है कि जब कभी भारत में राजनैतिक विचारों के विकास का सही-सही इतिहास लिखा जायेगा, तो ६ जून, १९२९ को भी ८ अगस्त सन् १९४२ (भारत छोड़ो की घोषणा का दिन) की तरह ही सामूहिक महत्त्व दिया जायेगा; क्यों कि भारत में यह नयी समाज-व्यवस्था की घोषणा का दिन है।

इस घोषणा के बाद भी भगत सिंह अपने विचारों के विकास में निरन्तर लगे रहे। यह उन के व्यक्तित्व का और अपने आदर्श के प्रति उन के समर्पण का एक अद्‌भुत चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस मुक़दमे में उन्हें आजन्म कारावास का दण्ड मिला और इस के तुरन्त बाद लाहौर षड्यन्त्र-केस का वह मुक़दमा चल पड़ा, जिस में उन्हें फाँसी की सजा हुई, पर न उन्हें आजन्म कारावास से कोई मतलब था, न फाँसी से। वे अपनी सारी शक्ति इस काम में लगा रहे थे कि फाँसी पर झूलने से पहले समाज को नयी समाज-व्यवस्था का पूरा चित्र दे जायें। इस का पता एक संस्मरण से लगता है—वे अपनी काल-कोठरी में बैठे-बैठे किताबों की लम्बी लिस्ट तैयार करते और बाहर भेज देते। बाहर वे किताबें लायब्रेरियों से इकट्ठी की जातीं और जेल भेजी जातीं। कहने को ही किताबें कह रही हूँ, पर असल में यह किताबों की ढेरी होती। वे जल्दी ही उन्हें लौटा देते और साथ ही किताबों की एक नयी और लम्बी लिस्ट भेज देते। एक दिन जेल वालों ने उन से कहा—"आप इतनी किताबें मँगाते हैं कि हम उन्हें सेन्सर करते-करते थक जाते हैं, आप उन्हें पढ़ते भी हैं या देख कर ही लौटा देते हैं?"

भगत सिंह ने उत्तर दिया—"मेरी मँगायी हुई पुस्तकों में से किसी का भी कोई चैप्टर खोल लीजिए, मैं बताऊँगा कि उस के अन्दर क्या है?" सुन कर जेल-अधिकारी आश्चर्य-मुग्ध रह गये थे।

भगत सिंह जीवन के दूसरे क्षेत्रों की तरह ही अध्ययन में भी अत्यन्त गतिवान्

थे। इस गति से ही उन्हों ने फाँसी-कोठरी में बैठे-बैठे वक्तव्य तो जाने कितने लिखे थे, पर कई पुस्तकें भी लिखी थीं। इन में महत्त्वपूर्ण पुस्तकें थीं, 'आइडियल ऑव सोशलिज़्म' (समाजवाद का आदर्श), दूसरी थी 'द डोर टु डेथ' (मृत्यु के द्वार पर), तीसरी थी उन की 'आटोवॉयग्राफ़ी' (आत्मकथा), और चौथी थी 'द रिवोल्यूशनरी मूवमण्ट ऑव इण्डिया विद शार्ट वॉयग्राफ़िक स्कैचेज़ ऑव द रिवोल्यूशनरीज़' (भारत में क्रान्ति का आन्दोलन और क्रान्तिकारियों का संक्षिप्त परिचय)। पहली पुस्तक में उन्हों ने देश की समस्याओं का विवेचन और विश्लेषण किया था। समाधान के रूप में समाजवाद प्रस्तुत किया गया था और वहुत महत्त्वपूर्ण वात यह थी कि समाजवाद को भारत में किस स्वरूप में, ग्रहण किया जाये, इस पर भी लम्बी आलोचना की गयी थी। इसी तरह की एक-दो पुस्तकें और भी थीं, जिन का सम्बन्ध नयी समाज-व्यवस्था से ही था। वे इन पुस्तकों को और ख़ास कर 'आइडियल ऑव सोशलिज़्म' को तुरन्त छाप कर समाज के सामने रखना चाहते थे। उन का कहना था कि इस पुस्तक की 'पोलिटिकल वैल्यू' वहुत अधिक है, पर ये पुस्तकें उन के सामने ही नहीं, उन के वाद भी समाज के सामने न आ सकीं।

क्या हुआ इन पुस्तकों का? ये पुस्तकें थोड़े-थोड़े काग़ज़ों के रूप में उन के छोटे भाई कुलवीर सिंह के हाथों जेल से वाहर आयीं। भगत सिंह का आदेश था कि यह सब सामग्री कुमारी लज्जावती जी को दे दी जाये। कुलवीर सिंह के ही शब्दों में—"मुझे कुछ मोह हुआ और मैं ने कुछ सामग्री अपने पास भी रख ली। 'कुलवीर, सब सामान लज्जावती जी के पास पहुँच गया?'—अपनी अन्तर्दर्शी आँखों से घूरते हुए भगत सिंह ने पूछा। 'सब तो नहीं', मैं ने सकुचाते हुए उत्तर दिया। 'क्यों'? गुर्रा कर भगत सिंह ने पूछा और आदेश के स्वर में कहा, 'तुरन्त पहुँचाओ सब सामान।' सामान उन के पास पहुँच गया और सुरक्षित रहा।"

इस के वाद की कहानी भी कुलवीर सिंह के ही शब्दों में—"१९३३-३४ में मैं ने इस साहित्य की वात चाचा जी (सरदार अजीत सिंह) को लिखी, जो उस समय जर्मनी में थे। उन्हों ने उत्तर दिया कि उस सब साहित्य की नक़ल करा कर मुझे भेज दो। मैं उन्हें यहाँ अँगरेज़ी और जर्मन भाषाओं में छपा दूँगा। मैं लज्जावती जी के पास गया। उन्हों ने कहा, वह देश की सम्पत्ति है, इस लिए मैं ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू को दे दी थी। कुछ दिन वाद पण्डित नेहरू लाहौर आये, तो मैं ने उन से उस साहित्य की नक़ल दे देने को कहा। वे वोले, तुम से किस ने कहा कि मेरे पास वह साहित्य है? मैं ने लज्जावती जी का नाम लिया। वे चुप हो गये और फिर कुछ वोले। इस के वाद मैं ने फिर लज्जावती जी से पूछा, तो वे वोलीं—"मैं ने वे पुस्तकें श्री विजयकुमार सिनहा को दे दी हैं। मिलने पर श्री विजय कुमार सिनहा ने स्वीकार किया और १९४६ तक कहते रहे कि उन्हें देखभाल कर जल्दी ही छपायेंगे, पर वाद में उन्हों ने कहा कि वे पुस्तकें सुरक्षा के ख़याल से किसी मित्र के पास रखी थीं, वहीं

नष्ट हो गयीं।"

बहुत दर्दनाक है यह संस्मरण, क्यों कि यह कुछ पुस्तकों की कहानी नहीं है, न किसी व्यक्ति के हानि-लाभ की कहानी है, यह इतिहास की धरोहर के छिन जाने की कहानी है। इतिहास इस के लिए किसे दोष देगा, मैं नहीं जानती।

भगत सिंह का साहित्य, जो उन के बाद समाज का मार्ग-दर्शन करता, नष्ट हो गया, पर वे कैसी समाज-व्यवस्था चाहते थे, मानव-मानव के बीच कैसा सम्बन्ध चाहते थे, यह एक संस्मरण में सुरक्षित है। उन की काल-कोठरी में जो भंगी सफ़ाई करने आता था, वे उसे बेबे कहा करते थे, जैसे कि अपनी माँ को बेबे जी कहते थे। जब वह कोठरी में आता, तो भगत सिंह कुछ भी कर रहे हों, उस से ज़रूर बातचीत करते और लाड़ से बेबे-बेबे पुकारते रहते। उन के इस व्यवहार से जमादार का प्रभावित होना, तो स्वाभाविक ही था।

"आप इसे बेबे क्यों कहते हैं?" एक दिन किसी जेल-अधिकारी ने पूछा, तो बोले—"जीवन में दो को ही मेरी गन्दगी उठाने का काम मिला है। एक मेरी बचपन की माँ और एक यह जवानी की जमादार माँ। इस लिए दोनों बेबे जी ही हैं मेरे लिए।"

फाँसी से पहले जेलर खान बहादुर मुहम्मद अकबर अली ने उन से पूछा—"आप की कोई खास इच्छा हो, तो बताइए। मैं उसे पूरी करने की कोशिश करूँगा।" भगत सिंह का उत्तर था—"हाँ, मेरी एक खास इच्छा है और आप उसे पूरा कर सकते हैं।"

"बताइए"।

"मैं बेबे के हाथ की रोटी खाना चाहता हूँ।" जेलर ने इसे उन का मातृ-प्रेम समझा, पर उन की मन्शा भंगी भाई से थी। जेलर ने उसे बुला कर भगत सिंह को बात कही, तो वह स्तब्ध रह गया—"सरदार जी, मेरे हाथ ऐसे नहीं हैं कि उन से बनी रोटी आप खायें।"

भगत सिंह ने प्यार से उस के दोनों कन्धे थपथपाते हुए कहा—'माँ जिन हाथों से बच्चों का मल साफ़ करती हैं, उन्हीं से तो खाना बनाती है। बेबे, तुम चिन्ता मत करो और मेरे लिए रोटी बनाओ।" भंगी भाई ने रोटी बनायी और भगत सिंह ने आनन्द से, अपने स्वभाव के अनुसार उछलते-मटकते हुए खायी। सोचती हूँ कैसा लगा होगा उस समय दर्शकों को? क्या उन्हों ने सोचा होगा कि नयी समाज-व्यवस्था का स्वप्न-द्रष्टा, युग की क्रान्ति का दार्शनिक, अपने स्वप्नों में इठलाते समाज का एक नमूना प्रस्तुत कर रहा है।

भगत सिंह के लिखे एक निबन्ध के शब्द हैं—"मेरा उद्देश्य तो यह है कि जनता शहीदों की क़ुर्बानियों और जीवन-भर देश के ही काम में लगे रहने के उन के उदाहरणों से प्रेरणा हासिल करे और समय आने पर उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए अपने कामों का स्वयं निर्णय करे।"

भगत सिंह : एक महान् नेता

लाखों-करोड़ों की संख्या में फैले हुए मनुष्य जन-साधारण कहलाते हैं, यानो साधारण आदमी। इन्हीं लाखों-करोड़ों में जनमा, पला, वैसे ही हाथ-पैर रखने वाला कोई-कोई आदमी नेता कहलाता है। जन के साथ साधारण की तरह उस के साथ असाधारण नहीं लगा रहता, पर यह निश्चित है कि वह असाधारण होता है, असाधारण माना जाता है।

उस की असाधारणता क्या है ? शिक्षा में, सम्पदा में, रूप-रंग में, बहुत से लोग जन-साधारण में उस से श्रेष्ठ होते हैं। फिर नेता असाधारण क्यों है ? एक विचारक ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि जन-साधारण के मन में भावना होती है, पर उसे प्रकट करने के लिए भाषा नहीं होती। जन-साधारण के मन में आकांक्षा होती है, पर किस राह जाने से यह आकांक्षा पूर्ण हो सकती है, इस का दिशा-बोध नहीं होता। इन्हीं दोनों मन:स्थितियों के कारण जन-साधारण को मूक जनता कहा जाता है। इस मूक जनता की भावना को जो भाषा देती है, वह साहित्यकार है और जो उस की आकांक्षा को पूर्ति की राह दिखाता है, उस पर उसे चलाता है, वह नेता है।

इस के लिए नेता में पहला गुण यह चाहिए कि वह जनता की आकांक्षा को ठीक-ठीक समझता हो। दूसरा यह कि उस की पूर्ति की सही राह जानता हो। तीसरा यह कि उस राह चलने के लिए जनता को उत्साहित कर सकता हो। चौथा यह कि चलते समय उसे बिखरने से बचा सकता हो। पाँचवाँ यह कि उस के रास्ते में आने वाली बाधाओं को दूर कर सकता हो। छठा यह कि समय के प्रभाव से जो परिस्थितियाँ पैदा होने वाली हों, उन्हें पहले ही भाँप सकता हो, सातवाँ यह कि उन परिस्थितियों का समाधान अपने पास रख सकता हो, उन का उपयोग कर सकता हो।

क्या नेतृत्व की इन कसौटियों पर कस कर हम कह सकते हैं कि भगत सिंह एक सफल नेता थे ?

क्या यह प्रश्न भगत सिंह के जीवन में औरों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह इस लिए कि भगत सिंह को एक महान् राष्ट्रीय शहीद के रूप में स्मरण किया जाता है। उन के युग में बहुत से शहीद हुए हैं, हर शहादत

वन्दनीय है, पवित्र है, पर अपनी शहादत से भगत सिंह को जो चमक, जो ऊँचाई, जो महत्व, जो व्यापकता, जो सर्वोच्चता मिली, वह दूसरे शहीदों के लिए दुर्लभ रही। शहादत की इस चमक से जहाँ भगत सिंह को अनुपम ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त हुआ, वहाँ एक नुक़सान भी हुआ कि उन के व्यक्तित्व के दूसरे गुणों का अध्ययन नहीं हो पाया। शहादत, मृत्यु से प्राप्त होती है। उस मृत्यु का अर्थ है अपने सर्वोत्तम का बलिदान। मनुष्य के लिए उस का जीवन ही सर्वोत्तम है, सब से अधिक प्रिय है, इस लिए स्वेच्छा से किसी ऊँचे उद्देश्य के लिए जीवन का समर्पण ही शहादत है। भगत सिंह ने यह समर्पण इस शान से किया और मृत्यु के साथ इस तरह नाता जोड़ा कि उन की मृत्यु देशवासियों के मन पर ऐसी छा गयी कि उन के जीवन के दूसरे गुणों का अध्ययन तो क्या होता, उन की मृत्यु के चमत्कार का भी गहरा अध्ययन नहीं हुआ। उस की चकाचौंध में आँखें मुँद कर रह गयीं। सचाई यह है कि उन में एक ऐसा मानवीय परिपूर्ण व्यक्तित्व प्रस्फुटित हुआ था, जो किसी को दूसरों से ऊपर उठाता है, भीड़ से अलग कर भीड़ को उसे देखने, अपने से श्रेष्ठ मानने के लिए विवश करता है। मैं यहाँ कहना चाहती हूँ कि वे एक सफल नेता थे और उन के नेता के सब गुणों का ठीक-ठीक विकास हुआ था। मृत्यु की साधना तो उन के नेतृत्व-मन्दिर का कलश ही था।

कुतुब मीनार बरसों में बनी होगी। किसी दल में नेता का पद प्राप्त करने के लिए भी बरसों की ज़रूरत होती है। दल की परिस्थितियों और अपने विशिष्ट गुणों के कारण भगत सिंह थोड़े ही दिनों में दल के नेता-पद पर पहुँच गये थे।

नेतृत्व दल में भेद उत्पन्न करता है और कुछ को आदेश देने वाले तथा कुछ को आदेश का पालन करने वालों की श्रेणी में बाँट देता है। यह स्थिति एक मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देती है। भगत सिंह की नेतृत्व-कला यह थी कि वे व्यवहार में नेता-अनेता का वातावरण नहीं बनने देते थे और समता की गहरी मधुरता बनाये रखते थे।

श्री भगवान दास माहौर के शब्दों में—"गुप्त दल में गोपनीयता का नियम बहुत ही आवश्यक था। सदस्य लोग यथासम्भव एक-दूसरे का नाम भी न जान पाते थे। जिस का जिस काम से जितना सम्बन्ध होता था, उतना ही उसे बताया जाता था। ऐसी हालत में अविश्वास की भावना और उस से चिढ़, ईर्ष्या उत्पन्न होने के अवसरों का आना स्वाभाविक ही था। दल में दादागीरी चलने का सन्देह कभी भी हो सकता था। नेता और सिपाही का भेद भी अनिवार्य रूप में था ही। भगत सिंह नेताओं में से तो एक थे ही, वास्तव में क्रियात्मक रूप में वे दल के सब से बड़े नेता थे, परन्तु अपने व्यवहार में वे सदा इस बात का ध्यान रखते थे कि उन के किसी काम में नेतागीरी की गन्ध न आये। नेता और सिपाही के बीच की खाई वे अपने हास-परिहास से सदा पाटते रहते थे।

साधारण रहन-सहन में वे सदैव इस बात का ध्यान रखते ही थे। नेता तकिया लगाये बैठा रहे और सिपाही झाड़ू लगाये, ऐसी स्थिति वे कभी आने ही न देते थे

आवश्यकता के अनुसार उन के कपड़ों को यदि कभी मैं ने धो डाला, तो कभी आवश्यकता न होने पर भी वे ही साबुन लगाने बैठ जाते थे। यह भी इस प्रकार नहीं कि उन का यह बड़प्पन प्रकट हो कि वे नेता हो कर भी एक सिपाही के कपड़ों में साबुन लगा रहे हैं, बल्कि आपस में बराबरी से तू तड़ाक कर के और ऐसा कुछ कह कर—अबे, सब साबुन घोल डालेगा, तो फिर मैं क्या लगाऊँगा ? ला, इधर ला।

संकट के काम में तो वे आगे रहने की ज़िद ही कर जाया करते थे। किसी सिपाही को संकट का काम करने भेज दिया जाये और नेता सुरक्षित बैठा हुक्म करता रहे यह उन्हें कभी पसन्द नहीं था। × × × × आज़ाद भी हर काम में आगे रहते थे। उस का कारण यह था कि उन्हें लगता था कि वे काम को जितनी अच्छी तरह कर सकते हैं, उतनी अच्छी तरह और कोई न कर सकेगा और यह ठीक भी था, पर भगत सिंह हर बड़े काम में आगे रहते थे, उस का कारण यह था कि नेता के रूप में उन्हें अपने-आप को सब से अधिक ख़तरे में डालना चाहिए, नहीं तो एक गुप्त दल में दादागीरी अपने बुरे अर्थ में आने से न रुकेगी और सिपाहियों का नेताओं में विश्वास न रहेगा ?"

छोटों के साथ भगत सिंह का जब यह व्यवहार था तो बड़ों के साथ उस से भी निराला था। आज़ाद उन्हें बेहद प्यार करते थे। दल के लोगों में यह बात प्रसिद्ध थी कि आज़ाद भगत सिंह की बात नहीं टालते, फिर भी यह बात भी स्पष्ट थी कि भगत सिंह को आज़ाद से जो काम कराना होता था, जो बात मनवानी होती थी, उसे वे अधिकार के स्वर में कभी नहीं कहते थे। उन के कहने में अपनी बात को ठीक मानने का ज़ोर या जोश भी नहीं होता था। पहले वे ऐसी बातें करते थे, जिन से आज़ाद हँस पड़ें, खुश हो जायें। तब धीरे से अपनी बात बेहद भोलेपन से कहते थे और आज़ाद के 'हाँ' कहते ही उछल पड़ते थे, साथियों की तरफ़ आँख मटकाते थे और चुटकी बजाते थे। भगत सिंह के नेतृत्व का आधार यह ज्ञान था कि जो अपने से बड़ों के अनुशासन में रह नहीं सकता, वह अपने से छोटों को अनुशासन में रख भी नहीं सकता।

उन में ख़तरों से खेलने की जो वृत्ति थी, वह उन के रोम-रोम में बसी उन की बेपनाह और उन्मद क्रान्ति की ज्वाला थी। उन की सर्वोत्तम आकांक्षा थी जल उठना, जल जाना नहीं जल उठना और इस तरह जल उठना कि उन के जलने से भारत का भाग्य-पथ रोशन हो उठे, वह सब को दीखने लगे। उन के निकट के साथी श्री भगवान दास माहौर के शब्द इस सम्बन्ध में इतना कह देते हैं कि फिर किसी को कुछ कहना शेष न रहे। वे शब्द हैं—"असेम्बली में बम फेंकने या साण्डर्स को मारने में तो कुछ यश भी था, परन्तु ऐसे कामों में भी, जिन में ख़तरा पूरा-पूरा हो और यश का तनिक भी अवसर न हो, भगत सिंह आगे रहते थे। उदाहरण के लिए बम के नये खोल और मसाला तैयार हो जाने पर उसे कहीं चला कर देखने की बात थी। आज़ाद ने इस के

लिए झाँसी के पास का जंगल चुना, जहाँ ठाकुरों के शिकार खेलने के धड़ाके अकसर होते रहते थे। आज़ाद भगत सिंह और भाई सदाशिव राव इस कार्य के लिए गये। जव वम पर टोपी चढ़ा कर उसे फेंकने का समय आया, तो भगत सिंह ने स्वयं वम को हाथ में लिया और आज़ाद एवं सदाशिव को वहुत पीछे सुरक्षित खड़ा कर दिया, तव वम फेंका। यहाँ (इस वात का महत्त्व समझने के लिए) यह स्मरण कर लेना चाहिए कि भाई भगवतीचरण की मृत्यु इसी प्रकार वम आज़माते समय हाथ में ही वम फट जाने से हुई थी।

२८ मई १९३० को श्री भगवतीचरण वोहरा एक वम का परीक्षण करने के लिए रावी के किनारे गये। वम हाथ में ही फट गया और वे बुरी तरह घायल हो गये। मरने से पहले उन्हों ने अपने साथियों से कहा—" 'जे तुसीं सारे वी मर जाओ ताँ कुछ नहीं विगड़दा। जट नूँ वचा लवो ताँ पार्टी ते आन्दोलन दोनों वच जाणगे।' मतलव यह कि तुम सारे भी मर जाओ, तो कुछ विगड़ेगा नहीं, क्यों कि जट (भगत सिंह) वचा रहा, तो पार्टी और आन्दोलन दोनों वच जायेंगे।"

सोचती हूँ भगत सिंह के नेतृत्व का यह सर्वोत्तम परिचय है। वे सिपाही भी थे, संस्था भी थे, नेता भी थे। संसार के दूसरे देशों की तरह भारत में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन आतंकवाद के रूप में जन्मा था। ज़ोरदार धड़ाका कर देना ही वड़ी सफलता मानी जाती थी और उन परिस्थितियों में थी भी। वीरवर राणा प्रताप का अन्तिम सन्देश था कि हम इज़्ज़तदार आदमी की तरह जी नहीं सकते, तो इज़्ज़तदार आदमी की तरह मर तो सकते हैं। यह क्रान्ति का नहीं विद्रोह का चरित्र है। विद्रोह है अत्याचार को वर्दाश्त न करना और विना दोनों पक्षों की शक्ति का सन्तुलन वनाये, अत्याचार की शिला से टकरा जाना। इस के विरुद्ध क्रान्ति है उस शिला को हटाना और यह निर्णय करना कि शिला के हटने से जो स्थान ख़ाली होगा, वहाँ फुलवारी लगायी जायेगी या कोई मकान वनेगा। विद्रोह व्यक्तिगत है। उसे एक आदमी या कुछ आदमियों की टोली सफलतापूर्वक कर सकती है, पर क्रान्ति समष्टिगत है। उस में समूह को, समूहों को हिस्सा लेना पड़ता है। विद्रोह और क्रान्ति के बीच है आन्दोलन। यह विद्रोह को क्रान्ति में वदलने की प्रक्रिया है। यह व्यक्ति के विरोध को समाज का विरोध और व्यक्ति की वलिदान-भावना को समाज की वलिदान-भावना वनाने का मानसिक यन्त्र है।

भगत सिंह के नेतृत्व की विशिष्टता यह है कि उन्हों ने आतंकवादी विद्रोह को पहले आन्दोलन का रूप दिया और फिर उस आन्दोलन को क्रान्ति का दिशावोध। अपनी १६ वर्ष की आयु से २३ वर्ष की उम्र तक के सात वर्षों में वे क्रान्ति की तीनों धाराओं में तैर गये, यह उन के नेतृत्व का एक जादू-भरा चमत्कार ही है। नेतृत्व के इस जादू-भरे चमत्कार के इतने चित्र मेरे सामने फैले हुए हैं कि उन्हें सन्-संवत् के सिलसिले से किसी एलवम में लगाना सम्भव नहीं है। वे चित्र एक विराट् व्यक्तित्व के खण्ड हैं, पर निश्चय ही ऐसे खण्ड कि हर खण्ड अपने में परिपूर्ण है, यानी हर खण्ड में

एक पूर्ण चित्र है।

आतंकवादी विद्रोह वलिदानी व्यक्तियों का कर्म था। इस कर्म का उद्देश्य शत-प्रतिशत राष्ट्रीय था, पर राष्ट्र की जनता से उस का कोई सीधा या तिरछा सम्पर्क न था। जव कोई धड़ाका होता, कोई अँगरेज़ गोली का निशाना वन जाता, तो जन-साधारण को वह अच्छा लगता, उसे खुशी होती, पर गुलामी की दीनता और अँगरेज़ी नौकरशाही की जकड़न इतनी गहरी थी कि वह खुशी वाणी तो वाणी चेहरे पर भी न आ पाती थी। फिर अवोध और असहाय जनसाधारण खुश हो कर भी यह न समझ सकता था कि चमत्कार-पूर्ण और वलिदानी कर्म होते हुए भी इन से संसार की सव से वड़ी ताक़त अँगरेज़ी साम्राज्य कैसे खण्डित हो जायेगी ? जनता से इस सम्पर्क-हीनता का फल यह था कि पार्टी को धन का भयंकर अभाव सहना पड़ता था। व्यक्तिगत स्तर पर तो इसे किसी तरह भावुकता में डुवाया भी जा सकता था। पर उन चमत्कारी कामों के लिए भी तो धन को आवश्यकता थी।

सार्वजनिक कामों के लिए खुले आन्दोलन को चन्दे से धन मिल जाता है। जनता से सम्पर्क का अभाव इस वड़े द्वार को वन्द कर देता था। गुप्त आन्दोलन की वात हरेक से कही नहीं जा सकती। फिर किसी को पात्र समझ कर कहें और सुनने वाले के मन में देने का भाव भी हो, तो वह इस सम्पर्क में खतरा अनुभव करता था हवन करते हाथ न जल जाये, समझदारी उससे कहती थी। ऐसे सोने से क्या प्यार, जिस से कान टूटे। इस स्थिति में धन-प्राप्ति का एकमात्र उपाय था, गाँव के किसी धनपति के घर डकैती या किसी सरकारी खज़ाने की लूट। दूसरे में वेहद खतरे थे। वहुत आदमी और वहुत साधन चाहिए, पर वे कहाँ थे सरफ़रोशी की तमन्ना वाली इस टोली के पास। गाँव की डकैती सुगम थी, पर उस में अपने ऊपर अपने-आप लगायी पावन्दियों की जकड़न थी—किसी आदमी की जान न ली जाये, किसी नारी को छुआ न जाये, परिवार के किसी आदमी को त्रस्त न किया जाये। उन्हें डाकू मान कर, उन के आतंक से घवरा कर, घर वाले जो स्वयं परस दें, वस वही ले लिया जाये। ये पावन्दियाँ इस लिए अनिवार्य थीं कि लोकप्रियता में वट्टा न लगे।

भगत सिंह १९२३–२४ में कानपुर रहते समय एक डकैती में सम्मिलित हुए और १९२८ की पंजाव नेशनल वैंक लाहौर की असफल डकैती में भी साथ रहे। काकोरी स्टेशन पर रेल रोक कर सरकारी खज़ाने को लूटने की सफल डकैती के संगठित होते समय भी वे आसपास ही थे। इन अनुभवों में उन की दूरदर्शी और सूक्ष्मदर्शी आँखों ने भाँप लिया कि यह रास्ता मंज़िल तक नहीं पहुँचा सकता और जनता के लिए चलाये जाने वाले विद्रोह को जनता का आन्दोलन बनाना पड़ेगा। नम्रता के साथ कहना चाहती हूँ कि रूसी आतंकवाद को क्रान्ति के पथ पर लाने के लिए जो काम महान् लेनिन ने किया था, वह भारत की सशस्त्र क्रान्ति के इतिहास में भगत सिंह ने किया। नेतृत्व की इसी पृष्ठभूमि में मैं उन्हें युग-स्रष्टा भगत सिंह और भगत सिंह महान् कहती हूँ।

१९२५ में उन के मन में एक सार्वजनिक संगठन की बात उथल-पुथल मचा रही थी और वे वहुत तेज़ी से उस के विधान पर विचार कर रहे थे। स्टूडेण्ट्स यूनियन की स्थापना उन्हों ने की थी, पर यह संगठन उस से भिन्न था, जिस की वह बात सोच रहे थे। उस का छायापट (कैनवास) भी इस से विशाल था, विस्तृत था। उन के छोटे भाई कुलवीर सिंह के शब्दों में—"उस संगठन के नाम के लिए कई साथियों का सुझाव था, तरुण भारत संघ। पहले तो यही नाम स्वीकार कर लिया गया, पर बाद में भगत सिंह की राय हुई कि यह ठेठ हिन्दी है और इधर उर्दू अधिक है। तब उन्हों ने नौजवान भारत सभा नाम रखा।" कुछ ही दिनों में यह नाम जनता के मुँह चढ़ गया और इस तरह पार्टी को एक मंच भी मिल गया। इस काम के महत्त्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि १९२५ की सार्वजनिक परिस्थितियाँ साफ़-साफ़ हमारे सामने हों।

१९२० में उठा देशव्यापी अहिंसात्मक आन्दोलन सफल हो चुका था। नागपुर में झण्डा-सत्याग्रह से जो चमक पैदा हुई थी, वह भी सत्याग्रह के साथ समाप्त हो चुकी थी। उस के बाद सिखों के गुरुद्वारा आन्दोलन ने देश के वातावरण को धार्मिक आवरण में नयी राजनैतिक चेतना दे दी थी। वह आन्दोलन भी सफलता के साथ पूर्ण हो गया था और पंजाब कौन्सिल में गुरुद्वारा बिल क़ानून बन चुका था। चारों ओर राजनैतिक उदासी छा चली थी। अँगरेज़ सरकार की पूरी मशीनरी देश में साम्प्रदायिक दंगों का ज्वालामुखी जाल बिछा कर बदला लेने में जुट पड़ी थी।

सहारनपुर, दिल्ली, गुलबर्गा, नागपुर, लखनऊ, शाहजहाँपुर, इलाहाबाद, जबलपुर, कलकत्ता और हुस्नाबाद में ख़ूनी दंगे तो हो ही चुके थे, पर कोहाट के दंगे ने तो दंगों के सारे रेकॉर्ड ही तोड़ दिये थे। हेडमास्टर लाला नन्दलाल की रिपोर्ट के अनुसार—९-१० सितम्बर १९२४ को वहाँ हिन्दुओं का क़त्ले-आम हुआ था और एक स्पेशल ट्रेन से ४००० पीड़ित हिन्दू होटल से बाहर लेजाये गये थे। ये लोग दो महीने तक रावलपिण्डी और दूसरे नगरों में वहाँ के हिन्दुओं की सहायता से चलने वाले कैम्पों में पड़े रहे थे। परिस्थितियाँ कितनी दर्दनाक थीं, इस का पता १ मई १९२५ को कलकत्ता के मिर्ज़ापुर पार्क में कहे महात्मा गान्धी के इन शब्दों से चलता है—

"मैं ने अपनी अयोग्यता स्वीकार कर ली है। मैं ने स्वीकार कर लिया है कि इस रोग की औषधि बताने वाले वैद्य की विशेषता मुझ में नहीं है। मैं तो नहीं देखता कि हिन्दू अथवा मुसलमान मेरी औषधि को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। इस लिए मैं ने आजकल इस समस्या को यों ही उड़ती-सी चर्चा कर के सन्तोष करना आरम्भ कर दिया है। मैं यह कह कर सन्तोष कर लेता हूँ कि यदि हम अपने देश का उद्धार करना चाहते हैं, तो एक-न-एक दिन हम हिन्दू और मुसलमानों को एक होना पड़ेगा और यदि हमारे भाग्य में यही बदा है कि एक होने से पहले हमें एक-दूसरे का ख़ून बहाना चाहिए, तो मेरा कहना यह है कि जितनी जल्दी हम यह कर डालें, हमारे लिए उतना ही

अच्छा है।"

साम्प्रदायिक आग के काले धुएँ में जब गान्धी जी-जैसे व्यक्ति को राह नहीं सूझ रही थी, तब भगत सिंह विद्रोह को सशस्त्र क्रान्ति तक ले जाने के लिए खुले आन्दोलन का मंच तैयार कर रहे थे। भगत सिंह की बलिदानी तेजस्विता ने देश के मानस को अभिभूत कर लिया है, इस लिए मैं उन के नेतृत्व की पूरी तसवीर सामने रखने के लिए यह कहना आवश्यक समझती हूँ कि नौजवान भारत सभा की स्थापना और संचालन करते समय भगत सिंह स्वयं अठारह वर्ष के नौजवान थे; केवल अठारह वर्ष के।

सचमुच अठारह वर्ष विचारों की परिपक्वता के लिए, जो नेतृत्व की शक्ति का आधार है, बहुत कम होते हैं, पर (स्वर्गीय) श्री अजय घोष (महामन्त्री भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी) के ये शब्द उन्हें और भी कम कर देते हैं—"मैं सरदार भगत सिंह से लगभग १९२३ में कानपुर में मिला था। वे मेरी ही भाँति पन्द्रह वर्ष के थे। वे दुबले-पतले लम्बे थे। उन के वस्त्र पुराने-मैले थे। वे कम बोलने वाले लगते थे, जैसे कि प्रायः देहाती लड़के होते हैं, जिन में न चुस्ती होती है, न आत्मविश्वास ही। इस भेंट का मुझ पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। कुछ दिन बाद हम में बहुत विस्तार से बातें हुई। यह वह ज़माना था, जब लड़कपन की तरंग में हम क्रान्ति के हवाई क़िले बाँधा करते थे कि क्रान्ति आना ही चाहती है। बस दो-चार वर्ष की ही बात है। भगत सिंह का क्रान्ति के इतनी शीघ्र आने पर विश्वास नहीं था। उन्हों ने कहा था कि देश की जनता में अकर्मण्यता और विवशता छायी हुई है। जनसाधारण को जाग्रत् और आन्दोलित करना बड़ा कठिन है और यह बात हमारे लिए बड़ी बाधा है।"

श्री अजय घोष ने यह सुन कर भगत सिंह को पूरा भोंदू मान लिया था, पर १९२८ में जब उन दोनों में पूरी रात बात हुई और सुबह-ही-सुबह वे कमरे से बाहर आये, तो श्री अजय घोष के ही शब्दों में—"आकाश पर लाल-लाल सूर्य की लकीर बन रही थी। उसे देखते ही मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि हमारे दल के आकाश पर भी एक नया सूर्य उग रहा है।" यह नया सूर्य भगत सिंह ही तो थे, जिन्हों ने १५ वर्ष की उम्र में ही यह समझ लिया था कि जनता क्या चाहती है और यह भी कि उसे क्या चाहना चाहिए। घटनाओं और परिस्थितियों के विकास-क्रम को पढ़ने की भगत सिंह में सचमुच अद्भुत् प्रतिभा थी। उन की लक्ष्यभेदी दृष्टि हमेशा लक्ष्य पर, उद्देश्य पर दृष्टि जमाये रखने, किसी भी प्रभाव से इधर-उधर न होने की वृत्ति ने भी उन के नेतृत्व को पुष्ट किया था।

एक घटना से उन की यह दृष्टि हमारे सामने साफ़-साफ़ चमक उठती है। काँग्रेस के असहयोग आन्दोलन में जब वे नवीं क्लास छोड़ कर लाला लाजपत राय-द्वारा स्थापित नेशनल कॉलेज में आये, तो एक घटना ने उन्हें लाला जी से टकरा दिया। टक्कर तो वैसे पुरानी थी। पंजाब काँग्रेस में दो ग्रुप थे—नरम और गरम। नरम ग्रुप का नेतृत्व लाला जी और डॉक्टर गोपीचन्द भार्गव के हाथ में था। लाला टेकचन्द ने

नेशनल कॉलेज के लिए छह लाख रुपये दिये। दो साल बाद भीतर-भीतर जाने क्या दवाव पड़ा, लाला जी ने वे रुपये वापस कर दिये। पंजाव प्रान्तीय काँग्रेस और लाला जी में इस वात पर झगड़ा हुआ और भगत सिंह ने इस झगड़े में जम कर हिस्सा लिया।

यह झगड़ा १९२४ में खुल कर सामने आया। लाला लाजपत राय ने महामना मालवीय जी के साथ मिल कर इण्डिपेडेण्ट काँग्रेस पार्टी के नाम से काँग्रेस के विरुद्ध चुनाव लड़ने के लिए अलग पार्टी वना ली।

काँग्रेस को चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार चुनने थे। इस के लिए ब्रैडला हाल (लाहौर) में एक बैठक बुलायी गयी। निश्चय था कि लाला जी का ग्रुप इस में गड़वड़ करेगा। इस लिए सरदार किशन सिंह दरवाज़े पर खड़े हो गये और मंच सँभाल लिया भगत सिंह ने। नोटिस वाँट दिया गया था कि जो खद्दर पहने होंगे और काँग्रेस की सदस्यता प्रमाणित करने वाली चवन्नी की रसीद लिये होंगे, उन्हें ही प्रवेश करने दिया जायेगा। डॉ० गोपीचन्द भार्गव आये, तो उन के पास रसीद नहीं थी। ख़ूब हाथापाई हुई वाद में वन्द दरवाज़ों के भीतर वैठक आरम्भ हुई। घोषित सभापति महता नन्द-किशोर अपने आसन पर वैठे, पर तभी लाला जी ग्रुप के लाला विशनदास भी एक कुरसी रख कर मंच पर वैठ गये। सभा एक, वुलाने वाला एक, पर अध्यक्ष दो। सव ने कहा, पर लाला विशनदास उठे ही नहीं। तव सरदार किशन सिंह को बुलाया गया और उन के कहने से वे उठे।

उम्मीदवारों के जो नाम चुने गये, उन में सरदार भगत सिंह का भी नाम था। वाद में सर्वसम्मति से लाला दुनीचन्द बैरिस्टर काँग्रेस के उम्मीदवार रहे। मुक़ावला लाला जी की पार्टी के उम्मीदवार वख़्शी टेकचन्द से था। सरदार किशन के साथ भगत सिंह ने रात-दिन काम किया। एक दिन काँग्रेस-विरोधी जलसे में लाला लाजपत राय, महामना मालवीय जी और भाई परमानन्द के भाषण होने थे। वहुत बड़ी भीड़ जमा थी। भगत सिंह ने इस जलसे में एक पैम्फलेट बाँटा, जो इस तरह के अवसरों पर रोज़-रोज़ वँटने वाले पैम्फलेटों में अपनी जगह निराला था। वह अवसर के विलकुल उपयुक्त था, पर अपनी शैली के कारण भगत सिंह की लेखन-कला का एक उत्तम उदाहरण था। उस का शीर्षक था—'द लॉस्ट लीडर' (खोया हुआ नेता)। उस में अँगरेज़ी के श्रेष्ठ कवि ब्राऊनिंग की इसी शीर्षक की एक कविता छापी गयी थी। उस का भाव कुछ इस तरह था कि चाँदी के चन्द टुकड़ों के बदले, तू ने अपना मान खो दिया और इस तरह अपने प्रशंसकों की दृष्टि में तू स्वयं ही खोया गया। इस पैम्फलेट की एक खास वात यह थी कि मोटे अक्षरों में छपे —'द लॉस्ट लीडर'—के ठीक बीच लाला लाजपत राय का चित्र छपा हुआ था।

भगत सिंह ने एक पैम्फलेट स्वयं भाई परमानन्द के हाथ में दिया। उन्हों ने ग़ुस्से से उसे फाड़ दिया। भगत सिंह ने दूसरा उन के हाथ पर रख दिया और मुसकराये। भाई जी ने उसे भी फाड़ दिया। बहुत देर तक पैम्फलेट दिये गये और फाड़े गये।

लाला जी तमतमा उठे। उन्हों ने अपने भाषण में भगत सिंह को रूसी एजेण्ट कहा और गरजे—"ये मुझे लेनिन वनाना चाहते हैं, पर मैं उस तरह का आदमी नहीं हूँ।" साप्ताहिक 'वन्दे मातरम' में भी लाला जी ने अपनी बात दोहरायी और इस तरह लाला जी और भगत सिंह में राजनैतिक दुश्मनी हो गयी।

साइमन कमीशन के लाहौर आने पर जो विरोधी प्रदर्शन हुआ, उस में नौ जवान भारत सभा प्रमुख संगठक शक्ति थी, पर उस ने प्रदर्शन के आगे स्थापित किया लाला लाजपतराय को और वहाँ साण्डर्स के डण्डों की चोट खा कर जब कुछ दिन लाला जी की मृत्यु हो गयी, तो उस का वदला साण्डर्स-वध के रूप में लिया भगत सिंह ने। उन की दुश्मनी थी लाला जी से एक सिद्धान्त के कारण, पर लाला जी का अपमान देश का अपमान था। वे दुश्मनी को भूल गये और जान की वाज़ी लड़ गये। इसे मैं उन के नेतृत्व की लक्ष्य-वेधी दृष्टि कहती हूँ—न इधर देखना, न उधर, हमेशा लक्ष्य पर दृष्टि रखना।

इस लक्ष्य-भेदी दृष्टि से भगत सिंह को नेतृत्व के दो सब से वड़े गुण प्राप्त हुए थे। पहला आने वाली परिस्थितियों को दूर से भाँप लेना, किस काम के क्या परिणाम होंगे, इस को सही-सही आँक लेना और अपने काम के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना। एक राजनैतिक विचारक ने महात्मा गान्धी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व की तुलना करते हुए लिखा था कि गान्धी जी के नेतृत्व की यह सव से वड़ी कमज़ोरी थी कि वे अपने सिद्धान्तों की पावन्दी के कारण अपने काम के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण नहीं कर सकते थे, पर उन के नेतृत्व की यह सव से वड़ी विशेपता थी कि वे समय के प्रभाव से स्वाभाविक रूप में उभरती परिस्थितियों को वहुत दूर से भाँप लेते थे और उन के आगे हो कर उन्हें अपने हाथ में ले लेते थे। इस के विरुद्ध पण्डित जवाहरलाल नेहरू में न परिस्थितियों के निर्माण की शक्ति थी, न उभरती परिस्थितियों को भाँपने की योग्यता। मैं गहरे चिन्तन और विश्लेपण के वाद कहना चाहती हूँ कि भगत सिंह में उभरती परिस्थितियों को भाँपने और नयी परिस्थितियों को जन्म देने की समान क्षमता थी। वे उन के थे, जिन के सम्वन्ध में कवि की सूक्ति है—

> लोग कहते हैं वदलता है ज़माना हरदम,
> मर्द वो हैं जो ज़माने को वदल देते हैं।

साण्डर्स-वध और असेम्वली वम-काण्ड भगत सिंह के नेतृत्व बेल के सर्वोत्तम पुरुप है, क्यों कि इन में उन के नेतृत्व के दोनों गुण-परिस्थितियों को भाँपना और परिस्थितियों को पैदा करना पूर्ण रूप में सामने आते हैं। १९२१-२२ में असहयोग की असफलता के वाद साम्प्रदायिक दंगों से वातावरण एकदम अन्धकारमय हो गया था और ऐसा लगता था कि अव राष्ट्रीय आन्दोलन कभी नहीं उठेगा। काकोरी काण्ड ने एक आवाज़ अवश्य लगायी, पर कुएँ की आवाज़ थी, जो कुएँ में गूँज कर रह गयी। नफ़ीरी की नहीं, देश को शंखनाद की ज़रूरत थी, पर यह ज़रूरत कैसे पूरी हो?

अँगरेज़ ने मज़ाक़ उड़ाया, अट्टहास किया। साइमन कॅमीशन को भारत भेजना, भारत की ग़ुलामी का मज़ाक़ ही तो था। काँग्रेस ने उस के वहिष्कार की घोषणा की। जिस शहर में वह जाता, उसे काले झण्डे दिखाये जाते। ये झण्डे थोड़े से हाथों में होते, पर इन के पीछे हज़ारों हाथ होते। अपमान के धक्के से जनता जाग उठी थी। वह जाग्रति लाला जी की हत्या-जैसी मृत्यु से आग हो उठी थी। अंगार को लकड़ियों से जोड़ दें तो लपट वन जाता है, नहीं तो राख उसे धीरे-धीरे ढँकने लगती है, भगत सिंह ने इस सहज परिस्थितियों को भाँप लिया और पार्टी की केन्द्रीय समिति के सामने साण्डर्स की हत्या रखने का प्रस्ताव रखा। हत्या दिन-दहाड़े हो गयी और सव क्रान्तिकारी सुरक्षित लौट आये। लाला जी की मृत्यु का वदला ले लिया गया पर भगत सिंह का नेतृत्व परिस्थितियों को भाँप कर उन का उपयोग कर रुका नहीं, वह अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने में जुट गया। विना एक क्षण आराम किये भगत सिंह रात-भर वे पोस्टर तैयार करते रहे जिन में हत्या का उद्देश्य वताया गया था और सुवह होने से पहले उन्हें जगह-जगह चिपका भी आये। यह ऐतिहासिक सचाई है कि गुप्त काण्डों को पहली वार इसी पोस्टर ने आन्दोलन का रूप देने को शुरूआत की थी। अव छुटपुट काण्ड एक देशव्यापी क्रान्तिमाला के मनके वन गये थे। उन के पीछे धड़कते-जोशीले दिल अव एक उफान नहीं रहे थे, तूफ़ान हो गये थे।

असेम्वली वम-काण्ड के रूप में भगत सिंह ने इस तूफ़ान को एक संविधान दे दिया। साइमन कॅमीशन यह जाँच करने के लिए इंग्लैण्ड की सरकार-द्वारा नियुक्त हुआ था कि भारत को जो शासन-सुधार दिये गये थे, उन का ठीक उपयोग हुआ या नहीं और भविष्य में उसे और क्या सुधार दिये जायें ? जो सुधार अभी तक भारत को मिले थे उन में सर्वोत्तम और सर्वोच्च थी केन्द्रीय असेम्वली। उस में जनता-द्वारा निर्वाचित सदस्य सरकार के किसी भी काम की आलोचना कर सकते थे, सरकार के प्रस्ताव को पास-फ़ेल कर सकते थे, पर जव साइमन भारत में थे, तो एक ऐसा संयोग था कि इस असेम्वली का खोखलापन सिद्ध किया जा सकता था। असेम्वली में सरकार ने दो विल पेश किये थे। पहला पव्लिक सेफ़्टी विल और दूसरे ट्रेड्स डिस्प्यूट्स विल। पहले का उद्देश्य था सार्वजनिक उग्र नेतृत्व का दमन और दूसरे का मजदूरों को हड़ताल के एकमात्र अधिकार से वंचित करना।

भगत सिंह ने अपनी दूरदर्शी दृष्टि से यह भाँप लिया कि असेम्वली में काँग्रेस और दूसरे राष्ट्रीय दलों के सदस्य मिल कर इन विलों को फ़ेल कर देंगे और क़ानून के रूप में पास नहीं होने देंगे। तव यह निश्चित है कि वायसराय अपने विशेषाधिकार से उन्हें पास कर देंगे। इस स्थिति में सरकार का सर्वोत्तम सुधार अपने ही कामों से जनता के सामने निकम्मा हो कर आयेगा। भगत सिंह ने असेम्वली में उसी समय वम फेंकने का निश्चय किया और पार्टी के सामने असेम्वली में बम फेंकने का अपना प्रस्ताव रखा।

भगत सिंह के नेतृत्व को पूरी तरह जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि पार्टी ने पहले साइमन कमीशन पर बम फेंकने का निश्चय किया था, पर धन की कमी के कारण वह सम्भव नहीं हुआ। इस तरह 'ऐक्शन' का जो मार्ग अवरुद्ध हो गया था, उसे भगत सिंह के नये प्रस्ताव ने खोल दिया और पहले से अधिक प्रभावशाली रूप में। कभी निराश न होना, नये-नये प्रयोग करना और नये रास्ते खोजना भगत सिंह के व्यक्तित्व का पैतृक गुण था, जिस ने उन के नेतृत्व को नयी चमक दी।

जहाँ दूसरे थक जाते हैं, वहाँ वे ताज़े रहते थे और जहाँ दूसरे अँधेरे में डूब जाते हैं, वहाँ वे रोशनी ले आते थे। थकान और अन्धकार उन के पास आते घबराते थे। वे सदा जागरूक थे, सदा सन्नद्ध थे, सदा अग्रगामी थे। अजय घोष के शब्दों में—"भूख-हड़ताल के दिनों में वे अनेक बार परामर्श के बहाने हमारी जेल में हम से मिलने आये। इस प्रकार आने में उन का ध्येय होता था कि वे हम लोगों से मिल कर हमारी स्थिति का पता लगायें। भूख-हड़ताल के कारण वे स्वयं भी बहुत निर्बल हो गये थे, फिर भी वे दूसरे साथियों के पास बहुत देर तक बैठे रहते और उन का साहस बढ़ाते। उन की उपस्थिति-मात्र से ही हमारे भीतर जीवन की एक नयी लहर दौड़ जाती थी, और बड़ी बेचैनी के साथ उन के दोबारा आने की हम प्रतीक्षा करते रहते थे।"

इस प्रकार असेम्बली बम-काण्ड, दिल्ली की अदालत में सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वाला बयान और लम्बी भूख-हड़ताल, 'जिस में यतीन्द्रनाथ दास का महान् बलिदान हुआ, और मुक़दमे के द्वारा उन्हों ने गुप्त धड़ाकों को एक महान् जन-आन्दोलन का रूप दे दिया, क्यों कि अजय घोष के शब्दों में—"अपने अध्ययन, विवाद और विशेष तौर से बाहरी परिस्थितियों, जैसे शोलापुर में मार्शल-लॉ की घटना, पेशावर की घटना, गढ़वाली सिपाहियों तथा उन के नेता श्रीचन्द्र सिंह की वीरता और देश-भक्ति की घटनाओं से वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि सशस्त्र आन्दोलन इस समय केवल तभी सफल हो सकता है, जब कि वह जनसाधारण के आन्दोलन का अनिवार्य अंग बन जाये और जन-साधारण के आन्दोलन की आवश्यकता पूरी करे।" क्या इस विवेचन से स्पष्ट नहीं है कि भगत सिंह के नेतृत्व में नेतृत्व के गुण परिपूर्ण मात्रा में थे। सहज भाव से उठी—उठती परिस्थितियों को भाँप लेना, अपने उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण कर लेना, जनता की आकांक्षा को ठीक-ठीक समझना, उस की पूर्ति की सही राह खोजना, उस राह पर चलने के लिए जनता को उत्साहित करना, चलते समय बिखरने से बचाना, रास्ते में आने वाली बाधाओं को पहले से ही भाँप लेना और उन का समाधान खोज लेना। यह ऐतिहासिक सत्य है कि भगत सिंह किसी आवेश में साहस का कोई चमत्कार कर जाने वाले नौजवान न थे, वे योजनापूर्वक बाधाओं से लड़ते हुए लक्ष्य तक पहुँचने वाले गम्भीर नेता थे।

विख्यात क्रान्तिकारी जोगेश चन्द्र चटर्जी के शब्दों में—"क्रान्तिकारी आन्दोलन में भगत सिंह का स्थान सब से ऊँचा था। इसी लिए उन का नाम शहीदे-आज़म हो

गया।" यह सब से ऊँचा स्थान उन्हें उन के नेतृत्व की चहुमुँखी प्रतिभा का उपहार था।

भगत सिंह उस नेतृत्व में विश्वास नहीं रखते थे, जो सामयिक परिस्थितियों से मिल जाता है और जिसे बनाये रखने के लिए बराबर नये-नये जोड़-तोड़ मिलाने पड़ते हैं। वे उस नेतृत्व में भी विश्वास नहीं रखते थे, जिस में साथी लोग किसी विशेष क्षण की भावुकता में उचक कर किसी के सिर पर मुकुट रख देते हैं, और दूसरे ही क्षण से उस मुकुट को गिराने के काम में जुट जाते हैं।

भगत सिंह उस नेतृत्व में विश्वास रखते थे, जो उन कामों को, उस तरह करने से अनायास मिलता था, जिन कामों को, उस तरह दूसरे लोग नहीं कर पाते।

भगत सिंह उस नेतृत्व में विश्वास रखते थे, जो मिल जाता है, सँभालना नहीं पड़ता, जिस की घोषणा नहीं होती, जो महसूस नहीं होता, और मानसिक होता है, सामाजिक नहीं होता।

भगत सिंह उस नेतृत्व में विश्वास रखते थे, जिस में अधिकार नहीं बढ़ते, उत्तरदायित्व ही बढ़ते हैं और जिस में ऊँचे आसन पर बैठने की होड़ नहीं होती, होड़ होती है इस बात की कि कौन दौड़ कर सब से पहले मौत का हाथ चूमेगा और किस की दौड़ इतनी शानदार होगी कि मौत ज़िन्दगी की एक अमर कहानी बन जाये।

नश्वर जीवन को मृत्यु के हाथों उमंग के साथ सौंप, मृत्यु को अनश्वर जीवन बना देना ही भगत सिंह का सफल नेतृत्व था—वे जवानी को मौत से खेलना सिखा गये और ख़तरों से दोस्ती करना। अपने इसी अनुपम नेतृत्व के कारण भगत सिंह राष्ट्र के एक व्यक्ति से राष्ट्रपुरुष हो गये हैं। सोचती हूँ, उन के नेतृत्व और व्यक्तित्व का संक्षिप्त रेखाचित्र है—किरण का सूर्य बन जाना, फूल का उपवन बन जाना और घटना का इतिहास बन जाना।

ज़ालिम फ़लक ने लाख मिटाने की फ़िक्र की,
हर दिल में अक्स रह गया, तस्वीर रह गयी।

■ ■

भगत सिंह : एक लेखक

"मैं पूरे ज़ोर से कहता हूँ कि मैं आकांक्षाओं और आशाओं से भरपूर हूँ और जीवन की आनन्दमय रंगीनियों से ओत-प्रोत हूँ, पर आवश्यकता के समय सब कुछ क़ुर्बान कर सकता हूँ, और यही वास्तविक बलिदान है।"

असेम्बली में बम फेंकने से कुछ ही पहले भगत सिंह ने अपने साथी सुखदेव को जो लम्बा पत्र लिखा, उसी की ये पंक्तियाँ हैं। भगत सिंह पर जो कुछ लिखा गया है, वह इतना है कि उस के काग़ज़ कई एकड़ भूमि पर फैल सकते हैं, पर इन इकतीस शब्दों में उन्हों ने अपने व्यक्तित्व का जो चित्र दिया है, क्या वह उन सब काग़ज़ों से अधिक परिपूर्ण नहीं है? और जो इतने बड़े व्यक्तित्व को, इतने थोड़े शब्दों में इतनी सुन्दरता के साथ चित्रित कर सकता है, उसे एक श्रेष्ठ लेखक मानने में किस को झिझक होगी? सचमुच अद्भुत व्यक्तित्व है उन का। वे श्रेष्ठ पुत्र थे, श्रेष्ठ नागरिक थे, श्रेष्ठ क्रान्तिकारी थे, श्रेष्ठ दार्शनिक थे, श्रेष्ठ सिपाही थे, श्रेष्ठ नेता थे, श्रेष्ठ वार्ताकार और श्रेष्ठ लेखक थे।

इसी पत्र में किसी साथी के बारे में उन्हों ने लिखा है—"श्री शास्त्री मुझे पहले से ज़्यादा अच्छे लग रहे हैं। मैं उन्हें मैदान में लाने की कोशिश करूँगा, बशर्ते कि वे स्वेच्छा से निश्चित रूप में एक अन्धेरे भविष्य के प्रति समीपवर्ती होने को तैयार हो। उन्हें दूसरे लोगों के साथ मिलने दो और उन के हाव-भाव का अध्ययन करने दो। यदि वे ठीक भावना से काम करेंगे तो उपयोगी और बहुत मूल्यवान् सिद्ध होंगे, लेकिन जल्दी न करना।" एक चतुर पुलिस अफ़सर, एक निपुण अध्यापक और एक प्रवीण व्यवसायी क्या किसी की सर्वेक्षण रिपोर्ट इस से कम शब्दों में और इस से अधिक परिपूर्ण रूप में लिख सकते हैं? बिस्तार में देखना और संक्षेप में कहना भगत सिंह के लेखक का पहला गुण था।

भगत सिंह उद्देश्यवादी लेखक थे। साफ़-साफ़ बात यह है कि उन-का हर क़दम, हर काम एक उद्देश्य के लिए समर्पित था। वह उद्देश्य था जनता को क्रान्ति के लिए तैयार करना। उन के लेखन का उद्देश्य भी यही था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने कार्य को वे तीन भागों में बाँटते थे, यह उन के लेखों को पढ़ने से मालूम होता है। पहला भाग था,

जनता के सोये दिमाग़ों पर हलकी चोट दे कर उन्हें जगाना, दूसरा भाग था, जनता को जानकारी देना और तीसरा भाग था, जनता को प्रेरणा देना कि जो कुछ दूसरों ने किया, वह तुम भी कर सकते हो।

कूका-विद्रोह १८५७ के महान् विप्लव के वाद सशस्त्र विद्रोह की पहली प्रमुख घटना है। उस पर लिखे लेख का आरम्भ उन्हों ने इस प्रकार किया—"देखते-देखते पंजाव-केशरी रणजीत सिंह अपने प्यारे पंजाव को छोड़ कर महायात्रा कर गये। उन के आँख मूँदते ही अँगरेज़ों की वन आयी। दस ही वर्ष के भीतर पंजाब का नक़शा भी लाल रंग में रंग दिया गया। अलीपुर और सुवराओ तथा गुजरात और चेलियाँ-वाला में वीर सिक्ख सैनिकों ने जिस वीरता का परिचय दिया था, उस की याद आज भी रोमांचित किये विना नहीं रहती; परन्तु देश का दुर्भाग्य! नेताओं ने सदा धोखा दिया और आखिर पंजाव भी पराधीनता की वेड़ियों में जकड़ दिया गया।"

"१८५७ के दिन आये। समस्त भारत को संगठित किया गया। पंजाव की ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। अभी कल तो अपनी स्वतन्त्रता क़ायम रखने में वीर-योद्धाओं ने वढ़-वढ़ कर आत्म वलिदान किये थे, अभी कल ही तो उन्हों ने वह वहादुरी दिखाई थी कि जिसे देख कर शत्रु भी दंग रह गये थे। अपने प्यारे महाराजा की प्रेयसी की दुर्दशा और छोटे महाराजा दिलीप सिंह के साथ घोर अन्याय देख कर वे तड़प उठे थे। कौन आशा कर सकता था कि उसी पंजाव में दस वर्ष के भीतर ही इतना परिवर्तन हो जायेगा कि वह स्वतन्त्रता संग्राम के विभीषण का काम करेगा, परन्तु वही हुआ जो नहीं सोचा था। पंजावी वीरों (!) ने अपने ही भाइयों के उस विराट् आन्दोलन को वुरी तरह तहस-नहस कर डाला और सदा-सर्वदा के लिए पंजाव के उज्ज्वल ललाट पर कलंक-कालिमा पोत दी।"

"परन्तु उस कालिमा को धोने के लिए पंजाव ने अपना रक्त भी खूब भेंट किया। अनेक वीरों ने रणांगण में, फाँसी के तख्तों पर या जेल में तिल-तिल कर आत्म-वलि दे दी और आज तक वह वलि-श्रृंखला चल रही है। पंजाव में सब से पहले जो वलिदान हुआ, वह कूका-विद्रोह के नाम से प्रसिद्ध है।"

महाराजा रणजीत सिंह के समय की वीरता, बाद की उदासी उपेक्षा, उस के वाद की गद्दारी और तव पुनर्जागरण, पंजावी जन-जीवन के इन चार परिवर्तनों को भगत सिंह ने अपने लेख की भूमिका में चाँद के फाँसी अंक की ३१ पंक्तियों में जिस खूबसूरती और क़रीने से पिरो दिया है, वह मनोमुग्धकारी है। ये पंक्तियाँ पाठक को झँझोड़तो भी हैं, थपथपाती भी हैं। कौन सहमत न होगा कि एक सफल लेखक ही ऐसा कर सकता है। वे जीते तो अपनी क़लम को और भी माँजते, क्यों कि किसी काम में पूरी तरह डूवना उन का स्वभाव था। तब एक शैलीकार लेखक के रूप में अमरता प्राप्त करते, पर नियति ने उन्हें लेखक हो कर जीने के लिए नहीं, मर कर लेखों और लेखकों का चिन्तन विषय वनने के लिए बनाया था।

कोई अभिनेता सफल नहीं हो सकता, यदि उस में क्रोध के शब्दों को आवेश के भावों में और प्यार के शब्दोंको आवेग के भावों में प्रकट करने की भरपूर क्षमता न हो। उसे यह बड़ी सुविधा प्राप्त है कि वह अपने कार्य में चेहरे की भाव-मुद्राओं की मदद ले सकता है। लेखक भी सफल नहीं हो सकता, यदि उस में भावों के अनुसार शब्दों के चयन की सामर्थ्य न हो। उस का काम अभिनेता से कठिन है, क्यों कि न तो उसे मुद्राओं की सहायता प्राप्त होती है, न मंच के वातावरण की; दोनों का काम भी उसे शब्दों से ही लेना पड़ता है। शब्दों के चयन की यह शक्ति भगत सिंह में पूरी मात्रा में थी। इस का एक चुटकले-जैसा मज़ेदार नमूना यह है कि सरकारी अधिकारियों को जो पत्र लिखे जाते थे, उन के अन्त में हस्ताक्षरों के ऊपर लिखा जाता था—योर मोस्ट ओवीडिएण्ट सरवेण्ट, आप का अत्यन्त आज्ञापालक सेवक। भगत सिंह यह लिख नहीं सकते थे, इस लिए वे लिखते थे—"योर्स एक्सट्रा—आप का इत्यादि।" साँप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। मतलब यह कि भिड़ने की जगह भिड़ना, पर जहाँ भिड़ना न हो, कन्नी काट जाना।

शहीद करतार सिंह सरावा पर लिखे लेख का आरम्भ उन्हों ने इस प्रकार किया—"रणचण्डी के उस परम भक्त बाग़ी करतार सिंह की आयु उस समय बीस वर्ष की भी न होने पायी थी, जब उन्हों ने स्वतन्त्रता देवी की बलिवेदी पर निज रक्तांजलि भेंट कर दी। आँधी की तरह वे एकाएक कहीं से आये, आग भड़कायी, सुपुप्त रणचण्डी को जगाने की चेष्टा की, विप्लव यज्ञ रचा और अन्त में उसी में स्वाहा हो गये। वे क्या थे, किस लोक से एकाएक आ गये थे और फिर झट से किधर चले गये, हम कुछ भी समझ न सके।"

कैसा प्रवाह है भाषा का, कैसी थिरक है शब्दों में। पढ़ते-पढ़ते लगता है, जैसे अलमोड़ा के किसी ऊँचे पर्वत के छोटे-छोटे मोड़ों में बँटी ढलुआ पगडण्डी पर हम बिना प्रयत्न किये ढलके जा रहे हों—"आँधी की तरह वे एकाएक कहीं से आये, आग भड़कायी, सुपुप्त रणचण्डी को जगाने की चेष्टा की, विप्लव यज्ञ रचा और अन्त में उसी में स्वाहा हो गये।"

इसी लेख का एक और टुकड़ा है—"(अमरीका में) उन्हें पद-पद पर देश का अपमान अखरने लगा। घर याद आने पर पराधीन ज़ंजीरों से जकड़ा हुआ, अपमानित, लुटा हुआ, निःशक्त भारत आँखों के सामने आ जाता।" शब्द का मोती एक के बाद एक उन की हृदय-मंजूषा से निकलता चला आता है, पर वह बिखरता नहीं, जड़ा जाता है, यही उन की कारीगरी है। यह कारीगरी और भी चमक उठती है। जब वे किसी परिस्थिति का चित्रण कर उसे किसी शेर या सूक्ति से जड़ देते हैं।

भारत में ग़दर का आन्दोलन असफल हो गया। तभी का चित्र है—सब प्रयत्न सब परिश्रम एक दम व्यर्थ हो गया। पंजाब में गिरफ़्तारियों का बाज़ार गरम हो गया। विपत्ति में पड़ते ही अनेक विप्लवी अक़्लमन्द बनने लगे। उन्हें अपने पुराने आदर्श में

भ्रम दीखने लगा। आज वह पकड़ा गया, कल वह फूट पड़ा। ऐसी ही दशा में रासू बाबू हताश हो कर मुरदे की नाईं लाहौर के एक मकान में पड़े थे। करतार सिंह भी आ कर एक ओर चारपाई पर दूसरी ओर मुँह कर के लेट गये। वे एक-दूसरे से कुछ बोले नहीं परन्तु चुप-ही-चुप में एक-दूसरे के हृदय में घुस कर वे सब समझ गये थे। उन की उस समय की वेदना का अनुमान हम लोग क्या लगा सकेंगे ?

दरे तदवीर पर सर फोडना शेवा रहा अपना
वसीले हाथ ही आये न क़िस्मत आज़माई के।"

पढ़ कर फिर पढ़ने को मन चाहता है और पढ़ कर लगता है, जैसे किसी बहुत क़ीमती चित्र को एक बहुत सुन्दर चौखटे में जड़ दिया गया है। भगत सिंह के दिल में देशभक्ति की देश के लिए सर्वस्व न्योछावर करने की जो छलक थी, वही तो झलक आती थी उन की क़लम में।

'स्वाधीनता की लड़ाई में पंजाब का पहला उभार' का एक टुकड़ा है—गरम दल के नेता जानते थे कि जब जनता में जागृति होती है, तो उस के अन्दर जोश और बेचैनी होना भी अवश्यंभावी है। वे यह भी जानते थे कि फूँक-फूँक कर क़दम रखने वाले महानुभाव स्वतन्त्रता के संघर्ष में अधिक समय तक नहीं टिक सकते। राष्ट्र के निर्माता तो नवयुवक ही हुआ करते हैं। किसी ने सच कहा है—"सुधार बूढ़े आदमी नहीं कर सकते। वे तो बहुत ही बुद्धिमान् और समझदार होते हैं। सुधार तो होते हैं—युवकों के परिश्रम, साहस, बलिदान और निष्ठा से। जिन को भयभीत होना आता ही नहीं है और जो विचार कम और अनुभव अधिक करते हैं।"

भगत सिंह सूक्तियों के भण्डार थे। उन्हें आदत थी कि पढ़ते समय जो विचार उन्हें पसन्द आते थे, वे उन्हें कण्ठ कर लेते थे और स्मृति के सहारे ही जगह-जगह उन्हें जड़ते रहते थे। ये सूक्तियाँ उन के लेखों को भी सौन्दर्य देती थीं और बातचीत को भी। ये सूक्तियाँ गद्य की भी होती थीं और पद्य की भी। उन की स्मृति एक और रूप में भी उन के लेखक को बल देती थी। वे अपने विषय की दूर-दूर फैली सामग्री को ध्यान में रखते थे और समय पर उसे परख कर प्रयोग कर लेते थे। इस दृष्टि से उन का हाईकोर्ट में दिया हुआ बयान सर्वोत्तम उदाहरण है।

डॉक्टर मथुरा सिंह पर लिखा लेख उन्हों ने इस तरह समाप्त किया है—"फिर २७ मार्च १९१७ का दिन आ पहुँचा। उस दिन फिर वही नाटक प्रारम्भ हुआ। उस दिन के नाटक में एक ही दृश्य हुआ करता है, और वह भी कुछेक मिनट का। ये पगले लोग न जाने कहाँ से आ गये, जिन्हें न मृत्यु का भय था, न जीने की चाह, कार्यक्षेत्र में हँसे, युद्ध क्षेत्र में हँसे, फाँसी के तख्ते पर भी मुसकरा दिये। उन की महिमा अपरम्पार है।

हों फ़रिश्ते भी फ़िदा जिन पर ये वो इनसान हैं।"

डॉक्टर अरुण सिंह का परिचय उन्हों ने आरम्भ ही इस तरह किया था—"देश

प्रेम में मतवाले हो कर जलती हुई शमा की पहली ही लपट पर एक मस्त परवाने की भाँति वे अपना सब कुछ स्वाहा कर गये।

उन के लिए तो—

ज़िन्दगीं नाक़िस थी आख़िर,
कर लिया मदफ़न पसन्द,
सुना था यह राहते कामिल,
इसी मंज़िल में है।"

जनता की जड़ता उन्हें बेहद नापसन्द थी, जनता में जागरण उन का मिशन था। इस के लिए वे जन-मन को किस तेज़ी से और किस गहराई तक झँझोड़ते थे, इस का उदाहरण हैं ये पंक्तियाँ—"बावजूद सब से अधिक विपत्तियाँ सहन करने के सब से अधिक गणना में अपने नर-रत्नों के स्वतन्त्रता बलिवेदी पर बलिदान देने के, आज पंजाब राजनैतिक क्षेत्र में फिसड्डी (पोलिटिकली बैकवर्ड) प्रान्त कहलाता है। बंगाल में श्री खुदी राम वसु फाँसी पर लटके। उन्हें इतना उठाया गया कि आज उन का नाम प्रान्त के कोने-कोने में सुनाई देता है। भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में उन का नाम सुविख्यात है, परन्तु पंजाब में कितने-कितने रत्न देश के लिए जीवन-दान दे गये, कितने ही हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गये, कितने ही लड़ते-लड़ते छाती में गोली खा कर शहीद हो गये, परन्तु उन्हें कौन जानता है? और कहीं की तो बात ही क्या कहें, पंजाब प्रान्त में ही उन्हें कितने लोग जानते हैं? कोई साधारण वैप्लविक यों ही फाँसी पर लटक गया हो और उसे लोग यों ही भूल गये हों, सो भी तो नहीं, जिन लोगों ने अथक उत्साह से तथा अतुल साहस से भारतोत्थान के वे यत्न कर दिये थे कि आज उन्हें सुन-सुन कर अवाक् रह जाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

यदि ऐसे रत्न किसी और देश में जन्म धारण किये होते तो आज उन की वाशिंगटन, गैरीबाल्डी तथा विलियम वालीस की भाँति पूजा होती, परन्तु उन्होंने एक अक्षम्य अपराध यह किया था कि वे भारत में पैदा हुए थे। इसी का दण्ड यह है कि आज उन को विस्मृति के अन्धकार में फेंक दिया गया है। न उन के कार्य की चर्चा है, न उन के त्याग की, न उन के बलिदान की ख्याति है, न उन के साहस की, परन्तु ऐसी कृतघ्नता दिखाने वाले देश की उन्नति कैसे होगी।"

सरसता और सबलता उन के व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण गुण थे। उन के व्यक्तित्व का तीसरा गुण था गहराई। ख़ूब पढ़ कर, उस पर मनन कर, सोच-विचार कर वे राय बनाते थे। उन का चौथा गुण था स्पष्टता। न वे उलझते थे, न गोलमाल या अधूरी बात कह कर उलझाते थे। उन की लेखन शैली उन के इन गुणों सरसता, सबलता, गहराई और स्पष्टता से पूरी तरह सिंचित है। असेम्बली बमकाण्ड के बाद अदालत में उन्होंने जो बयान दिया और गवर्नर जनरल के नाम लिखा उन का पत्र (हमें फाँसी न दे कर गोली से उड़ा दिया जाये) उन की लेखन-शैली के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं।

२ फ़रवरी १९३१ को उन्हों ने नयो पीढ़ी के नाम जो सन्देश दिया, वह विचारों की दृष्टि से इतना प्रौढ़ है कि भगत सिंह एक आचार्य के रूप में हमारे सामने आ खड़े होते हैं। इस में उन की अभिव्यक्ति इतनी सुन्दर है कि पढ़ते ही मन उन के लेखक रूप की प्रशंसा से भर उठता है। क्रान्तिकारी साहित्य के निष्ठावान् लेखक श्री रतनलाल वंसल के शब्दों में—"यह सन्देश उन की राजनैतिक दूरदर्शिता और बुद्धि की प्रखरता का ऐसा अमर प्रतीक है, जो बलिदान वेला में लिखे जाने के कारण अत्यन्त ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। × × × भारत की राजनीति जब भी किसी चौराहे पर पहुँच कर दिशा-भ्रम से शंकित होगी और आगे का मार्ग खोजने के लिए चिन्तातुर होगी, तभी अमर शहीद का यह सन्देश उसे उचित पथ-निर्देशन करेगा और भावी इतिहासकारों को उन के भ्रमों से बचायेगा। × × × भगत सिंह केवल युद्धक्षेत्र के एक वीर सैनिक ही नहीं थे, बल्कि उस के साथ ही एक गम्भीर राजनीतिज्ञ और अपनी भावनाओं को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर देने वाले कलाकर भी थे।" वंसल जी ने जो कुछ कहा, उसे पारिभाषिक शब्दों में इस तरह भी तो कह सकते हैं कि भगत सिंह एक क्लासिकल लेखक थे।

घोर ख़तरों से भरी भाग-दौड़ में भी लेखन-कला का अभ्यास उन्हों ने कब किया था? इस कला का विकास उन में कब-कैसे हुआ? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं, पर इन का उत्तर उस भाषा में नहीं दिया जा सकता, जिस भाषा में साधारण लेखकों के सम्बन्ध में दिया जाता है। बात यह है कि एक क्रान्तिकारी के रूप में ही नहीं एक लेखक के रूप में भी भगत सिंह प्रकृति का, युग का एक विशिष्ट निर्माण थे। हाँ, यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि नेशनल कॉलेज में पढ़ते समय भगत सिंह का लेखक रूप सम्भावनाओं से भरपूर रूप में सामने आ गया था। 'पंजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन' ने पंजाब की भाषा तथा लिपि-समस्या पर लेख निमन्त्रित किये और सर्वश्रेष्ठ लेख पर पचास रुपये पुरस्कार देने की भी घोषणा की। यह निमन्त्रण खुला था और इस में कोई भी भाग ले सकता था। भगत सिंह ने भी इस स्पर्धा में भाग लिया और एक लम्बा लेख लिखा। यह लेख (स्व०) श्री भीमसेन विद्यालंकार प्रधान मन्त्री पंजाब हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की कृपा से सुरक्षित रह गया। बाद में २८ फ़रवरी १९३३ के हिन्दी-सन्देश में (पृ० ८५) पर इसे इन्हों ने प्रकाशित भी कर दिया।

भगत सिंह के लेखक रूप को समझने के लिए यह लेख बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इतना अधिक महत्त्वपूर्ण कि यदि उन की लिखी और कोई भी पंक्ति सुलभ न होती और यही लेख बच रहता, तब भी भविष्य के समीक्षक उन के सम्बन्ध में यह लिखने को विवश होते—एक ऐसा लेखक हमारे बीच में पैदा हुआ था, जो जीवित रह पाता, तो समाज के पुनर्जागरण और पुनरुत्थान में तो महत्त्वपूर्ण भाग लेता ही, ऐसी कृतियाँ भी अपने पीछे छोड़ जाता, जिन्हें भावी पीढ़ियाँ सम्मान और प्यार के साथ पढ़तीं और प्रेरणा पातीं।

इस लेख से पता चलता है कि उन का अध्ययन कितना विस्तृत था, कितना गहरा था। वह अध्ययन एक बोझ की तरह उन पर लदा न था। इस अध्ययन के प्रकाश में वे अपने राष्ट्र को देखते थे। उस से उसे अनुप्राणित करते थे। बहुत-बहुत देखना उस में से काम की चीज़ चुनना और फिर अपने आदर्श के कार्य में उस का उपयोग करना उन का स्वभाव था। यह स्वभाव उन के लेखन में भी झलकता है।

उन्हें लेख लिखना था पंजाब की भाषा और लिपि की समस्या पर, पर भूमिका में उन्हों ने साहित्य के महत्त्व की स्थापना की और वह भी गहरी ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में—"देश-भक्त चाहे वे निरे समाज सुधारक हों, अथवा राजनैतिक नेता, सब से अधिक ध्यान देश के साहित्य की ओर दिया करते हैं। यदि वे सामयिक समस्याओं तथा परिस्थितियों के अनुसार नवीन साहित्य की सृष्टि न करें तो उन के सब प्रयत्न निष्फल हो जायें और उन के कार्य स्थायी न हो पायें। शायद गैरवाल्डी को इतनी जल्दी सेनाएँ न मिल पातीं, यदि मैज़िनी ने तीस वर्ष देश में साहित्य तथा साहित्यिक जागृति पैदा करने में ही न लगा दिये होते। आयरलैण्ड के पुनरुत्थान के साथ गैलिक भाषा के पुनरुत्थान का प्रयत्न भी उसी वेग से किया गया, शासक लोग उन्हें दबाये रखने के लिए उन की भाषा का दमन इतना आवश्यक समझते थे कि गैलिक भाषा की एक-आध कविता रखने के कारण छोटे-छोटे बच्चों तक को दण्डित किया जाता था। रूसो, वालटेयर के साहित्य के बिना फ़्रांस की राज्य क्रान्ति घटित न हो पाती। यदि टालस्टाय, कार्ल मार्क्स तथा मैक्सिम गोर्की इत्यादि ने नवीन साहित्य पैदा करने में वर्षों व्यतीत न कर दिये होते, तो रूस की क्रान्ति न हो पाती, साम्यवाद का प्रचार तथा व्यवहार तो दूर रहा। पंजाब में उस समय तीन भाषाएँ प्रमुखता के लिए टकरा रही थीं—हिन्दी, पंजाबी और उर्दू। बाद में इन भाषाओं के नाम पर जो दुर्घटनाएँ हुईं, उन्हें भगत सिंह ने दशाब्दियों पहले ही भाँप लिया था। यह देख कर उन की दूरदर्शिता के लिए सिर झुकता है कि उन्हों ने उसी समय तीनों भाषाओं के लिए हिन्दी-लिपि मान लेने की बात साफ़-साफ़ कही थी। भारत की राष्ट्रीय जड़ से उर्दू की पृथक्ता पर उन्हों ने इस लेख में गहरी चोटें की और फ़ारसी लिपि की अपूर्णता के सम्बन्ध में उन्हों ने लिखा—"जब साधारण आर्य और स्वराज्य आदि शब्दों को 'आर्या' और 'स्वराजियों' लिखा और पढ़ा जाता है, तो गूढ़ तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विषयों की चर्चा ही क्या? अभी उस दिन श्री लाला हरदयाल जी एम० ए० को एक उर्दू-पुस्तक 'क़ौमें किस तरह ज़िन्दा रह सकती हैं' का अनुवाद करते हुए सरकारी अनुवादक ने 'ऋषि नचिकेता' को उर्दू में लिखा होने से 'नीची कुतिया' समझ कर 'ए बिच आफ़ लो ओरीजिन' अनुवाद किया था।"

स्वतन्त्र भारत में पंजाबी भाषा के नाम पर पंजाब का, पंजाब और हरियाणा इन दो भागों में बटवारा हुआ, पर इस बँटवारे से ४१ साल पहले भगत सिंह ने पंजाब के लिए पंजाबी भाषा का युक्ति-युक्त समर्थन किया था। यह जानने के बाद कौन है,

जो भगत सिंह के लेखक रूप को सिर न झुकाये? यह झुका हुआ सिर श्रद्धा से और भी अभिभूत हो जाता है, जव हम यह सोचते हैं कि इस लेख को लिखते समय भगत सिंह कुल १६–१७ वर्ष के नवयुवक ही थे।

लेखक के साथ उन में पत्रकारिता के भी शानदार गुण थे। वीर-अर्जुन के सम्पादन में उन के साथी श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार ने लिखा है कि उन में समाचार उत्पादन की अपूर्व क्षमता थी। वे समाचार की आत्मा को पहचानते थे और उसे इस तरह प्रस्तुत करते थे कि वह आत्मा सामने आ जाये। यदि उस समाचार के पीछे कोई इतिहास होता, तो वे उसे लेख का रूप दे देते। 'होली के दिन रक्त के छींटे' इस का श्रेष्ठतम उदाहरण है।

संक्षेप में कहूँ, भगत सिंह सफल लेखक थे, समृद्ध लेखक थे, पर अपने बलिदान से वे स्वयं एक ऐसा लेख हो गये, जो सदा पठनीय है, सदा स्मरणीय है।

■ ■

भगत सिंह : एक मृत्यु-साधक

"हमारी भौतिक विभूतियों को कोई भी शक्ति-द्वारा हम से छीन सकता है। यहाँ तक कि एक डाकू भी उन का उपभोग कर सकता है, लेकिन हमारी आध्यात्मिक विभूतियाँ कोई भी इस तरह नहीं छीन सकता।
तुम एक कलाकार या विचारक को मार सकते हो, लेकिन तुम उस की कला या विचार को नहीं मार सकते।
तुम किसी व्यक्ति को मौत के घाट उतार सकते हो, क्यों कि वह अपने साथियों को प्यार करता है, लेकिन ऐसा कर के तुम वह प्यार नहीं पा सकते जो उस की प्रसन्नता का आधार है।"

—बर्ट्रेण्ड रसेल

युद्ध का आदर्श वाक्य है—"कल्पना अच्छी से अच्छी परिस्थिति की करो, पर तैयार रहो बुरी से बुरी परिस्थिति के लिए।" विजय की आशा, विजय का विश्वास सेनापति की सब से बड़ी शक्ति है। विजय अपने में इतनी बड़ी चीज़ है कि हमारी कल्पना को रंगीन कर देती है, पर विजय के साथ तो और भी इतनी चीज़ें होती हैं, जो उन रंगों को गहरे से गहरा करती चली जाती हैं। भगत सिंह का लक्ष्य था भारत की स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र भारत में शोषण-विहीन समाजवादी समाज की स्थापना। क्या भगत सिंह इस आशा और विश्वास से जूझ रहे थे कि उन्हें उन के जीवन में यह लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा और वे उस के सुखों का उपयोग कर सकेंगे?

भगत सिंह कल्पना के अभिनेता नहीं थे, यथार्थ के नेता थे। वे उस विशिष्टतम श्रेणी के मनुष्य थे, जिन्हें अँगरेज़ी में विज़नरी कहा जाता है और हिन्दी में युगद्रष्टा। वे जानते थे कि न उन्हें भारत की स्वतन्त्रता देखनी है, न समाजवादी समाज में जीना है। फिर उन की मस्ती, उन की धुन, उन की लगन क्या एक अन्धे जोश का ही शिकार थी, जिस का होश से दूर पार का भी नाता नहीं होता? दूसरे शब्दों में क्या वे स्वप्नदर्शी थे? हाँ, वे स्वप्नदर्शी थे, पर वैसे स्वप्नदर्शी नहीं कि पलंग पर पड़े-पड़े स्वप्न देखा करें, ऐसे स्वप्नदर्शी जिन के बारे में एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है कि जिस जाति में स्वप्नदर्शी पैदा नहीं होते, वह मिट जाती है।

प्रश्न है—उन का स्वप्न क्या था ? उन का स्वप्न था मृत्यु । बात को पूरी करने के लिए कहूँ—मृत्यु की साधना । इतिहास के पन्ने जीवन को साधना से भरे पड़े हैं, पर उन वन्दनीय साधकों में ध्रुव की तरह अकेले हैं मृत्यु-साधक भगत सिंह । क्या भगत सिंह जौहर वीर थे ? राजपूती जौहर के आधुनिक प्रतीक थे ? नहीं, जौहर का अर्थ है, लक्ष्य है—अपमान-पूर्वक जीने से इनकार करना । भगत सिंह से पहले क्रान्तिकारियों का जीवन कर्म एक स्वप्नदर्शी जौहर ही था, जिस का लक्ष्य था राह दिखाना । भगत सिंह की मृत्यु-साधना ने उस जौहर का अनुकरण नहीं किया, उसे जीवन की नयी दिशा दी, नया पथ दिया, नया लक्ष्य दिया—मर कर जीवन की राह बनाना ।

एक बार उन के साथी श्री जयदेव कपूर ने उन से पूछा था—जीवन की सफलता नापने का तुम्हारा मापदण्ड क्या है ? प्रश्न सादा-सा दीखता है, पर दर्शन-शास्त्र के गहन सिद्धान्तों की तरह व्याख्या चाहता है । व्याख्या न हो, तो हम उस के आस-पास घूम सकते हैं, उस के भीतर प्रवेश नहीं कर सकते । उस समय कहने को क्रान्तिकारी दल था, पर असल में जयदेव कपूर के ही शब्दों में—"थोड़े-से समान विचारों वाले क्रान्तिकारी नवयुवकों की एक टोली थी, जो बिना किसी साधन और सहायता के इतने विराट् ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति से टक्कर लेने चली थी । ब्रिटिश साम्राज्य के पास सब साधन थे, पर इस टोली के पास तो सिर्फ़ साहसी संकल्प ही था ।" क्या यह संकल्प उस महान् शक्ति को हरा सकता है ? इस के उत्तर में देश के बुद्धिमान् तो हँसते ही थे, कोई साफ़ उत्तर स्वयं क्रान्तिकारियों के पास भी न था, वे एक भावुक सपने में सब कुछ भूले हुए आगे बढ़ रहे थे । मृत्यु का चाव ही उन के सपने की साधना थी । भारतीय क्रान्ति के इतिहास में शहीद खुदी राम बोस इस चाव के पहले प्रतीक हैं (उम्र सत्रह वर्ष) शहीदों की प्रेरणा के स्रोत क्रान्तिकारी कवि श्री ओम प्रकाश ने इसी सपने का तो यह शब्द-चित्र खींचा था—

"सर-फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
एक मिट जाने की हसरत अब दिले बिस्मिल में है ।"

इस तमन्ना और हसरत का लक्ष्य क्या था ? कवि ओम प्रकाश का उत्तर है—

"कभी वो दिन भी आयेगा कि जब आज़ाद हम होंगे
ये अपनी ही ज़मी होगी ये अपना आसमाँ होगा ।"

इस लक्ष्य को सुन्दर बनाने वाली क्या चीज़ थी ? कवि श्री ओम प्रकाश का ही उत्तर है—

"शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले
वतन पर मरने वालों का यही बाक़ी निशाँ होगा ।"

यह लक्ष्य बहुत दूर है, कहीं उस का छोर दिखाई नहीं देता, कवि ने अपनी भावुकता से इस दूरी को, इस झिलमिलाहट को नया सम्बल दिया था—

"रहरवे राहे मुहब्बत रह न जाना राह में
लज़्ज़ते सहरान वर्दी दूरि-ए मंज़िल में है ।"

भगत सिंह का नेतृत्व यह है कि उन्हों ने क्रान्तिकारियों के इस सपने के भीतर पहली बार सत्य की खोज की थी। अपनी इस खोज की धुन को वे अपनी मीठी गुन-गुनाहट में भर कर अकसर गाया करते थे—

"तुझे उन से ख़्वाहिशे दुश्मनी, तेरी आरज़ू भी अजीब है ?
वे है अर्श पर, तू है ख़ाक पर, वे अमीर हैं तू ग़रीब है"।

जिज्ञासा उभरती है—क्या ऐसे दुश्मन को जीतना सम्भव है ? बुद्धि कहती है नहीं, यह असम्भव है। तब फिर हमारे सपने की साधना में सिद्धि कहाँ है ? क्या सिर्फ़ यही कि हम दुश्मन को कभी उस की और कभी अपनी आहुति से चौंकाते रहें ? दीखता तो ऐसा ही है, पर यह तो कोई सफलता नहीं है। इसी पृष्ठभूमि में प्रश्न है—जीवन की सफलता नापने का तुम्हारा मापदण्ड क्या है ? भगत सिंह अपने में स्पष्ट हो गये हैं। उन का उत्तर है—"अपना जीवन दे कर यदि मैं देश के कोने-कोने में क्रान्ति की आवाज़ उठा सका, तो मैं समझूँगा कि मुझे अपने जीवन का पूरा-पूरा मूल्य प्राप्त हो गया।" क्या अर्थ है इस उत्तर का ? इस उत्तर का साफ़ अर्थ है मृत्यु की अनुपम साधना—जिस ने सशस्त्र क्रान्तिकारी कार्यक्रम में पहली बार मृत्यु के भावुक चाव को एक यथार्थवादी योजना का रूप दिया।

असेम्बली में बम फेंकने के बाद जो लाल परचे फेंके गये थे, उन में उन्हों ने कहा था—"वि वाण्ट टू एम्फेसाइज़ द लेसन ऑन रिपीटेड बाई द हिस्ट्री दैट इट इज़ इज़ि टू किल इण्डिविजुअलस बट यू कैन नॉट किल आइडियाज़। ग्रेट एम्पायर्स क्रम्बल्ड वाइल आइडियाज़ सर्वाइव्स।" हम उस पाठ पर ज़ोर देना चाहते हैं, जिसे इतिहास ने बार-बार दोहराया है कि व्यक्तियों को मार डालना आसान है, लेकिन तुम विचारों को नहीं मार सकते। बड़े-बड़े साम्राज्य लड़खड़ा कर गिर गये जब कि विचार अमर रहे। क्रान्ति के अक्षर बीज को विचार-वृक्ष का विकासशील रूप देना ही उन की मृत्यु-साधना थी।

जीवन का यह एक अध्ययन योग्य चमत्कार है कि अपनी मृत्यु का पूरा उपयोग करने की निश्चित धारणा भगत सिंह के मन में थोड़ी उम्र में ही स्पष्ट हो गयी थी। एक बार उन के पिता जी बहुत बीमार हुए तो उन्हों ने बेहद तल्लीनता से दवादारू की। एक दिन अपनी छोटी बहन अमर कौर से कहा—अगर पिता जी को कुछ हो गया तो मैं घर नहीं सँभालूँगा, यह काम मेरे लिए नहीं है।

इस के आसपास ही एक बार उन की माता जी बहुत बीमार हुईं तो उन्हों ने बहन से कहा—"अगर बेबे जी की मृत्यु हो गयी, तो मैं शादी नहीं करूँगा पिता जी की ही दुबारा शादी कर देंगे।"

दशहरा बम केस में गिरफ़्तारी के बाद हवालात में रह कर भगत सिंह लौटे तो बहन अमर कौर उन के बालों में तेल लगाने लगीं। बहुत भारी बाल थे। अमर-कौर ने कहा—"वीरा जी, आप के बाल बहुत भारी हैं, बीच-बीच में से कुछ बाल

कटवा दीजिए। किसी को दीखेंगे भी नहीं और सिर का बोझ भी हलका हो जायेगा।" अपनी सहज हास्य मुद्रा में बोले—"चुप-चुप अभी ऐसा मत कह। मैं थोड़े नहीं, सारे बाल कटा दूँगा, पर ऐसे समय जब सारी सिख क़ौम इस पर फ़ख़्र करेगी।"

१९२६ के आसपास की बात है। उन के सहपाठी और मित्र श्री जयदेव गुप्ता डैन ब्रीन की लिखी 'माई फाइट फॉर आयरिश फ्रीडम' (आयरलैण्ड की स्वतन्त्रता के लिए मेरा संघर्ष) नामक पुस्तक पढ़ रहे थे। उस में लिखा था—अगर हम ने गवर्नर-जनरल की गाड़ी पर बम फेंका और हम पास के गाँव में जा छिपे तो वहाँ का बच्चा-बच्चा कट जायेगा, पर हमारा पता नहीं देगा। तभी भगत सिंह आ गये। जयदेव जी ने उन से कहा—"वहाँ की जनता ऐसी है, पर यहाँ तो गैरों की बात छोड़ो, तुम्हारा कोई साथी ही पुलिस को सारा भेद बता देगा और तुम गाजर-मूली की तरह कट जाओगे।"

सुन कर बहुत गम्भीर हो गये भगत सिंह। कुछ देर बाद बोले—"जैसे पुराना कपड़ा उतार कर नया बदला जाता है, वैसे ही मृत्यु है। मैं उस से डरूँगा नहीं, भागूँगा भी नहीं। कोशिश करूँगा कि पकड़ा जाऊँ, पर यों ही नहीं कि पुलिस आयी और पकड़ ले गयी। मेरे पास एक तरीक़ा है कि कैसे पकड़ा जाऊँ? मौत आयेगी, आयेगी हो, पर मैं अपनी मौत को इतनी मँहगी और भारी बना दूँगा कि ब्रिटिश सरकार रेत के ढेर की तरह उस के बोझ से ढँक जाये।"

निडर भाव से ही नहीं, शौक़ और योजना के साथ मृत्यु की ओर बढ़ते हुए क्षण-क्षण मृत्यु को महँगी और भारी बनाने की योजना का ही दूसरा नाम भगत सिंह है। दल के नेता चन्द्रशेखर आज़ाद और अन्य प्रमुख सदस्य चाहते थे कि भगत सिंह असेम्बली में बम फेंकने न जायें। केन्द्रीय समिति की एक बैठक में वे चुप भी रह गये थे अनुशासन के भाव से, पर सुखदेव के साथ की बातचीत के बाद स्वयं आग्रह कर बुलवायी गयी केन्द्रीय समिति की दूसरी बैठक में ज़िद कर के भगत सिंह ने अपना ही नाम रखाया। तब सब ने चाहा कि बम फेंक कर वे सुरक्षित लौट आयें, गिरफ़्तार न हों। सब सहमत थे कि ऐसा सम्भव है। स्वयं चन्द्रशेखर आज़ाद असेम्बली में जा कर देख आये थे और गिरफ़्तारी को बेकार समझते थे, पर भगत सिंह की राय थी कि बम फेंक कर वहीं गिरफ़्तार होना। मुक़दमें को माध्यम बना कर दल के सिद्धान्तों का प्रचार करना और इस प्रकार देश-भर में क्रान्ति का वातावरण तैयार करना ही सही नीति है।

चन्द्रशेखर आज़ाद के शब्द थे—"मैं ने बहुत मना किया, मगर भगत सिंह किसी प्रकार भी नहीं माना। सच तो यह है कि वहाँ खड़े रह कर पकड़े जाने की बात मेरी समझ में कभी नहीं आयी और न मैं आज भी उसे समझ पा रहा हूँ। अपनी पार्टी की सैद्धान्तिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए खुद-ब-खुद पकड़े जाने की क्या आवश्यकता है? जब कभी पकड़ लिये जाओ तो अपनी सैद्धान्तिक स्थिति स्पष्ट करो और शान से फाँसी

पर चढ़ जाओ, मगर जान-बूझ कर अपने हाथ से फाँसी का फन्दा अपने गले में डालने का तर्क मेरी समझ में नहीं आया। फिर भी भगत सिंह की ज़िद मान कर केन्द्रीय समिति ने स्वीकार कर लिया, उसे मैं ने भी मंज़ूर कर लिया। भाई, सिद्धान्त-विद्धान्त ये लोग ज़्यादा समझते हैं, हमें तो कुछ करना ही आता है।"

कुछ करना और उस के परिणामों को दूर तक समझ कर करना दो अलग-अलग काम हैं। पहला काम योद्धा का है, दूसरा नेता का। भगत सिंह में सैनिक योद्धा और दूरदर्शी नेता दोनों के समान गुण थे। बम की उस घटना के वे ही परिणाम निकले, जो भगत सिंह ने सोचे थे और जिन के सम्बन्ध में अपने अखण्ड विश्वास के कारण केन्द्रीय समिति में ज़िद की थी। ये परिणाम भी अपने-आप नहीं निकले। भगत सिंह ने उन्हें निमन्त्रण दिया था। पग-पग पर उन का नियन्त्रण किया था। हर क्षण पर उन की निगाह थी और उस का उन्हों ने बहुत कौशल से उपयोग किया था। यह कौशल विश्व इतिहास के राजनैतिक कौशलों में इतना गहरा, इतना अद्भुत है कि उस पर कोई भी मेहनती विद्वान् अपना शोध-प्रबन्ध लिख सकता है।

उन्हों ने मृत्यु को सहा—यह झूठ है, उन्हों ने मृत्यु से भय नहीं माना, यह सत्य का एक धुँधला चित्र है, उन्हों ने मृत्यु को निमन्त्रण दिया, यह सत्य का कुछ साफ़ चित्र है, किन्तु पूर्ण सत्य यह है कि उन्हों ने मृत्यु का सौदा किया। उस की पूरी क़ीमत वसूल की और वे उस से इस तरह खेले जैसे खिलाड़ी फ़ील्ड में गेंद से खेलता है। यह खेल इतना शानदार, जानदार और रसीला है कि इस में नौका-विहार की रसमयता और शिकार की उत्तेजना एक साथ आ मिली हैं। इस के द्वारा जैसे वे कवि आर० एल० स्टीवेन्सन के शब्दों में संसार से कह रहे हों—

"इस विस्तृत और तारों-भरे नभ के नीचे,
खोद कर मेरी क़ब्र मुझे दफ़ना देना।
मैं ने हँसते-हँसते अपना सारा जीवन बिता दिया
और स्वेच्छा से ढूँढ़ लिया मृत्यु का सहारा।
मेरी मृत्यु के बाद, मेरी समाधि पर लिख देना यह
यहीं पड़ा सोता है वह, जैसा कि उस ने स्वयं चाहा,
जैसे जीवन-नौका खे कर माँझी समुद्र से लौट आया हो,
जैसे सिंह का कर शिकार, शिकारी घर लौटा हो।"

ट्रिब्यूनल फाँसी का हुक्म सुना चुका था। भगत सिंह अपील के लिए तैयार नहीं थे। उन का अखण्ड विश्वास था कि पत्रों में हम लोगों को छोड़ देने के लिए जो शोर मचाया जा रहा है, उसे सरकार नहीं सुनेगी। भगत सिंह जानते थे कि केन्द्रीय सरकार झुक भी जाये, परिस्थितियों के कारण थोड़ा-बहुत मुलायम पड़ भी जाये तो भी पंजाब सरकार नहीं मान सकती, क्यों कि उस के अफ़सरों ने हम लोगों की फाँसी को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया है, पर उन की झिझक यह थी कि मुक़दमे में सारा काम एक-तरफ़ा

हुआ है, अर्थात् न अभियुक्त अदालत में उपस्थित हुए न उन के गवाह पेश हुए, न उन के वकीलों ने बहस या सरकारी गवाहों पर जिरह ही की। यह बात संसार-भर के न्याय-शास्त्रियों की दृष्टि में हलकी थी। अँगरेज़ों का क़ानून से शासन करने का दावा भी इस से छोटा होता था। इस के साथ ही सरकारी गवाहियाँ बेहद कमज़ोर थीं और न्याय की तराज़ू पर टिक न सकती थीं। यह एक ऐसा कोना था, जहाँ सरकार का पक्ष बेहद कमज़ोर था और अपील में यदि प्रिवि-कौन्सिल के जज ज़रा भी स्वतन्त्र विचार रखते हों, तो सरकार हार सकती थी—सज़ा खत्म हो सकती थी।

भगत सिंह यह नहीं चाहते थे, पर पण्डित मोतीलाल नेहरू ने शिमला में अपनी रोग-शय्या पर पड़े-पड़े अनुरोध किया कि अपील ज़रूर की जाये, जिस से सभी राजनैतिक क़ैदियों की मुक्ति के लिए प्रयत्न किया जा सके।

भगत सिंह की दिलचस्पी मुक्ति में नहीं थी; पर कुछ समय मिले, तो उस का उपयोग क्रान्ति के विचारों का जनता में प्रचार करने के लिए किया जाये, इस में उन की पूरी दिलचस्पी थी। बाहर से भी अपील करने का पूरा ज़ोर पड़ रहा था। तभी एक दिन श्री विजय कुमार सिनहा को, जो इसी मुक़दमे में कालेपानी की सज़ा भोग रहे थे, भगत सिंह की काल-कोठरी में ले जाया गया, जिस से वे दोनों अपील के सम्बन्ध में सलाह कर सकें। विजय बाबू को जीना था, भगत सिंह को मरना था। यह दोनों की आखिरी मुलाक़ात है, इस विचार से ही विजय बाबू विभोर हो रहे थे। उन्हीं के शब्दों में—"एक प्यारी आवाज़ ने मेरी इस अचेतन अवस्था को तोड़ा। 'विजय तुम आ गये।' भगत सिंह मेरे सामने खड़े थे। उन के चेहरे पर एक स्वाभाविक मुसकराहट अब भी विराजमान थी। मुझे समझ नहीं आता था कि क्या कहूँ? एक अनोखा वातावरण छा गया था। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था कि मेरा वह मित्र, जिस के साथ मैं ने कई वर्ष मिल कर काम किया और दुःख झेले थे, आशा-निराशा का इकट्ठे आनन्द लूटा था और जो मेरे इतना समीप खड़ा था अनजाना-सा, मुझ से सदा के लिए दूर हो रहा है। वे अर्थ-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे। ऐसी आँखों से देखते रहे, जिन से प्रकट था कि वे उस तूफ़ान को समझते हैं जो मेरे दिल में उमड़ रहा था।"

अपील के सम्बन्ध में खूब बातें हुईं। भगत सिंह के शब्द थे—"भाई, ऐसा न हो कि फाँसी रुक जाये और क्रान्ति के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए मुझे बलिदान होने का सौभाग्य प्राप्त न हो सके।" श्री विजय कुमार सिनहा के शब्दों में—"भगत सिंह का विश्वास था कि क्रान्ति की सच्ची सेवा हम मर कर ही कर सकते हैं।"

भगत सिंह ने अपने छोटे भाई कुलतार सिंह के नाम एक पत्र में बहुत ही भावपूर्ण शेर लिखे थे, जिन का अर्थ इस प्रकार है—"प्रातःकाल के प्रकाश में भाग्य की किरणों को कौन रोक सकता है? यदि समस्त संसार भी हमारा दुश्मन हो जाये, तो वह हमें क्या हानि पहुँचा सकता है? मेरे जीवन के दिन समाप्त हो गये हैं। मैं एक शमा की तरह सवेरे के प्रकाश की गोद में समाप्त हो रहा हूँ। हमारा विश्वास और

हमारे विचार बिजली की कड़क की भाँति संसार को प्रकाशित करेंगे। इस हालत में यह मुट्ठी-भर धूल वर्बाद भी हो जाये, तो इस में डर की क्या वात है ?"

भगत सिंह ने ऐसे घोर अँधेरे में अपनी मृत्यु-साधना आरम्भ की थी, जव उस अँधेरे के हटने की कोई सम्भावना सामने न थी। उन की साधना सफल हुई थी। अँधेरा फट चला था, प्रभात की किरणें फूटने लगी थीं, वे अपने जीवन का पूरा मूल्य पा चुके थे, चुपचुप आतंकवादी हत्याकाण्ड समझा जाने वाला कार्य जनता का क्रान्ति-आन्दोलन बन चुका था और इस प्रकार उन की कृतार्थता उन की मुट्ठी में थी।

ठीक फाँसी के दिन भगत सिंह को जेल से भगाने की वात भीतर-भीतर उठी थी और उन से इस बारे में पूछा गया था। उत्तर में उन्हों ने लिखा था—"जीने की इच्छा तो प्राकृतिक है और वह मुझ में भी होनी चाहिए। मैं इसे छिपाना नहीं चाहता। मगर मैं क़ैद हो कर या किसी पावन्दी के अधीन हो कर ज़िन्दा नहीं रहना चाहता। मेरा नाम भारतीय क्रान्ति का विन्दु वन चुका है। इन्क़लाव पार्टी के आदर्शों और वलिदानों ने मुझे बहुत ऊँचा कर दिया है। जीवित रहने की दशा में मैं इस से अधिक ऊँचा नहीं जा सकता। × × × मेरे हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ जाने से भारतीय माताएँ अपने वच्चों को भगत सिंह वनने की प्रेरणा दिया करेंगी। देश पर वलिदान होने वालों की संख्या इतनी वढ़ जायेगी कि शायद क्रान्ति की इस वाढ़ को रोकना साम्राज्यवादियों के लिए असम्भव हो जाये और उन की शैतानी तोपों के वश की वात न रहे। × × × फाँसी से वचने की मेरे दिल में कोई लालसा नहीं है। मुझ से अधिक सौभाग्यशाली कौन होगा ? मुझे आज कल अपने पर वहुत गर्व है। अव तो वड़ी उत्सुकता से अन्तिम परीक्षा की प्रतीक्षा है। इच्छा है कि यह और क़रीव हो जाये।"

सचमुच भगत सिंह मृत्यु के समय ख़ुशी में झूम रहे थे। यह ख़ुशी थी योजना की सफलता की। उन की मृत्यु-साधना सिद्धि के द्वार पहुँच चुकी थी। साण्डर्स-वध के वाद असेम्वली में वम फेंक कर वे 'सिर-फिरे युवकों के आतंक-कार्य' को जनता का आन्दोलन बना चुके थे, फिर मुक़दमे में वयान देकर वे उस आन्दोलन को क्रान्ति का रूप देकर नयी समाज व्यवस्था का दिशा वोध दे चुके थे, उस के वाद के अपने साहित्य-द्वारा उस क्रान्ति को समाजवादी संविधान दे चुके थे और अपनी निर्भीकता मृत्युंजयता से जनता का मानस उस क्रान्ति से जोड़ चुके थे। धर्म की भाषा में जीवन के जिस अन्तिम लक्ष्य को मुक्ति कहा जाता है, उसे पा चुके थे। अव वे अपने परमात्मा के पास थे, उन्हें और क्या पाना शेष था ?

फाँसी से कुछ पहले उन्हों ने जो पत्र श्री वटुकेश्वर दत्त को और प्रोफ़ेसर मोती सिंह को लिखा, उस की ये पंक्तियाँ मृत्यु के उस महान् साधक के आह्लाद को कितनी स्पष्टता से अपने में समाये हुए हैं ?

"नाऊ आई सी माई गॉड
इन हिज़ विज़िएवल फ़ार्म
आन दि गैलौज—
अर्थात्—
अब मैं देख रहा हूँ
अपने ईश्वर को
उस के दर्शनीय रूप में,
फाँसी के तख़्ते पर।"

बहुतों ने, बहुत रूपों में, बहुत प्रकार से, ईश्वर को पाया है, पर मृत्यु की साधना से अपने महान् जीवन आदर्श के रूप में ईश्वर को पाने वाले भगत सिंह तो अपनी जगह, अपने रूप में अकेले ही खड़े हैं।

कविवर श्री कल्याण कुमार 'शशि' के छन्दों में इस मृत्यु-साधना का नयी पीढ़ियों को सन्देश है—

"साहसी को बल दिया है, मृत्यु ने मारा नहीं है।
राह ही हारी सदा राही कभी हारा नहीं है।
बिजलियाँ काली घटाओं से कहाँ रोके रुकी हैं।
डूबते देखे भँवर ही डूबती धारा नहीं है।
जो व्यथाएँ प्रेरणा दें उन व्यथाओं को दुलारो,
जूझ कर कठिनाइयों से रंग जीवन का निखारो,
दीप बुझ-बुझ कर जला है, वृक्ष कट-कट कर बढ़ा है,
मृत्यु से जीवन मिले, तो आरती उस की उतारो।"

■ ■

शहादत के सैंतीस साल बाद

२३ मार्च १९६८ का सवेरा !

सन् कुछ भी हो, पर मार्च की २३ तारीख को सवेरे आँख खुलती है तो मन इतनी गहरी भावनाओं में डूब जाता है कि बिस्तर से उठते-उठते तन भी रोमांच के कई अनुभव कर लेता है; पर इस बार तो यह अनुभव और भी गहरा था, और भी करुण था, और भी मर्मस्पर्शी था—बिजली-सी कौंध गयी थी मेरे रोम-रोम में। मैं उस दिन फ़िरोज़पुर में जागी थी और वहाँ उसी दिन शहीद भगत सिंह, शहीद राजगुरु और शहीद सुखदेव के समाधि-तीर्थ का उन के बलिदान के ३७ वर्ष बाद उद्घाटन होना था। मुझे उस दिन वहाँ जाना था—जहाँ मैं कभी नहीं गयी, मुझे वह देखना था जो मैं ने कभी नहीं देखा; लेकिन जिस के बारे में मैं तब से सुनती रही हूँ, जब से स्मृति का आँचल मेरे हाथ में है। मैं उछल कर बिस्तर से बाहर निकली और जल्दी-जल्दी सब कामों से निवृत्त हो, बस में जा बैठी।

फ़िरोज़पुर से सात मील दूर सतलज नदी के किनारे हुसैनीवाला में शहीदों की नयी बनी समाधि के उद्घाटन में ही सब को जाना था। बस तेज़ी से दौड़ी जा रही थी और विचार उस से भी तेज़ी से दौड़े जा रहे थे। यह तेज़ी इतनी तेज़ थी कि विचार झिलमिल हो गये थे। एक से दूसरा विचार इस तरह घुल-मिल गया था कि उसे अलग कर के साफ़-साफ़ देखना सम्भव न था। जैसे कभी-कभी मन की एकाग्रता में कण्ठ में गीत न रह कर एक गुनगुनाहट, एक रसीला तरन्नुम ही रह जाता है, कुछ वैसी ही स्थिति थी विचारों की। विचार-स्मृतियों के अम्बार में एक भीनी-भीनी अनुभूति बन गये थे। न कोई साफ़ विचार था, न कोई साफ़ स्मृति थी, विचार-ही-विचार थे, स्मृतियाँ-ही-स्मृतियाँ थीं; जैसे मेले में चेहरे-ही-चेहरे आँखों के सामने होते हैं, पर किसी एक चेहरे पर निगाह जमती नहीं।

सुन्दर बाग़ों, हरी-भरी फ़सलों को पीछे छोड़ हमारी बस अब झाड़-झंखाड़ के बीच सड़क पर तेज़ी से बढ़ी चली जा रही थी। विचारों की भीड़ में से एक विचार उछल कर सामने आया—झाड़-झंखाड़ को हरे-भरे खेतों और बाग़ों में बदलने के लिए जैसे जल-सिंचन आवश्यक है, वैसे ही

मातृभूमि के झाड़-झंखाड़ को राष्ट्रीय जीवन की नयी फ़सलों में वदलने के लिए रक्त-सिंचन की आवश्यकता है। यह रक्त-सिंचन क्या सुगम है? हमारी उँगली में सुई चुभ जाती है और एक बूँद ख़ून निकल आता है तो हम झट् उस पर पानी की पट्टी बाँधते हैं कि वह रुक जाये। इस हालत में ख़ून से सींचने की वात, रक्त से मातृभूमि के तर्पण की वात कितनी कठिन है? हाँ, वहुत कठिन है और शहीद यही कठिन कार्य करते हैं, इस लिए वे वन्दनीय हैं। हम सव शहीदों की वन्दना के लिए ही तो जा रहे थे!

एक हलके झटके के साथ वस रुक गयी। सामने ही सतलज नदी वह रही थी। सतलज, जो भगत सिंह की मृत्यु-साधना की साक्षी है, जिस ने अपनी आँखों उन का रक्त-तर्पण देखा है। सभी यात्री वस से उतर कर चल पड़े। दस-वीस क़दम ही चली थी कि सजलज का विशाल पुल आ गया। मैं ने देखा—प्रवाह में तेज़ी भी है, गर्जना भी है। पानी न सफ़ेद न नीला, मटमैला-सा था। पानी से उठ कर मेरी निगाह पुल की दीवार पर गयी। जगह-जगह पोस्टर लगे थे और उन पर शहीद भगत सिंह का फैल्ट हैट वाला चित्र छपा था। जनता के मानस में वे बलिदान के प्रतीक हो गये, क्रान्ति के प्रतीक हो गये हैं। मेरे आगे-पीछे, दायें-वायें, यह सव भीड़ उन की वन्दना के लिए ही तो उमड़ी आ रही थी। मन में एक विचार से सुइयाँ-सी चुभने लगीं। 'हम भगत सिंह—ज़िन्दावाद' गुँजाते हैं, उन के चित्र को फूलों से सजाते हैं, पर उन के उद्देश्य—नयी समाज-व्यवस्था की स्थापना को जीवन में नहीं उतारते। मैं सोचते-सोचते दुःख में डूव गयी—जो क़ौम, जो राष्ट्र, अपने शहीदों को तमाशा वना कर ख़ुशी मनाये, क्या वह क़ौम या राष्ट्र कभी महान् वन सकता है? मेरा ध्यान फिर सतलज के प्रवाह की ओर गया। अपने मन का दुःख मुझे उस के मटमैलेपन में सिसकता दिखाई दिया। क्या सचमुच सतलज हमारे आचरण के दुःख से दुःखी थी? एक विचार ने मन को धारा को कहीं से कहीं मोड़ दिया—सतलज की गोद में ख़ून के छींटे पड़े थे। आज भी वह अपने मटमैले आँचल में उन्हें सँजोये चल रही है। मेरी आँखें भर आयीं, हृदय पिघल पड़ा। कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि सतलज से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्यों कि वह मेरे ताया जी और मेरे देश के महान् शहीद भगत सिंह और उन के साथियों का सच्चा स्मारक है—उस का जीवन जड़ता से ग्रस्त नहीं, निरन्तर प्रगतिशील है, निरन्तर नयी फ़सलों को सींच रहा है।

फैल्ट वाला भगत सिंह का चित्र पोस्टरों पर चमक रहा था। मैं बढ़ी जा रही थी। हर तरफ़ आदमी-ही-आदमी थे। कुछ दूरी पर पुराना पुल दीख रहा था। पुल तो क्या था वह, पुल का खण्डहर था—कुछ खम्भे खड़े थे, वाक़ी सब टूट चुका है। पुराना पुल अँगरेज़ी साम्राज्य का प्रतीक है, जो खील-खील हो गया और नया पुल नये भारत का प्रतीक है, जिस के नीचे जीवन का प्रवाह वह रहा है। भगत सिंह ग़ुलामी और आज़ादी के वीच एक पुल ही थे, जिन के स्मारक का आज उद्घाटन हो रहा है!

दिन की खुली धूप चारों ओर फैल रही थी, पर मेरे भीतर वह काली (२३

मार्च १९३१ की) अँधेरी रात भरी हुई थी, जिस रात इस जंगल में एक फ़ौजी ट्रक आया था, जो सड़क से नीचे एक ओर उस पुराने पुल की आड़ में दरिया के क़रीब जा कर रुका था। उस समय चारों ओर सन्नाटा था, सिर्फ़ सतलज के प्रवाह की आवाज़ ही सुनाई देती थी। उस ट्रक में से कुछ बोरियाँ उतारी गयी थीं। उन बोरियों में भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु की कटी हुई लाशें थीं, जिन्हें उसी दिन शाम को लाहौर सेण्ट्रल जेल में फाँसी दी गयी थी। बोरियों के साथ ही टीन के कुछ डिब्बे भी उतारे गये थे, जिन में मिट्टी का तेल था। लाशों के उन टुकड़ों पर तेल छिड़का गया और आग लगा दी गयी। आग के फैलने की तरह ही यह खबर लाहौर और फ़िरोज़पुर में फैल गयी थी कि भगत सिंह और उन के साथियों को फाँसी दे दी गयी है और उन की लाशें ट्रक में रख कर दाह-संस्कार के लिए इधर ही कहीं लायी गयी हैं। यह खबर पा कर फ़िरोज़पुर का भारी जन-समूह जलती हुई मशालें ले कर इस रोशनी को देख इधर बढ़ा आ रहा था। तब भयभीत फ़ौजियों ने उन अधजली लाशों को पानी में फेंक दिया था और उस स्थान पर इधर-उधर से रेत डाल वे ट्रक भगा ले गये थे। लाशों को काटते समय उन्हों ने कहाँ सोचा था कि वे अपने शासन के ही अंग काट रहे हैं और इस झाड़-झंखाड़-भरे स्थान पर छिप कर और उस स्थान को रेत से छिपा कर उन्हों ने कहाँ सोचा था कि जिस जगह को वे छिपा रहे हैं, वह एक दिन भारत की राष्ट्रीय निधि हो जायेगी और वे अभागे यही कहाँ जानते थे कि उन के हाथों एक तीर्थ का निर्माण हो रहा है।

मैं उस स्थान की ओर बढ़ी जा रही थी, जहाँ उत्सव के लिए शामियाने लगे हुए थे। समाधि शामियाने की आड़ में होने के कारण मुझे दिखाई न दे रही थी, इसी से मेरी मानसिक व्यग्रता भी बढ़ रही थी। अब मैं उस दीवार के सामने थी, जिस पर काँसे की तीन मूर्त्तियाँ लगायी गयी हैं—शहीद भगत सिंह, शहीद राजगुरु और शहीद सुखदेव। उन पर परदा पड़ा हुआ था। पंजाब के वर्तमान मुख्य मन्त्री सरदार लछमन सिंह गिल ने वह परदा हटाया, तो हज़ारों आदमियों ने हज़ारों-हज़ार तालियाँ बजा कर अपना हर्ष प्रकट किया। इन मूर्तियों के बायीं तरफ़ तालाब है जिस के बीचो-बीच एक चबूतरा बनाया गया है, जो कि तीनों शहीदों की समाधि है (यह वह स्थान है जहाँ तीनों शहीदों का अन्तिम संस्कार किया गया था)। मुख्य मन्त्री ने जब समाधि पर पुष्प अर्पित किये, तब पुलिस की टुकड़ी ने अपने शस्त्र झुका कर श्रद्धांजलि अर्पित की, और सब लोग दो मिनिट मौन रहे। यह मौन वाणी का था; सिर्फ़ वाणी का, मन तो उस समय पूर्णतया मुखर था। यह मुखरता उन आँसुओं में स्पष्ट थी, जो बहुतों की आँखों में उस समय झलक रहे थे।

अब भाषण आरम्भ हो गये और गीत-कविताएँ भी। भाषणों में जोश था, गीत-कविताओं में दर्द। जोश की ऊँचाई का भी केन्द्र भगत सिंह थे और दर्द की गहराई का भी। लोग जोश से उभर उठते थे, दर्द से भींग-भींग जाते थे। वातावरण बहुत

भावपूर्ण हो रहा था। जब (वर्तमान मुख्य मन्त्री) सरदार लछमन सिंह गिल ने अपने भाषण में कहा, "एक दिन ऐसा भी आयेगा, जब (भारत-पाकिस्तान सीमा के पास ही स्थित) यह स्थान 'इण्डिया गेट' वन जायेगा और इधर से आने वाला हर विदेशी इन शहीदों को सिर झुका कर ही हमारे देश में प्रवेश किया करेगा।" जोश-भरी तालियों की गूँज से सारा पण्डाल दनदना उठा और लोगों का उत्साह आसमान को छू गया, पर तभी एक कवि ने अपने कलेजे का रक्त उछाल कर उस उत्साह को दर्द-तड़पन में डुवा दिया।

गीत का भाव यह था—भगत सिंह की माँ विलाप करती हुई कहती है, "भगत सिंह तू ने तो सतलज के किनारे डेरा डाल लिया है और मैं यहाँ घर में बैठी तेरा इन्तज़ार कर रही हूँ। मैं तेरे विवाह का सब साजो-सामान यहाँ तैयार किये बैठी हूँ और तू ने यह कौन-सा सेहरा बाँध लिया है?" गीत के शब्द दर्दीले, सन्दर्भ दर्दीला, गायक का स्वर दर्दीला और अवसर दर्दीला। सचमुच वातावरण नम हो गया। मैं सोच रही थी, संसार के साहित्य में अनन्त विलाप-कथाएँ सुरक्षित हैं, पर इस जन-कवि का विलाप साहित्य में चर्चित किस विलाप से कम है?

कभी-कभी जीवन में कमाल हो जाता है। विना किसी प्रयत्न के, विना किसी चाह के, विना किसी योजना के, घटना से घटना इस तरह मिल जाती है कि वड़े से बड़ा जासूसी उपन्यास भी दाँतों तले उँगली दबाये देखता रह जाता है। माता के विलाप की दर्द-भरी करुणा में जब सब डूब रहे थे, अपने लम्बे खूले के सहारे धीरे-धीरे चलते हुए एक वृद्ध स्त्री ने पण्डाल में क़दम रखा। उन के प्रवेश पाते ही सब की निगाहें उधर जा टिकीं। मंच से उठ कर दो-तीन गण्य-मान्य सज्जन उन के स्वागत में वढ़े, तो पण्डाल में बैठी सारी जनता उठ खड़ी हुई। उन के आने का विजली-जैसा प्रभाव पड़ा। यह शहीद भगत सिंह की ८६ वर्षीया माता विद्यावती जी थीं। यह किस का सम्मान था, किस के प्रति आदर था, किस के प्रति श्रद्धा थी? माता विद्यावती न राष्ट्रपति हैं, न प्रधान मन्त्री, न मन्त्री हैं, न वैज्ञानिक, न लेखक या उद्योगपति हैं, फिर उन्हें देख कर लोग भाव-विह्वल क्यों हो गये? इस लिए कि वे मृत्युंजय भगत सिंह की माँ हैं, वे उस क्रान्ति-मूर्ति की जननी हैं, उन की स्मृतियों का वे जीवित प्रतीक हैं और वे उन के अभाव की प्रतिमूर्ति हैं। उन्हें देख कर सब लोग भगत सिंह के अभाव का भाव अनुभव करते हैं। मैं देख रही थी कि वे अपना खूला सँभाले खड़ी हैं और सब एक-टक उन को ओर देख रहे हैं और मैं सोच रही थी कि क्या इस दृश्य का अर्थ यह नहीं है कि भारत की जनता को नये भगत सिंह की प्रतीक्षा है, जो उसे भटकी हुई राह से हटा कर सीधी राह पर चला दे।

सब ने आग्रह किया कि वे मंच पर पधारें, पर वे मंच पर नहीं आयीं। आतीं भी कैसे? वे मंच पर बैठने के लिए तो खटकड़कलाँ (भगत सिंह का वंश-ग्राम) से चल कर यहाँ नहीं आयीं, वे तो अपने लाड़ले भगत से मिलने वहाँ आयी थीं। हाँफते

हुए स्वर में उन्हों ने कहा, "पहले समाधि पर फूल चढ़ाऊँगी, तब बैठूँगी।" और वे समाधि की ओर मुड़ चलीं। उन के पीछे ही चल दी वह भारी भीड़ जो उन के दर्शनों के लिए आतुर हो उठी थी। वे आयी थीं तो कविता की वही पंक्ति गूँज रही थी—'भगत सिंह तू ने तो सतलज के किनारे डेरा डाल लिया है और मैं यहाँ घर में बैठी तेरा इन्तज़ार कर रही हूँ', पर इस समय माँ भगत सिंह से मिलने उस के डेरे पर ही आ गयी थी। अब शहीद बेटे और जीवित माँ का मिलन हो रहा था। भावना के समुद्र में लहरें उठ पड़ीं, ज्वार आ गया, उस में मौन जनसमूह भी इस मिलन को देखने के लिए माँ के पीछे-पीछे चल पड़ा। मैं देख रही थी और सोच रही थी कि मेरे देश की जनता में पीछे चलने की कितनी गहरी वृत्ति है? कोई मज़बूत पैरों से आगे चलने वाला हो तो वह क्या नहीं कर सकती?

सामने राह में ही पड़ती है श्री बटुकेश्वर दत्त की समाधि (जिन की मृत्यु १९६६ में हुई थी और उन की इच्छानुसार उन का अन्तिम संस्कार उन के साथियों के पास किया गया था)। माँ ने फूलों का एक हार समाधि पर चढ़ा दिया, सिर झुकाया और परिक्रमा की। अब वे भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु की समाधियों के सामने थीं, फिर हार चढ़ाये, फिर सिर झुकाया और तब परिक्रमा की। यह हमारे राष्ट्रीय जीवन का कितना मार्मिक दृश्य है कि वह माँ बेटे को सिर झुका रही है, जिस के चरणों में बेटे का सिर झुकना चाहिए? क्या यह उचित हो रहा है? हाँ, यह उचित हो रहा है; क्यों कि जो यहाँ सो रहा है, वह किसी का बेटा नहीं है, वह तो क्रान्ति का सूर्य है और जो उसे श्रद्धांजलि अर्पित कर रही है, वह उस की माँ न हो कर इस समय राष्ट्र की जनता की प्रतीक है। यह माँ के द्वारा बेटे का नहीं, यह तो जनता के द्वारा शहीदों का ही अभिनन्दन है। सचमुच यह अभिनन्दन सब अभिनन्दनों का सिरमौर है, जहाँ बेटा बेटा नहीं है और माँ माँ नहीं है—सब प्रतीक हैं, पावन प्रतीक!

यह है वह दीवार, जिस पर भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव की काँसे की प्रतिमाएँ स्थापित की गयी हैं। माँ भगत सिंह की प्रतिमा के सामने खड़ी हैं। उन के चेहरे पर विह्वलता की झलक स्पष्ट दीख पड़ रही है। यहाँ प्रतीक नहीं, भगत सिंह ही उन के सामने हैं। उन्हों ने माला प्रतिमा के गले में डाली और वे भूल गयीं शहीद भगत सिंह को, उन के सामने आ गया उन का बेटा भगत—चुलबुला, मसखरा, सेवाशील, नम्र भगत। और अनायास उन्हों ने भगत सिंह के चेहरे पर अपना हाथ रख दिया, जैसे बहुत दिनों बाद बाहर से आने पर पुचकार कर वे पूछ रही हों—बेटा, कितने दिनों में आया है, कहाँ-कहाँ रहा तू? तू ने कुछ खाया-पिया भी है या नहीं? इस स्पर्श ने उन के मातृत्व को जगा दिया और उन का दिल भर आया, सब्र का प्याला छलक पड़ा और कई मोती उन की आँखों से गिर पड़े—३७ साल पहले का भगत सिंह आज साकार हो गया था और राष्ट्र-पुरुष भगत सिंह का चेहरा उन की माँ इस तरह थपथपा रही थीं, जैसे वह बालक भगत सिंह का चेहरा हो। जाने कितनी आँखें बरस पड़ीं इस मर्मान्तक

दृश्य को देख कर।

माँ जब पण्डाल में आयीं और मंच पर बैठीं, तो (पंजाब प्रदेश काँग्रेस के अध्यक्ष) सरदार ज्ञानी ज़ैल सिंह माइक पर कह रहे थे, "इस संसार में करोड़ों आदमी आये और करोड़ों चले गये, पर ऐ माँ, तू धन्य है, तेरा बेटा भगत सिंह न मरा है, न मरेगा; वह सदा इस दुनिया में रहेगा।" इस सत्य की स्वीकृति में माँ का सिर आप-ही-आप हिल गया, तो जनता के समुद्र में भावना की हिलोर उठ गयी और सारा वातावरण 'भगत सिंह ज़िन्दाबाद' के नारे से गूँज उठा।

शहीद यतीन्द्र नाथ दास के भाई दादा किरणचन्द्र दास कलकत्ता से चल कर इस समारोह में भाग लेने के लिए पहुँचे थे। उन के चेहरे के बदलते भावों को मैं साफ़-साफ़ पढ़ रही थी। वे वहाँ कहाँ थे? उन का शरीर मेरे पास ही मंच पर था, पर उन की आत्मा बोर्स्टल जेल लाहौर में घूम रही थी। उन की आँखों के सामने उन के भाई यतीन्द्रनाथ दास भूख-हड़ताल में तिल-तिल घुल रहे थे। भगत सिंह अपने साथियों से मिलने, यतीन्द्रनाथ को देखने, सेण्ट्रल जेल लाहौर से आते थे। किरणचन्द्र को 'बंगाल का फूल' कह कर प्यार करते थे। यही सब दृश्य दादा की नज़रों में घूम रहे थे कि तभी माइक पर उन का नाम घोषित किया गया और वे जनता से कुछ कहने के लिए उठे। बोले—

"यह महान् तीर्थ जिस का उद्‌घाटन करने के लिए हम सब यहाँ एकत्र हुए हैं, रामायण और महाभारत का संगम हो गया है। आप लोग पूछ सकते हैं कि रामायण और महाभारत का संगम कैसे? तो मेरा उत्तर है, लाहौर की जेलों में अँगरेज़ों के साथ हमारा संघर्ष चला, जिस में यतीन्द्रनाथ दास, भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव का बलिदान हुआ, अनेकों साथियों को उम्र-क़ैद की सज़ा हुई। उस संघर्ष का अन्त यहाँ हुसैनीवाला में हुआ। यह महाभारत था। हमारे भूतपूर्व मुख्य मन्त्री श्री रामकिशन जी ने इस यादगार को बनाने का निश्चय किया और श्री लछमन सिंह गिल ने उस निश्चय को क्रियान्वित किया—"इस लिए राम और लक्ष्मण प्रतीक हो गये रामायण के, इसी से कहता हूँ कि यह आधुनिक रामायण और महाभारत का संगम है।"

यह उत्सव सम्भवतः किसी औपन्यासिक मुहूर्त में आरम्भ हुआ था। दादा का भाषण ख़त्म हुआ, तो फिर शहीदों की जयकार होने लगी। नारों की इस गूँज के बीच ही पण्डाल में आ पहुँची शहीद राजगुरु की बहन श्रीमती गोदावरी, अपनी महाराष्ट्रीय वेष-भूषा में। वे मंच पर पहुचीं और माँ से लिपट गयीं। दोनों की आखों से गंगा-यमुना बह पड़ीं और दोनों एक-दूसरे के चेहरे को ध्यान से देखने लगीं। समय की रेखाओं ने दोनों के चेहरों को प्रभावित किया था, पर मेरे मन में आया कि दोनों की आँखों में दोनों के चेहरे नहीं, २३ मार्च १९३१ की दोपहरी छायी हुई है। वह दिन भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव से अन्तिम मुलाक़ात का दिन था। राजगुरु की माँ और बहन महाराष्ट्र से चल कर लाहौर आयी थीं और कुछ दिन हमारे ही परिवार में रही थीं।

उस दिन तीनों परिवारों के सदस्य अन्तिम मुलाक़ात के लिए जेल के द्वार पर पहुँचे थे। वहाँ पहुँच कर पता चला था कि अँगरेज़ सरकार ने सिर्फ़ माता-पिता को ही भगत सिंह से मिलने की स्वीकृति दी है, दादा-दादी और चाचियों को नहीं। इस के विरोध में भगत सिंह के माता-पिता ने मुलाक़ात करने से इनकार कर दिया था। राजगुरु की माँ, बहन और सुखदेव की माँ को मिलने की स्वीकृति प्राप्त थी, पर उस हालत में इन्हों ने भी अपने को भगत सिंह के माता-पिता के साथ जोड़ दिया था और अपने बेटों से अन्तिम मुलाक़ात करने से इनकार कर दिया था, जिस का अर्थ था अपने लाड़ले बेटों के अन्तिम दर्शनों से वंचित होना।

सोचती हूँ, संसार का इतिहास विजयों और पराजयों की इनकारों से भरा पड़ा है, पर क्या इस के भण्डार में ऐसा कोई और भी इनकार सुरक्षित है कि कोई माँ अपने बेटे का मृत्यु से पहले अन्तिम बार मुँह देखने का अधिकार पा कर देखने से इनकार कर दे? कलेजा मुँह को आने लगता है यह सोच कर की क्या बीती होगी उस घड़ी उन माताओं के दिल पर, जब उन्हों ने अपने बेटों से मिलने के लिए इनकार किया होगा? हमारा इतिहास वीरों के बाँकपन से भरा पड़ा है, पर राजगुरु, सुखदेव और भगत सिंह की माताओं का यह बाँकपन क्या निराला नहीं है?

इस जलसे के पास ही पुराने पुल के क़िलानुमे ऊँचे द्वार के दूसरी तरफ़ एक और जलसा इसी समय हो रहा था। यह भी भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए ही किया गया था। जिस जलसे में हम बैठे थे वह देश के एक राजनैतिक दल-द्वारा आयोजित था, तो दूसरा जलसा इसी देश के एक दूसरे राजनैतिक दल-द्वारा आयोजित था। दूसरे जलसे के कुछ लोग माता जी को लेने के लिए आये तो मैं सोचने लगी कि यह कैसा तमाशा है कि हम अपने शहीदों को एक साथ एक स्थान पर श्रद्धांजलि नहीं दे सकते? हम ने देश को बाँटा है, प्रान्तों को बाँटा है, जाति और धर्मों को बाँटा है, पर क्या अब हम अपने शहीदों को भी बाँटने पर उतारू हो गये हैं!

दुःख में डूबी मेरी निगाहें एक ओर को उठीं, तो देखा भारत का तिरंगा झण्डा कुछ दूरी पर फहरा रहा है और उस के पास ही पाकिस्तान का हरा झण्डा भी लहरा रहा है। सामने ही है लाहौर जाने वाली सड़क। यह सोच कर मेरे कलेजे में सुइयाँ-सी चुभने लगीं कि इन शहीदों ने जिस लाहौर में हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ पहनीं, भूख-हड़तालें कीं, मुक़दमे लड़े, सोये देश को जगाया और धरती को अपनी शहादत के ख़ून से सींचा वह लाहौर हमारे लिए ग़ैर है और वे शहीद उस लाहौर के लिए ग़ैर हो गये हैं।

जलसा समाप्त हुआ, तो मैं अपने तिरंगे झण्डे की ओर तेज़ी से बढ़ी और पहुँच गयी उस सीमा पर जिस ने हमारे देश को दो हिस्सों में बाँट दिया है। अब मेरे दायीं तरफ़ शहीदों की समाधि थी जो कह रही कि देश ही सब-कुछ है और उस के हितों के लिए कोई भी बलिदान बड़ा नहीं है। दूसरी तरफ़ लहरा रहे थे दोनों राष्ट्रीय झण्डे,

जो कह रहे थे कि देश के टुकड़े कर दिये गये हैं, उसे काट कर बाँट दिया गया है। मेरा मन अथाह दुःख से भर गया और कई मिनिट तक मैं कुछ भी न सोच सकी।

तव इस विचार ने मुझे सान्त्वना दी : हमारे शहीद सीमा पर आ वैठे हैं। एक दिन आयेगा जब यह बँटवारा टूटेगा, कटे देश के दोनों टुकड़े आपस में मिलेंगे और उस दिन इस समाधि पर जो कुछ चढ़ाये जायेंगे, उन में दिल्ली के फूल भी होंगे और रावलपिण्डी के फूल भी। १९६५ में हमारी फ़ौजें लाहौर की ओर बढ़ी थीं, पर उस दिन तो ये शहीद ही लाहौर में प्रवेश करेंगे। जव नेपोलियन स्टैच्यू पेरिस में लगाया गया तो उस की माँ ने कहा था, "मेरा नेपोलियन पेरिस में फिर आ गया हैं।" जिस दिन ये शहीद लाहौर में प्रवेश करेंगे, तो वहाँ की माताएँ भी कह उठेंगी, "हमारा भगत सिंह फिर लाहौर में आ गया है।" मैं इस भावना से अभिभूत हो कल्पना की आँखों से लाहौर की सेण्ट्रल जेल के सामने खड़े इन शहीदों के सुन्दर स्टैच्यू देखने लगी।

शहीदों का पुण्य, वह दिन हमें दिखाये।

■ ■